1

गुलेरी रचनावली

संपादक
डॉ. मनोह[illegible]

किताबघर



गुलेरी रचनावली

संपादक डॉ. मनोहर लाल

पुस्तक—वितरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित २० वें दिन तक यह पुस्तक पुस्तकालय में वापिस आ जानी चाहिए। अन्यथा १० पैसे के हिसाब से विलम्ब-दण्ड लगेगा।

किताब घर

किताब घर
नयी दिल्ली-110002

गुलेरी रचनावली

खण्ड एक

संपादक

डॉ० मनोहरलाल

ISBN—81-7016-084-7

प्रकाशक
किताब घर
२४/४८६६, अंसारी रोड
दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२

प्रथम संस्करण
१९९१

मूल्य
पांच सौ रुपये (दो खण्ड)

मुद्रक
चोपड़ा प्रिंटर्स
शाहदरा, दिल्ली-११००३२

GULERI RACHANAWALI (Hindi)
Edited by Dr. Manohar Lal
Price : Rs. 500.00 (Two Volumes)

गुलेरी जी के अनन्य मित्र

स्व० पं० झाबरमल्ल शर्मा

एवं

अनन्य हिंदी-सेवी

स्व० मुरारीलाल जी केडिया

की

पुण्य स्मृति

को

अपनी बात

मैंने मनीषी साहित्यकार पं० श्रीचन्द्रधर शर्मा गुलेरी की प्रतिनिधि कृतियों को, सुधी आलोचकों के अभिमत सहित, उनकी जन्मशती (१९८३ ई०) पर **गुलेरी-साहित्यालोक** के रूप में सम्पादित करके प्रस्तुत किया था, जिसका विमोचन करते हुए अमर कथा-शिल्पी स्व० जैनेन्द्रकुमार जी ने कहा था—"गुलेरी जी विलक्षण विद्वान थे। उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। उनमें गज़ब की ज़िन्दादिली थी। और, उनकी शैली भी अनोखी है। गुलेरी जी न केवल विद्वत्ता में अपने समकालीन साहित्यकारों से ऊँचे ठहरते हैं, अपितु एक दृष्टि से वह प्रेमचन्द से भी ऊंचे साहित्यकार हैं। प्रेमचन्द ने समसामयिक स्थितियों का चित्रण तो बहुत बढ़िया किया है, पर व्यक्ति-मानस के चितेरे के रूप में गुलेरी का जोड़ नहीं है। प्रेमचन्द अपने साहित्य में सामाजिक सम्बन्धों के चित्रण से आगे नहीं बढ़े, जबकि गुलेरी ने 'उसने कहा था' में ही मानवतावाद की आत्मा का स्पर्श कर लिया है। आश्चर्य है कि उनके निधन के इतने वर्ष बाद भी उनकी रचनाएं प्रामाणिक पाठ के साथ पुस्तक रूप में नहीं आ पाईं। 'गुलेरी साहित्यालोक' इस दिशा में एक प्रेरक प्रयास कहा जाएगा।"

स्व० जैनेन्द्र जी के शब्दों से मुझे विशेष प्रेरणा मिली और मैंने मन-ही-मन गुलेरी जी की अन्य रचनाओं को संकलित-सम्पादित करने का प्रण ले लिया जो गुलेरी-रचनावली के रूप में साकार हो सका है। मैंने इसमें तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में बिखरे उनके कृतित्व को—कथा/कहानी, निबंध/लेख, शोध, पुरानी पाण्डुलिपियां, संस्मरण, इंटरव्यू, वैदिक और पौराणिक साहित्य, लोककला, राजनीति/धर्म, समीक्षा, काव्य तथा जीवनचरित; और पुरानी हिंदी, भाषा, इतिहास, पुरातत्त्व, विज्ञान, विविध, टिप्पणियां, पत्र-साहित्य, संस्कृत-साहित्य तथा अंग्रेजी-साहित्य शीर्षकों के अन्तर्गत रख दिया है जिससे उनकी तलस्पर्शी गुरुगम्भीर बहुआयामी सृजनशीलता का परिचय हो सके। यही नहीं, प्रत्येक रचना के प्रामाणिक पाठ के साथ उसके प्रथम प्रकाशन का विवरण भी दिया है। गुलेरी जी की यह गद्य-सृष्टि उस समय खड़ीबोली के बन रहे रूप-स्वरूप की प्रामाणिक परिचायिका है। उनके भाषा-प्रयोग—उनने, जिनने, सबके, करै, करें, चाहै, पावै, पावें, चलावें, कहें, कहैं, रहै, तौ, हौ, हौं, छै, कैसं, लेवै आदि को को यथावत् रहने दिया है, उनकी भाषा में तद्भव तथा देशज शब्दों की बहुलता है।

'रचनावली' में, गुलेरी जी का लगभग ९५ प्रतिशत कृतित्व ही अभी संचित हो पाया है। अभी 'भारतमित्र', 'पाटलीपुत्र' तथा 'अभ्युदय' में भी दर्जनों रचनाएं

होने की संभावना है जिनकी खोज तथा पहचान शेष है। 'पहचान' इसलिए कि उन्होंने 'कण्ठा', 'कौस्तुभ का कण्ठा', 'बी० ए०', 'एक ब्राह्मण', 'स्पष्टवक्ता', 'घर-घूमन दादा', 'चिट्ठीवाला', 'प्रतिनिधि' तथा 'समालोचक' आदि छद्मनामों से भी लिखा है। उनको लिखे गए पत्रों में ऐसे उल्लेख हैं कि उनकी रचनाएं उनके नामोल्लेख के बिना भी छपी हैं। 'भारत मित्र' इस दृष्टि से विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

गुलेरी जी की रचनाओं की मोटी पहचान यह है कि उनमें हिमाचली पहाड़ी (कांगड़ी) के शब्द निहित रहते हैं। इसलिए उनके समय की छद्मनामी या अनामी जिन रचनाओं में यह प्रवृत्ति मिले, उन्हें बेखटके गुलेरी जी की रचनाओं में सम्मिलित किया जा सकता है। विश्वास है, विज्ञ पाठक एवं विद्वान गुलेरी जी की कृतियों के संधान में अपनी जानकारियों से लाभान्वित करेंगे।

'परिशिष्ट' में अन्याय की जानकारियों के साथ-साथ 'गुलेरी साहित्यालोक' तथा 'पुरानी हिंदी और शेष रचनाएं' में दी गई 'रचना-सूची' को संशोधित तथा परिवर्धित करके प्रस्तुत किया है, अब इसे ही प्रामाणिक माना जाए।

गुलेरी जी की रचनाओं के संधान में मुझे श्यामसुंदर शर्मा (स्व० झावरमल्ल शर्मा के पौत्र), ओंकारलाल मेनारिया, कलानाथ शास्त्री, जयपुर तथा स्व० मुरारीलाल केडिया, काशी का सहयोग मिला है। मैं आप सब के प्रति हृदय से कृतज्ञ हूं।

'रचनावली' के संयोजन तथा सम्पादन-कार्यकाल में गुलेरी जी के संस्कृत-वर्चस्व को समझने में बाल-साहित्यकार स्व० पं० संतराम वत्स्य का सच्चा मार्ग-दर्शन मिला था। उनकी स्मृति को मेरा नमन !

'रचनावली' के विन्यास में आदरणीय श्री कृष्ण विकल जी ने मुझे श्री वत्स्यजी का अभाव नहीं खलने दिया। आपके प्रति औपचारिक धन्यवाद ज्ञापित करके उऋण हो पाना मेरे लिए कतई सम्भव नहीं है।

मैं उन सब विद्वानों, मित्रों तथा पाठकों के प्रति भी कृतज्ञता प्रकट करता हूं जिन्होंने मेरे प्रथम प्रयास 'गुलेरी साहित्यालोक' को सराहा और इस दिशा में और अधिक काम करने के लिए प्रेरित किया। साथ ही उन विद्वानों का भी विशेष ऋणी हूं जिनकी कृतियों से प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में सहायता मिली।

प्रकाशक भाई सत्यव्रत जी शर्मा का मैं इसलिए विशेष आभारी हूं कि उन्होंने गुलेरी जी के अज्ञात और उपेक्षित पड़े दुर्लभ कृतित्व को सुचारु रूप से प्रकाशित करके हिंदी-जगत् को सौंपा है।

चोपड़ा-बंधु इस कृति को सघन रुचि के साथ छापने के लिए साधुवाद के पात्र हैं।

—मनोहरलाल

रीडर एवं अध्यक्ष : हिन्दी-विभाग
श्रीराम कॉलेज ऑफ कॉमर्स, दिल्ली
श्रीकृष्णजन्माष्टमी, २०४८ वि०

विषय-सूची

पत्र-पत्रिकाएं

हमारी आलमारी

काव्य

जीवनचरित

भूमिका

जीवनवृत्त

पण्डित श्रीचन्द्रधर शर्मा गुलेरी का जन्म शनिवार, ७ जुलाई १८८३ ई० को पुरानी बस्ती (मोतीसिंह भोमिया के रास्ते में लाल हवेली), जयपुर में महाराजा रामसिंह के राज-पण्डित तथा मोद मन्दिर सभा के अध्यक्ष महामहोपाध्याय पण्डित शिवराम शास्त्री के घर हुआ। इनकी माँ लक्ष्मीदेवी स्वाध्यायपरायण तथा धार्मिक प्रवृत्ति की महिला और पण्डितजी की तीसरी पत्नी थीं। वह कांगड़ा (हि० प्र०) के **गुलेर** गाँव के मूल निवासी थे। उन्होंने सन् १८६७ ई० में काशी में, हिमालय से लौटे धर्माचार्यों को शास्त्रार्थ में पराजित करके अपने गुरुवर भाष्यब्रह्मचारी विरुदविभूषित पं० विभवरामजी के आशीर्वाद से जयपुर-दरबार का राजसम्मान पाया और फिर वहीं बस गए।

ज्योतिर्विद् पं० शिवराम शास्त्री ने पुत्र के जन्म-लग्न में कर्क (लग्न) का स्वामी चन्द्रमा होने से नाम रखा—**चन्द्रधर**। बालक का पालन-पोषण घर के संस्कृतमय वातावरण, वंशानुगत पुरोहिताई, पूजापाठ, संध्या-वंदन और ब्राह्मणत्व के कर्मकाण्डी अनुशासन में हुआ। आठ-नौ वर्ष की आयु में ही 'अष्टाध्यायी' के आरम्भिक अध्याय और संस्कृत के दो-तीन सौ श्लोक कण्ठस्थ कर, बालक ने प्रखर बुद्धि का परिचय दिया और 'अमरकोश' का सस्वर पाठ करने में भी पारंगत हो गया। उसने नौ-दस वर्ष की अवस्था में 'भारत धर्म महामण्डल' के सदस्यों को धाराप्रवाह संस्कृत-भाषण से भी चमत्कृत किया।

पं० शिवराम शास्त्री ने महामहोपाध्याय पं० दुर्गाप्रसाद के परामर्श पर चन्द्रधर को अंग्रेजी भाषा की शिक्षा के लिए महाराजा कॉलेज, जयपुर में प्रवेश दिलवाया। पं० दुर्गाप्रसाद ने उसे भाषा, साहित्य तथा देश-सेवा के सुसंस्कार दिए। बालक उन्हें 'चाचाजी' कहकर आदर देता था। बाद में, उसने इन्हीं से 'काव्यप्रकाश' भी पढ़ा।

चंद्रधर ने १८९७ ई० में द्वितीय श्रेणी में मिडिल, १८९९ ई० में इलाहाबाद से प्रथम श्रेणी में एन्ट्रेंस और कलकत्ता विश्वविद्यालय से प्रथम श्रेणी में मैट्रिक पास किया। इसके लिए उन्हें जयपुर-राज्य की ओर से स्वर्णपदक मिला। १९०० ई० में जैन वैद्य (श्री जवाहरलाल जैन) के सहयोग से जयपुर में 'नागरी-भवन' की स्थापना की और १९०१ ई० में कलकत्ता विश्वविद्यालय से अंग्रेजी, ग्रीक, संस्कृत, विज्ञान,

गणित, इतिहास तथा तर्कशास्त्र प्रभृति विषयों में एफ० ए० किया। इसमें हिन्दी में मौलिक समीक्षात्मक निबन्ध-लेखन में 'विशेष योग्यता' और अंग्रेजी-गद्य के पर्चे में कलकत्ता-कॉलेज के छात्रों में द्वितीय स्थान पाया।

सन् १९०२ ई० कर्नल सर स्विण्टन और कैप्टन ए० एफ० गैरेट को महाराजा सवाई जयसिंह (द्वितीय) द्वारा स्थापित जयपुर वेधशाला (ज्योतिष यंत्रालय) के जीर्णोद्धार और शोधकार्य के लिए संस्कृत तथा ज्योतिष के ऐसे विद्वान् की आवश्यकता हुई जिसका अंग्रेजी तथा विदेशी भाषाओं पर भी अधिकार हो। इसके लिए श्रीचंद्रधर शर्मा का चयन हुआ और उनके सहयोग से इन विद्वानों ने 'द जयपुर आब्जर्वेटरी एण्ड इट्स बिल्डर्स' नामक ग्रंथ जिस पर लिखा गुलेरी जी का नाम सहलेखक के रूप में छपा। इसके लिए उन्हें जयपुर-राज्य की ओर से स्वर्णपदक तथा तीन सौ रुपये की पुस्तकें प्रदान की गईं। जयपुर वेधशाला के यंत्रों पर लगे जीर्णोद्धार तथा शोधकार्य विषयक शिलालेखों पर भी 'चंद्रधर गुलेरी' नाम खुदा है। उन्होंने अगस्त १९०३ ई० में **समालोचक** का सम्पादन-कार्य सँभाला और प्रयाग विश्वविद्यालय से बी० ए० (प्रथम श्रेणी में प्रथम) किया। और, 'वैश्योपकारक' (वर्ष १, सं० ६, पृष्ठ २०३) में छपा—"**समालोचक** के सुयोग्य सम्पादक श्रीयुत पण्डित चंद्रधर शर्मा जी, बी० ए० की परीक्षा में सबसे पहले रहे। खबर मिली है कि जयपुर-नरेश ने इसलिए उक्त पण्डितजी को स्वर्णपदक और बहुमूल्य पुस्तकों का पुरस्कार दिया है।"

गुलेरी जी अस्वस्थ हो जाने से एम० ए० (दर्शनशास्त्र) की परीक्षा न दे पाए। वह १९०४ ई० में खेतड़ी-नरेश जयसिंह के शिक्षक एवं अभिभावक नियुक्त होकर मेयो कॉलेज, अजमेर में प्राध्यापक; १९०७ ई० में जयपुर भवन के मोतमिद (रियासत के सामन्तों और प्रशिक्षणार्थियों के अभिभावक); १९१६ ई० में पं० शिवनारायण के स्थान पर मेयो कॉलेज में संस्कृत-विभागाध्यक्ष तथा १९२० ई० में 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' के सम्पादक-मण्डल के सदस्य बने। १९२० ई० में उन्हें जगद्गुरु शंकराचार्य (शारदापीठ के अधीश्वर) ने 'इतिहास-दिवाकर' की उपाधि से सम्मानित किया। और, पं० मदनमोहन मालवीय के आग्रह पर ११ फरवरी, १९२२ ई० को हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी के प्राच्यविभाग के प्राचार्य एवं मनीन्द्रचंद्र नंदी चेयर के प्रोफेसर बने।

गुलेरी जी 'काश्यां मरणान् मुक्तिः' का मर्म जानते थे। उन्होंने अपने ७-६-१९१८ ई० के पत्र में राय कृष्णदास को लिखा था—"काशी को मैं नहीं भूला, न भूल सकता हूँ, न आपको भूला। सदा काशी का स्मरण रहता है, पर 'या भूखे पापी पेट को नाथ कहां कैसे भरें'—

काशीमेव गमिष्यामि मरिष्यामि तत्र वै।
सदैव चिन्तयन्मेव काशीवास फलं लभेत्॥[1]

और, मंगलवार, १९२२ ई० की ब्रह्मवेला में सर्वतोमुखी प्रतिभा तथा असाधारण

---

१. मैं काशी जाऊंगा और वहीं जाकर मरूंगा।—सदा इस तरह सोचनेवाले को काशीवास का फल प्राप्त होता है।—सम्पादक

पाण्डित्य के धनी मनीषी साहित्यकार ने सन्निपात के बहाने पुण्यतीर्थ काशी में अपनी इहलीला समेट ली। मृत्यु से पूर्व उन्हें पीलिया हो चुका था। उन्होंने अपने १० मई, १९२२ ई० के पत्र में महामहोपाध्याय पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी को काशी विश्वविद्यालय में अपना कार्यभार संभालने के बाद लिखा था—"मार्गश्रम, वियोग, क्षेत्र-परिवर्तन से मुझे यहां आते ही ज्वर, यकृत-विकार तथा पीलिया हो गया। बहुत अशक्ति हुई। यह काशी की पहली 'बोहनी' है या भैरव जी डण्डे लगाकर परीक्षा कर रहे हैं या अजमेर छोड़ने के दु:साहस का फलयोग है। राम जाने या 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि' है।...यहां आए, एक पंक्ति भी लिखी नहीं गई है। स्वास्थ्य अच्छा नहीं।"

गुलेरी जी के पुत्र योगेश्वर गुलेरी ने उनके अन्तिम समय विषयक एक संस्मरण में लिखा है—"पूज्य पिताजी बड़े ही सुगठित व स्वस्थ थे। देहावसान के पूर्व वे और भी तन्दुरुस्त थे। उन्हें कुछ मास पहले पीलिया हो चुका था। तब वे बहुत कमजोर हो चुके थे। उसके बाद उन्होंने बड़ी तेजी से स्वास्थ्य-लाभ किया था।"

योगेश्वर गुलेरी ने आगे लिखा है—"मैं और नौकर तांगा लेकर बर्फ लेने दौड़े। कहीं न मिलती देख बर्फखाने गए और दो मन की दो सिल्ली उठा लाए। पिताजी को उन सिल्लियों पर लिटाया गया। फिर जब तौलिया से पोंछकर बिस्तर पर लिटाने लगे, तो वे होश में आ गए थे। 'हटो' कहकर, हम कुछ कहें, इसके पहले ही एक झटके से पास पड़े कुशासन पर जा बैठे। 'विजयचंद्र जी, गीता सुनाओ'—कहकर वे वहीं लेट गए। विजयचंद्र जी चुप रहे। पर फिर एक डांट और खाकर रोती आवाज में उन्होंने विराट रूप दर्शन का पाठ शुरू किया। थोड़ी देर बाद पिताजी बोले—'विजया (मेरी बड़ी बहन) रुद्राक्ष ला', बड़ी बहन माला उठा लाई। पिताजी अंतिम बार हँसे, बोले—'योगा, मेरे कैश बाक्स में बिना बंधे रुद्राक्ष हैं। सिरहाने से चाबी ले ले।' मैं रुद्राक्ष लाया और विचयचंद्र जी ने उनके इशारे पर वह उनकी चोटी में बांध दिया। इसके बाद बहन ने टेम्परेचर लिया। १०९ डिग्री से ऊपर था। फिर वे निश्चेष्ट-से पड़े रहे। तत्पश्चात् उन्होंने आँखें खोल दीं। बाहर अनेक लोग आ गए थे। गऊदान हुआ, स्वर्ण दिया गया और न जाने क्या-क्या हुआ। मेरी चेतना लुप्त-सी हो चुकी थी। मैं सब देख रहा था, कर रहा था, पर समझ कुछ भी न रहा था। पिताजी ने नेत्र बन्द कर लिए। विजयचंद्र जी ने झुककर पिताजी के कान के पास जोर से कहा—'ॐ नम: शिवाय च'। पिताजी ने हिचकी ली और आँखें सदा के लिए खोल दीं। इस समय प्रातःकाल के चार बजे थे।"

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, श्यामसुंदरदास, राय कृष्णदास, काशीप्रसाद जायसवाल, पद्मसिंह शर्मा, जयशंकर प्रसाद, मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पांडेय, कविराज गोपीनाथ, माधव मिश्र, केदारनाथ पाठक, जगन्नाथ चतुर्वेदी, हरिनारायण पुरोहित, मुंशी देवीप्रसाद 'मुंसिफ', गिरिधर शर्मा, पं० दीनदयाल शर्मा, मदनमोहन मालवीय तथा पं० झाबरमल्ल शर्मा प्रभृति विद्वानों के समकालीन प्रखर पांडित्य के धनी पं० चंद्रधर शर्मा गुलेरी बहुपठित, बहुश्रुत तथा बहुज्ञ थे।

आत्मकथ्य

"मैं संस्कृत बहुत अच्छी तरह जानता हूँ। मैंने उच्चतर एवं मौलिक शोध को लक्ष्य में रखकर वैदिक, पौराणिक, साहित्यिक एवं वेदांत विषयक संस्कृत-साहित्य के अंगों का विशिष्ट अध्ययन किया है। मैंने संस्कृत का आरम्भिक अध्ययन प्राचीन पद्धति से किया है जो बहुत ठोस होता है। अंग्रेजी शिक्षा ने मुझे ऐसे औजार दिए हैं जिनकी सहायता से पाश्चात्य विद्वान प्राचीन भाषा में अनुसंधान के लिए प्रवृत्त होते हैं।··· मैंने 'इंडियन एंटीक्वेरी' तथा अन्य संस्कृत और हिंदी की पत्र-पत्रिकाओं में विद्वत्तापूर्ण आलेख लिखकर योगदान किया है। मेरे लेखों की विशिष्ट प्राच्य-विद्याविदों ने प्रशंसा की है।···मैंने प्राचीन एवं आधुनिक गद्य तथा पद्यात्मक हिंदी-साहित्य का अच्छा अध्ययन किया है और पाली, प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओं से उसके विकास के बारे में भी अनुशीलन किया है। इतिहास और पुरातत्त्व विषयों में मेरी अभिरुचि है और मेरे अपने नाम से, बिना नाम से या अन्य विद्वानों के साथ जो लेख आदि प्रकाशित हुए हैं, वे सर्वविदित ही हैं।"

समकालीनों की दृष्टि में

गुलेरी जी ने उक्त शब्द 'अपने बारे में' लिखे हैं। इन शब्दों को मैं उन लोगों के लिए विशेष रूप से उद्धृत कर रहा हूँ जो मात्र यही जानते हैं कि गुलेरी जी 'उसने कहा था' कहानी तथा 'कछुआ धरम' और 'मारेसि मोहिं कुठाउँ' प्रभृति निबंध लिखकर ही जरूरत से ज्यादा नाम कमा बैठे हैं। ऐसा आचार्य रामचंद्र शुक्ल द्वारा 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में आई गुलेरी जी की प्रशंसा से भी हुआ है। आचार्य शुक्ल ने 'गुलेरी-चर्चा' में जो कुछ लिखा उसे मात्र इन्हीं तीन रचनाओं तक सीमित रखा और उनका विपुल कृतित्व जाने-अनजाने 'कॉर्नर' हो गया। इस सदी के पहले, दूसरे तथा तीसरे दशक की प्रतिनिधि पत्र-पत्रिकाओं को उलटने-पलटने पर ज्ञात होता है कि गुलेरी जी तथा शुक्ल जी साथ-साथ छपते रहे हैं। अत: विश्वास नहीं होता कि उनकी शेष रचनाएं शुक्ल जी की नजर से चूक गई हों। स्पष्ट है, 'कण्ठा' और 'शब्द-कौस्तुभ का कण्ठा' (प्रतिभा, १९१९-२० ई०) छद्मनामों से छपे उनके उक्त दोनों निबंधों का संधान कर लेने वाले शुक्ल जी उनके स्पष्ट नामों के साथ छपी—'आँख', देवकुल', 'अमंगल के स्थान में मंगल शब्द', 'संस्कृत की टिपरारी', 'शैशुनाक की मूर्तियां', 'काशी की नींद और काशी के नूपुर', 'संगीत', 'देवानां प्रिय', 'जयसिंह प्रकाश', 'पृथ्वीराज महाकाव्य', 'पृथु वैन्य का अभिषेक', 'शुनःशेप की कहानी', 'राजसूय' तथा 'आचार्य सत्यव्रत सामश्रमी' प्रभृति दर्जनों कृतियों को भी तब नजरअंदाज कर गए जबकि उनके समकालीन विद्वान उन्हें हिंदी की शक्ति को बढ़ाते रहने के लिए बराबर प्रेरित कर रहे थे।

इस संदर्भ में यहां तीन विद्वानों द्वारा गुलेरी जी को लिखे पत्रों के महत्त्वपूर्ण अंश उद्धृत करना समीचीन प्रतीत होता है—

१. "अनुवाद में भी और स्वतंत्र लेख में भी भावों को प्रकाश करने के लिए कठिन संस्कृत शब्दों का प्रयोग करना पड़ता है। मुझसे भी सरल भाषा नहीं लिखते बनती, आपसे भी नहीं। लेकिन फिर भी यत्न कर रहा हूं, आप भी कीजिए और जहां तक हो सके सरल भाषा के तद्भव शब्द और उन फारसी-अरबी शब्दों के, जो हमारे आपके लेखों को समझा सकें। अभ्यास से यह सिद्ध होगा।...जहां तक समय निकाल सकिए टिप्पणी और लेख प्रति सप्ताह भेजिए। अभी प्रति सप्ताह आपकी सहायता की आवश्यकता है। आगे चलकर चाहे कम ही कर दीजिएगा।...मुझे निश्चय है कि आपके लेखों को पढ़कर लोगों को पत्र (अभ्युदय) से प्रीति होगी।...ईश्वर आपके द्वारा देश का उत्तम उपकार करावे।"

—पं० मदनमोहन मालवीय का २४-२-१९०४ का पत्र

२. "उधर मर्यादा की संख्या में आपके कई वैदिक लेख निकले थे। उस दिन की प्रवंधकारिणी समिति में भी आपका एक ऐसा ही लेख 'लेखमाला' के लिए आया था। क्या आपका इरादा कोई वैदिकैतिहासिक पुस्तक लिखने का है। यदि हो तो बड़े ही हर्ष का विषय है। यदि नहीं है तो हमारी आपसे प्रार्थना है कि वैदिक ग्रंथों को मथकर ज़रूर नये-नये तत्त्व निकालिए। यह काम आप लोगों का है। पाश्चात्यों ने इस क्षेत्र में जो काम किया है उससे हमारे देशियों को संतोष न करना चाहिए बल्कि कृतज्ञतापूर्वक, उनका अनुकरण करना चाहिए। इसलिए, गुलेरी जी महाराज, हाथ जोड़कर आपसे हमारी प्रार्थना है कि जरूर वैदिक साहित्य से नई-नई ऐतिहासिक बातों को निकालकर दरिद्रिनी हिंदी को धनवती बनाइए। आप ही लोग यदि हिंदी के विषय में उदासीन रहेंगे तब हिंदी की उन्नति क्या 'चंद्रकांता' या गोस्वामी जी की 'चपला' से होगी। यदि आप यह कहें कि अभी हिंदी में वैसे पाठक नहीं तो निवेदन यह है कि वैसे पाठक बनाने से बनेंगे, चुपचाप बैठे रहकर प्रतीक्षा करने से वैसे पाठक कहीं आपसे आप न पैदा होंगे—यत्नात् सिद्धिः न दैवतः।"

—राय कृष्णदास का २४-४-१९१२ ई० का पत्र

३. "आप शोधसंबंधी पत्र निकालने का उपक्रम कर रहे हैं, यह जानकर हर्ष हुआ। हिंदी वालों का सौभाग्यसूर्य इतने दिन बाद उदय होने को है, इसका किसे हर्ष न होगा। हिंदी वालों के चिरदारिद्र्य को दूर कर दीजिए। भारत के प्राचीन ऐतिहासिक पुरुषों पर अंग्रेजी में अब तक जो कुछ लिखा गया है वही यदि हिंदी में हो जाए तो भी बड़े काम की बात है। आप लोग तो जो कुछ भी लिखेंगे उसमें बहुत कुछ नवीनता होगी। अनेक अद्भुत रहस्यों का उद्घाटन होगा।...योरोपियन और उनके चेले हिंदोस्तानी रिसर्च स्कालर बहुत से विषयों में जो अज्ञान फैला गए हैं उसका निराकरण हो जाएगा, इत्यादि बहुत-सी आशाएं हैं जिनका पूरा होना आपके थोड़े से ध्यान पर निर्भर है।...बंकिमचंद्र और रमेशचंद्र हिंदी भाषा-भाषियों में भी हैं परंतु हिंदी वालों का दुर्भाग्य है कि उनके लिए कुछ भी नहीं है। मुझे बार-बार ख्याल आता

है कि क्या कोई शक्ति ऐसी नहीं है जो आपको बलात् पकड़कर इधर लगाए और जो कुछ आपके अन्दर भरा है, सब उगलवा दे। मेरा ख्याल है, दृढ़ धारणा है कि आप जैसा विद्वान और सहृदय लेखक हिंदी में या हिंदी भाषा-भाषियों में दूसरा नहीं है। आप आधा समय भी हिंदी-साहित्य-सेवा के लिए दे सकते तो गरीब हिंदी का दारिद्र्य दूर हो जाता। पर देश दुर्दृष्ट कुछ नहीं करने देता किन्तु दुःखमतः परम्। नहीं मालूम यह विचार आपको क्यों विगलित नहीं करता, क्यों आपका हृदय नहीं पसीजता।"

—**पं० पद्मसिंह शर्मा** का ७-६-१९२० ई० का पत्र

सृजन के सोपान

गुलेरी जी की सृजनशीलता के चार मुख्य पड़ाव हैं—

१. **समालोचक** (१९०३-०६ ई०); २. **मर्यादा**, दिसम्बर-जनवरी (१९११-१२ ई०); ३. **प्रतिभा** (१९१८-२० ई०) तथा ४. **नागरी प्रचारिणी पत्रिका** (१९२०-२२ ई०)। इनमें उन्होंने दर्जनों रचनाएँ एक साथ लिखकर अपने गंभीर अध्ययन, चिंतन तथा पाण्डित्य का परिचय दिया। साथ ही 'सरस्वती', 'भारतमित्र', 'इंदु', 'पाटलिपुत्र', 'श्रीराघवेंद्र', 'वैश्योपकारक', 'श्रीवेंकटेश्वर', 'विद्यार्थी' तथा 'संस्कृत रत्नाकर' आदि में भी लिखते रहे। **हिन्दी-हिन्द-हित-साधन** उनके जीवन का लक्ष्य था। वह भारत को स्वाधीन तथा हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में देखना चाहते थे।

अपने समय के महारथी विद्वानों के पत्रों के उक्त अंश गुलेरी जी की विलक्षण प्रतिभा के सूचक हैं। मालवीय जी के पत्र लिखने के समय वह 'समालोचक' के सम्पादक के रूप में साहित्य-सेवा के प्रथम चरण में थे और 'खेल भी शिक्षा है', 'वेद में पृथिवी की गति', 'अयोध्याप्रासाद के स्मरण', 'संगीत की धुन', 'विक्रमोर्वशी की मूल कथा', 'धर्म-परायण रींछ', 'काशी', 'होली की ठिठोली वा एप्रिल फूल' प्रभृति गद्य-रचनाओं तथा 'भारत की जय', 'आहिताग्निका', 'झुकी कमान' और 'रवि' प्रभृति कविताओं से साहित्य-जगत् में अपना स्थान बना चुके थे।

गुलेरी जी एक ही पत्र के लिए एक साथ कई रचनाएं लिखते थे। सन् १९११-१२ की **मर्यादा** के लिए उन्होंने 'वाजपेय', 'राजसूय', 'अश्वमेध' 'सौत्रामणी का अभिषेक', 'शुनःशेप की कहानी', 'पुराने राजाओं की गाथाएँ', 'मनु वैवस्वत', 'पृथु वैन्य का अभिषेक' तथा 'सुकन्या की वैदिक कहानी' प्रभृति लेख लिखे, तो राय कृष्णदास ने अपने पत्र द्वारा वैदिक ग्रंथों का और भी मंथन करने की प्रेरणा देकर हिंदी की सेवा के लिए प्रेरित किया।

गुलेरी जी की असाधारण विद्वत्ता को सहृदय विद्वान पं० पद्मसिंह शर्मा ने जब पहचाना और अपना मंतव्य लिख भेजा तब उन्होंने 'प्रतिभा' के लिए 'कण्ठा' तथा 'शब्द-कौस्तुभ का कण्ठा' छद्मनामों से दर्जनों रचनाएं लिखी थीं जिनकी निबंधना 'सुमरनी के मनके' शीर्षक में हुई थी।

गुलेरी जी की साहित्यिक यात्रा का अन्तिम पड़ाव 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'

है। उन्होंने १९२०-२२ ई० में 'पत्रिका' के लिए 'पुरानी हिंदी' प्रबंध के अतिरिक्त पुरातत्त्व, इतिहास तथा भाषा सम्बन्धी जो लेख और टिप्पणियां लिखीं, उनमें 'शैशुनाक की मूर्तियां', 'देवकुल', 'चारणों और भाटों का झगड़ा', 'खसों के हाथ में ध्रुवस्वामिनी', 'पंच महाशब्द', 'कालिदास की देशभाषा', 'डिंगल', 'पाणिनी की कविता' तथा 'महर्षि च्यवन का रामायण' आदि प्रमुख हैं।

'समालोचक', 'मर्यादा', 'प्रतिभा' तथा 'पत्रिका' में विपुल मात्रा में लिखने के साथ-साथ गुलेरी जी की रचनाएं 'सरस्वती', 'इंदु', 'भारतमित्र', 'वैश्योपकारक', 'वेंकटेश्वर' तथा 'विद्यार्थी' आदि पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से भी प्रकट होती रहीं। उनका वज्ञानिक निवन्ध 'आँख; शोध-लेख 'जयसिंह प्रकाश' तथा 'पृथ्वीराज-विजय महाकाव्य' और कालजयी कहानी 'उसने कहा था' की प्रस्तुति 'सरस्वती' के माध्यम से हुई, तो 'सुखमय जीवन' तथा व्यक्तिव्यंजक निवन्ध 'काशी की नींद और काशी के नूपुर' की 'भारत मित्र' के माध्यम से।

सर्वतोमुखी प्रतिभा

गुलेरी जी भाषाविद् थे। उनकी संस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश, ब्रज, अवधी, मराठी, गुजराती, राजस्थानी, पंजाबी, बंगला, अंग्रेजी, लेटिन तथा फ्रेंच आदि भाषाओं में अच्छी गति थी। वह भाषा-विज्ञान, दर्शन, ज्योतिष, इतिहास, पुरातत्त्व, चित्रकला, संगीत, काव्यशास्त्र, वैदिक, पौराणिक साहित्य, राजनीति एवं धर्म आदि विषयों के भी पंडित थे। उन्होंने कहानी, निबंध, संस्मरण, इंटरव्यू, समीक्षा, जीवनचरित तथा काव्य प्रभृति विधाओं में मौलिक साहित्य-सृजन किया है। अपने कृतित्व की गरिष्ठता के कारण वह द्विवेदी युग के आधार-स्तंभ सिद्ध होते हैं। विषयों की दुरूहता, शैली की अर्थगर्भित वक्रता तथा गूढ़ प्रसंगोद्भावना उनकी शैली की विशेषताएं हैं। कहानी, निबंध तथा शोध के विषय में उनकी गणना अपने समय के अग्रणी विद्वान साहित्यकारों की प्रथम पंक्ति में होती है। उन्होंने 'संगीत की धुन' रचना के रूप में १९०५ ई० में गांधर्व महा-विद्यालय, लाहौर के संस्थापक तथा अध्यक्ष पं० विष्णु दिगम्बर पलुस्कर का इंटरव्यू करके हिंदी साहित्य में 'इंटरव्यू' विधा का सूत्रपात किया था। इसे पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि गुलेरी जी इंटरव्यू करने की शैली, मूल भाषा की सुरक्षा, सटीक प्रश्न पूछ कर, उत्तर को कुरेदकर निकलवा लेने की कला में दक्ष थे। इस इंटरव्यू में बातचीत की सहज भावभंगिमा की स्वाभाविकता देखते ही बनती है।

'पुरानी हिंदी' तथा 'उसने कहा था' की तरह 'बाबू अयोध्याप्रसाद के स्मरण', 'विक्रमोर्वशीय की मूलकथा', 'काशी', 'वेद में पृथिवी की गति', 'इण्डियन नेशनल कांग्रेस', 'कछुआ धरम', 'मारेसि मोहि कुठाऊं', 'देवकुल', 'संगीत', 'संस्कृत की टिपरारी', 'शैशुनाक की मूर्तियां', 'काशी की नींद और काशी के नूपुर', 'वर्ण विषयक कतिपय विचार' तथा 'धर्म और समाज' आदि गुलेरी जी की कालजयी कृतियां हैं। इनमें उन्होंने अपने युग की संवेदनाओं को अभिव्यक्त करके भविष्य के द्वार का सांकल खटखटाया है। रूढ़ियों का विरोध उनकी रचनाओं में मुखर है। वह स्त्री-शिक्षा के

पक्षधर थे। उन्होंने चातुर्वर्ण्य को 'कर्मणा' स्वीकारा है। वह जागरूक लेखक, आलोचक तथा सम्पादक थे। उनकी कलम व्यंग्य की धनी थी। उनकी रचनाओं में पाण्डित्यपूर्ण हास की प्रचुरता है। छुआछूत, बाल-विवाह, जन्मना जाति, विदेश-यात्रा आदि संदर्भों में वह अपने समसामयिकों से बहुत आगे चलते हैं। वह समाज को रूढ़ियों के पाश से मुक्त करने में प्रयत्नशील दिखाई देते हैं। उनकी रचनाओं में विदेशी सत्ता के प्रति विद्रोह का स्वर भी फूटता जाता है। वे परम्परा से पण्डित अवश्य थे, पर पुरातन पंथी नहीं।

वह प्रगतिशील विचारक थे—"···जो धर्म बलात्कार से कराया जाय वह धर्म नहीं है, अधर्म है।···आजकल वह उदार धर्म चाहिए जो हिन्दू, सिक्ख, जैन, पारसी, मुसलमान, कृस्तान—जो सबको एक भाव से चलावै, और इनमें बिरादरी का भाव पैदा करै।" राष्ट्रीय एकता का यही स्वर उनकी 'भारत की जय' आदि कविताओं में भी मुखर है।

इस तरह गुलेरी जी अपने इस २०-२२ वर्ष के लेखन द्वारा कवि, कहानीकार निबन्धकार, सधे हुए व्यंग्यकार, भेंटवार्ताकार, अनुसंधाता, आलोचक, टिप्पणीकार तथा प्रकाण्ड भाषाविद् सिद्ध होते हैं।

गुलेरी जी ने कविताएं भी लिखी हैं। उनकी कविताएं संस्कृत, ब्रज, खड़ीबोली तथा ब्रजमिश्रित खड़ीबोली में हैं। राष्ट्रीय संग्राम की पीठिका को लेकर लिखी इन कविताओं में स्वदेश और स्वदेशी, जनजागरण, मातृभूमि के प्रति भक्ति तथा प्रेम, ब्रिटिश-साम्राज्य की निंदा तथा भारत के गौरवमय अतीत का वर्णन है। कतिपय निबंधों की तरह कुछ कविताएं अर्थगर्भित वक्रता, गूढ़ प्रसंगोद्भावना तथा संस्कृतनिष्ठ समास-बहुला भाषा के कारण दुरूह हैं। इनमें व्यंग्य की धार तीखी है। उन्होंने युवराज जार्ज पंचम की भारत-यात्रा को लेकर आक्रोश उगला, तो तद्भव के सहारे 'प्रिंसैस मे! युवराज जारज' लिख गए और यह भी पूछना न भूले कि जब उन्हें आस्ट्रेलिया, कैनेडा आदि में 'हुर्रे रूल बृटानियां' सुनने में आनन्द आता है, तो भारत में हमारा 'वंदे प्रियां मातरम्' कहना कर्णशूल क्यों बन जाता है? ऐसी संकेतगर्भित चुटकियां 'एशिया की विजयादशमी', 'आहिताग्निका', 'सोऽहम्' तथा 'रवि' कविता में भी हैं।

कहानियां

गुलेरी जी तीन मौलिक कहानियों—'सुखमय जीवन', 'बुद्धू का कांटा' तथा 'उसने कहा था' के लिए प्रसिद्ध हैं। उनकी चौथी मौलिक कहानी 'हीरे का हीरा' (अपूर्ण) है। इसे गुलेरी जी के छोटे भाई पं० जगद्धर शर्मा गुलेरी के यहां सुरक्षित गुलेरी जी के कागज-पत्रों में से डॉ० छोटाराम कुम्हार ने खोज निकाला था। यह पहली बार 'जनसत्ता' (६ सितम्बर, १९८७ ई०) में छपी थी। यह गुलेरी जी के हस्तलेख में बड़े आकार के दो पृष्ठों में है। प्रथम पृष्ठ पर ३५ और द्वितीय पर ३६ पंक्तियां तथा प्रति पंक्ति लगभग १९ शब्द हैं। प्रथम पृष्ठ पर लिखित अंश १२×७, १/२″ तथा

द्वितीय पर १२×८" हैं। ये दो खण्डों में विभाजित हैं। यह 'उसने कहा था' का उत्तर अंश प्रतीत होती है।

'उसने कहा था' के अंत में आता है—**कुछ दिन पीछे लोगों ने अखबारों में पढ़ा—फ्रांस और बेलजियम—६८वीं सूची-—मैदान में घावों से मरा नं ७७ सिख राइफल्स जमादार लहनासिंह।** पर 'हीरे का हीरा' में वह जीवित है। उसकी एक टांग काट दी गई है, वह लकड़ी की टांग के सहारे घर लौटता है। 'उसने कहा था' में वह फ्रांस और बेलजियम की धरती पर घायल होता है और 'हीरे का हीरा' में चीन की लड़ाई में। उसकी टांग काट दिए जाने के समाचार से वृद्धा मां तथा पत्नी बहुत दुखी होती हैं। 'हीरा' उसका सात साल का बेटा है। इस कहानी में कांगड़ा की लोक-संस्कृति का चित्रण है। 'बुद्धू का कांटा' तथा 'उसने कहा था' में उभरती आंचलिकता इस कहानी में अधिक मुखर है। इसमें भारतीय नारी के मां तथा पत्नी रूपों का वात्सल्य तथा शृंगार के परिप्रेक्ष्य में मर्मस्पर्शी चित्रण है।

कथाकार राजेन्द्र यादव ने 'एक दुनिया समानान्तर' की भूमिका (पृ० ३५) में प्रश्न उठाया था—"मान लीजिए, 'उसने कहा था' का लहनासिंह न मरता तो? मान लीजिए वह घायल होकर या बिना घायल हुए रिटायर होकर 'मेजर चौधरी' (अज्ञेय) की तरह वापस लौट आता?"—आदि।

अब लहनासिंह की यह वापसी भला क्या अर्थ देती है?

गुलेरी जी ने कुछ मौलिक कहानियां और भी लिखी हैं, जिनकी खोज अभी नहीं हुई। डॉ० पीयूष गुलेरी द्वारा प्रस्तुत 'भारतमित्र' से सम्बद्ध पण्डित जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी के १९१२ ई० के पत्र में कुछ महत्त्वपूर्ण सूचनाएं हैं। यह पत्र यों है—

"प्रिय गुलेरी जी, नमस्कार। कहानी तथा पत्र आया। कहानी आप जरूर गढ़ डालते हैं पर चटपट नहीं। अगर चटपट गढ़ सकते हों तो एक और गढ़ डालिए। बारह महीने में एक गढ़ ली तो क्या हुआ! सचमुच आप बड़े ढीले हैं। जो हो आपकी कहानी बड़ी मजेदार और सुन्दर हुई है। बड़ा आनन्द आता है। इसी से कहता हूं कि और। होली की टिप्पणियां भी खासी थीं। क्यों न हों, आप आप ही हैं।"[1]

उक्त पत्र से ये संकेत मिलते हैं—

१. 'बारह महीने में एक गढ़ ली' से लगता है, सन् १९११ ई० में 'सुखमय जीवन' छपने के बाद लिखी यह कोई अन्य कहानी है। लगता है 'सुखमय जीवन' मार्च-अप्रैल, १९११ ई० के आसपास छपी होगी।

२. 'जो हो आपकी कहानी बड़ी मजेदार और सुन्दर हुई है'—से लगता है, यह नयी कहानी मनोरंजकता की धनी रही होगी।

३. 'होली की टिप्पणियां भी खासी थीं'—से लगता है, यह पत्र मार्च-अप्रैल, १९१२ ई० या इसके बाद का है।

---

१. श्रीचंद्रधर शर्मा गुलेरी : व्यक्तित्व और कृतित्व, पृ० ३६५

स्पष्ट है कि 'भारतमित्र' के मार्च-अप्रैल १९१२ ई० के बाद के किसी अंक में गुलेरी जी की कोई अन्य कहानी अवश्य छपी थी। गुलेरी जी के 'कहानीकार' की निर्मिति में 'घण्टाघर' रचना भी उल्लेख्य है। इसके पूर्वार्द्ध में कहानी का-सा प्रवाह, औत्सुक्य तथा वर्णन-कौशल और उत्तरार्द्ध में विचारतत्व की प्रधानता है। यह रचना कहानीकार गुलेरी के उदय की सूचक है।

कालक्रम की दृष्टि से गुलेरी जी की पहली महत्त्वपूर्ण कहानी 'धर्मपरायण रींछ' है, भले ही मौलिक नहीं। इसके अन्त में आता है—**भारतवासियो ! यह तुम्हारे ही 'महाभारत' की कथा है।** अर्थात् इसका स्रोत 'महाभारत' है। गुलेरी जी ने इसमें भाषानुवाद न करके प्रतीक कथा के रूप में बुनकर गोरी सरकार पर तीखा कटाक्ष किया है। डॉ० पीयूष गुलेरी के अनुसार यह रचना कथा/कहानी न होकर विचारात्मक, भावात्मक निबंध है। यथा—

(क) " 'धर्मपरायण रींछ' इनका पौराणिक विषय पर लिखित निबंध है। इसमें एक पौराणिक कथा के वर्णनात्मक शैली में विवेचन द्वारा भारत की अतिथि-सेवा के आदर्शों पर प्रकाश डाला गया है।"

(ख) "···तो किसी निबंध में भारतवासियों को भारत के प्राचीन गौरव के प्रति सचेत किया गया है।

(ग) "पण्डित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी के समस्त लेखों और निबन्धों की सूची : (क) मौलिक निबंध।"[1]

'धर्मपरायण रींछ' कहानी है या नहीं, गुलेरी जी के कहानीकार व्यक्तित्व की निर्मिति में इसका क्या योगदान है, इस सम्बन्ध में कुछ सम्मतियां यों हैं—

१. "यह रचना कहानी तो मानी जा सकती है परन्तु आधुनिक कहानी से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। विषय का प्रतिपादन कुछ कथावाचक की शैली में है। अगर इसके अन्त में थोड़ा परिवर्तन कर दिया जाए तो यह एक अच्छी कहानी बन सकती है पर इसे मौलिक कहानी नहीं कह सकते। एक प्राचीन आख्यान को उन्होंने आधुनिक शैली में लिखने का प्रयत्न किया है। यदि वे इस प्रतीक कथा को आज के यथार्थ के साथ जोड़ पाते तो सम्भवतः यह और भी अच्छी बन जाती। इसकी गणना उनकी कहानियों में निश्चय ही की जा सकती है।

—विष्णु प्रभाकर : पत्र, २१-७-१९८८

२. " 'धर्मपरायण रींछ' में मनुष्य की निर्ममता का उद्घाटन है। किन्तु यह कहानी, कहानी के रूप में सामान्य और इकहरी ही है। आखिर में भी रींछ के आग्रह पर नराधम को बैकुंठधाम दिलवाकर कहानीकार ने अधर्म का भव्य परिणाम दिखा दिया है। क्यों ?"

—डॉ० रामदरश मिश्र : पत्र, १-८-१९८८

---

१. श्रीचंद्रधर शर्मा गुलेरी : व्यक्तित्व और कृतित्व, पृ० १७१, १८०, १८४

३. " 'धर्मपरायण रींछ' कहानी है, हम चाहे उसे आधुनिक कहानी न मानें। यह अपनी पौराणिकता और उपदेशात्मकता के बावजूद आधुनिक हिन्दी कहानी के आरम्भिक चरण और गुलेरी जी के कहानीकार व्यक्तित्व की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। विद्वत्ता का कुशल उपयोग, वर्णन-कौशल, भावगत और शैलीगत चपलता, भाषागत जीवन्तता और प्रांजलता आदि इसकी विशेषताएं हैं जिनका अत्यधिक विकसित रूप 'उसने कहा था' में मिलता है।"

—**डॉ० हरदयाल** : पत्र, २८-१०-८८

४. "यह कहानी मौलिक नहीं कही जा सकती। उपसंहार में लेखक स्वयं इसे 'महाभारत' की कहानी बताता है। गुलेरी जी ने रींछ के स्वदेशी कोट की बात कहकर कहानी को अपने ढंग से कहने की चेष्टा की है।"

—**डॉ० पुष्पपाल सिंह** : पत्र, २०-७-८८

५. " 'धर्मपरायण रींछ' कहानी प्रतीत होती है। इसमें कथा, कुछ घटनाएं एवं प्रसंग हैं। यह एक प्रतीक कथा लगती है। धर्मपरायण रींछ भारत की जनता है, शेर अंग्रेज है। व्याध उन भारतीयों का प्रतीक है जो अंग्रेजों के साथ मिलकर धर्मपरायण भारतीय जनता का खून चूसते हैं। रींछ में भारतीय धर्म, मर्यादा, नीति तथा परम्परागत मूल्य साकार हैं।"

—**डॉ० कमल किशोर गोयनका** : पत्र, २४-७-८८

६. "मैं इसे मौलिक कहानी नहीं कह सकता। मूल कथा, घटनाएं और उपसंहृति महाभारतकार की हैं। गुलेरी जी ने कोई नवीन उद्भावना नहीं की है। उनका समय हिन्दी-साहित्य का संक्रमण/संक्रान्ति काल था। भारतवासियों को पुरानी कथाओं के माध्यम से उद्बोधित करना, साहित्यकार धर्म समझते थे।"

—**डॉ० ओम्प्रकाश सारस्वत** : पत्र, २६-७-८८

७. " 'धर्मपरायण रींछ' कहानी प्रतीकात्मक ढंग से भारतीय संस्कृति के मूल्य—अतिथि-सत्कार को पूरी ताकत से सामने रखती है। यह 'उसने कहा था' को समझने के लिए एक भूमिका तैयार करती है। इन दोनों में एक जबर्दस्त समानता है—कहानी कहने का ढंग। इसके मूल स्वरूप को गुलेरी जी ने अगर कहीं भी समसामयिक परिस्थितियों से जोड़ दिया है, और प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति का सहारा लिया है, तो मूलरूप में 'महाभारत' की कथा ही सही, उनकी पहली कहानी मानने में कोई गुरेज़ नहीं होना चाहिए।"

—**डॉ० प्रताप सहगल** : पत्र, २०-७-८८

स्पष्ट है कि 'धर्मपरायण रींछ' कहानी ही है, निबन्ध नहीं। और कालक्रम की दृष्टि से गुलेरी जी की ढंग की पहली कहानी होने से इसका ऐतिहासिक महत्त्व भी है।

समालोचक

गुलेरी जी अपने समय के प्रखर समालोचक तथा जागरूक सम्पादक थे। उन्होंने अपने मित्र मि० जैन वैद्य की सहायता से जयपुर में 'नागरी भवन' संस्था की स्थापना करके 'हिन्दी-हिन्द-हित-साधन' का वातावरण तैयार किया। इस सदी के आरंभ में **सरस्वती** (बाबू चिन्तामणि घोष का इण्डियन प्रेस, प्रयाग) और **सुदर्शन** (बाबू कार्तिकप्रसाद खत्री का लहरी प्रेस, काशी) पत्र निकले। 'सरस्वती' के सम्पादक मण्डल में सर्वश्री कार्तिकप्रसाद खत्री, किशोरीलाल गोस्वामी, जगन्नाथदास 'रत्नाकर', राधाकृष्णदास तथा श्यामसुन्दरदास थे और 'सुदर्शन' के एकछत्र सम्पादक थे—पं० माधवप्रसाद मिश्र। 'सरस्वती' पहले वर्ष सम्पादक मण्डल की देखरेख में निकली, दूसरे और तीसरे वर्ष सम्पादक हुए—श्यामसुन्दरदास और फिर पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी। 'सुदर्शन' तीसरे वर्ष में प्रवेश करके बंद हो गया।

'सरस्वती' तथा 'सुदर्शन' से प्रेरित होकर मि० जैन वैद्य के मन में एक ऐसा मासिक पत्र निकालने का विचार आया जो साहित्य तथा समाज के बारे में निर्भीकता-पूर्वक स्वतन्त्र तथा दो टूक बात कह सके। और, तब गुलेरी जी के सत्परामर्श से **समालोचक** (अगस्त, १९०२ ई०) निकलना शुरू हुआ। इसके सम्पादक बाबू गोपाल-राम गहमरी नियुक्त हुए। 'प्रवेशांक' में पत्र के उद्देश्य को लक्षित करने वाली 'आगमन' शीर्षक गुलेरी जी की यह टिप्पणी छपी—

"अभ्यागत का परिचय पहले ही देना चाहिए लेकिन पहले आगमन में जो परिचय होगा उसकी बिसात ही क्या? उतना परिचय तो नाम से ही पढ़ने वालों को हो सकता है, अधिक परिचय होते-होते होगा। किन्तु इतना कह देना उचित है कि साधारणतः सबके मुख्य और गौण दो उद्देश्य होते हैं। इस पत्र का मुख्य उद्देश्य 'समालोचन' होगा, उसके साथ साहित्य की आलोचना भी इसमें रहा करेगी। अपने उद्देश्य-साधन में 'समालोचक' साध्यानुसार त्रुटि नहीं करेगा, लेकिन बहुधा देखा जाता है कि मनुष्य जो बनाना चाहता वा बनाता है, प्रतिकूल स्रोत उसे तोड़ बहाता है। उस सर्वसिद्धिदाता मंगलमय भगवान् से आरम्भ में यही चाहना है कि हज़ार प्रतिकूल स्रोत और विघ्न व्याघात में भी हम लोगों का संकल्पित उद्देश्य स्थिर रहे।"

'समालोचक' का प्रमुख उद्देश्य हिन्दी-समालोचना के आदर्श मानदण्डों की निबन्धना करना था। इसलिए हर अंक में पत्र की 'नियमावली' छापी जाने लगी। यथा—

नियमावली

"१—'समालोचक' हर अङ्गरेजी महीने के अन्तिम सप्ताह में निकला करेगा।

२—दाम इसका सालान १॥) है, साल भर से कम का कोई ग्राहक न हो सकेगा न=) का टिकट भेजे बिना नमूना पा सकेगा।

३—'समालोचक' में जो विज्ञापन छपेंगे उनमें भी कुछ भी झूठा व अति-

रञ्जित होगा तो उसकी समालोचना करके सर्व साधारण को धोखे से बचाने की चेष्टा की जायगी; कोई विज्ञापन बिना पूरी जाँच किये नहीं छापा जायगा।

४—आयी हुई वस्तुओं की बारी-२ से समालोचना होगी। किसी की व्यक्तिगत विरोध से भरी वा असभ्य शब्द पूरित आलोचना नहीं छापी जायगी। जिस वस्तु की समालोचना छापी जायगी उसकी न्याय और युक्तिपूर्ण पक्षपातशून्य समालोचना छापी जायगी।

५—जो पुस्तक व पोथी जघन्य अथवा महानिन्दित और सर्व साधारण के लिये अहितकर होगी उसका प्रचार और प्रकाश बन्द करने के लिये उचित उद्योग किया जायगा। जो उत्तम, उपकारी और सर्व साधारण में प्रचार होगी उसके प्रचार का उचित उद्योग किया जायगा, इन पुस्तकों के सुलेखकों को प्रशंसा-पत्र व पुरस्कार प्रदानादि से भी उत्साहित किया जायगा।।

६—जो समालोचना समालोचक समिति के विद्वान और सभ्यों की लिखी वादविवाद से उत्तम और युक्तिपूर्ण होगी वही छापी जायगी। समालोचक की छपी समालोचना किसी व्यक्ति विशेष की लिखी नहीं समझना चाहिये।।

७—समालोचक के लिये लेख, समाचार पत्र, पुस्तक आदि समालोचक सम्पादक के नाम गहमर (गाज़ीपूर) को भेजना चाहिए और मूल्यादि ग्राहक होने की चिट्ठी, पता बदलने के पत्र विज्ञापन के मामिले की चिट्ठी पत्री सब समालोचक के मैनेजर मिस्टर जैन वैद्य जौहरी बाजार जैपुर के पते पर भेजना चाहिए।"

'समालोचक' के प्रथम अंक में सम्पादक ने 'समालोचना', 'साहित्य समालोचना', 'तार्किक' (प्राप्ति), 'हिन्दी की चिन्दी', 'पद्य की भाषा' शीर्षक लेख दिए जो हिन्दी में 'आदर्श-समालोचना' की स्वस्थ परम्परा के सूत्रपात कहे जाते हैं। प्रथम वर्ष के अंकों में तत्कालीन साहित्य की समालोचना तथा मूल्यांकन करने का विशेष दायित्व पं० सकल नारायण पाण्डेय ने निभाया। गुलेरी जी ने गुमनाम रहकर जून-जुलाई, १९०३ ई० के अंक में पं० विष्णुशास्त्री चिपलूणकर की 'निबन्धमालादर्श' पुस्तक की विस्तृत समालोचना लिखी। उनके अनन्य मित्र पं० झाबरमल्ल शर्मा लिखते हैं—"पत्र के नियमानुसार समालोचक-विद्वान के नाम का उल्लेख नहीं है परन्तु यह समालोचना गुलेरी जी की ही है। इसी में 'भामिनी विलास' के उस श्लोक को उद्धृत किया गया है जो आगे चलकर 'समालोचक' के आदर्श वाक्य के रूप में प्रत्येक[1] सांचिका के मुखपृष्ठ पर छपने लगा।"[2]

१. (क) मात्र अगस्त; सितम्बर तथा अक्तूबर-नवम्बर, १९०३ ई० के अंकों पर। —सम्पादक

(ख) नीरक्षीर विवेके हंसाऽऽलस्यं त्वमेव तनुषे चेत्।
विश्वहिमन्नधुनाऽन्यः कुलव्रतं पालयिष्यति कः।। समालोचक : अगस्त १९०३ ई०

२. गुलेरी गरिमा ग्रंथ : झाबरमल्ल शर्मा; पृ० ११२; ना० प्र० स०, काशी, सं० २०४१ वि०

अगस्त, १९०३ ई० से 'समालोचक' का सम्पादन-कार्य गुलेरी जी ने संभाला। उनके पिता राज्याश्रय में थे इसलिए वह सम्पादक के रूप में अपना नाम नहीं दे सकते थे। उनका नाम कविताओं तथा शोध-लेखों पर जाता था परन्तु 'अत्र यत्र सर्वत्र' की टिप्पणियां उन्हीं की होती थीं।[१] उन्होंने अपने सम्पादकत्व में निकलने वाली संख्या में पृष्ठ १४ पर यह घोषणा की—

"कई मित्रों की राय है कि 'समालोचक' में समालोचना ही न निकला करे किन्तु साहित्य के भिन्न-भिन्न लेख भी छपा करें। गए ४-५ महीनों से 'समालोचक' तो वैसा ही निकलता है और यह संख्या भी वैसी ही प्रकाशित की जाती है। इस विषय में हम सहयोगियों, पाठकों तथा हिन्दी के प्रेमियों की सम्मति चाहते हैं, यदि वह चाहें तो समालोचना ही समालोचना लिखी जाय; यदि वे चाहें तो साधारण उच्च कोटि के मासिक पत्र का क्रम लिया जाय। अवश्य ही समालोचना की प्रधानता (अति भी) रहा करेगी।"

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'समालोचक' के माध्यम से गुलेरी जी के हिन्दी-जगत् में प्रवेश को रेखांकित करते हुए लिखा—"गुलेरी जी ने 'सरस्वती' के कुछ ही महीने पीछे अपनी थोड़ी अवस्था में जयपुर से 'समालोचक' नामक एक मासिक पत्र अपने सम्पादकत्व में निकलवाया था। उस पत्र द्वारा गुलेरी जी एक बहुत ही अनूठी लेख-शैली लेकर साहित्य क्षेत्र में उतरे थे। ऐसा गम्भीर और पाण्डित्यपूर्ण हास, जैसा इनके लेखों में रहता था, और कहीं देखने में न आया। अनेक गूढ़ शास्त्रीय विषयों तथा कथा-प्रसंगों की ओर विनोदपूर्ण संकेत करती हुई इनकी वाणी चलती थी।"[२]

सम्पादक गुलेरी जी ने 'समालोचक' को जो नया रूप प्रदान किया उसकी शीघ्र ही एक पहचान बन गई।[३]

गुलेरी जी सम्पादकीय टिप्पणियों (अत्र तत्र सर्वत्र : दिसम्बर, १९०३ ई० के अंक से आरंभ) में तलस्पर्शी तथा पाण्डित्यपूर्ण हास की अनूठी शैली की छाप पाठकों पर छोड़ रहे थे। उनकी गुमनामी रचनाओं को लेकर जब 'यह लेखक हैं कौन ?'— ऐसे प्रश्न बराबर उठने लगे तो उन्होंने **प्रश्न पूछने वालो** !!! शीर्षक यह टिप्पणी (समालोचक : अगस्त, १९०४ ई०) प्रकाशित की—

"**समालोचक** में अनेक लेख गुप्त नाम से प्रकाशित होते हैं। इसलिए हम किसी को उन 'गुप्त' महोदयों का नाम नहीं बता सकते और न हम, वर्तमान सम्पादकों का नाम बतला सकते हैं। प्रश्नकर्त्ता ! क्षमा करें।"

और, विष्णुदत्त शर्मा ने 'श्री राघवेन्द्र' (वर्ष २, संख्या ११, पृ० ४२२; आषाढ़-श्रावण, १९६३ वि०; सन् १९०६ ई०) में 'दीवे तले अंधेरा' शीर्षक के

---

१. गुलेरी गरिमा ग्रंथ : झाबरमल्ल शर्मा; पृ० ११३

२. हिन्दी साहित्य का इतिहास : रामचंद्र शुक्ल; पृ० ४९६; ना० प्र० स० काशी; २०१८ वि०

३. देखें : परिशिष्ट १

अन्तर्गत 'समालोचक' (जनवरी-मार्च १९०६ ई०) के संदर्भ में छद्मनामी लेखक गुलेरी की पहचान करते हुए लिखा—"इसके सम्पादक पं० चन्द्रधर गुलेरी बी०ए० ही दीखते हैं क्योंकि टाइटिल पेज की विषय-सूची से मालूम होता है कि जिन विषयों के साथ लेखक का नाम नहीं है, वे सम्पादक के हैं। और इन्हीं लेखक के नाम रहित विषयों में 'रवि' एक पद्यमय लेख है जिसके लेखक उक्त महाशय ही हैं क्योंकि अन्त में लिखा है—"या लहि है सायुज्य चन्द्रधर पद कमलन को।" यद्यपि यहां 'चन्द्रधर' का अर्थ 'शिव' लिया है पर उक्त नामधारी के सिवाय यह बात किसको फुर सकती है कि नाम अपना रहै और अर्थ दूसरा ही होवे तथा प्रकट होकर भी गुप्त रहैं। इस लेख का सबसे पहिले स्थान पाना भी इस विश्वास की पुष्टि करता है।"

तात्पर्य यह है कि 'समालोचक' में भी गुलेरी जी ने बिना नाम और छद्म नामों से पर्याप्त लिखा है। इसकी प्रामाणिकता की जांच के लिए पं० झाबरमल्ल शर्मा तथा डॉ० पीयूष गुलेरी की कृतियां सहायक सिद्ध हुई हैं।

गुलेरी जी ने 'सरस्वती', 'प्रतिभा', 'भारत मित्र' तथा 'वैश्योपकारक' आदि में भी छद्मनामों से लिखा है। सर्वश्री रामचन्द्र शुक्ल, विश्वनाथप्रसाद मिश्र, राय कृष्णदास, झाबरमल्ल शर्मा, जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी, विष्णुदत्त शर्मा तथा पीयूष गुलेरी आदि ने उनके 'कण्ठा', 'शब्द कौस्तुभ का कण्ठा', 'बी०ए०', 'एक ब्राह्मण', 'एक बी०ए० ब्राह्मण', 'स्पष्टवक्ता', जिमक्कड़', 'प्रतिनिधि', 'समालोचक', 'सम्पादक', 'भ्रमर', 'भारतवर्ष', 'एक कायस्थ', 'एक जैन', 'चिट्ठीवाला', 'एक चिट्ठीवाला', 'वही चिट्ठीवाला', 'सनातनी' तथा 'घरघूमन दादा' प्रभृति छद्मनामों की पुष्टि की है।

गुलेरी जी छद्मनामों से लिखी रचनाओं में अपनी अनूठी शैली से भी बखूबी पहचाने जाते हैं। उनकी कृतियों की मोटी पहचान यह है कि उनकी भाषा-शैली में 'संस्कृत काव्योक्तियां', 'पाण्डित्यपूर्ण हास', 'प्रसंगगर्भत्व' तथा 'हिमाचली पहाड़ी' (कांगड़ी) के शब्द निहित रहते हैं। छद्मनामी जिन कृतियों में ये प्रवृत्तियां मिलें, उन्हें गुलेरी जी के कृतित्व में सम्मिलित किया जा सकता है।

'समालोचक' में भाषाविज्ञान, व्याकरण, समालोचना, शोध, इतिहास, अर्थशास्त्र, दर्शन, धर्म, राष्ट्रीयता, राजनीति, काव्यशास्त्र, नाटक, उपन्यास, काव्य तथा पत्रकारिता आदि विविध विषयों पर बहुमूल्य तथा दुर्लभ सामग्री है। इसमें खड़ीबोली-आन्दोलन, लिपि-प्रणाली, हिन्दी-नाटक, महाकाव्य, हिन्दी-उपन्यास, बकिम बाबू का कथा-साहित्य, विद्यापति विल्हण, महाकवि भूषण, प्रताप साहि, किशोरीलाल गोस्वामी, देवकीनन्दन खत्री, बंगमहिला, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' आदि के विषय में अच्छी जानकारी उपलब्ध है।

'समालोचक' वर्तमान सदी के प्रथम दशक में बन रहे हिन्दी-साहित्य के स्वरूप का दर्पण है। इसमें गोपालराम गहमरी तथा गुलेरी के अतिरिक्त अयोध्याप्रसाद खत्री, सकलनारायण पाण्डेय, बिहारीलाल बिदासरिया, एन० एन० घोष, शिवचन्द्र बलदेव भरतिया, जैनेन्द्र किशोर, राय देवीप्रसाद पूर्ण, गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, श्यामबिहारी मिश्र, शुकदेव बिहारी मिश्र, सर बैंडबल्यू० हरबर्ट, बंग महिला, राधाकृष्ण दास,

गिरिजाप्रसाद द्विवेदी, राधाकृष्ण मिश्र, कमलाकर द्विवेदी, काशीप्रसाद, ठाकुरप्रसाद, मुंशी देवीप्रसाद मुंसिफ, गंगाप्रसाद अग्निहोत्री, कन्हैयालाल पोद्दार, महेन्दुलाल गर्ग, सुभद्रा देवी, राधाचरण गोस्वामी, हरसुप्रसाद सिंह, माणिक्यचन्द्र जैन, बाबू श्यामसुन्दर दास, नरनाथ झा, सतीश चन्द्र विद्याभूषण, रामचन्द्र शुक्ल, पुरोहित लक्ष्मीनारायण, पुरोहित गोपीनाथ, गंगासहाय शर्मा, बालकृष्ण भट्ट तथा पुरुषोत्तमदास आदि की गद्य-पद्यमयी रचनाएं हैं।

विदग्ध निबंधकार/व्यंग्यकार

गुलेरी जी 'समालोचक' के माध्यम से एक विदग्ध निबंधकार के रूप में सामने आए थे। 'खेल भी शिक्षा है', 'वेद में पृथिवी की गति' और 'विक्रमोर्वशी की मूल कथा' तथा 'काशी' निबंध उनके अनुसंधाता, कथाकार और व्यक्ति-व्यंजक निबंधकार के प्रादुर्भाव के सूचक हैं। कालांतर में उनका अनुसंधाता 'सरस्वती' में छपे 'आँख', 'जयसिंहप्रकाश' तथा 'पृथ्वीराजविजय महाकाव्य' के अतिरिक्त 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' के लेखों में परिपक्व होता दिखाई देता है।

गुलेरी जी की उपलब्ध गद्य-रचनाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि उन्होंने प्राच्यविद्या, पुरातत्त्व, भाषा-शास्त्र तथा भाषा-विज्ञान, इतिहास, समसामयिक समस्याओं तथा प्रसिद्ध और चर्चित व्यक्तियों को अपने रचना-कर्म का विषय बनाया है। उन्होंने अपने प्राच्यविद्या तथा इतिहास विषयक निबंधों में पूर्वाग्रहों को त्याग कर, खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति के सहारे **सत्य की खोज** करने का सफल प्रयास करके वेद, उपनिषद्, स्मृति, पुराण आदि का गंभीर अध्ययन-मनन करके गूढ़ विषयों को साधारण पाठकों के लिए बोधगम्य बनाया है।

गुलेरी जी ने वैदिक तथा पौराणिक विषयों की कथाओं को प्रायः रूपक के रूप में स्पष्ट करते हुए प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इस दृष्टि से 'शुनःशेप की कहानी' तथा 'पृथु वैन्य का अभिषेक' आदि निबंध उल्लेख्य हैं। उन्होंने शुनःशेप की पूरी कथा की स्पष्ट प्रस्तुति करके, अन्त में अपना मत देते हुए लिखा है—

"यह कहानी दिखाती है कि दीनता और भूख मनुष्य को किस नीच कर्म करने तक पहुंचा देती है, कैसे परिश्रम से खोजने वाले को सब कुछ मिलता है।···राजा के अभिषेक के पीछे इस कथा को सुनाने का तात्पर्य यह है कि हरिश्चन्द्र की-सी प्रतिज्ञा कभी न करे, आपत्ति आने पर भी निराश न हो, रोहित की तरह घूमता रहे और अपने सुराज्य से ऐसा अवसर न दे कि लोग भूख के मारे अजीगर्त के से नर-पिशाच बन जाएं।"

इसी तरह पृथु वैन्य की उत्पत्ति के इतिहास को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—"सुनीति के पुत्र, विधर्मा, वेन को ऋषियों ने कुशों से मार-मारकर मार डाला। फिर उसकी जाँघ को मथने से उसमें एक विकृत, अशुद्ध, ठिंगना, जले हुए कुंदे का-सा लाल आँखों और काले केशों वाला पुरुष निकला, जिसे ऋषियों ने कहा कि 'निषीथ (=बैठ जा)'। उसमें से निषाद, भील, मलेच्छ वनचारी उत्पन्न हुए हैं। यों गर्हित नीचे के

भाग की छाँट निकाल, ऋषियों ने उस मरे हुए राजा के दहने हाथ को मंथन किया। अब हम यह नहीं कह सकते कि पुराणों में यह रूपक है या सच्चा वर्णन। यदि रूपक है तो इसका अर्थ आजकल की भाषा में यह है कि ऋषियों ने नीच प्रवृत्तियों को निकाल बाहर किया और मृत राजा की बाँह अर्थात् बराबर के मनुष्यों से मंथन (छान-बीन) करके एक इंद्र के समान रूपवान पुरुष निकला। कवच पहने, तलवार बांधे, धनुष-बाण धारे, वेद-वेदांग धनुर्वेद का यह पारगामी नरोत्तम था। सारी दंडनीति उसमें आश्रित थी। वह था वैन्य (= वेन का पुत्र)।"

गुलेरी जी ने उर्वशी और पुरूरवा की कहानी को ऊषा और सविता के संयोग और वियोग की काव्यमयी तथा वैज्ञानिक कथा कहा है। इसमें उन्होंने वेदों से लेकर पुराणों में आए प्रसंगों का उल्लेख करके विक्रमोर्वशी की मूल कथा के उद्‌भव और विकास को स्पष्ट किया है। च्यवन और सुकन्या के कथा-प्रसंग पातिव्रत और पितृभक्ति के आदर्शों को स्थापित करते हैं।

'वाजपेय', 'अश्वमेध, 'राजसूय' आदि निबंध वैदिक तथा पौराणिक परम्परा की अनुष्ठान-पद्धतियों को स्पष्ट करने में समर्थ हैं। 'शैशुनाक की मूर्तियां' में इतिहास के गूढ प्रसंगों और रहस्यों तथा प्राचीन कला की बारीकियों का चित्रण है। इसके लिए उन्होंने काशीप्रसाद जायसवाल आदि इतिहासविदों के मतों की परीक्षा करके अपने मत की स्थापना करते हुए अपने इतिहास, लिपि तथा कलाविद् होने का परिचय दिया है। उन्होंने शैशुनाक-मूर्तियों को देवकुलों का अवशेष सिद्ध किया है।

'अनुसंधाता' के रूप में गुलेरी जी की विशेषता थी कि वह विषय के अंतस् में गहरे पैठ कर अपना मंतव्य देते थे। उनमें खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति प्रबल थी। विद्वानों की असंगत मान्यताएं उन्हें स्वीकार्य नहीं थीं। वह ऐसे विषयों के बारे में गहरी छानबीन करके अपनी प्रतिक्रिया पुष्ट प्रमाणों तथा तर्कों के साथ प्रकट करके अपनी मान्यताओं को मनवा भी लेते थे। यही कारण है कि उनके लेखों में लम्बी-लम्बी पादटिप्पणियां रहती थीं। 'सुकन्या की वैदिक कहानी', 'चाणूरअंध्र', 'चारणों और भाटों का झगड़ा', 'कालिदास की देशभाषा', 'वेलावित्त', 'अवंतिसुंदरी', 'पंच महाशब्द', 'महर्षि च्यवन का रामायण' तथा 'आत्मघात' आदि लेख इस संदर्भ में विशेष रूप से उल्लेख्य हैं। ध्यातव्य है कि 'विष्णुसहस्रनाम' में आए 'चाणूरअंध्र' शब्द (पूरा नाम चाणूरांध्रनिषूदन) पर लिखे मात्र दस पंक्तियों के लघु लेख के साथ ६६ पंक्तियों की पाद-टिप्पणियां हैं। गुलेरी जी के सजग तथा तटस्थ अनुसंधाता का परिचय 'पुरानी पाण्डुलिपियां' विषयक लेखों में मिलता है जहां वह यह सहज ही सिखा जाते हैं कि पाण्डुलिपि के आकार-प्रकार, लिखावट, अक्षरों, पंक्तियों तथा सर्गों की जानकारी कैसे प्रस्तुत करनी चाहिए।

गुलेरी जी को कहानीकार के अतिरिक्त निबंधकार के रूप में जो प्रतिष्ठा मिली है उसका आधार उनके व्यक्तिव्यंजक निबंध 'कछुआ धरम' और 'मारेसि मोहिं कुठाउं' प्रमुख हैं। ये निबंध १९१९ और १९२० ई० में 'प्रतिभा' में 'कण्ठा' छद्‌म नाम से छपे थे। इनसे पहले उनके दो निबंध 'काशी' तथा 'काशी के नूपुर और काशी की नींद'

क्रमशः 'समालोचक' (१९०६ ई०) तथा 'भारतमित्र' (१९१९ ई०) में छप चुके थे, जिन पर आलोचकों की नजर प्रायः नहीं पड़ी। ये निबंध उनकी भावात्मक शैली के द्योतक हैं। गुलेरी जी के व्यक्तिव्यंजक निबंधों में रोचकता, प्रभविष्णुता तथा वैचारिक वैभव की तो मानो वृष्टि ही होती जाती है। इनकी भाषा लच्छेदार तथा विचार मौलिक हैं। भाव-भंगिमा में माधुर्य है। बीच-बीच में व्यंग्य की बौछार स्मित हास पैदा करती है। इनमें गुलेरी जी की स्पष्टवादिता तथा बहुज्ञता के दर्शन होते हैं।

गुलेरी जी सधे हुए **व्यंग्यकार** थे। अर्थगर्भित वक्रता उनके व्यंग्य की विशेषता है। उनके नितांत अभिधा के-से प्रतीत होने वाले कथन भी लक्षणा, व्यंजना और ध्वनि की सौंदर्य-शक्ति से मण्डित रहते हैं। इनके व्यंग्य में हास्य का अट्टहास नहीं, 'स्मित हास' रहता है। भाषा में मुहावरेदारी की लोच, विशेष भंगिमा तथा मीठी-मीठी टीस पैदा करने वाली चुभन रहती है। व्यंग्य की इस मार से इनकी शायद ही कोई रचना रिक्त हो। उनका व्यंग्यकार सामाजिक कुरीतियों के नासूर के लिए नश्तर का काम करता है। व्यंग्य की विलक्षणता यह है कि उसमें दुर्भावना, आक्रोश, वितृष्णा तथा पाशविकता नहीं, सहानुभूति तथा संवेदना रहती है। गुलेरी जी के व्यंग्यकार के स्वभाव की जो सरलता, खुलापन तथा विनोदशीलता उनकी कहानियों में है, उसका विशेष विकास उनकी 'कछुआ धरम', 'मारेसि मोहिं कुठाउं', 'झख मारना', 'जोड़ा हुआ सोना', 'विवाह की लाटरी', 'खोज की खाज', 'घड़ी के पुर्जे', 'लायलपुर के बछड़े', 'वंशच्छेद', 'जालहंस की सुभाषित मुक्तावली और चंद की षटभाषा', 'ढेले चुन लो', 'भरद्वाज गृह्यसूत्र', 'काशी की नींद और काशी के नूपुर', 'शिक्षा के आदर्शों में परिवर्तन' तथा 'होली की ठिठोली, वा एप्रिल फूल' में देखने को मिलता है।

गुलेरी जी सफल चरित्र-लेखक भी थे। उन्होंने अपने कुछ समकालीनों के विषय में, उनके निधन पर श्रद्धांजलि स्वरूप जीवनीपरक लेख लिखे हैं। ये लेख समकालीन महान विभूतियों के विषय में लिखने की शैली भी सिखाते हैं और गुलेरी जी तथा उनके वंश का अंतरंग परिचय कराने वाले पहलुओं को भी उजागर करते हैं। 'मनीषी समर्थदान जी' लेख से स्पष्ट है कि महामहोपाध्याय पं० दुर्गाप्रसाद गुलेरी जी के काव्यशास्त्र के गुरु थे। इनसे उन्होंने 'काव्य प्रकाश' पढ़ा था। इन लेखों में उनकी युगीन साहित्यिक चेतना स्पष्ट है।

गुलेरी जी जागरूक लेखक तथा आलोचक थे। वह अपने लेखों तथा टिप्पणियों में यह तो बतलाते ही थे कि दूसरे लोग क्या-क्या गलत तथा असंगत लिख रहे हैं पर यह भी बताना नहीं भूलते थे कि क्या लिखा जाना चाहिए। उन्होंने प्रो० रिस डेविड्स कृत 'बौद्धों के काल में भारतवर्ष' नामक पुस्तक में की गई स्थापनाओं का युक्तिसंगत खण्डन करके अपने इतिहासज्ञ होने का परिचय इस संदर्भ में भी दिया है कि उनमें अंग्रेज-इतिहासकारों के मन की निगूढ़ भावनाओं को समझने की अच्छी शक्ति थी। वह पाश्चात्यों की मान्यताओं और स्थापनाओं को उनसे अभिभूत होकर मान लेने की गलती नहीं करते थे, बल्कि उनकी भ्रांत धारणाओं तथा दोषों का तर्कों और प्रमाणों से निराकरण करते थे। उक्त निबंध के अंत में उनका दिया यह निष्कर्ष

द्रष्टव्य है—"उन्नतिमत्त पाश्चात्य अपनी दशा को और देशों के इतिहास में पढ़ने का उद्योग करते हैं। यूरोपीय क्लर्जी ने राजाओं पर पीछे प्रभाव डाला और उनके और राजाओं के बीच इस बात पर लड़ाइयां हुईं, यही बात भारतवर्ष में ढूंढ़ना चाहते हैं। अपनी छठी शताब्दी की सभ्यता से बढ़कर सभ्यता यहां नहीं दिखाना चाहते। और ब्राह्मण तो गालियां देने को हैं ही।"

गुलेरी जी ने अपने समय के प्रकाशकों तथा लेखकों को भी बखूबी सचेत किया है। वह समय कथा-साहित्य के उदयकाल का था। उस समय तिलस्मी और अय्यारी उपन्यासों का जोर था। देवकीनंदन खत्री तथा किशोरीलाल गोस्वामी की तूती बोल रही थी। उनके उपन्यासों को 'सामाजिक उपन्यास' कहकर उछाला जा रहा था। इस सामाजिकता की पोलपट्टी खोलने का इन शब्दों में साहस गुलेरी जी ही कर सकते थे—"पं० किशोरीलाल गोस्वामी द्वारा अपवित्र चरित्र-चित्रण करना लज्जा की बात है।··· क्या हमारे गोस्वामी जी पवित्र चरित्र लिख नहीं सकते ? क्या हिंदी ऐसे कायरों की भाषा हो गयी है, जो मरे बादशाहों की बालाओं पर सच्चे-झूठे कलंक मढ़ने और अबलाओं को कुछ कम धर्मनाश की कहानियां ही सुनाया करें ? हमारा स्वर नक्कार-खाने की तूती की आवाज की तरह भले ही न सुना जाय किंतु हम अपना फर्ज समझते हैं कि हिंदी-पाठक इन प्रपंचों के विरुद्ध अपील करें···गोस्वामी जी के उपन्यास सभ्य समाज में कदापि अमर नहीं हो सकते यदि वे इस रीति का योंही अनुकरण करते रहे।"

गुलेरी जी दूरद्रष्टा साहित्यकार थे। उन्होंने बीसवीं सदी के आरम्भिक तीन दशकों में समसामयिक परिस्थितियों में समस्याओं से साक्षात्कार करके अपने जो निष्कर्ष दिए थे वे आज भी इतने प्रासंगिक हैं कि लगता है कोई आज ही इन बातों को लिखकर सावधान कर रहा है। आजकल प्रकाशन व्यवसाय में हिन्दी की पुस्तकों को लेकर प्रायः चर्चा छिड़ी रहती है। इस चर्चा में प्रकाशक तथा लेखक के बीच के सम्बंध भी उजागर होते हैं और यदा-कदा बहसें भी छिड़ उठती हैं। यह चर्चा नई बात नहीं है। यह गुलेरी जी के समय में भी थी। इस व्यवसाय में लगे लोगों की मानसिकता को लेकर आज हमें जो दोष दिखाई पड़ते हैं उनके संदर्भ में गुलेरी जी ने लिखा है—"हिंदी भाषा में पुस्तकों की संख्या बढ़ती जाती है, परंतु उपयोगी पुस्तकें बहुत कम प्रकाशित होती हैं। प्रकाशक दो प्रकार के हैं—एक व्यापारी और दूसरे नाम चाहने वाले। व्यापारी उन्हीं पुस्तकों का प्रकाशन करता है, जिनकी बिक्री अधिक देखता है अतः उसके द्वारा अच्छी पुस्तकों का छपवाया जाना असंभव अथवा दुर्घट है क्योंकि उन्हें चाहने वाले कम हैं। नाम चाहनेवालों द्वारा प्रकाशित पुस्तकें प्रायः अशुद्ध और भाषा विकृत करने वाली होती हैं।"

ध्यातव्य है कि गुलेरी जी उन गिने-चुने लेखकों में से थे जिनके जीवन-काल में उनकी कोई पुस्तक प्रकाशित नहीं होती है।

गुलेरी जी की यह प्रखरता 'समालोचक' के मुखपृष्ठ पर छपने वाली इन पंक्तियों की सार्थकता तथा उनके साहित्यिक आदर्शों को सिद्ध करती है—

नीरक्षीरविवेके हंसालस्यं त्वमेव तनुषे चेत् ।
विश्वस्मिन्नधुर्नान्य: कुलव्रतं पालयिष्यति क: ।।

[दूध और पानी की पहचान करके उनको अलग-अलग करने का स्वाभाविक गुण तथा क्षमता हंस को दी गई, अतः यह कार्य उसके दायित्व में आता है; अब यदि वह ही इसको सम्पन्न करने में आलस और प्रमाद करने लगे तो फिर इसमें उसके कुलव्रत का पालन कौन करेगा ? भाव यह है कि जो लोग पढ़े-लिखे विद्वान तथा समर्थ लेखक हैं, वे ही प्रकाशित साहित्य के गुण-दोष-विवेचन में प्रवृत्त होकर प्रमाद से काम लेंगे तो फिर यह कार्य कौन करेगा ? अनपेक्षित साहित्य के सृजन तथा प्रकाशन पर रोक कैसे लगेगी ? सच्चे अर्थों में श्लाघ्य रचनाओं की विशेषताएं कैसे सामने आएंगी ?]

सामाजिक चेतना

गुलेरी जी परम्परा से पण्डित थे, पर पुरातनपंथी नहीं। उनके सामने सामयिक समस्याएं बहुत स्पष्ट थीं। वह सामाजिक कुरीतियों के कट्टर विरोधी तथा मानव-समाज की समानता के प्रबल समर्थक थे, गतानुगतिक नहीं। उन्होंने अपनी कहानियों में विवाह से जुड़ी दहेज, मुहूर्त-प्रथा तथा ग्रहदशा; स्त्रियों की पर्दा-प्रथा तथा मानव-सभ्यता की दाम्भिक चेतना के साथ-साथ छुआछूत जैसी अमानवीय वृत्ति पर भी छींटे कसे हैं। उन्होंने ब्राह्मण और सूत्र ग्रंथों का मंथन करके 'अश्वमेध' शीर्षक लेख में स्पष्ट किया है कि वैदिक कर्मकाण्डों में अत्यंजों को सम्मिलित किए जाने की परम्परा थी। उन्होंने इस लेख के अंत में अंत्यजों को तिरस्कृत दृष्टि से देखने वालों को यों सुझाया है—"इस कथा से यह सिद्ध होता है कि सारी प्रजा यज्ञ में सम्मिलित होती थी, राजा को सबमें अपनापन की बुद्धि होती थी। जो लोग अंत्यजों को वैदिक धर्म से दूर समझते हों, वे इस आख्यान को ध्यान से पढ़ें।"

गुलेरी जी की ऐसी प्रगतिशील धारणाएं उनके व्यक्तित्व की शक्ति की परिचायक हैं। वह अपने समय से आगे थे, और बहुत आगे थे। उन्होंने 'वर्ण विषयक कतिपय विचार' शीर्षक निबंध में छुआछूत विषयक जो विचार व्यक्त किए हैं उनसे उनकी इस प्रगतिशील विचारधारा को और भी बल मिलता है। उन्होंने इस सामाजिक कुरीति का मूल हेतु 'जन्मना जाति' माना है। लिखते हैं—"भारत में जन्मना का प्रभाव अब अधिक होने से कई कुरीतियां दृष्टिगोचर होने लगी हैं। छूत-अछूत इसी का परिणाम है। इससे जाना जाता है कि अब भारत से उस आन्तरिक आत्मा का ज्ञान जाता रहा, जिसकी समस्त संसार में आवश्यकता है। इससे पारस्परिक सहयोगिता नष्ट हो गई क्योंकि एक को अभिमान करते देखकर दूसरा अभिमान करने लगा है।"

इतना ही नहीं, उन्होंने नीची जाति के बनाए हुए भोजन को सम्मानपूर्वक ग्रहण करने की बात भी कही है। आवश्यकता आत्मा की शुद्धि की है—"यदि आत्मा शुद्ध हो तो समय आ पड़ने पर नीची जाति का बनाया हुआ भोजन ग्रहण करना भी योग्य है और यदि आत्मा शुद्ध नहीं है तो उसे शुद्ध बना लेना चाहिए। आचार-विचार करने वाले अधिकतर मनुष्य शंकित होते हैं और उनकी आत्मा दुर्बल हुआ करती है।"

गुलेरी जी ने सनातन धर्म को परिभाषित करते हुए जो कुछ कहा वह आगे चलकर राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के मानवतावादी दृष्टिकोण में उजागर हुआ। गुलेरी जी ने वैदिक भारत के सनातन धर्म का शब्द-चित्र खींचते हुए लिखा—"सनातन धर्म वह है जो मनुष्य मात्र को अपना सके, मरते हुए अछूत को दवा-दारू पिलाने और समय पड़ने पर अपने ही सर पर लादकर उसे दवाखाने में पहुंचावे। जब यह बात सनातन धर्म में नहीं है तो वह सनातन धर्म नहीं। सनातन धर्म वही है, जो सनातन से चला आ रहा है और हमारे वैदिक भारत का भूषण है। क्या वैदिक भारत में हमारे ऋषि-मुनि ऐसे धर्म कार्यों से मुख मोड़ते थे? कदापि नहीं। यदि हमें अपनी वास्तविक उन्नति करनी है तो आधुनिक विचारहीन जाति-भेद को हमें त्याग देना, दीनों को, अन्य जातियों को अपनाना, अपनी कठोरता से मुख मोड़ना और मन की संकीर्णता त्यागकर उस भव्य कर्मक्षेत्र में आना चाहिए जहाँ सामाजिक जाति-भेद नहीं और जहां जाति-भेद है तो कार्य-व्यवस्था के हित।"

आज हम जिस बीसवीं सदी में जी रहे हैं उसमें जाति के साथ-साथ धर्म की मार भी आड़े आ रही है। आज धर्म में राजनीति घुस गई है इसलिए विकृत परिणाम निकलने स्वाभाविक हैं। धर्म की 'आवश्यकता' का प्रश्न गुलेरी जी के युग में भी था। उन्होंने धर्म और समाज शीर्षक निबंध में लिखा है कि इस प्रश्न के सिर उठाने का कारण 'प्राचीन और नवीन अथवा पूर्व और पश्चिम इन दोनों के संघर्ष से' है। पूर्व की सभ्यता चिरकाल से धर्म के पक्ष में ही नहीं रही, बल्कि उसने धर्म को समाज में सबसे ऊँचा स्थान दिया है। आज हम 'धर्म' को जिस 'मत', 'विश्वास' या 'संप्रदाय' के अर्थ में लेते हैं, वह हमारे यहां प्रयुक्त 'धर्म' का वास्तविक अर्थ न होकर विदेशी मार का कुफल है—"मत या संप्रदाय के अर्थ में शब्द का प्रयोग करना भी हमने अधिक तरह विदेशियों ही से सीखा है, जब विदेशी भाषाओं के 'मजहब', 'रिलीजन' शब्द यहां प्रचलित हुए तब भूल से या स्पर्धा से हम उनके स्थान में 'धर्म' शब्द का प्रयोग करने लगे। परन्तु हमारे प्राचीन ग्रंथों में जो विदेशियों के आने से पूर्व रचे गये थे, कहीं पर भी 'धर्म' शब्द मत, विश्वास या संप्रदाय के अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ, प्रत्युत उनमें सर्वत्र स्वभाव और कर्त्तव्य इन दो ही अर्थों में इसका प्रयोग पाया जाता है। प्रत्येक पदार्थ में उसकी जो सत्ता है, जिसको 'स्वभाव' भी कहते हैं, वही उसका धर्म है। जैसे वृक्ष का धर्म 'जड़ता' और पशु का धर्म 'पशुता' कहलाती है, ऐसे ही मनुष्य का धर्म 'मनुष्यता' है। वह मनुष्यता किस वस्तु पर अवलंबित है। इसमें किसी का मतभेद नहीं हो सकता कि मनुष्यता का आधार बुद्धि है। बुद्धि की दो शाखाएँ हैं, एक कल्पनाशक्ति, दूसरी विचारशक्ति। कल्पनाशक्ति संदेहात्मक है और विचारशक्ति निर्णयात्मक। बिना संदेह के किसी बात का निर्णय नहीं हो सकता। अतएव अपनी कल्पनाशक्ति से संदेह उठाकर विचारशक्ति से उसका निर्णय करने में जो समर्थ है, वही मनुष्य है। संसार में सिवाय असभ्य और वन्य लोगों के और कौन ऐसा मनुष्य होगा, जिसको ऐसे धर्म की आवश्यकता न होगी, जो उसको मनुष्य बनाता है।"

'धर्म' के इस सारभूत अर्थ को न समझ पाने के कारण इस देश की मानवजाति,

मानवजाति पर जो कहर ढाती रही है, गुलेरी जी उससे विचलित थे। वह देश के विकृत सामाजिक संगठन से भी चिंतित थे। लिखते हैं—"धर्म के नाम से अब तक हमारे समाज में जैसे-जैसे अनर्थ और अत्याचार हो रहे हैं, उनके कारण हमारे करोड़ों भाई और बहन मनुष्य होते हुए भी पशु-जीवन व्यतीत कर रहे हैं। इस बीसवीं सदी में जबकि अन्य देशवासी राष्ट्र नहीं किंतु राष्ट्रसंघ और साम्राज्य की स्थापना कर रहे हैं, भारतवर्ष यदि समाज-संगठन के भी अयोग्य है तो उसका कारण भ्रमात्मक संस्कार ही है।"

निष्कर्ष रूप में उनका मत है कि हमें पश्चिमवासियों की तरह तथाकथित धर्म की सीमाएं नियत करके अपने सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और औद्योगिक क्षेत्रों में उसका प्रतिबंध हटा देना चाहिए, इसी में भला है।

अनेक लोग मुड़-मुड़कर अतीत की ओर देखते हैं और फिर वर्तमान की उससे तुलना करके कहा करते हैं—हम ज्ञान और क्रिया के क्षेत्र में अपने पूर्वजों से आगे नहीं बढ़ सकते। ऐसे लोगों की रुग्ण चिंता पर चोट करते हुए 'महर्षि च्यवन का रामायण' लेख में लिखते हैं कि हम अपने पूर्वजों से आगे खूब बढ़ सकते हैं—

"पिछले हज़ार दो हज़ार वर्षों से हिन्दू सभ्यता में धर्म के नाम पर यह कुसंस्कार घुस गया है कि पहले जो कुछ हो गया वैसा अब नहीं हो सकता, अब गिरने के दिन हैं, चढ़ने के नहीं। प्रचलित धर्म और समाज के शोक-संगीत की टेक यही है कि न पहले का-सा समय है, न राजा, न ऋषि, न विद्या और न संपत्ति। वर्तमान आंदोलनों में भी आगे उन्नति करने की प्रवृत्ति को दबाकर यह रोग बढ़ता जा रहा है कि प्राचीन समय फिर लौट आवै तो हम निहाल हो जाएं। जिस बुद्धि ने हिन्दू सभ्यता की जड़ों में अवसर्पिणी काल और कलियुग के तेल की सिंचाई की है उसने बड़ा अनर्थ किया है। सारे समाज को उत्साहशून्य बना दिया है। और देशों में पिता पुत्र से यह आशा करता है कि वह मुझसे सब बातों में बढ़कर हो, पर यहां वह यही कहता है कि हमारी चाल निबाह लोगे तो बहुत है, हमसे बढ़कर क्या हो सकते हो। जहां पलने से लेकर बैकुंठी तक यही मनहूस रौर मचा रहता है कि जो पीछे गया अच्छा था, आगे आवेगा वह बुरा-ही-बुरा होगा, वहां उन्नति की क्या आशा की जा सकती है? यह बारहमासी आत्मग्लानि, यह निराशामय आत्मवंचना, यह दुर्भाग्यजनक आत्मघर्षण पहले न था। पहले लोग अपने पूर्वजों की बराबरी का समझते थे और यह असंभव नहीं मानते थे कि हम उनसे बढ़कर हो सकते हैं। कम-से-कम उन पर यह निराशा का उन्माद और जन्म भर का सियापा तो नहीं चढ़ा था कि हम गिरते ही जाएंगे।"

गुलेरी जी **नारी-जागरण** तथा स्त्री-पुरुष समानता के प्रबल समर्थक थे। उन्हें नारी-जीवन से जुड़ी अनेक समस्याओं ने विचलित किया था। उन्होंने नारी-जीवन की विवशता तथा त्रासद व्यथा को अपनी कहानियों में उभारा था। उन्होंने अनमेल तथा बाल-विवाह जैसी सामाजिक कुरीतियों के संदर्भ में वैदिक परम्पराओं तथा समाज के पुरोधाओं पर करारी चोटें की हैं। 'बुद्धू का कांटा' में लिखते हैं—"हिंदू-समाज में धौंस से कुछ नहीं होता, जरूरत से सब हो जाता है। बड़े से बड़ा महाराज थैलियों के मुंह

खुलवाकर भी शास्त्र-जड़ लोगों से यह नहीं कहला सकता कि अष्टवर्षा भवेद् गौरी पर हरताल लगा दो। उल्टा अष्ट का अर्थ गर्भाष्ट करके सात वर्ष तीन महीने की आयु निकाल बैठेंगे। परन्तु तभी शुक्र का छिपना और कभी बृहस्पति का भागना, कभी घर का न मिलना और कभी पल्ले पैसा न होना, कभी नाड़ी विरोध और कभी कुछ। समझदार आदमी चाहे तो कन्या को चौदह-पन्द्रह वर्ष ही करके काशीनाथ से लेकर आजकल के महामहोपाध्यायों तक को अंगूठा दिखला सकता है।"

'विवाह की लाटरी' तथा 'ढेले चुन लो' टिप्पणियां विवाह की समस्याओं को ही व्यंग्य की भाषा में व्यक्त करती हैं। लिखते हैं—"विवाह एक लाटरी है। गाय बजाकर आँखें मूंदकर 'काठ में पाँव' दिया जाता है। आगे चलकर किसी को यह काठ सोने का कंकण बन जाता है, किसी को काठ ही बना रहता है, किसी को लोहे की बेड़ी और किसी को जलते अंगारों की माला बन जाता है। दो न्यारे हृदयों को मिलाकर एक बनाने का काम है, तभी तो वेद कहता है कि एक पेट की जन्मी हुई बहन तो दूसरे की बनती है और नई—न जानी सुनी—और ही स्त्री बनकर भाई की हो जाती है। इस लाटरी में कुछ समझ लगाने का जतन सभी करते हैं, करते आए हैं, करते रहेंगे।"

यहां गुलेरी जी का इशारा जन्म-पत्रियां आदि का बड़े करीने से मिलान करके ग्रहदशा का भय तथा भरोसा दिलवाकर कन्या हथियाने और बाल-विवाह या अनमोल विवाह तक कर डालने की ओर है। आगे लिखते हैं—"नाई और पुरोहित भी इस जुए में मध्यस्थ बनते हैं। जमीन पर से सहायकों के भरोसे न रहकर तारे और ग्रहों की सहायता भी ली जाती है कि इस फाटके, या सट्टे का ठीक अंक वे ही बतला दें। वर्ण, वश्य, तारा, योनि, ग्रहमैत्री, भकूट, नाड़ी—क्या-क्या जाल बिछाए गए हैं कि जो मछली हम चाहते हैं वह ही हाथ लगे! मनुष्य और मनुष्य, पृथ्वी और ग्रह, सबकी सहायता लेने पर भी लाटरी लाटरी ही बनी रही। वश्य होने पर भी वश नहीं रहती, ग्रहमैत्री होने पर भी गृह में द्वेष हो जाता है, भकूट के रहते भी कुटाई होती है और नाड़ी मिलने पर भी नारी अनारी के हाथ लग जाती है।"

इसी तरह 'ढेले चुन लो' टिप्पणी में ज्योतिषगणना तथा 'ढेले' से लाटरी निकालने की परम्परा पर प्रहार किया गया है। वैदिक काल में हिन्दू-समाज में यह रीत प्रचलित थी कि स्नातक विद्या अर्जित करके, स्नान ध्यान करके, माला पहनकर, शय्या पर बैठने योग्य होकर किसी कन्या के पिता के पास पहुंचता था। वह उसे गाय भेंट करता और फिर उसकी बेटी के सामने मिट्टी के कुछ ढेले रख देता और उनमें से कोई एक उठाने का उपदेश देता। इन 'ढेलों' के बारे में गुलेरी जी की दृष्टि यों है—"नर जानता था कि ये ढेले कहां-कहां से लाया हूं और किस-किस जगह की मट्टी इनमें है। कन्या जानती न थी। यही तो लाटरी की बुझौवल ठहरी। वेदि की मट्टी, गौशाला की मट्टी, खेत की मट्टी, चौराहे की मट्टी, मसान की धूल कई चीजें होती थीं। बूझो मेरी मुट्ठी में क्या है—चित या पट्ट? यदि वेदि का ढेला उठा ले तो संतान वैदिक पंडित होगा। गोबर चुना तो पशुओं का धनी होगा। खेत की मट्टी छू ली तो जमींदार का पुत्र होगा। मसान की मट्टी के हाथ लगाना बड़ा अशुभ था—यदि वह नारी ब्याही

जाए तो घर मसान हो जाए, जनम भर जलाती रहेगी। यदि एक नर के सामने मसान की मट्टी छूती तो उसका यह अर्थ नहीं है कि उस कन्या का भी ब्याह न हो। किसी दूसरे नर के सामने वह वेदि का ढेला उठा ले और ब्याही जाए। बहुत से गृह्यसूत्रों में इस ढेलों की लाटरी का उल्लेख है—आश्वलायन, गोभिल, भरद्वाज सभी में है।''

और अंत में राजपूत लडकियों की स्वयंवर-परम्परा का सहारा लेकर गुलेरी जी की कलम इस तरह मार करने लग जाती है—''जैसे राजपूतों की लड़कियां पिछले समय रूप देखकर, जस सुनकर स्वयंवर करती थीं, वैसे वैदिक काल के हिन्दू ढेले छुआकर स्वयं पत्नीवरण करते थे। आप कह सकते हैं कि जन्म भर के साथी की चुनावट मट्टी के ढेलों पर छोड़ना कैसी बुद्धिमानी है! अपनी आँखों से जगह देखकर, अपने हाथ से चुने हुए मट्टी के डगलों पर भरोसा करना क्यों बुरा है और लाखों-करोड़ों कोस दूर बैठे बड़े-बड़े मट्टी और आग के ढेलों—मंगल और शनैचर और बृहस्पति की कल्पित चाल के कल्पित हिसाब का भरोसा करना क्यों अच्छा है यह मैं क्या कह सकता हूं? बकौल वात्स्यायन के, आज का कबूतर अच्छा है कल के मोर से, आज का पैसा अच्छा है कल की मोहर से। आँखों देखा ढेला अच्छा ही होना चाहिए लाखों कोस पर के तेज:पिंड से। बकौल कबीर के—

पत्थर पूजे हरि मिलें, तो तू पूज पहार।
इससे तो चक्की भली, पीस खाय संसार॥

और, 'वर्ण विषयक कतिपय विचार' के अन्त में पूर्वानुराग की नींव पर खड़े अन्तर्जातीय विवाह का स्वागत करते हुए लिखते हैं—''अन्तर्जातीय विवाह तब शुद्ध और ग्रहणीय माना जा सकेगा जबकि वर-कन्या में आगे चलकर, कोई अन्तरता न पैदा कर दे और जिससे उनका जीवन नष्ट हो जाए। अन्तरता स्वाभाविक इसलिए है कि यदि ब्राह्मण की लड़की वैश्य को ब्याह दी गई तो पूजानुरक्ता या अध्यात्म-नीतियों को जानने वाली वह लड़की व्यापारिक झंझटों या नीतियों से सहज ही घबरा उठेगी। यद्यपि इससे सांसारिक बंधनों को कष्ट न पहुंचेगा फिर भी वह आंतरिक पीड़ा को न सह सकेगी। यदि वह सती और सच्ची हिन्दू बाला होगी तो वह अपने पति का त्याग कभी न करेगी या आत्महत्या कर संसार से छुट्टी लेगी। यही हाल पुरुष का भी होगा। हाँ, ऐसा विवाह तब पवित्र और सराहनीय हो सकता है जब विवाह के पहिले भिन्न जाति के पुरुष और स्त्री में प्रेम उत्पन्न हो जाता है क्योंकि उस समय उन्हें दूर कर देना जघन्य अपराध है।''

गुलेरी जी ने सामाजिक संकीर्णता का पर्दाफाश करते हुए स्त्रियों के उज्ज्वल अतीत की भी चर्चा की है। उन्होंने 'अवंतिसुन्दरी' लेख में लिखा है कि वह राजशेखर की पत्नी थी और उसे काव्यशास्त्र का अच्छा ज्ञान था। वह सच्चे अर्थों में विदुषी थी। राजशेखर ने अपने ग्रंथ 'काव्य-मीमांसा' में उसका मत तीन जगह उद्धृत किया है। और, इस लेख के अंत में गुलेरी जी ने स्त्री-शिक्षा के बारे में राजशेखर के विचार प्रस्तुत करते हुए लिखा है—''पुरुषों की तरह स्त्रियाँ भी कवि हों। संस्कार तो आत्मा में होता

है। स्त्री या पुरुष के विभाग की अपेक्षा नहीं करता। राजाओं और मंत्रियों की बेटियां, वेश्याएं, कौतुकियों की स्त्रियां, शास्त्रों में निष्णात बुद्धिवाली और कवि देखी-सुनी जाती हैं।"

सनातनी पण्डित-परम्परा के गुलेरी जी शास्त्रविद् थे, शास्त्र के दास नहीं। उनके अध्ययन तथा चिंतन में विवेक प्रधान था और मानवता मुखर। उन्होंने पदे-पदे सामाजिक रूढ़ियों तथा अंधविश्वासों पर प्रहार करके लोकमंगलकारी जीवन-मूल्यों की निबंधना की है। उनके 'कछुआ धरम' तथा 'मारेसि मोहिं कुठाउँ' निबंधों के बराबर चर्चित रहने का कारण यही है। इन निबंधों में हास्य-व्यंग्य तथा लालित्य की प्रधानता है। यह प्रवृत्ति 'काशी' और 'काशी की नींद और काशी के नूपुर' निबंध में भी खूब है। हम भारतवासी कष्ट से बचने के लिए कछुए के जीवनादर्श पर चलते हैं। परिस्थितियों से जूझते नहीं, बल्कि खोल में सिमट कर बचने की कोशिश करने के आदी हैं। हममें प्रगतिशीलता का अभाव है। 'कछुआ धरम' में भारतीयों की इसी पलायनवादी प्रवृत्ति पर व्यंग्य करते हुए परिस्थितियों से जूझने तथा आत्मबल के सहारे सच्चे अर्थों में जीवन को जीने का मार्ग खोजने की प्रेरणा दी गई है। कछुआ धरम ने हमें भाग्यवादी तथा भीरू बना दिया है। दासता का शिकार होने का यही कारण है। इसी तरह उन्होंने 'मारेसि मोहिं कुठाउँ' में आर्य समाज के प्रचारकों पर बड़े तीखे प्रहार किए हैं। उन्होंने बताया कि वे भारतीय संस्कृति की शब्द-सम्पदा के अर्थ का अनर्थ करके हमसे हमारा सर्वस्व छीनने पर तुले हैं। यह उनकी हमारे मर्मस्थल पर वैसी ही चोट है जैसे कैकेयी ने दशरथ पर 'रामचरितमानस' में की थी—

धरम धुरंधर धीर धरि, नयन उघारे राउँ।
सिर धुनि लीन्हि उसास असि, मारेसि मोहिं कुठाउँ।।

गुलेरी जी सफल शिक्षक थे। वह शिक्षा के मर्म से परिचित थे। उन्होंने शिक्षा के सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक पक्ष को व्यक्तिगत स्तर पर जीने का प्रयास किया था। उन्होंने शिक्षा पाने वाले विद्यार्थी से सहज शारीरिक विकास पर बल दिया है। इस सहज विकास के लिए 'खेल' अनिवार्य गतिविधि मानी है। उनके शिक्षा विषयक 'खेल भी शिक्षा है' तथा 'शिक्षा के आदर्शों में परिवर्तन' क्रांतिकारी विचारों वाले लेख हैं। वह मार-मार कर रटाने के पक्षधर नहीं, सहज रूप में समझाने के हिमायती हैं। उन्होंने पुरानी तथा वर्तमान शिक्षा-नीतियों के दोषों का खुलासा करते हुए तीखे प्रहार किए हैं। उनके मतानुसार गुरु का शिष्य के प्रति ज्ञानदान के संदर्भ में सच्चा कर्त्तव्य यह है—"पहले यह माना जाता था कि विद्या कोई बाहरी चीज़ है जिसे गुरु पढ़ने वाले के हृदय में घुसेड़ता है। पढ़ने वाले का हृदय कोरा कागज है और उस पर गुरु नए अक्षर और नए संस्कार अंकित करता है।···पर यह आदर्श अब बदल गया है। विद्या कोई बाहरी चीज़ नहीं है जो गुरु को बाहर से ठूंसकर भरनी पड़ती है। गुरु का काम शिष्य के हृदय की सोई हुई शक्तियों को जगाना है, उसके सहज और परम्परागत संस्कारों को चिताना है। पीढ़ियों से पशुत्व और मनुष्यत्व के जो भाव उसके मस्तिष्क में

हैं, उन्हें उत्तेजित करना, उनमें जो हानिकारक हों उन्हें मिटाना और जो अच्छे हों उन्हें प्रबल कर देना, ये गुरु के काम हैं।"

गुलेरी जी के शिक्षा सम्बंधी विचारों को समझने के लिए 'शिक्षा के आदर्शों में परिवर्तन' शीर्षक निबंध में दिया गया उनका 'संस्मरण' बड़े ध्यान से पढ़ने तथा समझने की चीज है।

'वंशच्छेद' निबंध भी गुलेरी जी की दूरदृष्टि का द्योतक है। इसमें जनसंख्या की वृद्धि की समस्या का वैज्ञानिक संदर्भ में तथ्यात्मक वर्णन है। इसमें उन्होंने परिवार-नियोजन तथा कृत्रिम गर्भाधान की संभावनाओं पर टिप्पणी की है। पाश्चात्य देशों में मनुष्यों की नस्ल सुधारने के लिए आज जो उपाय किए जा रहे हैं उनकी ओर गुलेरी जी ने बहुत पहले संकेत कर दिया था। बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण प्रदूषण के भीषण परिणामों के बारे में लिखते हैं—"साधारण वायु हमारे श्वास के लिए भद्दी होगी, इसकी छनी-छनाई 'आक्सीजन' बांधते फिरना होगा, और बिना उसके मछली की तरह तड़पना होगा। आँख को रोज साफ करना होगा, मद्य और तम्बाकू से उत्तेजना न पाकर मनुष्य विषों से काम लेंगे, सहवास असभ्य समझा जाकर प्रजनन कृत्रिम उपायों से किया जायेगा। इस मार्ग पर चलते-चलते हमारा जीवन वनस्पतियों का-सा हो जायेगा।"

गुलेरी जी प्राणवान् विद्वान थे। उनका असाधारण पाण्डित्य उनके जीवन का साधन था, साध्य नहीं। उनकी सृजनात्मक साहित्य में ही नहीं, शोध एवं मीमांसा में भी असाधारण गति थी। उन्होंने हिंदी-साहित्य की 'कहानी' तथा 'निबंध' विधा को विशेष रूप से समृद्ध किया है। निबंध के क्षेत्र में शैली-वैविध्य उनकी विशेषता है। प्रतिपाद्य तथा शैली की दृष्टि से उनके निबंधों तथा टिप्पणियों की विविध कोटियां हैं। व्यक्ति-व्यंजक निबंध लिखने में, अपने समय में वह अकेले ऐसे लेखक हुए हैं जो अनूठी शैली लेकर चले थे। मौलिकता की खोज तथा प्रतिपादन उनका लक्ष्य रहता था। पूर्वाग्रह न उनके पास पाण्डित्य का था और न विचारों का। यहां तक कि वह संस्कारों के बंधन से भी मुक्त थे। उन्होंने अपनी सृजनशीलता पर रूढ़ियों को हावी नहीं होने दिया। वह आजीविका के लिए राजभक्ति की रस्सी से भले ही बंधे रहे हों, उनका मन तथा कलम हमेशा निरंकुश रहे।

संस्कृत-साहित्य

संस्कृत तथा संस्कृति को समर्पित गुलेरी जी पारिवारिक परम्परा से सच्चे संस्कृत-उपासक थे, संस्कृत-पण्डितों की तरह गतानुगतिक नहीं। उनके हिंदी-कृतित्व को ध्यान से पढ़ने पर लगने लगता है, वह वैदिक युग की पुनःस्थापना के लिए प्रयत्नशील थे।

गुलेरी जी की पहली संस्कृत-कविता सम्भवतः शिवाऽर्चनम् (१९०५ ई०) है। चंद्रमौलि उनके इष्ट थे। इसके आठ छंदों में उनका दैन्य तथा अकिंचनत्व अत्यंत प्रभावोत्पादक है। अनुप्रास की छटा इस कविता की विशेषता है। अपने पिताश्री के

परलोकगमन पर लिखी पत्रात्मक शैली की कविता **ब्रह्मविद्ब्र ह्मैव भवति** करुण रस की धनी है। **आशीर्वाद** 'जार्ज पंचम' की स्तुति में है। इसमें जार्ज को 'राजेन्द्र' कहकर उनके शतायु होने की कामना की गई है। गुलेरी जार्ज को अपने मानसपीठ पर आसीन करने में जरा भी झिझके नहीं हैं। **जयः** में कवि ने भारतवासियों की हृदयरूपी देहली—दिल्ली में सहर्ष स्वागत करते हुए, उनके राज्य को सदैव स्थिर रहने की भी कामना की है। इसमें उन्हें द्विजभूत, द्विजपति तथा द्विजावनिप आदि उपाधियां भी दी हैं। यहां तक कि उन्हें बाह्य और आन्तरिक तम का नाशक तथा शांति, समृद्धि और विद्या का प्रसारक मानकर अपनी दृढ़ आस्था व्यक्त की है। यही नहीं, उनकी दीर्घायुष्य कामना करते हुए सौ पहरों का दिन, सौ दिनों का महीना, सौ महीनों का वर्ष और ऐसे सौ वर्षों तक की कल्पना कर डाली है। **राजराजेश्वर का स्वागत** में कन्यादान से पूर्व 'वर-स्वागत' के परिप्रेक्ष्य में किए जाने वाले कर्मकाण्ड की शैली में सारस्वत पुष्पांजलि से स्वागत किया है। इसके पद्यों को विष्टर, पाद्य, अर्घ, आचमन, मधुपर्क, गौ तथा आशिष शीर्षक दिए हैं। **पंचनददेशस्तव** एक महत्त्वपूर्ण कविता है। इसकी सौ पंक्तियों में कवि ने पंजाब के भूगोल, प्राकृतिक सौंदर्य, इतिहास तथा धर्म एवं संस्कृत के इतिहास का भी आकलन किया है। कथ्य यजुर्वेद, ऋग्वेद, निरुक्त, ऐतरेय ब्राह्मण, कौषीतकि-ब्राह्मण, मनुस्मृति तथा अष्टाध्यायी आदि आप्तग्रंथों की छाया का धनी है। **ग्रीष्म** के चार पद्यों में ग्रीष्म के ताप तथा धूल-आंधी आदि का यथार्थ चित्रण है। गुलेरी जी के संस्कृत-काव्य-पत्रों में उनका व्यक्तित्व सहज रूप में व्यंजित है। 'वात्स्यायनीय कामसूत्र टीकायाः जयमंगलायाः कर्त्ता', 'गोदानम्' तथा 'प्रजापरिषदः स्थापनाविधिः' उनकी गरिष्ठ गद्य-कृतियां हैं।

गुलेरी जी के संस्कृत-काव्य को पढ़कर उनके रससिद्ध कवि होने का बोध होने लगता है। उनके काव्य में राष्ट्रीयता मुखर है। वह जार्ज पंचम की स्तुति में कुछ ज्यादा ही अभिभूत हो गए हैं। उनकी जो कलम संस्कृत-कविताओं में अंग्रेजों का मधु-पोषण कर रही थी, वह परवर्ती हिंदी-काव्य में ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति विष उगलती अघाती नहीं है।

अशोक की धर्मलिपियां की प्रस्तुति में गुलेरी जी ने जो महती भूमिका निभाई है, वह भी कम उल्लेखनीय नहीं है। इनके भाषान्तर तथा पाठानुसंधान में इन्होंने 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' के सम्पादकों को अन्यतम सहयोग दिया था। इसका मुख्य कारण उनका संस्कृतज्ञ होना भी था।

खोई हुई दुनिया

गुलेरी जी का पर्याप्त साहित्य अभी भी अज्ञात तथा अनुपलब्ध है। उनके समकालीन विद्वानों की रचनाओं तथा पत्रों से ऐसे संकेत मिलते हैं। पं० गोपीनाथ कविराज के शब्दों में—"पं० चंद्रधर जी तो बंगला भाषा भी जानते थे। बंगला भाषा की प्रसिद्ध पुस्तक चंद्रनाथ वसु द्वारा रचित 'हिन्दुत्व' नामक ग्रंथ का अनुवाद चंद्रधर जी

ने किया था। इस पुस्तक का प्रकाशन हुआ या नहीं, मुझे ज्ञात नहीं है।"[1] और डॉ० भगवतीप्रसाद सिंह का कथन है—"वे (गुलेरी जी) बंगला भी जानते थे, चन्द्रनाथ बसु के 'हिन्दुत्व' तथा 'शकुन्तला-तत्त्व' नामक ग्रन्थों का उन्होंने हिन्दी रूपान्तर किया था।[2]

आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने गुलेरी जी द्वारा विशाखदत्त प्रणीत एक खण्डित नाटक 'देवीचन्द्रगुप्तम्' पर शोध कार्य करके, इतिहासकारों को यह मनवा लेने का उल्लेख किया है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय से पूर्व उसका भाई रामगुप्त कुछ काल के लिए राजगद्दी पर बैठा था जिसने खारवेल-आक्रमण के समय रानी ध्रुवदेवी को शत्रु को सौंपने का प्रस्ताव मान लिया था और चन्द्रगुप्त ने देवी का रूप धारण करके, अन्त में वास्तव रूप में प्रकट होकर शत्रु का अंत किया था। बाद में जयशंकर प्रसाद ने इसी को आधार बनाकर 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक लिखा।[3]

गुलेरी जी के उक्त तीनों कार्य अभी उपलब्ध हैं। इनकी उपलब्धि से गुलेरी जी के रचना-संसार के नये पक्ष सामने आएंगे।

गुलेरी जी ने 'आँख' निबन्ध के अन्त में—"क्या हिन्दी-रसिक और इन्द्रियों का भी ऐसा वर्णन पसंद करेंगे ?" 'पृथ्वीराजविजय महाकाव्य' लेख में—"इस काव्य का ऐतिहासिक महत्त्व मैं किसी और लेख में विस्तार से दिखाऊंगा।" 'पुरानी हिन्दी' में—"हेमचन्द्र के व्याकरण के प्रसंग में जो शब्द उदाहरणवत् दिए हैं, उनका यहां उल्लेख निष्प्रयोजन है। जो वाक्य खण्ड आए हैं उनमें से कुछ के विचार के लिए पृथक लेख का उपयोग किया जाएगा।" तथा 'सुदर्शन की सुदृष्टि' में "पाश्चात्य देशों में उपन्यास की उत्पत्ति और उन्नति को हम एक स्वतंत्र लेख में दिखाएंगे।" आदि लिखकर पाठकों की जिज्ञासा को खूब बढ़ाया है।

ऐसे संकेत गुलेरी जी के पत्रों में भी हैं। पं० झाबरमल्ल शर्मा को लिखे ५-१-१९१८ के पत्र में 'कांगड़ा-कलम' विषयक लेख लिखने तथा भास के नाटकों के अनुवादों का उल्लेख है, जो अभी अनुपलब्ध हैं—

"कांगड़ा शैली के कुछ चित्र मध्यम ने बेचने के लिए दिए थे। उनके सम्बन्ध में एक लेख मुझे लिखना है। उनमें से एक की पृष्ठ पर कुछ हिसाब है, जो लेख में काम आवेगा। अतएव मुझे आप उन चित्रों को लौटा दें, लेख में भी एक-आध चित्र छपना है, फिर बाकी यदि हुआ तो आपको लौटा दूंगा।

"भास के नाटकों का अनुवाद आप छापने को कहते थे न ? उस विचार पर दृढ़

---

१. गुलेरी गरिमा ग्रंथ : सम्पादक : पं० झाबरमल्ल शर्मा; पृ० ९७, ना० प्र० स० काशी, सं० २०४१ वि०
२. मनीषी की लोकयात्रा : डॉ० भगवतीप्रसाद सिंह; पृ० १४, विश्वविद्यालय प्रकाशन, के-४०/६, भैरवनाथ, वाराणसी-१, १९६८ ई०
३. गुलेरी साहित्यालोक : सम्पादक : डॉ० मनोहरलाल, पृ० ३९-४०, किताबघर, गांधी नगर, दिल्ली-३१, १९८३ ई०

हैं न ? मैंने आरम्भ कर दिया है। एक-एक नाटक लेंगे या सब साथ। कैसे छापेंगे ? क्या आपकी समिति रंग लाई कि नहीं, इस विषय में 'आकार-प्रकार' की स्कीम बनाई ? कापीराइट का क्या करेंगे ? यह सब निर्णय कर लीजिए।"[१]

गुलेरी जी को पं० झाबरमल्ल शर्मा कृत 'मालविका' उपन्यास तथा पं० गोपीनाथ खण्डेलवाल की जीवनी की भूमिकाएं लिखनी थीं।[२] वह 'स्त्री-दर्पण' की सम्पादिका श्रीमती उमा नेहरू तथा राय कृष्णदास के आग्रह पर 'सरोज' के लिए भी कुछ भेजने वाले थे।[३] उनका 'अधिकार चर्चा' लेख 'भारतमित्र' में किसी कल्पित नाम से छपा था।[४] इस सामग्री का मिलना भी अभी शेष है।

'समालोचक' के मई, जून, जुलाई, १९०५ ई० के अंक भी अनुपलब्ध हैं। इनमें भी गुलेरी जी की रचनाएं अवश्य होंगी। 'समालोचक' की जनवरी-मार्च, १९०६ ई० की संख्या में (पृ० २६४) 'आगामी संख्या के उपक्रांत लेख' सूचना में १० रचनाओं का नामोल्लेख है, पर यह अंक भी उपलब्ध नहीं है। सम्भवतः जनवरी-मार्च, १९०६ ई० के अंक के साथ ही 'समालोचक' निकलना बन्द हो गया था।

विश्वास है, गुलेरी जी की इस 'खोई हुई दुनिया' का संधान हो जाने पर उनकी साहित्य-साधना की और भी नयी दिखाएं सामने आएंगी।

रामनवमी, २०४८ वि० —मनोहरलाल

---

१. गुलेरी गरिमा ग्रंथ : पं० झाबरमल्ल शर्मा : पृ० १९२-९३
२. वही : पृ० १९३; पं० झाबरमल्ल शर्मा के नाम ११-१-१९१८ का पत्र
३. वही : पृ० १८२; राय कृष्णदास के नाम २५-१०-१९२१ का पत्र
४. वही : पृ० ८५; जगन्नाथ चतुर्वेदी का आषाढ़ कृष्ण ६, १९६८; १९११ ई० का पत्र

गुलेरी रचनावली

खण्ड १

- कथा/कहानी
- शोध
- संस्मरण
- वैदिक और पौराणिक साहित्य
- समीक्षा
- जीवन-चरित
- निबंध/लेख
- पुरानी पाण्डुलिपियां
- इंटरव्यू
- लोक कला
- काव्य
- भूमिकाएं

कथा/कहानी

घण्टाघर

एक मनुष्य को कहीं जाना था। उसने अपने पैरों में उपजाऊ भूमि को बंध्या करके पगडण्डी काटी और वह वहां पर पहला पहुंचने वाला हुआ। दूसरे, तीसरे और चौथे ने वास्तव में उस पगडण्डी को चौड़ी किया और कुछ वर्षों तक यों ही लगातार जाते रहने से वह पगडण्डी चौड़ा राजमार्ग बन गई, उस पर पत्थर या संगमरमर तक बिछा दिया गया, और कभी-कभी उस पर छिड़काव भी होने लगा।

वह पहला मनुष्य जहां गया था वहीं सब कोई जाने लगे। कुछ काल में वह स्थान पूज्य हो गया और पहला आदमी चाहे वहां किसी उद्देश्य से आया हो, अब वहां जाना ही लोगों का उद्देश्य रह गया। बड़े आदमी वहां घोड़ों, हाथियों पर आते, मखमल बनात बिछाते जाते, और अपने को धन्य मानते आते। गरीब आदमी कण-कण मांगते वहां आते और जो अभागे वहां न आ सकते वे मरती बेला अपने पुत्र को थीजी की आन दिलाकर वहां जाने का निवेदन कर जाते। प्रयोजन यह है कि वहां मनुष्यों का प्रवाह बढ़ता ही गया।

एक सज्जन ने वहां आने वाले लोगों को कठिनाई न हो, इसलिए उस पवित्र स्थान के चारों ओर, जहां वह प्रथम मनुष्य आया था, हाता खिंचवा दिया। दूसरे ने, पहले के काम में कुछ जोड़ने, या अपने नाम में कुछ जोड़ने के लोभ से उस पर एक छप्पर डलवा दिया। तीसरे ने, जो इन दोनों से पीछे रहना न चाहता था, एक सुन्दर मकान से उस भूमि को ढक दिया, इस पर सोने का कलश चढ़ा दिया, चारों ओर से बेल छवा दी। अब वह यात्रा, जो उस स्थान तक होती थी, उसकी सीमा की दीवारों और टट्टियों तक रह गई, क्योंकि प्रत्येक मनुष्य भीतर नहीं जा सकता। इस 'इनर सर्कल' के पुजारी बने, भीतर जाने की भेंट हुई, यात्रा का चरम उद्देश्य बाहर की दीवार को स्पर्श करना ही रह गया, क्योंकि वह भी भाग्यवानों को ही मिलने लगा।

कहना नहीं होगा, आने वालों के विश्राम के लिए धर्मशालाएं, कूप और तड़ाग, विलासों के लिए शुण्डा और सूणा, रमणिएं और आमोद जमने लगे, और प्रति वर्ष जैसे भीतर जाने की योग्यता घटने लगी, बाहर रहने की योग्यता, और इन विलासों में भाग लेने की योग्यता बढ़ी। उस भीड़ में ऐसे वेदान्ती भी पाए जाने लगे जो दूसरे की जेब को

अपनी ही समझकर रुपया निकाल लेते। कभी-कभी ब्रह्मा एक ही है उससे जार और पति में भेद के अध्यास को मिटा देने वाली अद्वैतवादिनी और स्वकीया परकीया के भ्रम से अवधूत विधूत सदाचारों के शुद्ध द्वैत (=झगड़ा) के कारण रक्तपात भी होने लगा। पहले यात्राएं दिन-ही-दिन में होती थीं, मन से होती थीं, अब चार-चार दिन में नाच-गान के साथ और आफिस के काम को करते सवारी आने लगी।

एक सज्जन ने देखा कि यहां आने वालों को समय के ज्ञान के बिना बड़ा कष्ट होता है। अतएव उस पुण्यात्मा ने बड़े व्यय से एक घण्टाघर उस नये बने मकान के ऊपर लगवा दिया। रात के अन्धकार में उसका प्रकाश, और सुनसानी में उसका मधुर स्वर क्या पास के और क्या दूर के, सबके चित्त को सुखी करता था। वास्तव में ठीक समय पर उठा देने और सुला देने के लिए, एकान्त में पापियों को डराने और साधुओं को आश्वासन करने के लिए वह काम देने लगा। एक सेठ ने इस घण्टे की (हाथ) (सूइयां) सोने की बनवा दीं और दूसरे ने रोज उसकी आरती उतारने का प्रबन्ध कर दिया।

कुछ काल बीत गया। लोग पुरानी बातों को भूलने लग गए। भीतर जाने की बात तो किसी को याद नहीं रही। लोग मन्दिर को दीवार का छूना ही ठीक मानने लगे। एक फिर्का खड़ा हो गया जो कहता था कि मन्दिर की दक्षिण दीवाल छूनी चाहिए, दूसरा कहता कि उत्तर दीवाल को बिना छुए जाना पाप है। पन्द्रह पण्डितों ने अपने मस्तिष्क, दूसरों की रोटियां और तीसरों के धैर्य का नाश करके दस पर्वों के एक ग्रन्थ में सिद्ध कर दिया या सिद्ध करके अपने को धोखा देना चाहा कि दोनों झूठे हैं। पवित्रता प्राप्त करने के लिए घंटे की मधुर ध्वनि का सुनना मात्र पर्याप्त है। मन्दिर के भीतर जाने का तो किसी को अधिकार ही नहीं है, बाहर की शुण्डा और सूणा में बैठने से भी पुण्य होता है, क्योंकि घण्टे का पवित्र स्वन उन्हें पूत कर चुका है। इस सिद्ध करने या सिद्ध करने के मिस का बड़ा फल हुआ। गाहक अधिक जुटने लगे। और उन्हें अनुकूल देखकर नियम किए गए कि रास्ते में इतने पेंड़ रखने, घण्टा बजे तो यों कान खड़ा करके सुनना, अमुक स्थान पर वाम चरण से खड़े होना, और अमुक पर दक्षिण से। यहां तक कि मार्ग में छींकने तक का कर्मकाण्ड बन गया।

और भी समय बीता। घण्टाघर सूर्य के पीछे रह गया। सूर्य क्षितिज पर आकर लोगों को उठाता और काम में लगाता, घण्टाघर कहा करता कि अभी सोये रहो। इसी से घण्टाघर के पास कई छोटी-मोटी घड़ियां बन गईं। प्रत्येक में की टिक-टिक बकरी और झलटी को मात करती। उन छोटी-मोटियों से घबरा के लोग सूर्य की ओर देखते और घण्टाघर की ओर देखकर आह भर देते। अब यदि वह पुराना घण्टाघर, वह प्यारा पाला-पोसा घण्टा ठीक समय न बतावे तो चारों दिशाएं उससे प्रतिध्वनि के मिस से पूछती हैं कि तू यहां क्यों है? वह घृणा से उत्तर देता है कि मैं जो कहूं वही समय है। वह इतने ही में सन्तुष्ट नहीं है कि उसका काम वह नहीं कर सकता और दूसरे अपने आप उसका काम दे रहे हैं, वह इसी में तृप्त नहीं है कि उसका ऊंचा सिर वैसे ही खड़ा है, उसके मांजने वालों को वही वेतन मिलता है, और लोग उसके यहां आना नहीं भूले हैं। अब यदि वह इतने पर भी सन्तुष्ट नहीं, और चाहे कि लोग अपनी घड़ियों के ठीक

समय को बिगाड़ें उनकी गति को रोकें ही नहीं, प्रत्युत उन्हें उल्टी चलावें, सूर्य उनकी आज्ञानुसार एक मिनट में चार डिग्री पीछे हटे, और लोग जागकर भी उसे देखकर सोना ठीक समझें, उसका बिगड़ा और पुराना काल सबको संतोष दे, तो वज्र निर्घोष से अपने सम्पूर्ण तेज से, सत्य के वेग से मैं कहूंगा—"भगवन्, नहीं कभी नहीं। हमारी आँखों को तुम ठग सकते हो, किन्तु हमारी आत्मा को नहीं। वह हमारी नहीं है। जिस काम के लिए आप आए थे वह हो चुका, सच्चे या झूठे, तुमने अपने नौकरों का पेट पाला। यदि चुपचाप खड़े रहना चाहो तो खड़े रहो, नहीं तो यदि तुम हमारी घड़ियों के बदलने का हठ करोगे तो, सत्यों के पिता और मिथ्याओं के परम शत्रु के नाम पर मेरा-सा तुमारा शत्रु और कोई नहीं है। आज से तुम्हारे मेरे में अन्धकार और प्रकाश की-सी शत्रुता है, क्योंकि यहां मित्रता नहीं हो सकती। तुम बिना आत्मा की देह हो, बिना देह का कपड़ा हो, बिना सत्य के झूठे हो ! तुम जगदीश्वर के नहीं हो, और न तुम पर उसकी सम्मति है, यह व्यवस्था किसी और को दी हुई है। जो उचक्का मुझे तमंचा दिखा दे, मेरी थैली उसी की, जो दुष्ट मेरी आंख में सूई डाल दे, वह उसे फोड़ सकता है, किन्तु मेरी आत्मा मेरी और जगदीश्वर की है, उसे तू, हे बेतुके घण्टाघर, नहीं छल सकता अपनी भलाई चाहे तो हमारा धन्यवाद ले, और-और-और चला जा ! ! !"[1]

---

१. कार्लाइल का अनुकरण।
An imitation of Carlyle.
[प्रथम प्रकाशन : **वैश्योपकारक** : वर्ष १, संख्या ८, कार्तिक १९६१ वि०; १९०४ ई०]

धर्मपरायण रींछ

सायंकाल हुआ ही चाहता है। जिस प्रकार पक्षी अपना आराम का समय आया देख अपने-अपने खोतों का सहारा ले रहे हैं उसी प्रकार हिंस्र श्वापद भी अपनी अव्याहत गति समझकर कन्दराओं से निकलने लगे हैं। भगवान् सूर्य प्रकृति को अपना मुख फिर एक बार दिखाकर निद्रा के लिए करवट लेने वाले ही थे, कि सारी अरण्यानी 'मारा है, बचाओ, मारा है' की कातर ध्वनि से पूर्ण हो गई। मालूम हुआ कि एक व्याध हांफता हुआ सरपट दौड़ रहा है, और प्रायः दो सौ गज की दूरी पर एक भीषण सिंह लाल आंखें, सीधी पूंछ और खड़ी जटा दिखाता हुआ तीर की तरह पीछे आ रहा है। व्याध की ढीली धोती प्रायः गिर गई है, धनुष-बाण बड़ी सफाई के साथ हाथ से च्युत हो गए हैं, नंगे सिर बिचारा शीघ्रता ही को परमेश्वर समझता हुआ दौड़ रहा है। उसी का यह कातर स्वर था।

यह अरण्य भगवती जह्नुतनया और पूजनीया कलिन्दनन्दनी के पवित्र संगम के समीप विद्यमान है। अभी तक यहां उन स्वार्थी मनुष्य रूपी निशाचरों का प्रवेश नहीं हुआ था जो अपनी वासनाओं की पूर्ति के लिए आवश्यक से चौगुना-पंचगुना पाकर भी झगड़ा करते हैं, परन्तु वे पशु यहां निवास करते थे जो शांतिपूर्वक समस्त अरण्य को बांटकर अपना-अपना भाग्य आजमाते हुए न केवल धर्मध्वजी पुरुषों की तरह शिश्नोदर-परायण ही थे, प्रत्युत अपने परमात्मा का स्मरण करके अपनी निकृष्ट योनि को उन्नत भी कर रहे थे। व्याध, अपने स्वभाव के अनुसार, यहां भी उपद्रव मचाने आया था। उसने बंग देश में रोहू और झिलसा मछलियों और 'हासेर डिम' को निर्वंश कर दिया था, बम्बई के केंकड़े और कछुओं को वह आत्मसात् कर चुका था और क्या कहें मथुरा, वृंदावन के पवित्र तीर्थों तक में वह वकवृत्ति और विडालव्रत दिखा चुका था। यहां पर सिंह के कोपन बदनाग्नि में उसके प्रायश्चित्तों का होम होना ही चाहता है। भागने में निपुण होने पर भी मोटी तोंद उसे बहुत कुछ बाधा दे रही है। सिंह में और उसमें अब प्रायः बीस ही तीस गज का अन्तर रह गया और उसे पीठ पर सिंह का उष्ण निःश्वास मालूम-सा देने लगा। इस कठिन समस्या में उसे सामने एक बड़ा भारी पेड़ दीख पड़ा। अपचीयमान शक्ति पर अन्तिम कोड़ा मारकर वह उस वृक्ष पर चढ़ने लगा और पचासों पक्षी उसकी परिचित डरावनी मूर्ति को पहचानकर अमङ्गल समझकर त्राहि-त्राहि स्वर के साथ भागने लगे। ऊपर एक बड़ी प्रबल शाखा पर विराजमान एक भल्लूक को देखकर व्याध के रहे-सहे होश पेंतरा हो गए। नीचे मन्त्र-बल से कीलित सर्प की भांति जला-भुना सिंह और ऊपर अज्ञात कुलशील रींछ। यों कढ़ाई से चूल्हे में अपना पड़ना समझकर वह किंकर्तव्यविमूढ़ व्याध सहम गया, बेहोश-सा होकर टिक गया, "न ययौ न तस्थौ" हो गया। इतने ही में किसी ने स्निग्ध गम्भीर निर्घोष मधुर स्वर से कहा—

"अभयं शरणागतस्य ! अतिथि देव ! ऊपर चले आइए ।" पापी व्याध, सदा छल-छिद्र के कीचड़ में पला हुआ, इस अमृत अभय वाणी को न समझकर वहीं रुका रहा। फिर उसी स्वर ने कहा—"चले आइए, महाराज ! चले आइए । यह आपका घर है । आप अतिथि हैं । आज मेरे बृहस्पति उच्च के हैं जो यह अपावन स्थान आपकी चरणधूलि से पवित्र होता है । इस पापात्मा का आतिथ्य स्वीकार करके इसे उद्धार कीजिए। "वैश्वदेवान्तमापन्नो सोऽतिथिः स्वर्ग संज्ञकः।" पधारिये—यह विष्टर लीजिए, यह पाद्य, यह अर्घ्य यह मधुपर्क ।"

पाठक ! जानते हो यह मधुर स्वर किसका था ? यह उस रींछ का था। वह धर्मात्मा विन्ध्याचल के पास से इस पवित्र तीर्थ पर अपना काल बिताने आया था। उस धर्मप्राण धर्मैकजीवन ने वंशशत्रु व्याध को हाथ पकड़कर अपने पास बैठाया; उसके चरणों की धूलि मस्तक से लगाई और उसके लिए कोमल पत्तों का बिछौना कर दिया । विस्मित व्याध भी कुछ आश्वस्त हुआ ।

नीचे से सिंह बोला—"रींछ ! यह काम तुमने ठीक नहीं किया। आज इस आततायी का काम तमाम कर लेने दो। अपना अरण्य निष्कंटक हो जाय । हम लोगों में परस्पर का शिकार न छूने का कानून है। तुम क्यों समाज-नियम तोड़ते हो ? याद रक्खो, तुम इसे आज रखकर कल दुःख पाओगे। पछताओगे। यह दुष्ट जिस पत्तल में खाता है उसी में छिद्र करता है। इसे नीचे फेंक दो।"

रींछ बोला—"बस, मेरे अतिथि परमात्मा की निन्दा मत करो। चल दो। यह मेरा स्वर्ग है, इसके पीछे चाहे मेरे प्राण जायं, यह मेरी शरण आया है, इसे मैं नहीं छोड़ सकता। कोई किसी को धोखा या दुःख नहीं देता है, जो देता है वह कर्म ही देता है। अपनी करनी सबको भोगनी पड़ती है।"

"मैं फिर कहे देता हूं, तुम पछताओगे !" यह कहकर सिंह अपना नख काटते हुए, दुम दबाए चल दिया।

[२]

प्रायः पहर भर रात जा चुकी है । रींछ अपने दिन भर के भूखे-प्यासे अतिथि के लिए, सूर्योढ अतिथि के लिएं, कन्दमूल फल लेने गया है। परन्तु व्याध को चैन कहां ? दिन भर की हिंसा प्रवण प्रवृत्ति रुकी हुई हाथों में खुजली पैदा कर रही है। क्या करे ? बिजली के प्रकाश में उसी वृक्ष में एक प्राचीन कोटर दिखाई दिया और उसमें तीन-चार रींछ के छोटे-छोटे बच्चे मालूम दिये । फिर क्या था ? व्याध के मुँह में पानी भर आया। परन्तु धनुष-बाण, तलवार रास्ते में गिर पड़े हैं, यह जानकर पछतावा हुआ। अकस्मात् जेब में हाथ डाला तो एक छोटी-सी पेशकब्ज ! बस, काम सिद्ध हुआ। अपने उपकारी रक्षक रींछ के बच्चों को काटकर कच्चा ही खाते उस पापात्मा व्याध को दया तो आई ही नहीं, देर भी न लगी। वह जीभ साफ करके ओठों को चाट रहा था कि मार्ग में फरकती बाईं आँख के अशकुन को "शान्तं पापं नारायण ! शान्तं पापं नारायण" कहकर टालता हुआ रींछ आ गया और चुने हुए रसपूर्ण फल

व्याध के आगे रखकर सेवक के स्थान पर बैठकर बोला—"मेरे यहां थाल तो है नहीं, न ही पत्ते हैं, पुष्पं पत्रं फलं तोयं अतिथि नारायण की सेवा में समर्पित हैं।" जब व्याध अपने दग्धोदर की पूर्ति कर चुका तो इसने भी शेषान्न खाया और कुछ प्रसाद अपने बच्चों को देने के लिए कोटर की तरफ चला।

कोटर के द्वार पर ही प्रेमपूर्वक स्वागतमय 'दादा हो' न सुनकर उसका माथा ठनका। भीतर जाकर उसने पैशाचिक लीला का अवशिष्ट चर्म और अस्थि देखा। परन्तु उस वीतराग के मन में "तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः?" वह उसी गम्भीर पद से आकर लेटे हुए व्याध के पैर दबाने लग गया। इतने में व्याध के दुष्कर्म ने एक पुराने गीध का रूप धारण कर रींछ को कह दिया कि तेरी अनुपस्थिति में इस कृतघ्न व्याध ने तेरे बच्चे खा डाले हैं। व्याध की कर्मसाक्षी में विश्वास न था, वह चौंक पड़ा। उसका मुँह पसीने से तर हो गया, उसकी जीभ तालू से चिपक गई और वह इन वाक्यों को आने वाले यम का दूत समझकर थर-थर काँपने लगा। बूढ़े रींछ के नेत्रों में अश्रु आ गए; परंतु वह खेद के नहीं थे, हर्ष के थे। उसने उस गृध्र को सम्बोधन करके कहा—"धिक् मूढ़! मेरे परम उपकारी को इन उल्वण शब्दों से स्मरण करता है! (व्याध से) महाराज! धन्य भाग्य उन बच्चों के जो पाप में जन्मे और पाप में बढ़े; परन्तु आज आपकी अशनाया निवृत्ति के पुण्य के भागी हुए! न मालूम किन नीचातिनीच कर्मों से उनने यह पशुयोनि पाई थी, न मालूम उनने इस गर्हित योनि में रहकर कितने पाप-कर्म और करने थे। धन्य मेरे भाग्य! आज वे 'स्वर्गद्वारमपानृतं' में पहुंच गए। हे मेरे कुलतारण! आप कुछ भी इस बात की चिन्ता न कीजिए। आपने मेरे 'सप्तावरे सप्त पूर्वे' तरा दिए!" जिसे मद नहीं और मोह नहीं वह रींछ व्याध का सम्वाहन करके संसार-यात्रा के अनुसार सो गया, परन्तु उसने अपना निर्भीक स्थान व्याध को दे दिया था, और स्वयं वह दो शाखाओं पर आलम्बित था। चिकने घड़े पर जल की तरह पापात्मा व्याध पर यह धर्म्माचरण और तज्जन्य शान्ति प्रभाव नहीं डाल सके; वह तारे गिनता जागता रहा और उसके कातर नेत्रों से निद्रा भी डर कर भाग गई। इतने में मटरगश्त करते वही सिंह आ पहुंचे और मौका देखकर व्याध से यों बोले—"व्याध! मैं वन का राजा हूँ। मेरा फर्मान यहां सब पर चलता है। कल से तू यहां निष्कण्टक रूप से शिकार करना। परन्तु मेरी आज्ञा न मानने वाले इस रींछ को नीचे फेंक दे।" पाठक! आप जानते हैं कि व्याध ने इस यत्न पर क्या किया? रींछ के सब उपकारों को भूलकर उस आशामुग्ध ने उसको धक्का दे ही तो दिया। आयुः शेष से, पुण्यबल से, धर्म की महिमा से, उस रींछ का स्वदेशी कोट एक टहनी में अटक गया और वह जाग-कर, सहारा लेकर ऊपर चढ़ आया। सिंह ने अट्टहास करके कहा—"देखो रीछ! अपने अतिथि चक्रवर्ती का प्रसाद देखो। इस अपने स्वर्ग, अपने अमृत को देखो। मैंने तुम्हें सायंकाल क्या कहा था? अब भी इस नीच को नीचे फेंक दो।" रींछ बोला—"इस में इनने क्या किया? निद्रा की असावधानता में मैं ही पैर चूक गया, नीचे गिरने लगा। तू अपना मायाजाल यहां न फैला। चला जा।" रींछ उसी गम्भीर निर्भीक भाव से सो गया। उसको परमेश्वर की प्रीति के स्वप्न आने लगे और व्याध को कैसे मिश्र स्वप्न

आये, यह हमारे रसज्ञ पाठक जान ही लेंगे ।—"नहि कल्याणकृत कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ।"

[३]

ब्राह्ममुहूर्त में उठकर रींछ ने अलस व्याध को जगाया और कहा—"महाराज ! मुझे स्नान के लिए त्रिवेणी जाना है और फिर लोकयात्रा के लिए फिरना है, मेरे साथ चलिए, मैं आपको इस कांतार से बाहर निकालने का मार्ग बतला दूं। परन्तु आप उदास क्यों हैं ? क्या आपके आतिथ्य में कोई कमी रह गई ? क्या मुझ से कोई कसूर हुआ ?" व्याध बात काटकर बोला—"नहीं, मेरा ध्यान घर की तरफ गया था। मेरे पर, अन्न-वस्त्र के लिए धर्मपत्नी और बहुत से बालक निर्भर हैं। मैंने सुख से खाया और सोया, परन्तु वे बेचारे क्षुत्क्षाम-कण्ठ कल से भूखे हैं, उनके लिए कुछ पाथेय नहीं मिला।" रींछ ने हाथ जोड़कर कहा—"नाथ ! आज आपकी छुरिका त्रिवेणी में यह देह स्नान करके स्वर्ग को जाना चाहता है। यदि इस दुर्मांस से माता और भाई तृप्त हों, और इस जरच्चर्म से उनकी जूतियां बनें तो आप 'तत सदद्य' करें। धन्यभाग्य आज यह अनेक जन्मसंसिद्ध आपके वदनाग्नि में परागति को पावै।" व्याध ने बरछी उठाकर रींछ के हृदय में झोंक दी। प्रसन्नवदन रींछ ऋतुपर्ण की तरह बोला—

शिरामुखैः स्यन्दत एव रक्तमद्यापि देहे मम मांसमस्ति।

उस उदार महामान्य के आगे कर्ण का यह वाक्य क्या चीज़ था—

कियदिदमधिकं मे यद्द्विजावार्थयित्रे,
कवचमरमणीयं कुण्डले चार्पयामि।
अकरुणमवकृत्य द्राक्कृपाणेन तिर्यग्,
वहलरुधिरधारं मौलिमावेदयामि ॥

[४]

सारा अरण्य स्वर्गीय प्रकाश और सुगन्ध से खिल रहा है। अनाहतनाद का मधुर स्वर कानों को आप्यायित कर रहा है। दिग्दिगन्तर से 'हरि हरि' ध्वनि आकाश को पवित्र कर रही है। उसी वृक्ष के सहारे एक दिव्य विमान खड़ा है और परात्पर भगवान् नारायण स्वयं रींछ को अपने चरणकमल में ले जाने को आये हैं। भगवान् मृत्युञ्जय भी अपनी चन्द्रकलाओं से उस शरीर को आप्यायित कर रहे हैं। देवाङ्गनाएं उसकी सेवा करने को और इन्द्रादिक उसकी चरणधूलि लेने को दौड़े आ रहे हैं। जिस समय उस बर्छी का प्रवेश उस धर्मप्राण कलेवर में हुआ, भगवान् नारायण, आनन्द से नाचते और क्लेश से तड़फते, लक्ष्मी को ढकेल, गरुड़ को छोड़ और शेषनाग को पेल, 'नमे भक्तः प्रणश्यति' को सिद्ध करते हुए दौड़ आये और रींछ को गले लगाकर आनन्दाश्रु गद्गद कण्ठ से बोले—"प्रयाग में बहुत बड़े-बड़े इन्द्र, वरुण, प्रजापति और भरद्वाज के यज्ञ हुए हैं, परन्तु सबसे अधिक महिमापूर्ण यज्ञ यह हुआ है जिसकी

पूर्णाहुति अभी हुई है। प्रिय ऋक्ष ! मेरे साथ चलो, और हे नराधम ! तू अपने नीच कर्मों···।" ऋक्ष ने भगवान् के चरण पकड़कर कहा—"नाथ ! यदि मेरा चावल भर भी पुण्य है तो इस पुरुष-रत्न को बैकुण्ठ ले जाइए। इसके कर्म का फल भोगने को मैं घोरातिघोर नरक में जाने को तैयार हूं।" भगवान् विस्मित होकर बोले—"यह क्या ? लोक-संग्रह को उत्पन्न करते हो ?" ऋक्ष हाथ जोड़कर बोला--

पापानां वा शुभानां वा वधार्हाणामथापि वा।
कार्यं करुणमार्येण न कश्चिदपराध्यति ।।

भक्त का आग्रह माना गया। भगवान् व्याध और ऋक्ष एक ही विमान में वैकुण्ठ गए।

भारतवासियो ! यह तुम्हारे ही 'महाभारत' की कथा है। परन्तु अब पुराणों की भक्ति कहने ही की रह गई। पुराणों को सिवाय 'वीक्ष्य रन्तुं सनश्चक्रे' के और किस वासना से पढ़ता है ?

[प्रथम प्रकाशन : समालोचक : जनवरी-मार्च, १९०६]

सुखमय जीवन

परीक्षा देने के पीछे और उसके फल निकलने के पहले के दिन किस बुरी तरह बीतते हैं, यह उन्हीं को मालूम है जिन्हें गिनने का अनुभव हुआ है। सुबह उठते ही परीक्षा से आज तक कितने दिन गए, यह गिनते हैं और फिर 'कहावती आठ हफ्ते' में कितने दिन घटते हैं, यह गिनते हैं। कभी-कभी उन आठ हफ्तों पर कितने दिन चढ़ गए, यह भी गिनना पड़ता है। खाने बैठे हैं और डाकिये के पैर की आहट आई—कलेजा मुंह को आया। मुहल्ले में तार का चपरासी आया कि हाथ-पांव कांपने लगे। न जागते चैन, न सोते—सपने में भी यह दिखता है कि परीक्षक साहब एक आठ हफ्ते की लंबी छुरी लेकर छाती पर बैठे हुए हैं।

मेरा भी बुरा हाल था। एल-एल० बी का फल अबकी और भी देर से निकलने को था—न मालूम क्या हो गया था, या तो कोई परीक्षक मर गया था, या उसको प्लेग हो गया था। उसके पर्चे किसी दूसरे के पास भेजे जाने को थे। बार-बार यही सोचता था कि प्रश्नपत्रों की जांच किए पीछे सारे परीक्षकों और रजिस्ट्रारों को भले ही प्लेग हो जाए, अभी तो दो हफ्ते माफ करें। नहीं तो परीक्षा के पहले ही उन सबको प्लेग क्यों न हो गया? रात-भर नींद नहीं आई थी, सिर घूम रहा था; अखबार पढ़ने बैठा कि देखता क्या हूं कि लिनोटाइप की मशीन ने चार-पांच पंक्तियां उलटी छाप दी हैं। बस, अब नहीं सहा गया—सोचा कि घर से निकल चलो; बाहर ही कुछ जी बहलेगा। लोहे का घोड़ा उठाया कि चल दिए।

तीन-चार मील जाने पर शांति मिली। हरे-हरे खेतों की हवा, कहीं पर चिड़ियों की चहचह और कहीं कुओं पर खेतों को सींचते हुए किसानों का सुरीला गाना, कहीं देवदार के पत्तों की सोंधी बास और कहीं उनमें हवा का सीं-सीं करके बजना—सबने मेरे चित्त को परीक्षा के भूत की सवारी से हटा लिया। बाइसिकिल भी गजब की चीज है। न दाना मांगे, न पानी, चलाए जाइए जहां तक पैरों में दम हो। सड़क में कोई था ही नहीं, कहीं-कहीं किसानों के लड़के और गांव के कुत्ते पीछे लग जाते थे। मैंने बाइसिकिल को और भी हवा कर दिया। सोचा कि मेरे घर सितारपुर से पंद्रह मील पर कालानगर है—वहां की मलाई की बरफ अच्छी होती है और वहीं मेरे एक मित्र रहते हैं; वे कुछ सनकी हैं। कहते हैं कि जिसे पहले देख लेंगे, उससे विवाह करेंगे। उनसे कोई विवाह की चर्चा करता है, तो अपने सिद्धांत के मंडन का व्याख्यान देने लग जाते हैं। चलो, उन्हीं से सिर खाली करें।

खयाल-पर-खयाल बंधने लगा। उनके विवाह का इतिहास याद आया। उनके पिता कहते थे कि सेठ गनेशलाल की एकलौती बेटी से अबकी छुट्टियों में तुम्हारा ब्याह कर देंगे। पड़ोसी कहते थे कि सेठ जी की लड़की कानी और मोटी है और आठ

ही वर्ष की है। पिता कहते थे कि लोग जलकर ऐसी बातें उड़ाते हैं; और लड़की वैसी हो भी तो क्या, सेठ जी के कोई लड़का है नहीं; बीस-तीस हजार का गहना देंगे। मित्र महाशय मेरे साथ-साथ पहले डिबेटिंग क्लबों में बाल-विवाह और माता-पिता की जबरदस्ती पर इतने व्याख्यान झाड़ चुके थे कि अब मारे लज्जा के साथियों में मुंह नहीं दिखाते थे। क्योंकि पिता जी के सामने चीं करने की हिम्मत नहीं थी। व्यक्तिगत विचार से साधारण विचार उठने लगे। हिंदू-समाज ही इतना सड़ा हुआ है कि हमारे उच्च विचार कुछ चल ही नहीं सकते। अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता। हमारे सद्विचार एक तरह के पशु हैं जिनकी बलि माता-पिता की जिद और हठ की वेदी पर चढ़ाई जाती है।···भारत का उद्धार तब तक नहीं हो सकता—।

फिस्स्स्! एकदम अर्श से फर्श पर गिर पड़े। बाइसिकिल की फूंक निकल गई। कभी गाड़ी नाव पर, कभी नाव गाड़ी पर। पम्प साथ नहीं था और नीचे देखा तो जान पड़ा कि गांव के लड़कों ने सड़क पर ही कांटों की बाड़ लगाई है। उन्हें भी दो गालियां दीं पर उससे तो पंकचर सुधरा नहीं। कहां तो भारत का उद्धार हो रहा था और कहां अब कालानगर तक इस चरखे को खेंच ले जाने की आपत्ति से कोई निस्तार नहीं दिखता। पास के मील के पत्थर पर देखा कि कालानगर यहां से सात मील है। दूसरे पत्थर के आते-आते मैं बेदम हो लिया था। धूप जेठ की, और कंकरीली सड़क, जिसमें लदी हुई बैलगाड़ियों की मार से छ:-छ: इंच शक्कर की-सी बारीक पिसी हुई सफेद मिट्टी बिछी हुई! काले पेटेंट लैदर के जूतों पर एक-एक इंच सफेद पालिश चढ़ गई। लाल मुंह को पोंछते-पोंछते रूमाल भीग गया और मेरा सारा आकार सभ्य विद्वान् का-सा नहीं, वरन् सड़क कूटने वाले मजदूर का-सा हो गया। सवारियों के हम लोग इतने गुलाम हो गए हैं कि दो-तीन मील चलते ही छठी का दूध याद आने लगता है!

[२]

"बाबू जी, क्या बाइसिकिल में पंकचर भी हो गया है?"

एक तो चश्मा, उस पर रेत की तह जमी हुई, उस पर ललाट से टपकते हुए पसीने की बूंदें, गर्मी की चिढ़ और काली रात की-सी लंबी सड़क—मैंने देखा ही नहीं था कि दोनों ओर क्या है। यह शब्द सुनते ही सिर उठाया, तो देखा कि एक सोलह-सत्रह वर्ष की कन्या सड़क के किनारे खड़ी है।

"हां, हवा निकल गई है और पंकचर भी हो गया है। पम्प मेरे पास है नहीं। कालानगर कुछ बहुत दूर तो है ही नहीं—अभी जा पहुंचता हूं।"

अंत का वाक्य मैंने सिर्फ ऐंठ दिखाने के लिए कहा था। मेरा जी जानता था कि पांच मील सौ मील के-से दिख रहे थे।

"इस सूरत से तो आप कालानगर क्या, कलकत्ते पहुंच जाएंगे। जरा भीतर चलिए, कुछ जल पीजिए। आपकी जीभ सूखकर तालू से चिपट गई होगी। चाचा जी की बाइसिकिल में पम्प है और हमारा नौकर गोविंद पंकचर सुधारना भी जानता है।"

"नहीं, नहीं—"

"नहीं, नहीं क्या, हां, हां !"

यों कहकर बालिका ने मेरे हाथ से बाइसिकिल छीन ली और सड़क के एक तरफ हो ली। मैं भी उसके पीछे चला। देखा कि एक कँटीली बाढ़ से घिरा बगीचा है जिसमें एक बँगला है। यहीं पर कोई 'चाचा जी' रहते होंगे, परंतु यह बालिका कैसी—

मैंने चश्मा रूमाल से पोंछा और उसका मुँह देखा। पारसी चाल की एक गुलाबी साड़ी के नीचे चिकने काले बालों से घिरा हुआ उसका मुखमंडल दमकता था और उसकी आँखें मेरी ओर कुछ दया, कुछ हँसी और कुछ विस्मय से देख रही थीं। बस, पाठक ! ऐसी आंखें मैंने कभी नहीं देखी थीं। मानो वे मेरे कलेजे को घोलकर पी गईं। एक अद्भुत कोमल, शांत ज्योति उनमें से निकल रही थी। कभी एक तीर में मारा जाना सुना है ? कभी एक निगाह में हृदय बेचना पड़ा है ? कभी तारामैत्रक और चक्षुमैत्री नाम आए हैं ? मैंने एक सेकंड में सोचा और निश्चय कर लिया कि ऐसी सुंदर आँखें त्रिलोकी में न होंगी और यदि किसी स्त्री की आँखों को प्रेमबुद्धि से कभी देखूंगा तो इन्हीं को।

"आप सितारपुर से आए हैं। आपका नाम क्या है ?"

"मैं जयदेवशरण वर्मा हूं। आपके चाचा जी—"

"ओ-हो, बाबू जयदेवशरण वर्मा, बी०ए०; जिन्होंने 'सुखमय जीवन' लिखा है ! मेरा बड़ा सौभाग्य है कि आपके दर्शन हुए ! मैंने आपकी पुस्तक पढ़ी है और चाचा जी तो उसकी प्रशंसा बिना किए एक दिन भी नहीं जाने देते। वे आपसे मिलकर बहुत प्रसन्न होंगे; बिना भोजन किए आपको न जाने देंगे और आपके ग्रंथ के पढ़ने से हमारा परिवार-सुख कितना बढ़ा है, इस पर कम-से-कम दो घंटे तक व्याख्यान देंगे।"

स्त्री के सामने उसके नैहर की बड़ाई कर दे और लेखक के सामने उसके ग्रंथ की। यह प्रिय बनने का अमोघ मंत्र है। जिस साल मैंने बी० ए० पास किया था उस साल कुछ दिन लिखने की धुन उठी थी। लॉ कॉलेज के फर्स्ट इयर में सेक्शन और कोड की परवाह न करके एक 'सुखमय जीवन' नामक पोथी लिख चुका था। समालोचकों ने आड़े हाथों लिया था और वर्ष-भर में सत्रह प्रतियां बिकी थीं। आज मेरी कदर हुई कि कोई उसका सराहनेवाला तो मिला।

इतने में हम लोग बरामदे में पहुंचे, जहां पर कनटोप पहने, पंजाबी ढंग की दाढ़ी रखे एक अधेड़ महाशय कुर्सी पर बैठे पुस्तक पढ़ रहे थे। बालिका बोली—

"चाचा जी, आज आपके बाबू जयदेवशरण वर्मा बी० ए० को साथ लाई हूं। इनकी बाइसिकिल बेकाम हो गई है। अपने प्रिय ग्रंथकार से मिलाने के लिए कमला को धन्यवाद मत दीजिए, दीजिए उनके पम्प भूल आने को !"

वृद्ध ने जल्दी ही चश्मा उतारा और दोनों हाथ बढ़ाकर मुझसे मिलने के लिए पैर बढ़ाए।

"कमला, जरा अपनी माता को तो बुला ला। आइए बाबू साहब, आइए। मुझे

आपसे मिलने की बड़ी उत्कंठा थी। मैं गुलाबराय वर्मा हूं। पहले कमसेरियट में हेड-क्लर्क था। अब पेन्शन लेकर इस एकांत स्थान में रहता हूं। दो गौ रखता हूं और कमला तथा उसके भाई प्रबोध को पढ़ाता हूं। मैं ब्रह्मसमाजी हूं; मेरे यहां परदा नहीं है। कमला ने हिंदी मिडिल पास कर लिया है। हमारा समय शास्त्रों के पढ़ने में बीतता है। मेरी धर्मपत्नी भोजन बनाती और कपड़े सी लेती है; मैं उपनिषद् और योगवासिष्ठ का तर्जुमा पढ़ा करता हूं। स्कूल में लड़के बिगड़ जाते हैं, प्रबोध को इसलिए घर पर पढ़ाता हूं।"

इतना परिचय दे चुकने पर वृद्ध ने श्वास लिया। मुझे भी इतना ज्ञान हुआ कि कमला के पिता मेरी जाति के ही हैं। जो कुछ उन्होंने ही कहा था, उसकी ओर मेरे कान नहीं थे—मेरे कान उधर थे, जिधर से माता को लेकर कमला आ रही थी।

"आपका ग्रंथ बड़ा ही अपूर्व है। दाम्पत्य-सुख चाहने वालों के लिए लाख रुपये से भी अनमोल है। धन्य है आपको! स्त्री को कैसे प्रसन्न रखना, घर में कलह कैसे नहीं होने देना, बाल-बच्चों को क्योंकर सच्चरित्र बनाना, इन सब बातों में आपके उपदेश पर चलने वाला पृथ्वी पर ही स्वर्ग-सुख भोग सकता है। पहले कमला की मां और मेरी कभी-कभी खटपट हो जाया करती थी। उसके खयाल अभी पुराने ढंग के हैं। पर जब से मैं रोज भोजन के पीछे उसे आध घंटे तक आपकी पुस्तक का पाठ सुनाने लगा हूं, तब से हमारा जीवन हिंडोले की तरह झूलते-झूलते बीतता है।"

मुझे कमला की मां पर दया आई जिसको वह कूड़ा-करकट रोज सुनना पड़ता होगा। मैंने सोचा कि हिंदी के पत्र-संपादकों में यह बूढ़ा क्यों न हुआ? यदि होता तो आज मेरी तूती बोलने लगती।

"आपको गृहस्थ-जीवन का कितना अनुभव है! आप सब कुछ जानते हैं! भला, इतना ज्ञान कभी पुस्तकों से मिलता है? कमला की मां कहा करती थी कि आप केवल किताबों के कीड़े हैं, सुनी-सुनाई बातें लिख रहे हैं। मैं बार-बार यह कहता था कि इस पुस्तक के लिखने वाले को परिवार का खूब अनुभव है। धन्य है आपकी सहधर्मिणी! आपका और उसका जीवन कितने सुख से बीतता होगा! और जिन बालकों के आप पिता हैं, वे कैसे बड़भागी हैं कि सदा आपकी शिक्षा में रहते हैं; आप जैसे पिता का उदाहरण देखते हैं।"

कहावत है कि वेश्या अपनी अवस्था कम दिखाना चाहती है और साधु अपनी अवस्था अधिक दिखाना चाहता है। भला, ग्रंथकार का पद इन दोनों में किसके समान है? मेरे मन में आई कि कह दूं कि अभी मेरा पचीसवां वर्ष चल रहा है, कहां का अनुभव और कहां का परिवार? फिर सोचा कि ऐसा कहने से ही मैं वृद्ध महाशय की निगाहों से उतर जाऊंगा और कमला की मां सच्ची हो जाएगी कि बिना अनुभव के छोकरे ने गृहस्थ के कर्त्तव्य-धर्मों पर पुस्तक लिख मारी है। यह सोचकर मैं मुसकरा दिया और ऐसी तरह मुंह बनाने लगा कि वृद्ध समझा कि अवश्य मैं संसार-समुद्र में गोते मारकर नहाया हुआ हूं।

[३]

वृद्ध ने उस दिन मुझे जाने नहीं दिया। कमला की माता ने प्रीति के साथ भोजन कराया और कमला ने पान लाकर दिया। न मुझे अब कालानगर की मलाई की बरफ याद रही और न सनकी मित्र की। चाचा जी की बातों में फी सैकड़े सत्तर तो मेरी पुस्तक और उसके रामबाण लाभों की प्रशंसा थी; जिसको सुनते-सुनते मेरे कान दुख गए। फी सैकड़ा पचीस वह मेरी प्रशंसा और मेरे पति-जीवन और पितृ-जीवन की महिमा गा रहे थे। काम की बात बीसवां हिस्सा थी जिससे मालूम पड़ा कि अभी कमला का विवाह नहीं हुआ है, उसे अपनी फूलों की क्यारी को सम्हालने का बड़ा प्रेम है, वह सखी के नाम से 'महिला मनोहर' मासिक पत्र में लेख भी दिया करती है।

सायंकाल को मैं बगीचे में टहलने निकला। देखता क्या हूं कि एक कोने में केले के झाड़ों के नीचे मोतिये और रजनीगंधा की क्यारियां हैं और कमला उनमें पानी दे रही है। मैंने सोचा कि यही समय है। आज मरना है या जीना है। उसको देखते ही मेरे हृदय में प्रेम की अग्नि जल उठी थी और दिन-भर वहां रहने से वह धधकने लग गई थी। दो ही पहर में मैं बालक से युवा हो गया था। अंगरेजी महाकाव्यों में, प्रेममय उपन्यासों में और कोर्स के संस्कृत-नाटकों में जहां-जहां प्रेमिका-प्रेमिक का वार्तालाप पढ़ा था, वहां-वहां का दृश्य स्मरण करके वहां-वहां के वाक्यों को घोख रहा था, पर यह निश्चय नहीं कर सका कि इतने थोड़े परिचय पर भी बात कैसे करनी चाहिए। अंत को अंगरेजी पढ़नेवाले की धृष्टता ने आर्यकुमार की शालीनता पर विजय पाई और चपलता कहिए, बेसमझी कहिए, ढीठपन कहिए, पागलपन कहिए, मैंने दौड़कर कमला का हाथ पकड़ लिया। उसके चेहरे पर सुर्खी दौड़ गई और डोलची उसके हाथ से गिर पड़ी। मैं उसके कान में कहने लगा—

"आपसे एक बात करनी है।"

"क्या ? यहां कहने की कौनसी बात है ?"

"जब से आपको देखा है तब से—"

"बस, चुप करो। ऐसी धृष्टता !"

अब मेरा वचन-प्रवाह उमड़ चुका था। मैं स्वयं नहीं जानता था कि मैं क्या कह रहा हूं, पर लगा बकने, "प्यारी कमला, तुम मुझे प्राणों से बढ़कर हो; प्यारी कमला, मुझे अपना भ्रमर बनने दो। मेरा जीवन तुम्हारे बिना मरुस्थल है, उसमें मंदाकिनी बनकर बहो। मेरे जलते हुए हृदय में अमृत की पट्टी बन जाओ। जब से तुम्हें देखा है, मेरा मन मेरे अधीन नहीं है। मैं तब तक शांति न पाऊंगा जब तक तुम—"

कमला जोर से चीख उठी और बोली—"आपको ऐसी बातें कहते लज्जा नहीं आती ? धिक्कार है आपकी शिक्षा को और धिक्कार है आपकी विद्या को ! इसी को आपने सभ्यता मान रखा है कि अपरिचित कुमारी से एकांत ढूंढ़कर ऐसा घृणित प्रस्ताव करें ! तुम्हारा यह साहस कैसे हो गया ? तुमने मुझे क्या समझ रखा है ? 'सुखमय जीवन' का लेखक और ऐसा घृणित चरित्र ! चिल्लू-भर पानी में डूब मरो। अपना काला मुंह मुझे मत दिखाओ। अभी चाचा जी को बुलाती हूं।"

मैं सुनता जा रहा था। क्या मैं स्वप्न देख रहा हूं ? यह अग्नि-वर्षा मेरे किस अपराध पर ? तो भी मैंने हाथ नहीं छोड़ा। कहने लगा, "सुनो कमला, यदि तुम्हारी कृपा हो जाए, तो सुखमय जीवन—"

"देखा तेरा सुखमय जीवन ! आस्तीन के सांप ! पापात्मा !! मैंने साहित्य-सेवी जानकर और ऐसे उच्च विचारों का लेखक समझकर तुझे अपने घर में घुसने दिया और तेरा विश्वास और सत्कार किया था। प्रच्छन्नपापिन्[1] ! वकदाम्भिक[2] ! बिडालव्रतिक[3] ! मैंने तेरी सारी बातें सुन ली हैं।" चाचा जी आकर लाल-लाल आंखें दिखाते हुए, क्रोध से कांपते हुए कहने लगे—"शैतान, तुझे यहां आकर माया-जाल फैलाने का स्थान मिला। ओफ ! मैं तेरी पुस्तक से छला गया। पवित्र जीवन की प्रशंसा में फार्मों-के-फार्म काले करने वाले, ऐसा हृदय ! कपटी ! विष के घड़े—"

उनका धारा-प्रवाह भाषण बंद ही नहीं होता था, पर कमला की गालियां और थीं और चाचा जी की और। मैंने भी गुस्से में आकर कहा, "बाबू साहब, जबान सम्हालकर बोलिए। आपने अपनी कन्या को शिक्षा दी है और सभ्यता सिखाई है, मैंने भी शिक्षा पाई है और कुछ सभ्यता सीखी है। आप धर्म-सुधारक हैं। यदि मैं उसके गुणों और रूप पर आसक्त हो गया, तो अपना पवित्र प्रणय उसे क्यों न बताऊं ? पुराने ढर्रे के पिता दुराग्रही होते सुने गए हैं। आपने क्यों सुधार का नाम लजाया है ?"

"तुम सुधार का नाम मत लो। तुम तो पापी हो। 'सुखमय जीवन' के कर्त्ता होकर—"

"भाड़ में जाय 'सुखमय जीवन' ! उसी के मारे नाकों दम है !! 'सुखमय जीवन' के कर्त्ता ने क्या यह शपथ खा ली है कि जन्म-भर क्वांरा ही रहे ? क्या उसके प्रेमभाव नहीं हो सकता ? क्या उसमें हृदय नहीं होता ?"

"हैं, जन्म-भर क्वांरा ?"

"हैं काहे की ? मैं तो आपकी पुत्री से निवेदन कर रहा था कि जैसे उसने मेरा हृदय हर लिया है वैसे यदि अपना हाथ मुझे दे, तो उसके साथ 'सुखमय जीवन' के उन आदर्शों को प्रत्यक्ष अनुभव करूं, जो अभी तक मेरी कल्पना में हैं। पीछे हम दोनों आपकी आज्ञा मांगने आते। आप तो पहले ही दुर्वासा बन गए।"

"तो आपका विवाह नहीं हुआ ? आपकी पुस्तक से तो जान पड़ता है कि आप कई वर्षों से गृहस्थ-जीवन का अनुभव रखते हैं। तो कमला की माता ही सच्ची थी।"

इतनी बातें हुई थीं, पर न मालूम क्यों मैंने कमला का हाथ नहीं छोड़ा था। इतनी गर्मी के साथ शास्त्रार्थ हो चुका था, परंतु वह हाथ, जो क्रोध के कारण लाल हो गया था, मेरे हाथ में ही पकड़ा हुआ था। अब उसमें सात्त्विक भाव का पसीना आ गया था और कमला ने लज्जा से आंखें नीची कर ली थीं। विवाह के पीछे कमला कहा करती

---

१. जिसके पाप ढके हुए हों
२. बगुले की तरह छल करनेवाला
३. बिल्ली की तरह व्रत रखनेवाला

है कि न मालूम विधाता की किस कला से उस समय मैंने तुम्हें झटककर अपना हाथ नहीं खेंच लिया। मैंने कमला के दोनों हाथ खेंचकर अपने हाथों के सम्पुट में ले लिए (और उसने उन्हें हटाया नहीं !) और इस तरह चारों हाथ जोड़कर वृद्ध से कहा—

"चाचा जी, उस निकम्मी पोथी का नाम मत लीजिए। बेशक, कमला की मां सच्ची हैं। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियां अधिक पहचान सकती हैं कि कौन अनुभव की बातें कह रहा है और कौन गप्पें हांक रहा है। आपकी आज्ञा हो, तो कमला और मैं दोनों सच्चे सुखमय जीवन का आरंभ करें। दस वर्ष पीछे मैं जो पोथी लिखूंगा, उसमें किताबी बातें न होंगी, केवल अनुभव की बातें होंगी।"

वृद्ध ने जेब से रूमाल निकालकर चश्मा पोंछा और अपनी आंखें पोंछीं। आंखों पर कमला की माता की विजय होने के क्षोभ के आंसू थे, या घर बैठे पुत्री को योग्य पात्र मिलने के हर्ष के आंसू, राम जाने।

उन्होंने मुस्कराकर कमला से कहा, "दोनों मेरे पीछे-पीछे चले आओ। कमला! तेरी मां ही सच कहती थी।" वृद्ध बंगले की ओर चलने लगे। उनकी पीठ फिरते ही कमला ने आंखें मूंदकर मेरे कंधे पर सिर रख दिया।

[प्रथम प्रकाशन: भारतमित्र, सन् १९११ ई०]

बुद्धू का कांटा

रघुनाथ प्प् प्रसाद त्त्त्रिवेदी—या रुग्नात् पर्शाद तिर्बेदी—यह क्या ?

क्या करें, दुविधा में जान है। एक ओर तो हिंदी का यह गौरवपूर्ण दावा है कि इसमें जैसा बोला जाता है वैसा लिखा जाता है और जैसा लिखा जाता है वैसा ही बोला जाता है। दूसरी ओर हिंदी के कर्णधारों का अविगत शिष्टाचार है कि जैसे धर्मोपदेशक कहते हैं कि हमारे कहने पर चलो, हमारी करनी पर मत चलो, वैसे ही जैसे हिंदी के आचार्य लिखें वैसे लिखो, जैसे वे बोलें वैसे मत लिखो, शिष्टाचार भी कैसा ? हिंदी साहित्य-सम्मेलन के सभापति अपने व्याकरण-कषायित कंठ से कहें 'पर्सोत्तमदास' और 'हर्किसन्लाल' और उनके पिट्ठू छापें ऐसी तरह कि पढ़ा जाए—'पुरुषोत्तमदास अ दास अ' और 'हरि कृष्णलाल अ' !

अजी, जो हुकुम। हम लाला जी के नौकर हैं, बैंगनों के थोड़े ही हैं। रघुनाथ-प्रसाद त्रिवेदी अब के इंटरमीजिएट परीक्षा में बैठा है। उसके पिता दारसूरी के पहाड़ के रहने वाले और आगरे के बुझातिया बैंक के मैनेजर हैं। बैंक के दफ्तर के पीछे चौक में उनका तथा उनकी स्त्री का बारहमासिया मकान है। बाबू बड़े सीधे, अपने सिद्धांतों के पक्के और खरे आदमी हैं जैसे पुराने ढंग के होते हैं। बैंक के स्वामी इन पर इतना भरोसा करते हैं कि कभी छुट्टी नहीं देते और बाबू काम के इतने पक्के हैं कि छुट्टी मांगते नहीं। न बाबू वैसे कट्टर सनातनी हैं कि बिना मुंह धोए ही तिलक लगाकर स्टेशन पर दरभंगा महाराज के स्वागत को जाएं, और न ऐसे समाजी ही हैं कि खंजड़ी लेकर 'तोड़ पोपगढ़ लङ्का का' करने दौड़ें। उसूलों के पक्के हैं।

हां, उसूलों के पक्के हैं। सुबह एक प्याला चाय पीते हैं तो ऐसा कि जेठ में भी नहीं छोड़ते और माघ में भी एक के दो नहीं करते। उर्द की दाल खाते हैं, क्या मजाल है कि बुखार में भी मूंग की दाल का एक दाना खा जाएं। आजकल के एम० ए०, बी० ए० पास वालों को हँसते हैं कि शेक्सपीयर और बेकन चाट जाने पर भी वे दफ्तर के काम की अंगरेजी चिट्ठी नहीं लिख सकते। अपने जमाने के साथियों को सराहते हैं जो शेक्सपीयर के दो-तीन नाटक न पढ़कर सारे नाटक पढ़ते थे, डिक्शनरी से अंगरेजी शब्दों के लैटिन धातु याद करते थे। अपने गुरु बाबू प्रकाशबिहारी मुखर्जी की प्रशंसा रोज करते थे कि उन्होंने 'लायब्रेरी इम्तहान' पास किया था। ऐसा कोई दिन ही बीतता होगा (निगोशिएबल इन्सट्रूमेण्ट ऐक्ट के अनुसार होनेवाली तातीलों को मत गिनिए) कि जब उनके 'लायब्रेरी इम्तहान' का उपाख्यान नये बी० ए० हेडक्लर्क को उसके मन और बुद्धि की उन्नति के लिए उपदेश की तरह नहीं सुनाया जाता हो। लाट साहब ने मुकर्जी बाबू को बंगाल-लायब्रेरी में जाकर खड़ा कर दिया। राजा हरिश्चंद्र के यज्ञ में

गु-१

बलि के खूंटे में बंधे हुए शनुःशेप[1] की तरह बाबू आलमारियों की ओर देखने लगे। लाट साहब मनचाहे जैसी आलमारियों से मनचाहे जैसी किताब निकालकर मनचाहे जहां से पूछने लगे। सब आलमारियां खुल गईं, सब किताबें चुक गईं, लाट साहब की बांह दुख गई, पर बाबू कहते-कहते नहीं थके; लाट साहब ने अपने हाथ से बाबू को एक घड़ी दी और कहा कि मैं अंगरेजी-विद्या का छिलका ही भर जानता हूं, तुम उसकी गिरी खा चुके हो। यह कथा पुराण की तरह रोज कही जाती थी।

इन उसूल-धन बाबू जी का एक उसूल यह भी था कि लड़के का विवाह छोटी उमर में नहीं करेंगे। इनकी जाति में पांच-पांच वर्ष की कन्याओं के पिता लड़के वालों के लिए वैसे मुंह बाये रहते हैं जैसे पुष्कर की झील में मगरमच्छ नहानेवालों के लिए; और वे कभी-कभी दरवाजे पर धरना देकर आ बैठते थे कि हमारी लड़की लीजिए, नहीं तो हम आपके द्वार पर प्राण दे देंगे। उसूलों के पक्के बाबू जी इनके भय से देश ही नहीं जाते थे और वे कन्या-पिता-रूपी मगरमच्छ अपनी पहाड़ी गोह को छोड़कर आगरे आकर बाबू जी की निद्रा का भंग करते थे। रघुनाथ की माता को सास बनने का बड़ा चाव था। जहां वह कुछ कहना आरंभ करती कि बाबू जी बैंक की लेजर-बुक खोलकर बैठ जाते, या लकड़ी उठाकर घूमने चल देते। बहस करके स्त्रियों से आज तक कोई नहीं जीता, पर मष्ट मारकर जीत सकता है।

बाबू के पड़ोस में एक विवाह हुआ था। उस घर की मालकिन लाहना बांटती हुई रघुनाथ की मां के पास आई। रघुनाथ की मां ने नई बहू को असीस दी और स्वयं मिठाई रखने तथा बहू की गोद में भरने के लिए कुछ मेवा लाने भीतर गई। इधर मुहल्ले की वृद्धा ने कहा—"पंद्रह बरस हो गए लाहना लेते-लेते। आज तक एक बतासा भी इनके यहां से नहीं मिला।" दूसरी वृद्धा, जो तीन बड़ी और दो छोटी पतोहू की सेवा से इतनी सुखी थी कि रोज मृत्यु को बुलाया करती थी, बोली, "बड़े भागों से बेटों का ब्याह होता है।"

तीसरी ने नाक की झुलनी हिलाकर कहा—"अपना खाने-पहरने का लोभ कोई छोड़े तब तो बेटे की बहू लावे। बहू के आते ही खाने-पहनने में कमी जो हो जाती है।" चौथी ने कहा—"ऐसे कमाने-खाने को आग लगे। यों तो कुत्ते भी अपना पेट भर लेते हैं। कमाई सफल करने का यही तो मौका होता है।" इसके पति ने चारों बेटों के विवाह में मकान और जमीन गिरवी रख दिए थे और कम-से-कम अपने जीवन-भर के लिए कंगाली का कम्बल ओढ़ लिया था।

अवश्य ही ये सब बातें रघुनाथ की मां को सुनाने के लिए कही गई थीं। रघुनाथ की मां भी जानती थी कि ये मुझे सुनाने को कही जा रही हैं। परंतु उसके आते ही मुहल्ले की एक और ही स्त्री की निंदा चल पड़ी और रघुनाथ की मां यह जानकर भी कि उस स्त्री के पास जाते ही मेरी भी ऐसी निंदा की जाएगी, हँसते-हँसते उनकी बातों में सम्मति देने लग गई। पतोहुओं से सुखिनी बुढ़िया ने एक हलके से अनुदात्त से

१. देखें इसी ग्रंथ में 'वैदिक और पौराणिक साहित्य' के अन्तर्गत गुलेरी जी का लेख—'शुनःशेप की कहानी'

कहा—"अब तुम रघुनाथ का ब्याह इस साल तो करोगी ?" "उसके चाचा जानें, गहने तो बनवा रहे हैं।"—रघुनाथ की मां ने भी वैसे ही हलके उदात्त से उत्तर दिया। उसके अनुदात्त को यह समझ गई और इसके उदात्त को वे सब। स्वर का विचार हिन्दुस्तान के मर्दों की भाषा में भले ही न रहा हो, स्त्रियों की भाषा में उससे अब भी कई अर्थ प्रकाश किए जाते हैं।

"मैं तुम्हें सलाह देती हूं कि जल्दी रघुनाथ का ब्याह कर लो। कलयुग के दिन हैं, लड़का बोर्डिंग में रहता है, बिगड़ जाएगा। आगे तुम्हारी मर्जी, क्यों बहन सच है न ? तू क्यों नहीं बोलती ?"

"मैं क्या कहूं, मेरे रघुनाथ का-सा बेटा होता तो अब तक पोता खिलाती।" यों और दो-चार बातें करके यह स्त्री-दल चला गया और गृहिणी के हृदय-समुद्र को कई विचारों की लहरों से छलकता हुआ छोड़ गया।

सायंकाल भोजन करते समय बाबू बोले, "इन गर्मियों में रघुनाथ का ब्याह कर देंगे।

स्त्री ने पहले ही लेजर और छड़ी छिपाकर ठान ली थी कि आज बाबू जी को दबाऊंगी कि पड़ोसियों की बोलियां नहीं सही जातीं। अचानक रंग पहले चढ़ गया। पूछने लगी—"हैं, आज यह कैसे सूझी ?"

"दारसूरी से भैया की चिट्ठी आई है। बहुत कुछ बातें लिखी हैं। कहा है कि तुम तो परदेशी हो गए। यहां चार महीने बाद बृहस्पति सिंहस्थ हो जाएगा; फिर डेढ़-दो वर्ष तक ब्याह नहीं होंगे। इसलिए छोटी-छोटी बच्चियों के ब्याह हो रहे हैं, बृहस्पति के सिंह के पेट में पहुंचने के पहले कोई चार-पांच वर्ष की लड़की कुंवारी नहीं बचेगी। फिर जब बृहस्पति कहीं शेर की दाढ़ में से जीता-जागता निकल आया तो न बराबर का घर मिलेगा, न जोड़ की लड़की। तुम्हें क्या है, गांव में बदनाम तो हम हो रहे हैं। मैंने अभी दो-तीन घर रोक रखे हैं। तुम जानो, अब के मेरा कहना न मानोगे तो मैं तुमसे जन्म-भर बोलने का नहीं।"

"भैया ठीक तो कहते हैं।"

"मैं भी मानता हूं कि अब लड़के को उन्नीसवां वर्ष है। अब के इंटरमीजिएट पास हो ही जाएगा। अब हमारी नहीं चलेगी, देवर-भौजाई जैसा नचाएंगे, वैसा ही नाचना पड़ेगा। अब तक मेरी चली, यही बहुत हुआ।"

"भैया की कहो, मेरा कहना तो पांच वर्ष से जो मान रहे हो।"

"अच्छा अब जिदो मत। मैंने दो महीने की छुट्टी ली है। छुट्टी मिलते ही देश चलते हैं। बच्चा को लिख दिया है कि इम्तहान देकर सीधा घर चला आ। दस-पंद्रह दिन में आ जाएगा। तब तक हम घर भी ठीक कर लें। और दिन भी। अब तुम आगरे बहू को लेकर आओगी।"

स्त्री ने सोचा, बताशे वाली बुढ़िया का उलहना तो मिटेगा।

[२]

"बां'छा[1] मेरे हाल में आपका क्या जी लगेगा ? गरीबों का क्या हाल ? रब[2] रोटी देता है, दिन-भर मेहनत करता हूं, रात पड़ रहता हूं। बा'छा, तुम जैसे साईं[3] लोकों की बरकत से मैं हज कर आया, ख्वाजा का उर्स देख आया, तीन बेले[4] नमाज पढ़ लेता हूं, और मुझे क्या चाहिए ? बा'छा, मेरा काम टट्टू चलाना नहीं है। अब तो इस मोती की कमाई खाता हूं, कभी सवार ले जाता हूं, कभी लादा[5]; ढाई मण कणक[6] पा[7] लेता हूं, तो दो पौली[8] बच जाती है। रब की मरजी, मेरा अपना घर था; सिहों[9] के वक्त की माफी जमीन थी, नाते[10] पड़ोसियों में मेरा नाम था। मैं धामपुर के नवाब का खाना बताता था और मेरे घर में से उसके जनाने में पकाती थी। एक रात को मैं खाना बना-खिला के अपनी मंजड़ी[11] पर सोया था कि, मेरे मौला[12] ने मुझे आवाज दी—'लाही, लाही, हज कर आ।' मैं आंखें मल के खड़ा हो गया, पर कुछ दिखा नहीं। फिर सोने लगा कि फिर वही आवाज आई कि 'लाही, तू मेरी पुकार नहीं सुनता ? जा हज कर आ।' मैं समझा, मेरा मौला मुझे बुलाता है। फिर आवाज आई—'लाही, चल पड़; मैं तेरे नाल[13] हूं, मैं तेरा बेड़ा पार करूंगा।' मुझसे रहा नहीं गया। मैंने अपना कम्बल उठाया और आधी रात को चल पड़ा। बा'छा, मैं रातों चला, दिनों चला, भीख मांगकर चलते-चलते बम्बई पहुंचा। वहां मेरे पल्ले टका नहीं था, पर एक हिंदू भाई ने मुझे टिकट ले दिया। काफले के साथ मैं जहाज पर चढ़ गया। वहीं मुझे छः महीने लगे। पूरी हज की। जब लौटे तो रास्ते में जहाज भटक गया। एक चट्टान पानी के नीचे थी, उससे टकरा गया। उसके पीछे की दोनों लालटेनें ऊपर आ गईं और वे हमें शैतान की-सी आंखें दिखाई देने लगीं। सबने समझा मर जाएंगे, पानी में गोर[14] बनेगी। कप्तान ने छोटी किश्तियां खोलीं और उनमें हाजियों को बिठाकर छोड़ दिया। मर्द का बच्चा आप अपनी जगह से नहीं टला, जहाज के नाल डूब गया। अंधेरे में कुछ सूझता नहीं था। सबेरा होते ही हमने देखा कि, दो किश्तियां बह रही हैं और न जहाज है, न दूसरी किश्तियां। पता ही नहीं, हम कहां से किधर जा रहे थे। लहरें हमारी किश्तियों को उछालती, नचाती, डुबोती, झकोड़ती थीं। जो लहमा बीतता था, हम खैर मनाते थे। पर मेरे मालिक ने करम[15] किया, मेरे अल्लाह ने, मेरे मौला ने जैसे उस रात को कहा था, मेरा बेड़ा पार किया। तीन दिन, तीन रात हम बेपते बहते रहे—चौथे दिन माल के जहाज ने हमको उठा लिया और छठे दिन कराची में हमने दुआ की नमाज पढ़ी। पीछे सुना कि तीन सौ हाजी मर गए।

"वहां से मैं ख्वाजा की जियारत को चला, अजमेर शरीफ़ में दरगाह का दीदार पाया। इस तरह, बा'छा साढ़े सात महीने पीछे मैं घर आया। आकर घर देखता

१. बादशाह, २. ईश्वर, ३. स्वामी, भक्त, ४. वक्त, ५. बोझा (छट्ट, गूण), ६. गेहूं, ७. लाद लेता हूं, ८. चवन्नी, ९. सिक्खों, १०. रिश्तेदार, ११. खटिया, १२. ईश्वर, १३. साथ, १४. कब्र, १५. कृपा

क्या हूं कि सब पटरा हो गया है। नवाब जब सबेरे उठा तो उसने नाश्ता मांगा। नौकरों ने कहा कि इलाही का पता नहीं। बस, वह जल गया। उसने मेरा घर फुंकवा दिया, मेरी जमीन अपनी रखवाल[1] के भाई को दे दी और मेरी बीवी को लौंडी बना-कर कैद कर लिया। मैं उसका क्या ले गया था, अपना कम्बल ले गया था। और पिछले तीन महीने की तलब अपनी पेटी में उसके बावर्चीखाने में रख गया था। भला, मेरा मौला बुलावे और मैं न जाऊं ? पर उसको जो एक घंटा देर से खाना मिला, इससे बढ़कर और गुनाह क्या होता ?

"इसके पंद्रहवें दिन जनाने में एक सोने की अंगूठी खो गई। नवाब ने मेरी घरवाली पर शक किया। उससे पूछा तो वह बोली कि मेरा कौनसा घर और घरवाला बैठा है कि उसके पास अंगूठी ले जाऊंगी। मैं तो यहीं रहती हूं। सीधी बात थी, पर उससे सुनी नहीं गई। जला-भुना तो था ही, बेंत लेकर लगा मारने। बा'छा, मैं क्या कहूं, मौला मेरा गुनाह बख्शे, आज पांच बरस हो गए हैं, पर जब मैं घरवाली की पीठ पर पचासों दागों की गुच्छियां देखता हूं, तो यही पछतावा रहता है कि रब ने उस सूर का (तोबा ! तोबा !) गला घोंटने को यहां क्यों न रखा। मारते-मारते जब मेरी घरवाली बेहोश हो गई तब डरकर उसे गांव के बाहर फिंकवा दिया। तीसरे दिन वह वहां से घिसकती-घिसकती चलकर अपने भाई के यहां पहुंची।"

रघुनाथ ने रुंधे गले से कहा, "तुमने फरयाद नहीं की ?"

"कचहरियां गरीबों के लिए नहीं हैं, बा'छा, वे तो सेठों के लिए हैं। गरीबों की फरयाद सुननेवाला सुनता है। उसने पंद्रह दिन में सुनकर हुकुम भी दे दिया। मेरी औरत को मारते-मारते उस पाजी के हाथ की अंगुली में बेंत की एक सली चुभ गई थी। वही पक गई। लहू में जहर हो गया। पंद्रहवें दिन मर गया। हज से आकर मैंने सारा हाल सुना। अपने जले हुए घर को देखा और अपने परदादे की सिंहों की माफी जमीन को भी देखा। चला आया। मसजिद में जाकर रोया। मेरे मौला ने मुझे हुकुम दिया, 'लाही, मैं तेरे नाल हूं, अपनी जोरू को धीरज दे।' मैं साले के यहां पहुंचा। उसने पचीस रुपये दिए, मैं टट्टू मोल लेकर पहाड़ चला आया और यहां रब का नाम लेता हूं और आप जैसे साईं लोगों की बंदगी करता हूं। रब का नाम बड़ा है।"

रघुनाथ इम्तहान देकर रेल से घराठनी तक आया। वहां तीस मील पहाड़ी रास्ता था। दूरी पर चूने के-से ढेर चमकते दिखने लगे, जो कभी न पिघलनेवाली बर्फ के पहाड़ थे। रास्ता सांप की तरह चक्कर खाता था। मालूम होता कि एक घाटी पूरी हो गई है, पर ज्योंही मोड़ पर आते, त्योंही उसकी जड़ में एक और आधी मील का चक्कर निकल पड़ता। एक ओर ऊंचा पहाड़, दूसरी ओर ढाई सौ फुट गहरी खड्ड। और किराये के टट्टुओं की लत कि सड़क के छोर पर चलें जिससे सवार की एक टांग तो खड्ड पर ही लटकती रहे। आगे वैसा ही रास्ता, वैसी ही खड्ड, सामने वैसे ही कोने पर चलनेवाले टट्टू। जब धूप बढ़ी और जी न लगा तो मोती के स्वामी इलाही

---

१. रखेली, रखैल

से रघुनाथ ने उसका इतिहास पूछा। उसने जो सीधी और विश्वास से भरी, दुःख की धाराओं से भीगी हुई कथा कही, उससे कुछ मार्ग कट गया। कितने गरीबों का इतिहास ऐसी चित्र-घटनाओं की धूप-छाया से भरा हुआ है। पर हम लोग प्रकृति के इन सच्चे चित्रों को न देखकर उपन्यासों की मृगतृष्णा में चमत्कार ढूंढ़ते हैं।

धूप चढ़ गई थी कि वे एक ग्राम में पहुंचे। गांव के बाहर सड़क के सहारे एक कुआं था और उसी के पास एक पेड़ के नीचे इलाही ने स्वयं और अपने मोती के लिए विश्राम करने का प्रस्ताव किया। "घोड़े को न्हारी देकर और पानी-वानी पीकर धूप ढलते ही चल देंगे और बात-की-बात में आपको घर पहुंचा देंगे।" रघुनाथ को भी टांगें सीधी करने में कोई उज्र न था। खाने की इच्छा बिलकुल न थी। हां, पानी की प्यास लग रही थी। रघुनाथ अपने अपने बक्स में से तो लोटाडोर निकालकर कुएं की तरफ चला।

[३]

कुएं पर देखा कि छह-सात स्त्रियां पानी भरने और भरकर ले जाने की कई दशाओं में हैं। गांवों में परदा नहीं होता। वहां सब पुरुष सब स्त्रियों से और सब स्त्रियां सब पुरुषों से निडर होकर बातें कर लेती हैं। और शहरों के लम्बे घूंघटों के नीचे जितना पाप होता है, उसका दसवां हिस्सा भी गांवों में नहीं होता। इसी से तो कहावत में बाप ने बेटे को उपदेश दिया है कि लंबे घूंघटवाली से बचना। अनजान पुरुष किसी भी स्त्री से 'बहन' कहकर बात कर लेता है और स्त्री बाजार में जाकर किसी भी पुरुष से 'भाई' कहकर बोल लेती है। यही वाचिक संधि दिन-भर के व्यवहारों में 'पासपोर्ट' का काम दे देती है। हँसी-ठट्ठा भी होता है, पर कोई दुर्भाव नहीं खड़ा होता। राजपूताने के गांवों में स्त्री ऊंट पर बैठी निकल जाती है और खेतों के लोग "मामी जी, मामी जी" चिल्लाया करते हैं। न उनका अर्थ उस शब्द से बढ़कर कुछ होता है और न वह चिढ़ती है। एक गांव में बारात जीमने बैठी। उस समय स्त्रियां समधियों को गाली गाती हैं। पर गालियां न गाई जाती देख नागरिक-सुधारक बराती को बड़ा हर्ष हुआ। वह ग्राम के एक वृद्ध से कह बैठा, "बड़ी खुशी की बात है कि आपके यहां इतनी तरक्की हो गई है।" बुड्ढा बोला, "हां साहब, तरक्की हो रही है। पहले गालियों में कहा जाता था फलाने की फलानी के साथ और अमुक की अमुक के साथ। लोग-लुगाई सुनते थे, हँस देते थे। अब घर-घर में वे ही बातें सच्ची हो रही हैं। अब गालियां गाई जाती हैं तो चोरों की दाढ़ी में तिनके निकलते हैं। तभी तो आंदोलन होते हैं कि गालियां बंद करो, क्योंकि वे चुभती हैं।"

रघुनाथ यदि चाहता तो किसी भी पानी भरनेवाली से पीने को पानी मांग लेता। परंतु उसने अब तक अपनी माता को छोड़कर किसी स्त्री से कभी बात नहीं की थी। स्त्रियों के सामने बात करने को उसका मुँह खुल न सका। पिता की कठोर शिक्षा से बालकपन से ही उसे वह स्वभाव पड़ गया था कि दो वर्ष प्रयाग में स्वतंत्र रहकर भी वह अपने चरित्र को, केवल पुरुषों के समाज में बैठकर, पवित्र रख सका था। जो

कोने में बैठकर उपन्यास पढ़ा करते हैं, उनकी अपेक्षा खुले मैदान में खेलनेवालों के विचार अधिक पवित्र रहते हैं।—इसीलिए फुटवाल और हॉकी रघुनाथ को कभी स्त्री-विषयक कल्पना ही नहीं होती थी; वह मानवी सृष्टि में अपनी माता को छोड़कर और स्त्रियों के होने या न होने से अनभिज्ञ था। विवाह उसकी दृष्टि में एक आवश्यक किंतु दुर्ज्ञेय बंधन था जिसमें सब मनुष्य फंसते हैं और पिता की आज्ञानुसार वह विवाह के लिए घर उसी रुचि से आ रहा था जिससे कि कोई पहले-पहल थियेटर देखने जाता है। कुएं पर इतनी स्त्रियों को इकट्ठा देखकर वह सहम गया, उसके ललाट पर पसीना आ गया और उसका बस चलता तो वह बिना पानी पिए ही लौट जाता। अस्तु, चुपचाप डोर-लोटा लेकर एक कोने पर जा खड़ा हुआ और डोर खोलकर फांसा देने लगा।

प्रयाग के बोर्डिंग की टोटियों की कृपा से, जन्म-भर कभी कुएं से पानी नहीं खींचा था, न लोटे में फांसा लगाया था। ऐसी अवस्था में उसने सारी डोर कुएं पर बखेर दी और उसकी जो छोर लोटे से बांधी, वह कभी तो लोटे को एक सौ बीस अंश के कोण पर लटकाती और कभी सत्तर पर। डोर के जब बट खुलते हैं तब वह बहुत पेंच खाती है। इन पेंचों में रघुनाथ की बांहें भी उलझ गईं। सिर नीचा किए ज्योंही वह डोर को सुलझाता था, त्योंही वह उलझती जाती थी। उसे पता नहीं था कि गांव की स्त्रियों के लिए वह अद्भुत कौतुक नयनोत्सव हो रहा था।

धीरे-धीरे टीका-टिप्पणी आरम्भ हो गई। एक ने हँसकर कहा, "पटवारी है, पैमाइश की जरीब फैलाता है।"

दूसरी बोली, "ना, बाजीगर है, हाथ-पांव बांधकर पानी में कूद पड़ेगा और फिर सूखा निकल आएगा।"

तीसरी बोली, "क्यों लल्ला, घरवालों से लड़कर आए हो?"

चौथी ने कहा, "क्या कुएं में दवाई डालोगे? इस गांव में तो बीमारी नहीं है।"

इतने में एक लड़की बोली, "काहे की दवाई और कहां का पटवारी? अनाड़ी है, लोटे में फांसा देना नहीं आता। भाई, मेरे घड़े को मत कुएं में डाल देना, तुमने तो सारी मेंड़ ही रोक ली!" यों कहकर वह सामने आकर अपना घड़ा उठाकर ले गई।

पहली ने पूछा, "भाई, तुम क्या करोगे?"

लड़की बात काटकर बोली, "कुएं को बांधेंगे।"

पहली—"अरे! बोल तो।"

लड़की—"मां ने सिखाया नहीं।"

संकोच, प्यास, लज्जा और घबराहट से रघुनाथ का गला रुक रहा था; उसने खांसकर कंठ साफ करना चाहा। लड़की ने भी वैसी ही आवाज की। इस पर पहली स्त्री बढ़कर आगे आई और डोर उठाकर कहने लगी, "क्या चाहते हो? बोलते क्यों नहीं?"

लड़की—"फारसी बोलेंगे।"

रघुनाथ ने शर्म से कुछ आंखें ऊंची कीं, कुछ मुंह फेरकर कुएं से कहा, "मुझे

पानी पीना है—लोटे से निकाल रहा···निकाल लूंगा।"

लड़की—"परसों तक।"

स्त्री बोली, "तो हम पानी पिला दें। ला भागवंती, गगरी उठा ला। इनको पानी पिला दें।"

लड़की गगरी उठा लाई और बोली, "ले मामी के पालतू, पानी पी ले, शरमा मत, तेरी बहू से नहीं कहूंगी।"

इस पर सब स्त्रियां खिलखिलाकर हंस पड़ीं। रघुनाथ के चेहरे पर लाली दौड़ गई और उसने यह दिखाना चाहा कि मुझे कोई देख नहीं रहा है, यद्यपि दस-बारह स्त्रियां उसके भौचक्केपन को देख रही थीं। सृष्टि के आदि से कोई अपनी झेंप छिपाने को समर्थ न हुआ, न होगा। रघुनाथ उलटा झेंप गया।

"नहीं, नहीं, मैं आप ही···"

लड़की—"कुएं में कूद के।"

इस पर एक और हँसी का फौवारा फूट पड़ा।

रघुनाथ ने कुछ आंखें उठाकर लड़की की ओर देखा। कोई चौदह-पंद्रह बरस की लड़की, शहर की छोकरियों की तरह पीली और दुबली नहीं, हृष्ट-पुष्ट और प्रसन्न-मुख। आँखों के डेले काले, कोए सफेद नहीं, कुछ मटिया नीले और पिघलते हुए। यह जान पड़ता था कि डेले अभी पिघलकर बह जाएंगे। आँखों के चौतरंग हँसी, ओठों पर हँसी और सारे शरीर पर नीरोग स्वास्थ्य की हँसी। रघुनाथ की आँखें और नीची हो गईं।

स्त्री ने फिर कहा, "पानी पी लो जी, लड़की खड़ी है।"

रघुनाथ ने हाथ धोए। एक हाथ मुंह के आगे लगाया; लड़की गगरी से पानी पिलाने लगी। जब रघुनाथ आधा पी चुका था तब उसने श्वास लेते-लेते आँखें ऊंची कीं। उस समय लड़की ने ऐसा मुंह बनाया कि ठि:-ठि: करके रघुनाथ हँस पड़ा, उसकी नाक में पानी चढ़ गया और सारी आस्तीन भीग गई। लड़की चुप।

रघुनाथ को खांसते, डगमगाते देखकर वह स्त्री आगे चली आई और गगरी छीनती हुई लड़की को झिड़ककर बोली, "तुझे रात-दिन ऊतपन ही सूझता है। इन्हें गलसूंड चला गया। ऐसी हंसी भी किस काम की। लो, मैं पानी पिलाती हूं।"

लड़की—"दूध पिला दो, बहुत देर हुई; आंसू भी पोंछ दो।"

सच्चे ही रघुनाथ के आंसू आ गए थे। उसने स्त्री से जल लेकर मुंह धोया और पानी पिया। धीरे से कहा, "बस जी, बस।"

लड़की—"अब के आप निकाल लेंगे।"

रघुनाथ को मुंह पोंछते देखकर स्त्री ने पूछा, "कहां रहते हो?"

"आगरे।"

"इधर कहां जाओगे?"

लड़की—(बीच ही में) "शिकारपुर! वहां ऐसों का गुरद्वारा है।" स्त्रियां खिलखिला उठीं।

रघुनाथ ने अपने गांव का नाम बताला। "मैं पहले कभी इधर आया नहीं, कितनी दूर है, कब तक पहुंच जाऊंगा?" अब भी वह सिर उठाकर बात नहीं कर रहा था।

लड़की—"यही पंद्रह-बीस दिन में, तीन-चार सौ कोस तो होगा।"

स्त्री—"छिः, दो-ढाई भर है, अभी घण्टे-भर में पहुंच जाते हो।"

"रास्ता सीधा ही है न?"

लड़की—"नहीं तो, बायें हाथ को मुड़कर चीड़ के पेड़ के नीचे दाहिने हाथ को मुड़ने में पीछे सातवें पत्थर पर फिर बायें मुड़ जाना, आगे सीधे जाकर कहीं न मुड़ना; सबसे आगे एक गीदड़ की गुफा है, उससे उत्तर को बाड़ उलांघकर चले जाना।"

स्त्री—"छोकरी, तू बहुत सिर चढ़ गई है, चिकर-चिकर करती ही जाती है! नहीं जी, एक ही रास्ता है; सामने नदी आवेगी; परले पार बायें हाथ को गांव है।"

लड़की—नदी में भी यों ही फांसा लगाकर पानी निकालना।"

स्त्री उसकी बात अनसुनी करके बोली, "क्या उस गांव में डाकबाबू होकर आए हो?"

रघुनाथ—"नहीं, मैं तो प्रयाग में पढ़ता हूं।"

लड़की—"ओ हो, पिराग जी में पढ़ते हैं! कुएं से पानी निकालना पढ़ते होंगे?"

स्त्री—"चुप कर, ज्यादा बक-बक काम की नहीं; क्या इसीलिए तू मेरे यहां आई है?"

इस पर महिला-मंडल फिर हँस पड़ा। रघुनाथ ने घबराकर इलाही की ओर देखा तो वह मजे में पेड़ के नीचे चिलम पी रहा था। इस समय रघुनाथ को हाजी इलाही की ईर्ष्या होने लगी। उसने सोचा कि हज से लौटते समय समुद्र में खतरे कम हैं, और कुएं पर अधिक।

लड़की—"क्यों जी, पिराग जी में अक्कल भी बिकती है?"

रघुनाथ ने मुंह फेर लिया।

स्त्री—"तो गांव में क्या करने जाते हो?"

लड़की—"कमाने-खाने।"

स्त्री—"तेरी कैंची नहीं बन्द होती! यह लड़की तो पागल हो जाएगी।"

रघुनाथ—"मैं वहां के बाबू शोभाराम जी का लड़का हूं।"

स्त्री—"अच्छा, अच्छा, तो क्या तुम्हारा ही ब्याह है?"

रघुनाथ ने सिर नीचा कर लिया।

लड़की—"मामी, मामी, मुझे भी अपने नये पालतू के ब्याह में ले चलना। बड़ा ब्याहने चला है। यह घोड़ी है और वह जो चिलम पी रहा है नाना बनेगा। वाह जी वाह, ऐसे बुद्धू के आगे भी कोई लहँगा पसारेगी!"

स्त्री लड़की की ओर झपटी। लड़की गगरी उठाकर चलती बनी। स्त्री उसके पीछे दस ही कदम गई थी कि स्त्री-महामंडल एक अट्टहास से गूंज उठा।

रघुनाथ इलाही के पास लौट आया। पीछे मुड़कर देखने की उसकी हिम्मत न हुई। उसके गले में भस्म का-सा स्वाद आ रहा था। जीवन-भर में यही उसका स्त्रियों से पहला परिचय हुआ। उसकी आत्मलज्जा इतनी तेज थी कि वह समझ गया कि मैं इनके सामने बन गया हूं। जीवन में ऐसी स्त्रियों से आधा संसार भरा रहेगा और ऐसी ही किसीसे विवाह होगा। तुलसीदास ने ठीक कहा है कि 'तुलसी गाय बजाय के दियो काठ में पांव।' स्त्रियों की टोली के वाक्य उसे गड़ रहे थे और सब वाक्यों के दुःस्वप्न के ऊपर उस पिघलती हुई आंखों वाली कन्या का चित्र मंडरा रहा था।[1]

बड़े ही उदास चित्त से रघुनाथ घर पहुंचा।

[४]

गांव पहुंचने के तीसरे दिन रघुनाथ सबेरा होते ही घूमने को निकला। पहाड़ी जमीन, जहां रास्ता देखने में कोस-भर जंचे और चाहे उसमें दस मील का चक्कर काट लो; बिना पानी सींचे हुए हरे मखमल के गलीचे से ढकी हुई जमीन, उस पर जंगली गुलदाऊदी की पीली टिमकियां और वसंत के फूल, आलूबोखारे और पहाड़ी करौंदे की रज से भरे हुए छोटे-छोटे रंगीले फूल जो पेड़ का पत्ता भी न दिखने दें, क्षितिज पर लटके हुए बादलों की-सी बरफीले पहाड़ों की चोटियां, जिन्हें देखते आँखें अपने-आप बड़ी हो जातीं और जिनकी हवा की सांस लेने से छाती बढ़ती हुई जान पड़ती; नदी से निकाली हुई छोटी-छोटी असंख्य नहरें जो सांप के-से चक्कर खा-खाकर फिर प्रधान नदी की पथरीली तलेटी में जा मिलतीं—ये सब दृश्य प्रयाग के ईंटों के घर और कीचड़ की सड़कों से बिलकुल निराले थे। चलते-चलते रघुनाथ का मन नहीं भरा और घाटी के उतार-चढ़ाव की गिनती न करके वह नदी की चक्करों की सीध में हो लिया। एक ओर आम के पेड़ थे जो बौरों और कैरियों[2] से लदे हुए थे, उनके सामने धान के खेत थे जिनमें से पानी किलचिल-किलचिल करता हुआ टिघल रहा था। कहीं उसे कँटीली **बाड़ों के बीच में होकर जाना पड़ता था और कहीं छोटे-छोटे झरने, जो नदी में जा मिले थे, लांघने पड़ते थे। इन प्राकृतिक दृश्यों का आनंद लेता हुआ हमारा चरित्रनायक नदी की ओर बढ़ा।**[3]

इस समय वहां कोई न था। रघुनाथ ने एक अकृत्रिम घाट—चौड़ी शिला—पर खड़े होकर नदी की शोभा देखी और सोचा कि हजामत बनाकर नहा-धोकर घर चलें। नयी सभ्यता के प्रभाव से सेफ्टीरेजर और साबुन की टिकिया सफरी कोट की जेब

---

१. देखें : इस ग्रंथ के द्वितीय खंड में गुलेरी जी की 'विवाह की लाटरी' शीर्षक टिप्पणी। —सम्पादक

२. छोटे कच्चे आम।

३. 'बाड़ों के' से 'बढ़ा' तक का अंश मूल पाण्डुलिपि में खण्डित था। इसलिए यहां मोटे टाइप में जोड़ा गया पाठ गुलेरी जी के पुत्र श्री योगेश्वर गुलेरी ने अपनी ओर से जोड़ा है। यहां यह अंश 'साभार' उद्धृत किया जाता है। —सम्पादक

में थी ही, ऊपर की पॉकेटबुक से एक आईना भी निकल पड़ा। रघुनाथ उसी शिला-फलक पर बैठ गया और अपने मुख-रूपी आकाश पर छाए हुए कोमल बादलों को मिटाने के लिए अमेरिका के इस जेबी वज्र को चलाने लगा।

कवियों को सोचने का समय पाखाने में मिलता है और युवाओं को स्वयं हजामत करने में। यदि नाई होता तो संसार के समाचारों से वही मगज चाट जाता। इसकी वैज्ञानिक युक्ति मुझे एक थियासोफिस्ट ने बताई थी। वह बहुत से तर्क और कुतर्कों से सिद्ध कर रहा था कि पुरानी चालों में सूक्ष्म वैज्ञानिक रहस्य भरे पड़े हैं। यहां तक कि माता बच्चे के सिर में नजर से बचाने के लिए जो काजल का टीका लगा देती है अथवा दूध पिलाए पीछे बच्चे को धूल की चुटकी चटा देती है—इसका भी वह बिजली के विज्ञान से समाधान कर रहा था। उसने कहा कि हजामत बनाते या बनवाते समय रोम खुल जाने से मस्तिष्क तक के स्नायु-तारों की बिजली हिल जाती है और वहां विचारशक्ति की खुजलाहट पहुंच जाती है। अस्तु।

रघुनाथ की खुजलाहट का आरंभ यों हुआ कि यह नदी सहस्रों वर्षों से यों ही बह रही है और यों ही बहती जाएगी। किनारे के पहाड़ों ने, ऊपर के आकाश ने और नीचे की मिट्टी ने उसको यों ही देखा है और यों ही वे उसे देखते जाएंगे। यही क्या, नदी का प्रत्येक परमाणु अपने आने वाले परमाणु की पीठ को और पीछे वाले परमाणु के सामने देखता जाता है। अथवा, क्या पहाड़ को या तलेटी को नदी की खबर है? क्या नदी के एक परमाणु को दूसरे की खबर है? मैं यहां बैठा हूं, इन परमाणुओं को, इन बादलों को मेरी क्या खबर है? इस समय आगे-पीछे, नीचे-ऊपर, कौन मेरी परवाह करता है? मनुष्य अपने घमंड में त्रिलोकी का राजा बना फिरे, उसे अपने आत्माभिमान के सिवा पूछता ही कौन है? इस समय मेरा यह क्षौर[1] बनाना किसके लिए ध्यान देने योग्य है? किसे पड़ी है कि मेरी लीलाओं पर ध्यान रक्खे।

इसी विचार की तार में ज्योंही उसने सिर उठाया त्योंही देखा कि कम-से-कम एक व्यक्ति को तो उसकी लीलाएं ध्यान देने योग्य हो रही थीं जो उनका अनुकरण करती थी। रघुनाथ क्या देखता है कि वही पानी पिलाने वाली लड़की सामने एक दूसरी शिला पर बैठी हुई है और उसकी नकल कर रही है।

उस दिन की हँसी की लज्जा रघुनाथ के जी से नहीं हटी थी। वह लज्जा और संकोच के मारे यही आशा करता था कि फिर कभी वह लड़की मुझे न दिखाई पड़े और अपनी ठठोलियों से मुझे तंग न करे। अब, जिस समय वह यह सोच रहा था कि मुझे कोई न देख रहा है, वही लड़की उसके हजामत बनाने की नकल कर रही है। उसने हाथ में एक तिनका ले रखा है। जब रघुनाथ उस्तरा चलाता है तब वह तिनका चलाती है। जब रघुनाथ हाथ खींचता है तब वह तिनका रोक लेती है।

रघुनाथ ने मुंह दूसरी ओर किया। उसने भी वैसा ही किया। रघुनाथ ने दाहिना घुटना उठाकर अपना आसन बदला। वहां भी ऐसा ही हुआ। रघुनाथ ने बायीं

१. हजामत

हथेली धरती पर टेककर अंगड़ाई ली। लड़की ने भी वही मुद्रा की। ये सब प्रयोग रघुनाथ ने यह निश्चय करने के लिए ही किए थे कि यह लड़की क्या वास्तव में मेरा मखौल कर रही है। उसने हल्का-सा खंखारा। रघुनाथ ने उतना ही खंखारना उधर से सुना। अब सन्देह नहीं रह गया।

ऐसे अवसर पर बुद्धिमान लोग जो करना चाहते हैं, वही रघुनाथ ने किया। अर्थात् वह मुंह बदलकर अपना काम करता गया और उसने विचार किया कि मैं उधर न देखूंगा। इस विचार का वही परिणाम हुआ जो ऐसे विचारों का होता है अर्थात् दो ही मिनट में रघुनाथ ने अपने को उसी ओर देखते हुए पाया। अब लड़की ने भी अपना आसन बदल लिया था। रघुनाथ ने कई बार विचार किया कि मैं उधर न देखूंगा, पर वह फिर उधर ही देखने लगा। आंखें, जो मानो अभी पानी होकर बह जाएंगी, सफेद हलका नीला कोआ, जिसमें एक प्रकार की चंचलता, हँसी और घृणा तैर रही थी।

यह लड़की यों पिंड नहीं छोड़ेगी। मैंने इसका क्या बिगाड़ा है? इससे पूछूं तो फिर वैसे बनाएगी? पर खैर, आज तो अकेली यही है। इसकी चोटों पर साधुवाद करने के लिए महिला-मंडल तो नहीं है। यह सोचकर रघुनाथ ने जोर से खंखारा। वही जवाब मिला। उसने हाथ बढ़ाकर अंगड़ाई ली। वहां भी अंग तोड़े गए। रघुनाथ ने एक पत्थर उठाकर नदी में फेंका, उधर से ढेला फेंका गया और खलब करके पानी में बोला।

वह बिना वचनों की छेड़ रघुनाथ से सही न गई। उसने एक छोटी-सी कंकरी उठाकर लड़की की शिला पर मारी। जवाब में वैसी ही एक कंकरी रघुनाथ की शिला में आ बजी। रघुनाथ ने दूसरी कंकरी उठाकर फेंकी जो लड़की के समीप जा पड़ी। इस पर एक कंकरी आकर रघुनाथ की पॉकेट-बुक के आईने पर पट से बोली और उसे फोड़ गई। रघुनाथ कुछ चिप गया, उसकी हिम्मत कुछ बढ़ गई, अबके उसने जो कंकरी मारी कि वह लड़की के हाथ पर जा लगी।

इस पर लड़की ने हाथ को झट से उठाया और स्वयं उठी। जहां रघुनाथ बैठा था, वहां आई और उसके देखते-देखते उसके सामने से टोपी, उस्तरा और पॉकेट-बुक तथा साबुन की बट्टी को उठाकर नदी की ओर बढ़ी। जितना समय इस बात को लिखने और बांचने में लगा है, उतना समय भी नहीं लगा कि उसने सबको पानी में फेंक दिया। रघुनाथ उसके हाथ को नदी की ओर बढ़ते हुए देख, उसका तात्पर्य समझकर किंकर्तव्यविमूढ़-सा हो ज्योंही दो कदम आगे धरता है कि पंकाली शिला पर उसका पैर फिसला और वह धड़ाम से सिर के बल पानी में गिर पड़ा।

रघुनाथ तैरना नहीं जानता था, यद्यपि वह मित्रों के साथ जाकर दारागंज की गंगा में नहा आया करता था। परंतु चाहे कितना ही तैराक हो, औंधे सिर पानी में गिरने पर तो गोता खा ही जाता है। रघुनाथ का सिर पेंदे के पास पहुंचते ही उसने दो गोते खाए और सीधा होते-होते उसकी सांस टूट गई। यों तो नदी में पानी रघुनाथ के सिर से कुछ ही ऊंचा था और धीरज से उसके पैर टिक जाते तो वह हाथ फटफटाकर किनारे आ लगता, क्योंकि वह बहुत दूर नहीं गया था। पर फिसलने की घबराहट, सांस

का टूटना, गले में पानी भर जाना, नीचे दलदल—इन सबसे वह भौचक होकर बीस-तीस हाथ बढ़ता ही चला गया। नदी की तलेटी में चट्टान थी, जो पानी के बहाव से क्रमशः खिरती जाती थी। वहां पानी का नाला कुछ जोर से बढ़कर चक्कर खाता था। वहां पहुंचकर, पानी कम होने पर भी, हाथ-पांव मारने पर भी रघुनाथ के पैर नहीं टिके और उछलता हुआ पानी उसके मुंह में गया। वह नदी के बहाव की ओर जाने लगा। बालिका ने जान लिया कि बिना निकाले वह पानी से निकल न सकेगा। वह झट सारी से कछौटा कसकर पानी में कूद पड़ी। जल्दी से तैरती हुई आकर उसने रघुनाथ का हाथ पकड़ना चाहा कि इतने में रघुनाथ एक और चक्कर काटकर सिर पानी के नीचे करके खांसने लगा। लड़की के हाथ उसकी चमड़े की पेटी आयी थी जो उसने पतलून के ऊपर बांध रखी थी। वह एक हाथ से उसे खींचती हुई रघुनाथ को छर्रे के बहाव से निकाल लाई और दूसरे हाथ से पानी हटाती हुई किनारे की ओर बढ़ने लगी। अब रघुनाथ भी सीधा हो गया था। पानी चीरने में खड़ा या मुड़ा आदमी लेटे हुए की अपेक्षा बहुत दुःखदायी होता है। हांफती हुई कुमारी ने बिड़राए हुए रघुनाथ को किनारे लगाया। रघुनाथ मुंह और बालों का पानी निचोड़ता हुआ तरबतर कुरते और पतलून से धाराएं बहाता हुआ चट्टान पर जा बैठा। पांच-सात बार खांसने पर, आंखें पोंछने पर उसने देखा कि भी भीगी हुई कुमारी उसके सामने खड़ी है और उन्हीं पिघलती हुई आंखों से घृणा, दया और हँसी झलकाती हुई कह रही है कि—इस अनाड़ी के सामने भी कोई अपना लहँगा पसारेगी ?

ये सब घटनाएं इतनी जल्दी-जल्दी हुई थीं कि रघुनाथ का सिर चकरा रहा था। अभी पानी की गूंज कानों को ढोल किए हुए थी और मानसिक क्षोभ और लज्जा से वह पागल-सा हो रहा था। उसके मन की पिछली भित्ति पर चाहे यह अंकित रहा हो कि इस लड़की ने मुझे नदी में से निकाला है, पर सामने की भित्ति पर यही था कि शब्द के कोड़ों से यह मेरी चमड़ी उधेड़े डालती है।[1] रघुनाथ उसे पकड़ने के लिए लपका और लड़की दो खेतों की बाड़ के बीच की तंग सड़क पर दौड़ भागी। रघुनाथ पीछा करने लगा।

गांव की लड़कियां हड्डियों और गहनों का बंडल नहीं होतीं। वहां वे दौड़ती हैं, कूदती हैं, हँसती हैं, गाती हैं, खाती हैं और पचाती हैं। नगरों में आकर वे खूंटे से बंधकर कुम्हलाती हैं, पीली पड़ जाती हैं, भूखी रहती हैं, सोती हैं, रोती हैं और मर जाती हैं। रघुनाथ ने मील की दौड़ में इनाम पाया था। उस समय का दौड़ना उसके बहुत गुण बैठा। पानी में गोते खाने के पीछे की शरीर की सारी शून्यता मिटने लगी। पाद मील दौड़ने पर लड़की जितने हाथ आगे बढ़ती थी, वे घटने लगे। सौ गज और जाते-जाते अचानक चीख मारकर, लड़खड़ाकर वह गिरने लगी। रघुनाथ उसके पास जा पहुंचा। अवश्य ही रघुनाथ को इतने हंफानेवाले श्रम के और मानसिक क्षोभ के पीछे यही भाव था कि इस लड़की को गुस्ताखी के लिए दंड दूं। रघुनाथ ने उसे दोनों बांहें डालकर पकड़ लिया।

---

१. 'उसने कहा था' के आरम्भ में भी इस भाषा का प्रयोग है। —सम्पादक

रघुनाथ के लिए स्त्री का और उस लड़की के लिए पुरुष का यह पहला स्पर्श था। रघुनाथ कुछ सोच भी न पाया था कि मैं क्या करूं, इतने में लड़की ने मुंह उसके सामने करके अपने नखों से उसकी पीठ में और बगल में बहुत तेज चुटकियां काटीं। रघुनाथ की बांह ढीली हुई, पर क्रोध नहीं। उसने एक मुक्का लड़की की नाक पर जमाया। लड़की सांस लेते रुकी। इतने में दौड़ने के वेग से, जो अभी न रुका था और मुक्के से दोनों नीचे गिर पड़े। दोनों धूल में लोटमलोट हो गए।

रघुनाथ धूल झाड़ता हुआ उठा। क्या देखता है कि लड़की के नाक से लहू बह रहा है। अपनी विजय का पहला आवेश एकदम से भूलकर वह पश्चात्ताप और दुःख के पाश में फंस गया। उसका मुंह पसीना-पसीना हो गया। वह चाहता था कि इन लहू की बूंदों के साथ मैं भी धरती में समा जाऊं और उनके साथ ही अपनी आंखें भूमि में गड़ा भी रहा था। परंतु फिर क्षण में आंखें उठ आईं। लड़की अपने भीगे और धूल लगे हुए आंचल से नाक पोंछती हुई उन्हीं आंखों में वही घृणा की और पछतावे की दृष्टि डालती हुई कह रही थी—

"वाह, अच्छे मर्द हो। बड़े बहादुर हो। स्त्रियों पर हाथ उठाया करते हैं?"

रघुनाथ चुप।

"वाह, पिराग जी में खूब इलम पढ़ा। स्त्रियों पर हाथ उठाते होंगे?"

रघुनाथ ने नीचे सिर से, आंखें न उठाकर कहा—

"मुझसे बड़ी भूल हो गई। मुझे पता ही नहीं था कि मैं क्या कर रहा हूं। मेरा सिर ठिकाने नहीं है। मुझे चक्कर···"

"अभी चक्कर आवेंगे। स्त्रियों पर हाथ नहीं चलाया करते हैं।"

सड़क यहां चौड़ी हो गई थी। कचनार की एक बेल आम पर चढ़ी हुई थी और आम के तले पत्थरों का थांवला था। सुनसान था। दूर से नदी की कलकल और रह-रहकर खातीचिड़े की ठकठक-ठकठक आ रही थी। इस समय रघुनाथ का घोंघापन हटने लगा और स्त्रियों की ओर से झेंप इस पिघलती हुई आंखों वाली के वचन-बाणों के नीचे भागने लगी। ढाढ़स कर उसने पूछा—

"तुम्हारा नाम क्या है?"

"भागवन्ती।"

"रहती कहां हो?"

"मामी के पास—वही जिसने कुएं पर पानी नहीं पिलाया था!"

उस दिन का स्मरण आते ही रघुनाथ फिर चुप हो गया। फिर कुछ ठहरकर बोला—"तुम मेरे पीछे क्यों पड़ी हो?"

"तुम्हें आदमी बनाने को। जो तुम्हें बुरा लगा हो, तो मैंने भी अपने किए का लहू बहाकर फल पा लिया। एक सलाह दे जाती हूं।"

"क्या!"

"कल से नदी में नहाने मत जाना।"

"क्यों?"

"गोते खाओगे तो कोई बचानेवाला नहीं मिलेगा।"

रघुनाथ झेंपा, पर सम्हलकर बोला, "अब कोई मेरी जान बचाएगा तो मैं पीछा नहीं करूंगा, दो गाली भी सुन लूंगा।"

"इसलिए नहीं, मैं आज अपने बाप के यहां जाऊंगी।"

"तुम्हारा घर कहां है ?"

"जहां अनाड़ियों के डूबने के लिए कोई नदी नहीं है।"

"हुं ! फिर वही बात लाई। तो वहां पर चिढ़ानेवालों के भागने के लिए रास्ता भी न होगा।"

"जी, यहां जो मैं आपके हाथ आ गई।"

"नहीं तो ?"

"कांटा न लगता तो पिराग जी तक दौड़ते तो हाथ न आती।"

"कांटा ! कांटा कैसा ?"

"यह देखो।"

रघुनाथ ने देखा कि उसके दाहने पैर के तलवे में एक कांटा चुभा हुआ है। उसको यह सूझी कि यह मेरे दोष से हुआ है। बालिका के सहारे वह घुटने के बल बैठ गया और उसका पैर खींचकर रूमाल से धूल झाड़कर कांटे को देखने लगा।

कांटा मोटा था, पर पैर में बहुत पैठ गया था। वह उठकर बाड़ से एक और बड़ा कांटा तोड़ लाया। उससे और पतलून की जेब के चाकू से उसने कांटा निकाला। निकालते ही लोहू का डोरा बह निकला। कांटा प्रायः दो इंच लंबा और जहरीली कंटीली का था।

"ओफ !" कहकर रघुनाथ ने कमीज की आस्तीन फाड़कर उसके पांव में पट्टी बांध दी।

बालिका चुप बैठी थी। रघुनाथ कांटे को निरख रहा था।

"अब तो दर्द नहीं ?"

"कोई एहसान थोड़ा है, तुम्हारे भी कांटा गड़ जाए तो निकलवाने आ जाना।"

"अच्छा।" रघुनाथ का जी जल गया था। यह बर्ताव !

"अच्छा क्या ? जाओ, अपना रास्ता लो।"

"यह कांटा मैं ले जाऊंगा। आज की घटना की यादगारी रहेगी।"

"मैं इसे जरा देख लूं।"

रघुनाथ ने अंगूठे और तर्जनी से कांटा पकड़कर उसकी ओर बढ़ाया।

अपनी दो अंगुलियों से उसे उठाकर और दूसरे हाथ से रघुनाथ को धक्का देकर लड़की हँसती-हंसती दौड़ गई। रघुनाथ धूल में एक कलामुंडी खाकर ज्योंही उठा कि बालिका खेतों को फांदती हुई जा रही थी।

अब की दफा उसका पीछा करने का साहस हमारे चरित्रनायक ने नहीं किया। नदी-तट पर जाकर कोट उठाया और चौंधिआये मस्तिष्क से घर की राह ली।

[५]

रघुनाथ के हृदय में स्त्री-जाति की अज्ञानता का भाव और उससे पृथक् रहने का कुहरा तो था ही, अब उसके स्थान में उद्वेगपूर्ण ग्लानि का धूम इकट्ठा हो गया था। पर उस धूम के नीचे-नीचे उस चपल लड़की की चिनगारी भी चमक रही थी। अवश्य ही अपने पिछले अनुभव से वह इतना चमक गया था कि किसी स्त्री से बातें करने की उसकी इच्छा न थी, परंतु रह-रहकर उसके चित्त में उस पिघलती हुई आंखोंवाली का और अधिक हाल जानने और उसके वचन-कोड़े सहने की इच्छा होती थी। रघुनाथ का हृदय एक पहेली हो रहा था और उस पहेली उस स्वतंत्र लड़की का स्वभाव था। रघुनाथ का हृदय धुएं से घुट रहा था और विवाह के पास आते हुए अवसर को वह उसी भाव से देख रहा था, जैसे चैत्रकृष्ण में बकरा आनेवाले नवरात्रों को देखता है।

इधर पिता जी और चाचा घर खोज रहे थे। आसपास गांवों में तीन-चार पात्रियां थीं, जिनके पिता अधिक धन के स्वामी न होने से अब तक अपना भार न उतार सके थे और अब बृहस्पति के सिंह का कवल हो जाने को अपने नरक-गमन का परवाना-सा देखकर भी आत्मघात नहीं कर रहे थे। हिंदू-समाज में धौंस से कुछ नहीं होता, जरूरत से सब हो जाता है। बड़े से बड़ा महाराज थैलियों के मुंह खुलवाकर भी शास्त्र-जड़ लोगों से यह नहीं कहला सकता कि 'अष्टवर्षा भवेद् गौरी' पर हरताल लगा दो। उलटा अष्ट का अर्थ गर्भाष्टय करके सात वर्ष तीन महीने की आयु निकाल बैठेंगे। परंतु कभी शुक्र का छिपना, और कभी बृहस्पति का भागना, कभी घर का न मिलना और कभी पल्ले पैसा न होना, कभी नाड़ी-विरोध और कभी कुछ—समझदार आदमी चाहे तो कन्या को चौदह-पंद्रह वर्ष की करके काशीनाथ से लेकर आजकल के महा-महोपाध्यायों तक को अंगूठा दिखला सकता है।

दो घर तो ज्योतिषी ने खो दिए। तीसरे के बारे में भी उन्होंने लत्तापात करना चाहा था, पर कुछ तो ज्योतिषी के डाकखाने के द्वारा मनीआर्डर का ग्रहों पर प्रभाव पड़ा और कुछ रघुनाथ के पिता के इस बिहारी के दोहे के पाठ का ज्योतिषी जी पर—

सुत पितु मारक जोग लखि, उपज्यो हिय अति सोग।
पुनि बिहँस्यो गुन जोयसी, सुत लखि जारज जोग ॥[1]

---

१. सम्पादक द्वारा प्रस्तुत पाठान्तर—

(क) चित पितुमारक जोग गुनि, भयो भये सुत सोग।
फिर हुलस्यौ जिय जोयसी, समुझ्यो जारज जोग ॥
—बिहारी बोधिनी : लाला भगवान दीन 'दीन', छंद : ६४९

(ख) चित पितमारक-जोगु गनि भयौ, भयें सुत सोगु।
फिरि हुलस्यौ जिय जोइसी, समुझें जारज जोगु ॥
—बिहारी-रत्नाकर : सम्पादक : जगन्नाथदास 'रत्नाकर', छंद : ५७५

(ग) चित पितमारक जोग गुनि, भयौ भएँ सुत सोग।
फिर हुलस्यौ जिय जोयसी, समुझें जारज जोग ॥
—बिहारी : विश्वनाथप्रसाद मिश्र, छंद : १७७

विधि मिल गई। झंडीपुर में सगाई निश्चित हुई। बीस दिन पीछे बरात चढ़ेगी और रघुनाथ का विवाह होगा।

[६]

कन्यादान के पहले और पीछे वर-कन्या को, ऊपर एक दुशाला डालकर एक-दूसरे का मुंह दिखाया जाता है। उस समय दुलहा-दुलहिन जैसा व्यवहार करते हैं उससे ही उनके भविष्य दाम्पत्य-सुख का थर्मामीटर माननेवाली स्त्रियां बहुत ध्यान से उस समय के दोनों के आकार-विकार को याद रखती हैं। जो हो, झंडीपुर की स्त्रियों में यह प्रसिद्ध है कि मुंह-दिखौनी के पीछे लड़के का मुंह सफेद फक् हो गया और विवाह में जो कुछ होम वगैरह उसने किए वे पागल की तरह। मानो उसने कोई भूत देखा था। और लड़की ऐसी गुम हुई कि उसे काटो तो खून नहीं। दिन-भर वह चुप रही और बिड़रायी आंखों से जमीन देखती रही; मानो उसे भी भूत दिख रहे हों। स्त्रियों ने इन लक्षणों को बहुत अशुभ माना था।

दुलहिन डोले में बिदा होकर ससुराल आ रही थी। रघुनाथ घोड़े पर था। दोपहर चढ़ने से कहारों और बरातियों ने एक बड़ की छाया के नीचे बावड़ी के किनारे डेरा लगाया कि रोटी-पानी करके और धूप काटके चलेंगे। कोई नहाने लगा, कोई चूल्हा सुलगाने लगा। दुलहिन पालकी का पर्दा हटाकर हवा ले रही थी और अपने जीवन की स्वतंत्रता के बदले में पाई हुई हथकड़ियों और चाँदी की बेड़ियों को निरख रही थी। मनुष्य पहले पशु है, फिर मनुष्य। सभ्यता या शांति का भाव पीछे आता है, पहले पाशविक बल और विजय का। रघुनाथ ने पास आकर कहा—

"क्या कहा था, ऐसे मर्द के आगे कौन लहँगा पसारेगी?"

सिर पालकी के भीतर करके बालिका ने परदा डाल लिया।

रघुनाथ ने यह नहीं सोचा कि उसके जी पर क्या बीतती होगी। उसने अपनी विजय मानी और उसी की अकड़ में बदला लेना ठीक समझा।

"हाँ, फिर तो कहना, इस बुद्धू के आगे कौन लहँगा पसारेगी?"

चुप।

"क्यों, अब वह कैंची-सी जीभ कहां गई?"

चुप।

कहां तो रघुनाथ छेड़ से चिढ़ता था, अब कहां वह स्वयं छेड़ने लगा। उसकी इच्छा पहले तो यह थी कि यह बोली कभी न सुनूं, परंतु अब वह चाहता था कि मुझे फिर वैसे ही उत्तर मिलें। विवाह के पहले अचंभे के पीछे उसने दुःख की आह के साथ ही साथ एक संतोष की आह भरी थी; क्योंकि पहले दिनों की घटनाओं ने उसके हृदय पर एक बड़ा अद्भुत परिवर्तन कर दिया था।

"कहो जी, अब प्रयागवालों को अकल सिखाने आई हो? अब इतनी बातें कैसे सुनी जाती हैं?"

"मैं हाथ जोड़ती हूं, मुझसे मत बोलो। मैं मर जाऊंगी।"

"तो नदी में डूबते हुए बुद्धुओं को कौन निकालेगा?"

"अब रहने दो। यहां से हट जाओ। चले जाओ।"

"क्यों?"

"क्यों क्या, अब इस चक्की में ऐसा ही पिसना है। जनम-भर का रोग है; जनम-भर का रोना है।"

"नहीं; मुझे अकल सीखने का—" रघुनाथ ने व्यंग्य से आरम्भ किया था, पर इतने में एक कहार चिलम में तमाखू डालने आ गया। भूमिका की सफाई बिना कहे और बिना हुए ही रह गई।

[७]

हिंदू-घरों में, कुछ दिनों तक, दंपती चोरों की तरह मिलते हैं। यह संयुक्त कुटुम्ब-प्रणाली का वर या शाप है। रघुनाथ ने ऐसे चोरी के अवसर आगरे आकर ढूंढ़ने आरंभ किए, पर भागवन्ती टल जाती थी! उसने रघुनाथ को एक भी बात कहने का, या सुनने का मौका न दिया।

जुलाई में रघुनाथ इलाहाबाद जाकर थर्ड इयर में भरती हो गया। दशहरे और बड़े दिन की छुट्टियों में आकर उसने बहुतेरा चाहा कि दो बातें कर सके, पर भागवन्ती उसके सामने ही नहीं होती थी। हां, कई बार उसे यह संदेह हुआ कि वह मेरी आहट पर ध्यान रखती है और छिप-छिपकर मुझे देखती है; पर ज्योंही वह इस सूत पर आगे बढ़ता कि भागवन्ती लोप हो जाती।

पढ़ने की चिंता में विघ्न डालनेवाली अब उसको यह नयी चिंता लगी। यह बात उसके जी में जम गई कि मैंने अमानुष निर्दयता से और बोली-ठोली से उसके सीधे हृदय को दुखा दिया है। परंतु कभी-कभी यह सोचता कि क्या दोष मेरा ही है? उसने क्या कम ज्यादती की थी? जो ताने-तिश्ने उस समय उसके हृदय को बहुत ही चीरते हुए जान पड़े थे, वे अब उसको स्मृति में बहुत प्यारे लगने लगे। सोचता था कि मैं ही जाकर क्षमा मांगूंगा। जिन जांघों ने उसका पीछा किया था उन्हें बांधकर उसके सामने पड़कर कहूंगा कि उस दिनवाली चाल से मुझे कुचलती हुई चली जा। अथवा यह कहूंगा कि उसी नदी में मुझे ढकेल दे। यों तरह-तरह के तर्क-वितर्कों में उसका समय कटने लगा। न 'हॉकी' में अब उसकी कदर रही और न प्रोफेसर की आंखें वैसी रहीं। उसी कीचड़ लगे हुए पतलून को मेज़ पर रखकर सोचता, सोचता, सोचता रहता।

होली की छुट्टियां आईं। पहले सलाह हुई कि घर न जाऊं, काशी में एक मित्र के पास ही छुट्टियां बिताऊं। उस मित्र ने प्रसंग चलने पर कहा, "हां भाई, ब्याह के पीछे पहली होली है, तुम काहे को चलते हो!" वह रघुनाथ के हृदय के भार को क्या समझ सकता था? रघुनाथ ने हंसकर बात टाल दी। रात को सोचा कि चलो छुट्टियों में बोर्डिंग में ही रहूं, पास ही पब्लिक लाइब्रेरी है, दिन कट जाएंगे। रात को जब सोया तो पिघलती हुई आंखें, वही नाक से बहता हुआ खून और वह आंसुओं से न ढकनेवाली

हँसी ! नींद न आ सकी। जैसे कोई सपने में चलता है, वैसे बेहोशी में ही सबेरे टिकट लेकर गाड़ी में बैठ गया। पता नहीं कि मैं किधर जा रहा हूं। चेत तव हुआ जब कुली 'टुंडला', 'टुंडला' चिल्लाए। रघुनाथ चौंका। अच्छा, जो हो, अब की दफा फिर उद्योग करूंगा। यों कहकर हृदय को दृढ़ करके पहुंचा।

होली का दिन था ! जैसे कोजागर पूर्णिमा[1] को चोरों के लिए घर के दरवाजे खुले छोड़कर हिंदू सोते हैं, वैसे माता-पिता टल गए थे। मां पकवान पका रही थी और बाप—खैर, बाप भी कहीं थे। रघुनाथ भीतर पहुंचा। भागवन्ती सिर पर हाथ धरे हुए कोने में बैठी थी। उसे देखते ही खड़ी हो गई। वह दरवाजे की तरफ बढ़ने न पाई थी कि रघुनाथ बोला, "ठहरो, बाहर मत जाना।"

वह ठहर गई। घूंघट खींचकर कोने की पीढ़ी के बान को देखने लगी।

"कहो, कैसी हो ? आज तुमसे बातें करनी हैं।"

चुप।

"प्रसन्न रहती हो ? कभी मेरी भी याद करती हो ?"

चुप।

"मेरी छुट्टियां तीन ही दिन की हैं।"

चुप।

"तुम्हें मेरी कसम है, चुप मत रहो, कुछ बोलो तो, जवाब दो—पहले की तरह ताने ही से बोलो, मेरी शपथ है—सुनती हो ?"

"मेरे कानों में पानी थोड़ा ही भर गया है।"

"हां, बस, यों ठीक है; कुछ ही कहो, पर कहती जाओ। अच्छा होता यदि तुम मुझे उस दिन न निकालतीं और डूब जाने देतीं।"

"अच्छा होता यदि मेरा कांटा न निकालते और पैर गलकर मैं मर जाती।"

"तुमने कहा था कि कोई एहसान थोड़ा है, कांटा गड़ जाए, तो मैं भी निकाल दूंगी।"

"हाँ, निकाल दूंगी।"

"कैसे !"

"उसी कांटे से।"

"उसी कांटे से ! वह है कहां ?"

"मेरे पास।"

क्यों ?—कब से ?"

"जब से पतलून ट्रंक में बंद होकर आगरे गई तब से।"

न मालूम पीढ़ी का बान कैसा अच्छा था, निगाह उस पर से नहीं हटी। शायद तांत गिनी जा रही थी।

"अनाड़ी की बात की नकल करती हो ?"

---

१. शरत्पूर्णिमा को होने वाला एक त्योहार; शरत्पूर्णिमा

गिनती पूरी हो गई। अब अपने नखों की बारी आई।

"क्यों, फिर चुप ?"

"हां !"—नखों पर से ध्यान नहीं हटा।

रघुनाथ ने छत की ओर देखकर कहा—"अनाड़ियों की पीठ नख आजमाने के लिए अच्छी होती है।"

नख छिपा लिए गए।

"कांटा निकालोगी ?"

"हां !"

"कांटा छत में थोड़ा ही है।"

"तो कहां है ?"

"मैं तो अनाड़ी हूं, मुझे लल्लो-पत्तो करना नहीं आता, साफ कहना जानता हूं, सुनो !" यह कहकर रघुनाथ बढ़ा और उसने उसके दोनों हाथ पकड़ लिए।

उसने हाथ न हटाए।

"उस समय मैं जंगली था, वहशी था, अधूरा था। मनुष्य जब तक स्त्री की परछाईं नहीं पा लेता है तब तक पूरा नहीं होता।[1] मेरे बुद्धूपन को क्षमा करो। मेरे हृदय में तुम्हारे प्रेम का एक भयंकर कांटा पड़ गया है। जिस दिन तुम्हें पहले-पहल देखा उस दिन से वह गड़ रहा है और अब तक गड़ा जा रहा है। तुम्हारी प्रेम की दृष्टि से मेरा यह शूल हटेगा।"

घूंघट के भीतर, जहां आंखें होनी चाहिए, वहां कुछ गीलापन दिखा।

"देखो, मैं तुम्हारे प्रेम के बिना जी नहीं सकता। मेरा उस दिन का रूखापन और जंगलीपन भूल जाओ। तुम मेरी प्राण हो, मेरा कांटा निकाल दो।"

रघुनाथ ने एक हाथ उसकी कमर पर डालकर उसे अपनी ओर खींचना चाहा। मालूम पड़ा कि नदी के किनारे का किला, नींव के गल जाने से, धीरे-धीरे धंस रहा है। भागवन्ती का बलवान् शरीर, निस्सार होकर, रघुनाथ के कंधे पर झूल गया। कंधा आंसुओं से गीला हो गया।

"मेरा कसूर—मेरा गँवारपन—मैं उजड्ड—मेरा अपराध—मेरा पाप—मैंने क्या कह डा···डा···आ···" घिग्घी बंध चली।

उसका मुंह बंद करने का एक ही उपाय था। रघुनाथ ने वही किया।

[प्रथम प्रकाशन : पाटलीपुत्र; १९१४ ई०]

---

१. (क) 'यावज्जाया न विन्दते असर्वो हि तावद्भवति' अर्थात् जब तक पत्नी प्राप्त नहीं करता, मनुष्य अपूर्ण ही रहता है। (शतपथ ब्राह्मण) —सम्पादक

(ख) गुलेरी जी ने लिखा है—"जाया अपना अध है, जब तक मनुष्य उसे नहीं पाता तब तक फिर नहीं उपज सकता, अधूरा रहता है, उसे पाकर पूरा हो जाता है, फिर उत्पन्न हो सकता है।" देखें : प्रस्तुत ग्रंथ 'वैदिक और पौराणिक साहित्य' के अन्तर्गत 'वाजपेय' निबंध।

उसने कहा था

बड़े-बड़े शहरों के इक्के-गाड़ी वालों की ज़बान के कोड़ों से जिनकी पीठ छिल गई है और कान पक गये हैं उनसे हमारी प्रार्थना है कि अमृतसर में बम्बूकार्ट वालों का मरहम लगायें। जब बड़े-बड़े शहरों[1] की चौड़ी सड़कों पर घोड़े की पीठ को चाबुक से धुनते हुए इक्के वाले कभी घोड़े की नानी से अपना निकट[2] संबंध स्थिर करते हैं, कभी राह चलते पैदलों की आंखों के न होने पर तरस खाते हैं, कभी उनके पैरों की अंगुलियों के पोरों को चींथकर अपने ही को सताया हुआ बताते हैं और संसार भर की ग्लानि, निराशा और क्षोभ के अवतार बने नाक की सीध चले जाते हैं, तब अमृतसर में उनकी बिरादरी वाले, तंग चक्करदार गलियों में, हरएक लड्ढी वाले के लिए ठहरकर, सब्र का समुद्र उमड़ाकर, 'बचो खालसा जी', 'हटो भाई जी', 'ठहरना माई', 'आने दो लालाजी,' 'हटो बाछा'[3] कहते हुए सफेद फेंटों, खच्चरों और बत्तकों, गन्ने और खोमचे और भारे वालों के जंगल में से राह[4] खेते हैं। क्या मजाल है कि जी और साहब बिना सुने किसी को हटना पड़े। यह बात नहीं कि उनकी जीभ चलती ही नहीं; चलती है, पर मीठी छुरी की तरह महीन मार करती हुई। यदि कोई बुढ़िया बार-बार चितौनी देने पर भी लीक से नहीं हटती तो उनकी वचनावली के ये नमूने हैं—'हट जा, जीणे जोगिए; हट जा करमा वालिए; हट जा पुत्तां प्यारिए; बच जा, लंबी वालिए।' समष्टि में इसका अर्थ है कि तू जीने योग्य है, तू भाग्यों वाली है, पुत्रों को प्यारी है, लंबी उमर तेरे सामने है, तू क्यों मेरे पहियों के नीचे आना चाहती है? बच जा।

ऐसे बम्बूकार्ट वालों के बीच में होकर एक लड़का और एक लड़की चौक की एक दुकान पर आ मिले। उसके बालों और इसके ढीले सुथने से जान पड़ता था कि दोनों सिख हैं। वह अपने मामा के केश धोने के लिए दही लेने आया था और यह रसोई के लिए बड़ियां। दुकानदार एक परदेशी से गुथ रहा था, जो सेर भर गीले पापड़ों की गड्डी को गिने बिना हटता न था।

"तेरे घर कहां हैं?'

'मगरे में,—और तेरे?'

'मांझे में,—यहां कहां रहती है?'

---

१. जबकि बड़े शहरों—गुलेरी

२. निकट यौन सम्बन्ध स्थिर करते हैं, कभी उसके गुप्त-गुह्य अंगों से डाक्टरों को लजाने वाला परिचय दिखाते हैं।—गुलेरी

३. बादशाह

४. राह-किनारा—गुलेरी

'अतरसिंह की बैठक में, वे मेरे मामा होते हैं।'

'मैं भी मामा के आया हूं, उनका घर गुरु बजार में है।'

इतने में दुकानदार निबटा और इनका सौदा देने लगा। सौदा लेकर दोनों साथ-साथ चले। कुछ दूर जाकर लड़के ने मुसकरा कर पूछा—'तेरी कुड़माई[1] हो गई ?' इस पर लड़की कुछ आँखें चढ़ाकर 'धत्' कहकर दौड़ गई और लड़का मुंह देखता रह गया।

दूसरे-तीसरे दिन सब्ज़ी वाले के यहां, या दूध वाले के यहां, अकस्मात् दोनों मिल जाते। महीना भर यही हाल रहा। दो-तीन बार लड़के ने फिर पूछा, 'तेरी कुड़माई हो गई ?' और उत्तर में वही 'धत्' मिला। एक दिन जब फिर लड़के ने वैसे ही हँसी में चिढ़ाने के लिए पूछा तो लड़की, लड़के की सम्भावना के विरुद्ध बोली—''हां, हो गई।'

'कब ?'

'कल,—देखते नहीं यह रेशम से कढ़ा हुआ सालू[2] !' लड़की भाग गई। लड़के ने घर की राह ली। रास्ते में एक लड़के को मोरी में ढकेल दिया, एक छावड़ी वाले की दिन भर की कमाई खोई, एक कुत्ते पर पत्थर मारा और एक गोभी वाले के ठेले में दूध उड़ेल दिया। सामने नहाकर आती हुई किसी वैष्णवी से टकराकर अंधे की उपाधि पाई। तब कहीं घर पहुंचा।

[२]

'राम-राम, यह भी कोई लड़ाई है। दिन-रात ख़न्दकों में बैठे हड्डियां अकड़ गईं। लुधियाने से दस गुना जाड़ा, और मेंह और बरफ ऊपर से। पिंडलियों तक कीचड़ में धँसे हुए हैं। ग़नीम कहीं दिखता नहीं,—घण्टे-दो घण्टे में कान के पड़दे फाड़ने वाले धमाके के साथ सारी खन्दक हिल जाती है और सौ-सौ गज धरती उछल पड़ती है। इस ग़ैबी गोले से बचे तो कोई लड़े। नगरकोट का ज़लज़ला सुना था, यहां दिन में पच्चीस ज़लज़ले होते हैं। जो कहीं ख़न्दक से बाहर साफ़ा या कुहनी निकल गई तो चटाक से गोली लगती है। न मालूम बेईमान मिट्टी में लेटे हुए हैं या घास की पत्तियों में छिपे रहते हैं।'

'लहनासिंह, और तीन दिन हैं। चार तो खन्दक में बिता ही दिए। परसों 'रिलीफ़' आ जायगी और फिर सात दिन की छुट्टी। अपने हाथों झटका[3] करेंगे और पेट भर खाकर सो रहेंगे। उसी फरंगी[4] मेम के बाग़ में—मखमल का-सा हरा घास

---

१. मंगनी
२. (क) ओढ़नी
(ख) देखें : प्रस्तुत ग्रंथ में निबंध/लेख के अन्तर्गत 'पुरानी पगड़ी' लेख
३. बकरा मारना (काटना)
४. फ्रेंच

है। फल और दूध की वर्षा कर देती है। लाख कहते हैं, दाम नहीं लेती। कहती है—'तुम राजा हो, मेरे मुल्क को बचाने आए हो।'

'चार दिन तक पलक नहीं झँपी। बिना फेरे घोड़ा बिगड़ता है और बिना लड़े सिपाही। मुझे तो संगीन चढ़ा कर मार्च का हुक्म मिल जाए। फिर सात जरमनों को अकेला मार कर न लौटूं तो मुझे दरबार साहब की देहली पर मत्था टेकना नसीब न हो। पाजी कहीं के, कलों के घोड़े—संगीन देखते ही मुँह फाड़ देते हैं और पैर पकड़ने लगते हैं। यों अंधेरे में तीस-तीस मन का गोला फेंकते हैं। उस दिन धावा किया था—चार मील तक एक जर्मन नहीं छोड़ा था। पीछे जनरल साहब ने हट आने का कमान दिया, नहीं तो—'

'नहीं तो सीधे बर्लिन पहुंच जाते। क्यों ?' सूबेदार हज़ारासिंह ने मुस्करा कर कहा, 'लड़ाई के मामले जमादार या नायक के चलाये नहीं चलते। बड़े अफसर दूर की सोचते हैं। तीन सौ मील का सामना है। एक तरफ बढ़ गए तो क्या होगा ?'

'सूबेदारजी, सच है' लहनासिंह बोला, 'पर करें क्या ? हड्डियों-हड्डियों में तो जाड़ा धँस गया है। सूर्य निकलता नहीं और खाई में दोनों तरफ से चम्बे की बावलियों के से सोते झर रहे हैं। एक धावा हो जाए तो गरमी आ जाए।'

'उदमी[1], उठ, सिगड़ी में कोले डाल। वज़ीरा, तुम चार जने बाल्टियां लेकर खाई का पानी बाहर फेंको।[2] महासिंह, शाम हो गई है, खाई के दरवाज़े का पहरा बदला दे।' यह कहते हुए सूबेदार सारी ख़न्दक में चक्कर लगाने लगे।

वज़ीरासिंह पलटन[3] का विदूषक था। बाल्टी में गंदला पानी भर कर खाई के बाहर फेंकता हुआ बोला—'मैं पाधा बन गया हूं। करो जर्मनी के बादशाह का तर्पण !' इस पर सब खिलखिला पड़े और उदासी के बादल फट गए।

लहनासिंह ने दूसरी बाल्टी भरकर उसके हाथ में देकर कहा—'अपनी बाड़ी के खरबूज़ों में पानी दो। ऐसा खाद का पानी पञ्जाब भर में नहीं मिलेगा।'

'हां, देश क्या है, स्वर्ग है। मैं तो लड़ाई के बाद सरकार से दस घुमा[4] जमीन यहां मांग लूंगा और फलों के बूटे[5] लगाऊंगा।'

'लाड़ी होरां[6] को भी यहां बुला लोगे ? या वही दूध पिलाने वाली फरंगी मेम—'

'चुप कर। यहां वालों को शरम नहीं।'

'देस-देस की चाल है। आज तक मैं उसे समझा न सका कि सिख तमाखू नहीं

---

१. उद्यमी

२. फेंको—गुलेरी

३. पल्टन—गुलेरी

४. ज़मीन की नाप

५. पेड़

६. स्त्री होरां—आदरवाचक

पीते। वह सिगरेट देने में हठ करती है, ओठों में लगाना चाहती है, और मैं पीछे हटता हूं तो समझती है राजा बुरा मान गया, अब मेरे मुलक के लिए लड़ेगा[1] नहीं।'

'अच्छा, अब बोधसिंह कैसा है?'

'अच्छा है।'

'जैसे मैं जानता ही न होऊं। रात भर तुम अपने दोनों कम्बल उसे उढ़ाते हो और आप सिगड़ी के सहारे गुज़र करते हो। उसके पहरे पर आप पहरा दे आते हो। अपने सूखे लकड़ी के तख्तों पर उसे सुलाते हो। आप कीचड़ में पड़े रहते हो। कहीं तुम न मांदे पड़ जाना। जाड़ा क्या है मौत है और 'निमोनिया' से मरने वालों को मुरब्बे[2] नहीं मिला करते।'

'मेरा डर मत करो। मैं तो बुलेल की खड्ड के किनारे मरूंगा। भाई कीरतसिंह की गोदी पर मेरा सिर होगा और मेरे हाथ के लगाए हुए आंगन के आम के पेड़ की छाया होगी।'

वज़ीरासिंह ने त्यौरी चढ़ाकर कहा—'क्या मरने-मराने की बात लगाई है? मरें जर्मनी और तुरक! हां भाइयो कैसे—

दिल्ली शहर तें पिशौर नुं जांदिए,
कर लेणा लौंगां दा बपार मडिए;
कर लेणा नाड़ेदा सौदा अड़िए—
(ओय) लाणा चटाका कदुए नुं।
कद्दू बणया वे मजेदार गोरिए
हुण लाणा चटाका कदुए नुं॥[3]

कौन जानता था कि दाढ़ियों वाले, घरबारी सिख ऐसा लुच्चों का गीत गायंगे, पर सारी खन्दक इस गीत से गूंज उठी और सिपाही फिर ताज़े हो गये, मानो चार दिन से सोते और मौज ही करते रहे हों।

[३]

दो पहर रात हो गई है। अंधेरा है। सन्नाटा छाया हुआ है। बोधासिंह खाली बिसकुटों के तीन टिनों पर अपने दोनों कम्बल बिछाकर और लहनासिंह के दो कम्बल और एक

---

१. लड़ैगा—गुलेरी

२. नई नहरों के पास वर्ग-भूमि

३. (क) अरी दिल्ली शहर से पेशावर को जाने वाली, लौंगों का व्यापार कर ले और इज़ारबन्द का सौदा कर ले। जीभ चटचटा कर कद्दू खाना है। गोरी! कद्दू मज़ेदार बना है। अब चटचटा कर उसे खाना है।

(ख) देखें: प्रस्तुत ग्रंथ में निबंध/लेख के अन्तर्गत 'संस्कृत की टिपरारी' शीर्षक निबंध

बरानकोट[1] ओढ़कर सो रहा है। लहनासिंह पहरे पर खड़ा हुआ है। एक आँख खाई के मुंह पर है और एक बोधासिंह के दुबले शरीर पर। बोधासिंह कराहा :

'क्यों बोधा भाई, क्या है ?'

'पानी पिला दो।'

लहनासिंह ने कटोरा उसके मुंह से लगाकर पूछा—'कहो कैसे हो ?' पानी पीकर बोधा बोला—'कँपनी[2] छुट रही है। रोम-रोम में तार दौड़ रहे हैं। दाँत बज रहे हैं।'

'अच्छा, मेरी जरसी पहन लो।'

'और तुम ?'

'मेरे पास सिगड़ी है और मुझे गर्मी लगती है; पसीना आ रहा है।'

'ना, मैं नहीं पहनता; चार दिन से तुम मेरे लिए—'

'हां, याद आई। मेरे पास दूसरी गरम जरसी है। आज सबेरे ही आई है। विलायत से मेमें बुन-बुन कर भेज रही हैं। गुरु उनका भला करें।' यों कहकर लहना अपना कोट उतार कर जरसी उतारने लगा।

'सच कहते हो ?'

'और नहीं झूंठ ?' यों कह कर नाँही करते बोधा को उसने ज़बरदस्ती जरसी पहना दी और आप ख़ाकी कोट और ज़ीन का कुरता भर पहन कर पहरे पर आ खड़ा हुआ। मेम की जरसी की कथा केवल कथा थी।

आधा घण्टा बीता। इतने में खाई के मुँह से आवाज़ आई—'सूबेदार हज़ारासिंह !"

'कौन ? लपटन साहब ? हुकुम हुज़ूर !' कहकर सूबेदार तनकर फ़ौजी सलाम करके सामने हुआ।

'देखो, इसी दम धावा करना होगा। मील भर की दूरी पर पूरब के कोने में एक जर्मन खाई है। उसमें पचास से ज़ियादह[3] जर्मन नहीं हैं। इन पेड़ों के नीचे-नीचे दो खेत काट कर रास्ता है। तीन-चार घुमाव हैं। जहां मोड़ है वहां पन्द्रह जवान खड़े कर आया हूं। तुम यहां दस आदमी छोड़कर सबको साथ ले उनसे जा मिलो। ख़न्दक छीन कर वहीं, जब तक दूसरा हुक्म न मिले, डटे रहो। हम यहां रहेगा।'

'जो हुक्म।'

चुपचाप सब तैयार हो गए। बोधा भी कम्बल उतारकर चलने लगे। तब लहनासिंह ने उसे रोका। लहनासिंह आगे हुआ तो बोधा के बाप सूबेदार ने उंगली से बोधा की ओर इशारा किया। लहनासिंह समझ कर चुप हो गया। पीछे दस आदमी कौन रहें, इस पर बड़ी हुज्जत हुई। कोई रहना न चाहता था। समझा-बुझाकर सूबेदार

---

१. ओवरकोट

२. कँपकँपी

३. ज्यादा—गुलेरी

ने मार्च किया। लपटन साहब लहना की सिगड़ी के पास मुंह फेर कर खड़े हो गए और जेब से सिगरेट निकाल कर सुलगाने लगे। दस मिनट बाद उन्होंने लहना की ओर हाथ बढ़ाकर कहा—

'लो तुम भी पियो।'

आँख मारते-मारते[1] लहनासिंह सब समझ गया। मुँह का भाव छिपाकर बोला—'लाओ, साहब'। हाथ आगे करते ही उसने सिगड़ी के उजाले में साहब का मुँह देखा। बाल देखे। तब उसका माथा ठनका। लपटन साहब के पट्टियों वाले बाल एक दिन में कहां उड़ गए और उनकी जगह क़ैदियों के से कटे हुए बाल कहां से आ गए?

शायद साहब शराब पिए हुए हैं और उन्हें बाल कटवाने का मौका मिल गया है? लहनासिंह ने जांचना चाहा। लपटन साहब पांच वर्ष से उसकी रेजिमेंट में थे।

'क्यों साहब, हम लोग हिन्दुस्तान कब जाएंगे?'

'लड़ाई ख़त्म होने पर। क्यों, क्या यह देश पसन्द नहीं?'

"नहीं साहब, शिकार के वे मज़े यहां कहां?[2] याद है, पारसाल नकली लड़ाई के पीछे हम आप जगाधरी के ज़िले में शिकार करने गए थे—'हां, हां'—वही जब आप खोते[3] पर सवार थे और आपका ख़ानसामा अबदुल्ला रास्ते के एक मन्दिर में जल चढ़ाने को रह गया था? 'बेशक, पाजी कहीं का'—सामने से वह नीलगाय निकली कि ऐसी बड़ी मैंने कभी न देखी थी।[4] और आपकी एक गोली कन्धे में लगी और पुट्ठे में निकली। ऐसे अफ़सर के साथ शिकार खेलने में मज़ा है। क्यों साहब, शिमले से तैयार होकर उस नीलगाय का सिर आ गया था न? आपने कहा था न कि रजमंट की मैस में लगायँगे। 'हां, पर मैंने वह विलायत भेज दिया'—ऐसे बड़े-बड़े सींग! दो-दो फुट के तो होंगे?"

"हां, लहनासिंह, दो फुट चार इंच के थे। तुमने सिगरेट नहीं पिया?"

"पीता हूं साहब, दियासलाई ले आता हूं"—कहकर लहनासिंह खन्दक में घुसा। अब उन्हें सन्देह नहीं रहा था। उसने झटपट निश्चय कर लिया कि क्या करना चाहिए।[5]

अंधेरे में किसी सोने वाले से वह टकराया।

'कौन? वज़ीरासिंह?'

'हां, क्यों लहना? क्या, क़यामत आ गई? ज़रा तो आँख लगने दी होती!'

---

१. आँख पलकते-पलकते—गुलेरी

२. वह शिकार के मज़े यहां कहां?—गुलेरी

३. गधे

४. कि ऐसी बड़ी मैंने कभी नहीं देखी।—गुलेरी

५. उसने झटपट विचार लिया कि क्या करना चाहिए।—गुलेरी

[४]

'होश में आओ। क़यामत आई है और लपटन साहब की वर्दी पहन कर आई है।'

'क्या ?'

'लपटन साहब या तो मारे गए हैं या क़ैद हो गए हैं। उनकी वर्दी पहन कर यह कोई जर्मन आया है। सूबेदार ने इसका मुँह नहीं देखा। मैंने देखा है और बातें की हैं। सौहरा[1] साफ़ उर्दू बोलता है, पर किताबी उर्दू। और मुझे पीने को सिगरेट दिया है ?'

'तो अब ?'

'अब मारे गए। धोखा है। सूबेदार होरां कीचड़ में चक्कर काटते फिरेंगे और यहां खाई पर धावा होगा। उधर उन पर खुले में धावा होगा। उठो, एक काम करो। पल्टन के पैरों के निशान देखते-देखते दौड़ जाओ।[2] अभी बहुत दूर न गए होंगे। सूबेदार से कहो कि एकदम लौट आवें। ख़न्दक की बात झूठ है। चले जाओ, ख़न्दक के पीछे से निकल जाओ। पत्ता तक न खुड़के। देर मत करो।'

'हुकुम तो यह है कि यहीं—'

'ऐसी तैसी हुकुम की ! मेरा हुकुम—जमादार लहनासिंह जो इस बख्त यहां सबसे बड़ा अफसर है उसका हुकुम है। मैं लपटन साहब की ख़बर लेता हूं।' 'पर यहां तो तुम आठ ही हो।'

'आठ नहीं, दस लाख। एक-एक अकालिया सिख सवा लाख के बराबर होता है। चले जाओ।'

लौट कर खाई के मुहाने पर लहनासिंह दीवार से चिपक गया।[3] उसने देखा कि लपटन साहब ने जेब से बेल के बराबर तीन गोले निकाले।[4] तीनों को जगह-जगह ख़न्दक की दीवारों[5] में घुसेड़ दिया और तीनों में एक तार-सा बांध दिया। तार के आगे सूत की एक गुत्थी थी, जिसे सिगड़ी के पास रक्खा। बाहर की तरफ जाकर एक दियासलाई जला कर गुत्थी पर रखने—

बिजली[6] की तरह दोनों हाथों से उलटी बन्दूक को उठाकर लहनासिंह ने साहब की कुहनी पर तान कर दे मारा। धमाके के साथ साहब के हाथ से दियासलाई गिर

---

१. सुसरा (गाली)

२. पल्टन के पैरों के खोज देखते-देखते दौड़ जाओ।—गुलेरी

३. लौटकर खाई के मुहाने पर लहनासिंह दिवाल से चिपक गया।—गुलेरी

४. उसने देखा कि लपटन साहब ने जेब से तीन बेल क बराबर गोले निकाले। —गुलेरी।

५. दीवालों—गुलेरी

६. इतने में बिजली की तरह।—गुलेरी

पड़ी। लहनासिंह ने एक कुन्दा[1] साहब की गर्दन पर मारा और साहब 'आँख! मीन गौट्ट'[2] कहते हुए चित हो गए। लहनासिंह ने तीन गोले बीनकर खन्दक के बाहर फेंके[3] और साहब को घसीट कर सिगड़ी के पास लिटाया। जेबों की तलाशी ली। तीन-चार लिफाफे और एक डायरी निकाल कर उन्हें अपनी जेब के हवाले किया।

साहब की मूर्छा हटी। लहनासिंह हँस कर बोला—"क्यों लपटन साहब? मिज़ाज कैसा है? आज मैंने बहुत बातें सीखीं। यह सीखा कि सिख सिगरट पीते हैं। यह सीखा कि जगाधरी के ज़िले में नीलगायें[4] होती हैं और उनके दो फुट चार इंच के सींग होते हैं। यह सीखा कि मुसलमान ख़ानसामा मूर्तियों पर जल चढ़ाते हैं और लपटन साहब खोते पर चढ़ते हैं। पर यह तो कहो, ऐसी साफ़ उर्दू कहां से सीख आए? हमारे लपटन साहब तो बिना डैम के पांच लफ्ज़ भी नहीं बोला करते थे।"

लहना ने पतलून की जेबों की तलाशी नहीं ली थी। साहब ने, मानो जाड़े से बचाने के लिए, दोनों हाथ जेबों में डाले।

लहनासिंह कहता गया—'चालाक तो बड़े हो पर मांझे का लहना इतने बरस लपटन साहब के साथ रहा है। उसे चकमा देने के लिए चार आँखें चाहिए। तीन महीने हुए एक तुरकी मौलवी मेरे गाँव में आया था। औरतों को बच्चे होने के तावीज बांटता था और बच्चों को दवाई देता था। चौधरी के बड़ के नीचे मंजा[5] बिछा कर हुक्का पीता रहता था और कहता था कि जर्मनी वाले बड़े पण्डित हैं। वेद पढ़-पढ़कर उनमें से विमान चलाने की विद्या जान गए हैं। गौ को नहीं मारते। हिन्दुस्तान में आ जायेंगे तो गोहत्या बन्द कर देंगे। मण्डी के बनियों को बहकाता था कि डाकखाने से रुपये निकाल लो; सरकार का राज्य जाने वाला है। डाक-बाबू पोल्हूराम भी डर गया था। मैंने मुल्लाजी की दाढ़ी मूंड दी और गांव से बाहर निकाल कर कहा था कि जो मेरे गांव में अब पैर रक्खा तो—'

साहब की जेब में से पिस्तौल चला[6] और लहना की जांघ में गोली लगी। इधर लहना की हैनरी मार्टिनी के दो फ़ायरों ने साहब की कपाल-क्रिया कर दी। धड़ाका सुनकर सब दौड़ आए।

बोधा चिल्लाया—"क्या है?"

लहनासिंह ने उसे तो यह कहकर सुला दिया कि 'एक हड़का हुआ कुत्ता आया था, मार दिया' और औरों से सब हाल कह दिया। सब बन्दूकें लेकर तैयार हो गए। लहना ने साफ़ा फाड़कर घाव के दोनों तरफ़ पट्टियां कस कर बांधीं। घाव मांस में ही

---

१. कुन्द—गुलेरी
२. हाय! मेरे राम! (जर्मन)
३. फैंके—गुलेरी
४. नीलगाएँ—गुलेरी
५. खटिया
६. साहब की जेब में से पिस्तौल चली—गुलेरी

था। पट्टियों के कसने से लहू निकलना बन्द हो गया।

इतने में सत्तर जर्मन चिल्लाकर खाई में घुस पड़े। सिक्खों की बन्दूक़ों की बाढ़ ने पहले धावे को रोका। दूसरे को रोका। पर वहां थे आठ (लहनासिंह तक-तककर मार रहा था—वह खड़ा था, और, और लेटे हुए थे) और वे सत्तर। अपने मुर्दा भाइयों के शरीर पर चढ़कर जर्मन आगे घुसे आते थे। थोड़े से मिनिटों में वे—

अचानक आवाज़ आई—"वाह गुरुजी की फ़तह ! वाह गुरुजी का खालसा !!" और धड़ाधड़ बन्दूकों के फ़ायर जर्मनों की पीठ पर पड़ने लगे। ऐन मौक़े पर जर्मन दो चक्की के पाटों के बीच में आ गये। पीछे से सूबेदार हज़ारासिंह के जवान आग बरसाते थे और सामने लहनासिंह के साथियों के संगीन चल रहे थे। पास आने पर पीछे वालों ने भी संगीन पिरोना शुरू कर दिया।

एक किलकारी और—"अकाल सिक्खां दी फ़ौज आई ! वाह गुरुजी दी फ़तह ! वाह गुरुजी दा ख़ालसा ! सत श्री अकालपुरुख !!!" और लड़ाई खतम हो गई। तिरेसठ जर्मन या तो खेत रहे थे या कराह रहे थे। सिक्खों में पन्द्रह के प्राण गये। सूबेदार के दाहने[1] कन्धे में से गोली आरपार निकल गई। लहनासिंह की पसली में एक गोली लगी। उसने घाव को खन्दक की गीली मिट्टी से पूर लिया और बाक़ी का साफ़ा कसकर कमरबन्द की तरह लपेट लिया। किसी को खबर न हुई कि लहना के दूसरा घाव—भारी घाव—लगा है।

लड़ाई के समय चाँद निकल आया था, ऐसा चाँद, जिसके प्रकाश से संस्कृत कवियों का दिया हुआ 'क्षयी' नाम सार्थक होता है। और हवा ऐसी चल रही थी जैसी कि बाणभट्ट की भाषा में 'दन्तवीणोपदेशाचार्य्य'[2] कहलाती। वज़ीरासिंह कह रहा था कि कैसे मन मन भर फ्रांस की भूमि मेरे बूटों से चिपक रही थी जब मैं दौड़ा-दौड़ा सूबेदार के पीछे गया था। सूबेदार लहनासिंह से सारा हाल सुन और काग़ज़ात पाकर वे उसकी तुरत-बुद्धि को सराह रहे थे और कह रहे थे कि तू न होता तो आज सब मारे जाते।

इस लड़ाई की आवाज़ तीन मील दाहनी[3] ओर की खाई वालों ने सुन ली थी। उन्होंने[4] पीछे टेलीफ़ोन[5] कर दिया था। वहाँ से झटपट दो डाक्टर और दो बीमार ढोने की गाड़ियां चलीं, जो कोई डेढ़ घण्टे के अन्दर-अन्दर आ पहुंचीं। फील्ड अस्पताल नजदीक था।[6] सुबह होते-होते वहां पहुंच जायंगे, इसलिए मामूली पट्टी बांधकर एक

१. दहने—गुलेरी
२. 'दाँतों को वीणा का उपदेश देने वाली' इतनी ठण्डी कि दाँत आपस में टकराकर टक्-टक् बजने लगें। (कादम्बरी) —सम्पादक
३. दहनी—गुलेरी
४. उनने—गुलेरी
५. टैलीफोन—गुलेरी
६. वहां से झटपट दो डाक्टर और दो बीमारों को ढोने की गाड़ियां चलीं जो एक डेढ़ घंटे में अन्दर-अन्दर आ पहुंचीं। फील्ड असपताल नजदीक था।—गुलेरी

गाड़ी में घायल लिटाये गये और दूसरी में लाशें रक्खी गईं। सूबेदार ने लहनासिंह की जांघ में पट्टी बंधवानी चाही।[1] पर उसने यह कहकर टाल दिया कि थोड़ा घाव है, सबेरे देखा जाएगा। बोधासिंह ज्वर में बर्रा[2] रहा था। वह गाड़ी में लिटाया गया। लहना को छोड़कर सूबेदार जाते नहीं थे।[3] यह देख लहना ने कहा[4]—

"तुम्हें बोधा की क़सम है और सूबेदारनीजी की सौगन्द है जो इस गाड़ी में न चले जाओ।"

"और तुम ?"

"मेरे लिए वहां पहुंच कर गाड़ी भेज देना। और जर्मन मुरदों के लिए भी तो गाड़ियां आती होंगी। मेरा हाल बुरा नहीं है। देखते नहीं मैं खड़ा हूं ?[5] वज़ीरासिंह मेरे पास है ही।"

"अच्छा, पर—"

"बोधा गाड़ी पर लेट गया ? भला। आप भी चढ़ जाओ। सुनिए तो, सूबेदारनी होरां को चिट्ठी लिखो तो मेरा मत्था टेकना लिख देना। और जब घर जाओ तो कह देना कि मुझसे जो उननु कहा था वह मैंने कर दिया !"

गाड़ियां चल पड़ी थीं। सूबेदार ने चढ़ते-चढ़ते लहना का हाथ पकड़कर कहा—"तैंने मेरे और बोधा के प्राण बचाये हैं। लिखना कैसा ? साथ ही घर चलेंगे। अपनी सूबेदारनी को तू ही कह देना। उसने क्या कहा था ?'

"अब आप गाड़ी पर चढ़ जाओ। मैंने जो कहा, वह लिख देना और कह भी देना।"

गाड़ी के जाते ही लहना लेट गया। 'वज़ीरा, पानी पिला दे और मेरा कमरबन्द खोल दे। तर हो रहा है।'

[५]

मृत्यु के कुछ समय पहले स्मृति बहुत साफ हो जाती है। जन्म भर की घटनाएं एक-एक करके सामने आती हैं। सारे दृश्यों के रंग साफ होते हैं; समय की धुन्ध बिलकुल उन पर से हट जाती है।

× × ×

लहनासिंह बारह वर्ष का है। अमृतसर में मामा के यहां आया है। दही वाले के यहां, सब्जीवाले के यहां, हर कहीं, उसे एक आठ वर्ष की लड़की मिल जाती है। जब वह पूछता है कि तेरी कुड़माई हो गई ? तब 'धत्' कहकर वह भाग जाती है।[6] एक

१. सूबेदार लहनासिंह की जांघ में पट्टी बंधवाना चाही।—गुलेरी
२. बर्रा—गुलेरी
३. सूबेदार लहना को छोड़कर जाते नहीं थे।—गुलेरी
४. उसने कहा—गुलेरी
५. देखते नहीं मैं खड़ा हुआ हूं ?—गुलेरी
६. वो 'धत्' कहकर भग जाती है।—गुलेरी

दिन उसने वैसे ही पूछा तो उसने कहा—"हां, कल हो गई, देखते नहीं यह रेशम के फूलोंवाला सालू ?" सुनते ही लहनासिंह को दु:ख हुआ। क्रोध हुआ। क्यों हुआ ?

"वज़ीरासिह, पानी पिला दे"।

× × ×

पच्चीस[1] वर्ष बीत गये। अब लहनासिंह नं० ७७ रैफल्स में जमादार हो गया है। उस आठ वर्ष की कन्या का ध्यान ही न रहा। न मालूम वह कभी मिली थी, या नहीं। सात दिन की छुट्टी लेकर ज़मीन के मुक़द्दमे की पैरवी करने वह अपने घर गया। वहां रेजिमेंट के अफ़सर की चिट्ठी मिली कि फ़ौज लाम पर जाती है। फ़ौरन चले आओ। साथ ही सूबेदार हज़ारासिंह की चिट्ठी मिली कि मैं और बोधासिंह भी लाम पर जाते हैं। लौटते हुए हमारे घर होते जाना। साथ चलेंगे। सूबेदार का गांव रास्ते में पड़ता था और सूबेदार उसे बहुत चाहता था। लहनासिंह सूबेदार के यहां पहुंचा।

जब चलने लगे, तब सूबेदार बेढे[2] में से निकलकर आया। बोला—लहना, सूबेदारनी तुमको जानती हैं। बुलाती हैं। जा मिल आ। लहनासिंह भीतर पहुंचा। सूबेदारनी मुझे जानती है ? कब से ? रेजिमेंट के क्वार्टरों में तो कभी सूबेदार के घर के लोग रहे नहीं। दरवाज़े पर जाकर 'मत्था टेकना' कहा। असीस सुनी। लहनासिंह चुप।

'मुझे पहचाना ?'

'नहीं'।

"तेरी कुड़माई हो गई ?—धत्—कल हो गई···देखते नहीं रेखमी बूटों वाला सालू—अमृतसर में—"

भावों की टकराहट से मूर्छा खुली। करवट बदली। पसली का घाव बह निकला।

'वज़ीरा, पानी पिला'—'उसने कहा था'।

× × ×

स्वप्न चल रहा है। सूबेदारनी कह रही है—"मैंने तेरे को आते ही पहचान लिया। एक काम कहती हूं। मेरे तो भाग फूट गये। सरकार ने बहादुरी का खिताब दिया है, लायलपुर में ज़मीन दी है, आज नमकहलाली का मौक़ा आया है। पर सरकार ने हम तीमियों[3] की एक घंघरिया[4] पलटन क्यों न बना दी जो मैं भी सूबेदार जी के साथ चली जाती ? एक बेटा है। फ़ौज में भरती हुए उसे एक ही बरस हुआ। उसके पीछे चार हुए, पर एक भी नहीं जिया"। सूबेदारनी रोने लगी। "अब दोनों जाते हैं। मेरे भाग ! तुम्हें याद है, एक दिन टांगे वाले का घोड़ा दही वाले की दुकान के पास बिगड़

---

१. पचीस—गुलेरी
२. ज़नाने
३. स्त्रियों
४. घघरिया—गुलेरी

गया था । तुमने उस दिन मेरे प्राण बचाये थे । आप घोड़ों की लातों में चले गए थे और मुझ उठाकर दुकान के तख्ते पर खड़ा कर दिया था । ऐसे ही इन दोनों को बचाना[1] । यह मेरी भिक्षा है । तुम्हारे आगे मैं आंचल पसारती हूं ।"

रोती-रोती सूबेदारनी ओबरी[2] में चली गई । लहना भी आंसू पोंछता हुआ बाहर आया ।

'वज़ीरासिंह, पानी पिला'—'उसने कहा था'

× × ×

लहना का सिर अपनी गोदी तर रक्खे वज़ीरसिंह बैठा है ।[3] जब मांगता है, तब पानी पिला देता है । आध घण्टे तक लहना चुप रहा, फिर बोला—

"कौन ? कीरतसिंह ?'

वज़ीरा ने कुछ समझकर कहा, 'हां' ।

'भाइया, मुझे और ऊंचा कर ले । अपने पट्ट[4] पर मेरा सिर रख ले ।'

वज़ीरा ने वैसा ही किया ।

'हाँ, अब ठीक है । पानी पिला दे । बस । अब के हाड़[5] में यह आम खूब फलेगा । चाचा-भतीजा दोनों यहीं बैठकर आम खाना । जितना बड़ा तेरा भतीजा है उतना ही यह आम है । जिस महीने उसका जन्म हुआ था उसी महीने में मैंने इसे लगाया था ।"

वज़ीरासिंह के आंसू टप-टप टपक रहे थे ।[6]

× × ×

कुछ दिन पीछे लोगों ने अखबारों में पढ़ा—फ्रांस और बेलजियम[7]—६८वीं सूची—मैदान में घावों से भरा—नं ७७ सिख राइफल्स जमादार लहनासिंह ।

[प्रथम प्रकाशन : सरस्वती : जून, १९१५ ई०]

---

१. ऐसे इन दोनों को बचाना ।—गुलेरी
२. अन्दर का घर
३ लहना का सिर अपनी गोदी पर लिटाए वज़ीरासिंह बैठा है ।—गुलेरी
४. जांघ
५. आषाढ़
६. वज़ीरासिंह के आंसू टप-टप पड़ रहे थे ।—गुलेरी
७. बेल्जियम—गुलेरी

हीरे का हीरा

आज सवेरे ही से गुलाबदेई काम में लगी हुई है। उसने अपने मट्टी के घर के आंगन को गोबर से लीपा है। उस पर पीसे हुए चावल से मण्डन मांडे हैं। घर की देहली पर उसी चावल के आटे से लीकें खैंची हैं और उन पर अक्षत और बिल्वपत्र रक्खे हैं। दूब की नौ डालियां चुनकर उनने लाल डोरा बांधकर उसकी कुलदेवी बनाई है और एक हरे पत्ते के दूने में चावल भर कर उसे अन्दर के घर में, भींत के सहारे एक लकड़ी के देहरे[1] में रक्खा है।[1] कल पड़ोसी से मांगकर गुलाबी रंग लाई थी उससे रंगी हुई चादर विचारी को आज नसीब हुई है। लठिया टेकती हुई बुढ़िया माता की आंखें—यदि तीन वर्ष की कंगाली और पुत्र वियोग से और डेढ़ वर्ष की बीमारी की दुखिया के कुछ आँखें और उनमें ज्योति बाकी रही हो तो—दरवाज़े पर लगी हुई हैं। तीन वर्ष के पतिवियोग और दारिद्र्य की प्रबल छाया से रातदिन के रोने से पथराई और सफेद हुई गुलाबदेई की आँखों पर आज फिर कुछ यौवन की ज्योति और हर्ष के लाल डोरे आ गए हैं। और सात वर्ष का बालक हीरा, जिसका एकमात्र वस्त्र कुरता खार से धोकर कल ही उजला कर दिया गया है, कल ही से पड़ोसियों से कहता फिर रहा है कि मेरा चाचा[2] आवेगा।

बाहर खेतों के पास लकड़ी की धमाधम सुनाई पड़ने लगी। जान पड़ता है कोई लंगड़ा आदमी चला आ रहा है जिसके एक लकड़ी की टांग है। दस महीने पहिले एक चिट्ठी आई थी जिसे पास के गांव के पटवारी ने पढ़ कर गुलाबदेई और उसकी सास को सुनाया था। उसमें लिखा था कि लहनासिंह की टांग चीन की लड़ाई में घायल हो गई है और हांगकांग के अस्पताल में उसकी टांग काट दी गई है। माता के वात्सल्यमय और पत्नी के प्रेममय हृदय पर इसका प्रभाव ऐसा पड़ा था कि बेचारियों ने चार दिन रोटी नहीं खाई थी। तो भी—अपने ऊपर सत्य आपत्ति आती हुई और आई हुई जानकर भी हम लोग कैसे आँखें मीच लेते हैं और आशा की कच्ची जाली में अपने को छिपाकर कवच से ढका हुआ समझते हैं!—वे कभी-कभी आशा किया करती थीं कि दोनों पैर सही-सलामत लेकर ही लहनासिंह घर आ जाय तो कैसा! और माता अपनी बीमारी से उठते ही पीपल के नीचे के नाग के यहां पंचपकवान चढ़ाने गई थी कि 'नाग बाबा! मेरा बेटा दोनों पैरों चलता हुआ राजी-खुशी मेरे पास आवे।' उसी दिन लौटते हुए उसे एक सफेद नाग भी दीखा था जिससे उसे आशा हुई थी कि मेरी

---

१. लकड़ी का बना देवताओं का सिंहासन। प्राकृत : देवल; राजपूतानी : देवलो, देहरो, देवरो; पंजाबी : देहरा

२. पिता

प्रार्थना सुन ली गई। पहले-पहले तो सुखदेई को ज्वर की बेचैनी में पति की एक टांग —कभी दहनी और कभी बांई—किसी दिन कमर के पास से और किसी दिन पिंडली के पास से और फिर कभी टखने के पास से कटी हुई दिखाई देती, परन्तु फिर जब उसे साधारण स्वप्न आने लगे तो वह अपने पति को दोनों जांघों पर खड़ा देखने लगी। उसे यह न जान पड़ा कि मेरे स्वस्थ मस्तिष्क की स्वस्थ स्मृति को अपने पति का वही रूप याद है जो सदा देखा है, परन्तु वह समझी कि किसी करामात से दोनों पैर चंगे हो गए हैं।

[२]

किन्तु अब उनकी अविचारित रमणीय कल्पनाओं के बादलों को मिटा देने वाला वह भयंकर सत्य लकड़ी का शब्द आने लगा जिसने उनके हृदय को दहला दिया। लकड़ी की टांग की प्रत्येक खटखट मानो उनकी छाती पर हो रही थी और ज्यों-ज्यों वह आहट पास आती जा रही थी त्यों-त्यों उसी प्रेमपात्र के मिलने के लिए उन्हें अनिच्छा और डर मालूम होते जाते थे कि जिसकी प्रतीक्षा में उनने तीन वर्ष कौए उड़ाते और पल-पल गिनते काटे थे। प्रत्युत वे अपने हृदय के किसी अन्दरी कोने में यह भी इच्छा करने लगी कि जितने पल विलम्ब से उससे मिलें उतना ही अच्छा, और मन की भित्ति पर वे दो जांघों वाले लहनासिंह की आदर्श मूर्ति को चित्रित करने लगीं और उस अब कभी न दिख सकने वाले दुर्लभ चित्र में इतनी लीन हो गईं कि एक टांग वाला सच्चा जीता-जागता लहनासिंह आंगन में आकर खड़ा हो गया और उसके इन हँसते हुए वाक्यों से उनकी वह व्यामोहनिद्रा खुली कि—

"अम्मा! क्या अम्बाले की छावनी से मैंने जो चिट्ठी लिखवाई थी वह नहीं पहुंची?"

माता ने झटपट दिया जगाया और सुखदेई मुंह पर घूंघट लेकर, कलश लेकर अन्दर के घर की दहनी द्वारसाख पर खड़ी हो गई। लहनासिंह ने भीतर जाकर देहरे के सामने सिर नवाया और अपनी पीठ पर की गठड़ी एक कोने में रख दी। उसने माता के पैर हाथ से छूकर हाथ सिर से लगाया और माता ने उसके सिर को अपनी छाती के पास लेकर उस मुख को आंसुओं की वर्षा से धो दिया जो बाक्तरों की गोलियों की वर्षा के चिह्न कम-से-कम तीन जगह स्पष्ट दिखा रहा था।

अब माता उसको देख सकी। चेहरे पर दाढ़ी बढ़ी हुई थी और उसके बीच-बीच में तीन घावों के खड्डे थे। बालकपन में जहां सूर्य, चन्द्र, मङ्गल आदि ग्रहों की कुदृष्टि को बचाने वाला तांबे-चांदी की पतड़ियों और मूंगे आदि का कठला था वहां अब लाल फीते से चार चांदी के गोल-गोल तमगे लटक रहे थे। और जिन टांगों ने बालकपन में माता की रजाई को पचास-पचास दफा उघाड़ दिया उनमें से एक की जगह चमड़े के तसमों से बंधा हुआ डंडा था। धूप से स्याह पड़े हुए और मेहनत से कुम्हलाए हुए मुख पर और महीनों तक खटिया सेने की थकावट से पिलाई हुई आँखों पर भी एक प्रकार की वीरता की, एक तरह के स्वावलम्बन की ज्योति थी जो अपने

पिता पितामह के घर और उनके पितामहों के गांव को फिर देखकर खिलने लगी थी।

माता रुंधे हुए गले से न कुछ कह सकी और न कुछ पूछ सकी। चुपचाप उठकर कुछ सोच-समझकर बाहर चली गई। गुलाबदेई जिसके सारे अंग में बिजली की धाराएं दौड़ रही थीं और जिसके नेत्र पलकों को धकेले देते थे इस बात की प्रतीक्षा न कर सकी कि पति की खुली हुई बांहें उसे समेटकर प्राणनाथ के हृदय से लगा लें किन्तु उसके पहले ही उसका सिर जो विषाद के अन्त और नवसुख के आरम्भ से चकरा गया था, पति की छाती पर गिर गया और हिंदुस्तान की स्त्रियों के एकमात्र हाव-भाव—अश्रु—के द्वारा उसकी तीन वर्ष की कैद हुई मनोवेदना बहने लगी।

वह रोती गई और रोती गई और फिर रोती गई। क्या यह आश्चर्य की बात है? जहां की स्त्रियां पत्र लिखना-पढ़ना नहीं जानतीं और शुद्ध भाषा में अपने भाव नहीं प्रकाश कर सकतीं और जहां उन्हें पति से बात करने का समय भी चोरी से ही मिलता है वहां नित्य अविनाशी प्रेम का प्रवाह क्यों नहीं अश्रुओं की धारा की भाषा में···

(अपूर्ण)

[प्रथम प्रकाशन : **जनसत्ता** : ६ जुलाई, १९८७ ई०]

निबंध/लेख

कछुआ-धरम

'मनुस्मृति' में कहा गया है कि जहां गुरु की निन्दा या असत्कथा हो रही हो वहां पर भले आदमी को चाहिए कि कान बंद कर ले या कहीं उठकर चला जाए। यह हिन्दुओं के या हिन्दुस्थानी सभ्यता के कछुआ-धरम का आदर्श है। ध्यान रहे कि मनु महाराज ने न सुनने जोग गुरु की कलंक-कथा के सुनने के पाप से बचने के दो ही उपाय बताए हैं। या तो कान ढककर बैठ जाओ या दुम दबाकर चल दो। तीसरा उपाय, जो और देशों के सौ में नव्वे आदमियों को ऐसे अवसर पर पहले सूझेगा, वह मनु ने नहीं बताया कि जूता लेकर या मुक्का तानकर सामने खड़े हो जाओ और निन्दा करनेवाले का जबड़ा तोड़ दो या मुँह पिचका दो कि फिर ऐसी हरकत न करे। यह हमारी सभ्यता के भाव के विरुद्ध है। कछुआ ढाल में घुस जाता है, आगे बढ़कर मार नहीं करता। अश्वघोष महाकवि ने बुद्ध के साथ-साथ चले जाते हुए साधु पुरुषों को यह उपमा दी है—

देशादनार्यैरभिभूयमानान्महर्षयो धर्ममिवापयान्तम्।[१]

अनार्य लोग देश पर चढ़ाई कर रहे हैं। धर्म भागा जा रहा है। महर्षि भी उसके पीछे-पीछे चले जा रहे हैं। यह कर लेंगे कि दक्षिण के अप्रकाश देश को कोई अत्रि या अगस्त्य यज्ञों और वेदों के योग्य बना लें···तब तक ही जब तक कि दूसरे कोई राक्षस या अनार्य उसे भी रहने के अयोग्य न कर दें···पर यह नहीं कि डटकर सामने खड़े हो जावें और अनार्यों की बाढ़ को रोकें। पुराने से पुराने आर्यों की अपने भाई असुरों से अनबन हुई। असुर असुरिया में रहना चाहते थे, आर्य सप्तसिन्धुओं को आर्यावर्त बनाना चाहते थे। आगे चल दिए। पीछे वे दबाते आए। विष्णु ने अग्नि और यज्ञपात्र और अरणि रखने के लिए तीन गाड़ियां बनाईं, उसकी पत्नी ने उनके पहियों की चूल को घी से आंज दिया। ऊखल, मूसल और सोम कूटने के पत्थरों तक को साथ लिए हुए यह 'कारवां' मूजवत् हिन्दुकुश के एकमात्र दर्रे खैबर में होकर सिन्धु की घाटी में उतरा। पीछे से श्वान, भ्राज, अम्भारि, बम्भारि, हस्त, सुहस्त, कृशन, शण्ड, मर्क मारते चले

१. अनार्यों द्वारा अपमानित महर्षि देश से उसी तरह चले जा रहे थे मानो धर्म ही चला जा रहा हो।

आते थे, वज्र की मार से पिछली गाड़ी भी आधी टूट गई, पर तीन लम्बी डग भरने वाले विष्णु ने पीछे फिर कर नहीं देखा और न जमकर मैदान लिया। पितृभूमि अपने भ्रातृव्यों के पास छोड़ आए और यहां 'भ्रातृव्यस्य वधाय', 'सजातानां मध्यमेष्ठ्याय' देवताओं को आहुति देने लगे। चलो, जम गए। जहां-जहां रास्ते में टिके थे वहां-वहां यूप खड़े हो गए। यहां की सुजला सुफला शस्यश्यामला भूमि में ये बुलबुलें चहकने लगीं। पर ईरान के अंगूरों और गुलों का, यानी मूजवत् पहाड़ की सोमलता का, चसका पड़ा हुआ था। लेने जाते तो वे पुराने गन्धर्व मारने दौड़ते। हां, उनमें से कोई-कोई उस समय का चिलकौआ नक़द नारायण लेकर बदले में सोमलता बेचने को राजी हो जाते थे। उस समय का सिक्का गौएं थीं। जैसे आजकल लखपति, करोड़पति कहलाते हैं वैसे तब 'शतगु', 'सहस्रगु' कहलाते थे। ये दमड़ीमल के पोते करोड़ीचंद अपने 'नवग्वाः', 'दशग्वाः' पितरों से शरमाते न थे, आदर से उन्हें याद करते थे। आजकल के मेवा बेचने वाले पेशावरियों की तरह कोई-कोई सरहदी यहां पर भी सोम बेचने चले आते थे। कोई आर्य सीमाप्रान्त पर जाकर भी ले आया करते थे। मोल ठहराने में बड़ी हुज्जत होती थी जैसी कि तरकारियों का भाव करने में कुंजड़िनों से हुआ करती है। ये कहते कि गौ की एक कला में सोम बेच दो। वह कहता कि वाह! सोमराजा का दाम इससे कहीं बढ़कर है। इधर ये गौ के गुण बखानते। जैसे बुड्ढे चौबेजी ने अपने कंधे पर चढ़ी बालवधू के लिए कहा था कि याही में बेटी और याही में बेटा, ऐसे ये भी कहते कि इस गौ से दूध होता है, मक्खन होता है, दही होता है, यह होता है, वह होता है। पर काबुली काहे को मानता, उसके पास सोम की मानोपली थी और इन्हें बिना लिए सरता नहीं। अन्त को गौ का एक पाद, अर्ध, होते-होते दाम तै हो जाते। भूरी आँखों वाली एक बरस की बछिया में सोमराजा खरीद लिए जाते। गाड़ी में रखकर शान से लाए जाते। जैसे मुसलमानों के यहां सूद लेना तो हराम है, पर हिन्दू साहूकारों को सूद देना हराम होने पर भी देना ही पड़ता है वैसे यह तो फतवा दिया गया कि 'पापो हि सोमविक्रयी' पर सोम क्रय करना—उन्हीं गन्धर्वों के हाथ गौ बेचकर सोम लेना—पाप नहीं कहला सका। तो भी सोम मिलने में कठिनाई होने लगी। गन्धर्वों ने दाम बढ़ा दिए या सफर दूर का हो गया, या रास्ते में डाके मारने वाले 'वाहीक' आ बसे, कुछ न कुछ हुआ। तब यह तो हो गया कि सोम के बदले में पूतिक लकड़ी का ही रस निचोड़ लिया जाय, पर यह किसी को न सूझी कि सब प्रकार के जलवायु की इस उर्वरा भूमि में कहीं सोम की खेती कर ली जाय जिससे जितना चाहे उतना सोम घर बैठे मिले। उपमन्यु को उसकी मां ने और अश्वत्थामा को उसके बाप ने जैसे जल में आटा घोलकर दूध कहकर पतिया लिया था, वैसे पूतिक की सीखों से देवता पतियाए जाने लगे।

अच्छा, अब उसी पंचनद में वाहीक आकर बसे। अश्वघोष की फड़कती उपमा के अनुसार धर्म भागा और दंड-कमंडल लेकर ऋषि भी भागे। अब ब्रह्मावर्त, ब्रह्मर्षिदेश और आर्यावर्त की महिमा हो गई और वह पुराना देश—न तत्र दिवसं वसेत्! युगन्धरे पयः पीत्वा कथं स्वर्गं गमिष्यति!!!

बहुत वर्ष पीछे की बात है। समुद्र पार के देशों में और धर्म पक्के हो चले। वे

लूटते मारते तो सही, वेधर्म भी कर देते। बस, समुद्रयात्रा बन्द ! कहां तो राम के बनाए सेतु का दर्शन करके ब्रह्महत्या मिटती थी और कहां नाव में जाने वाले द्विज का प्रायश्चित कराकर भी संग्रह बन्द। वही कछुआ धर्म ! ढाल के अन्दर बैठे रहो।

पुर्तगाली यहां व्यापार करने आए। अपना धर्म फैलाने की भी सूझी। 'विपृत-जघनां को विहातुं समर्थः' ? कुएं पर सैकड़ों नर-नारी पानी भर रहे और नहा रहे थे। एक पादरी ने कह दिया कि मैंने इसमें तुम्हारा अभक्ष्य डाल दिया है। फिर क्या था ? कछुए को ढाल बल उलट दिया गया। अब वह चल नहीं सकता। किसी ने यह नहीं सोचा कि अज्ञात पाप पाप नहीं होता। किसी ने यह नहीं सोचा कि कुल्ले कर लें, घड़े फोड़ दें या कै ही कर डालें। गांव के गांव ईसाई हो गए। और दूर-दूर के गांवों के कछुओं को यह खबर लगी तो बम्बई जाने में भी प्रायश्चित्त कर दिया गया।

हिंदू से कह दीजिए कि विलायती खांड खाने में अधर्म है। उस में अभक्ष्य चीजें पड़ती हैं। चाहे आप वस्तुगति से कहें, चाहे राजनैतिक चालबाजी से कहें, चाहे अपने देश की आर्थिक अवस्था सुधारने के लिए उसकी सहानुभूति उपजाने को कहें। उसका उत्तर यह नहीं होगा कि राजनैतिक दशा सुधरनी चाहिए। उसका उत्तर यह नहीं होगा कि गन्ने की खेती बढ़े। उसका केवल एक ही कछुआ उत्तर होगा—वह खांड खाना छोड़ देगा, बनी-बनाई मिठाई गौओं को डाल देगा या बोरियां गंगाजी में बहा देगा। कुछ दिन पीछे कहिए कि देसी खांड के बेचनेवाले भी सफेद बूरा बनाने के लिए वही उपाय करते हैं। वह मैली खांड खाने लगेगा। कुछ दिन ठहरकर कहिए कि सस्ती जावा या मोरस की खांड मैली करके बिक रही है। वह गुड़ पर उतर आवेगा। फिर कहिए कि गुड़ के शीरे में भी सस्ती मोरिस की मैल का मेल है। वह गुड़ छोड़कर पितरों की तरह शहद (मधु) खाने लगेगा या मीठा ही खाना छोड़ देगा। वह सिर निकालकर यह न देखेगा कि सात सेर की खांड छोड़कर डेढ़ सेर की कब तक खाई जायगी, यह न सोचेगा कि बिना मीठे कब तक रहा जाएगा। यह नहीं देखेगा कि उसकी सी मति वाले शरबत न पीने वालों की संख्या घटती-घटती दहाइयों और इकाइयों पर आ जा रही है, वह यह नहीं विचारेगा कि बन्नू से कलकत्ते तक डाकगाड़ी में यात्रा करनेवाला जून के महीनों में झुलसते हुए कंठ को बरफ से ठंडा बिना किए नहीं रह सकता। उसका कछुआपन कछुआ-भगवान् की तरह पीठ पर मंदराचल की मथनी चलाकर समुद्र से नए-नए रत्न निकालने के लिए नहीं है। उसका कछुआपन ढाल के भीतर और भी सिकुड़-कर घुस जाने के लिए है।

किसी बात का टोटा होने पर उसे पूरा करने की इच्छा होती है, दुःख होने पर उसे मिटाना चाहते हैं। यह स्वभाव है। अपनी-अपनी समझ है। संसार में त्रिविध दुःख दिखाई पड़ने लगे। उन्हें मिटाने के लिए उपाय भी किए जाने लगे। 'दृष्ट' उपाय हुए। उनसे संतोष न हुआ तो सुने सुनाए (आनुश्रविक) उपाय किए। उनसे भी मन न भरा। सांख्यों ने काठ कड़ी गिन-गिनकर उपाय निकाला, बुद्ध ने योग में पककर उपाय खोजा, किसी ने कहा कि बहस, बकझक, वाक्छल, बोली की चूक पकड़ने और कच्ची दलीलों की सीवन उधेड़ने में ही परम पुरुषार्थ है। यही शग़ल सही। किसी न किसी

तरह कोई न कोई उपाय मिलता गया। कछुओं ने सोचा, चोर को क्या मारें, चोर की मां को ही न मारें। न रहे बांस न बजे बांसरी। यही जीवन ही तो सारे दुःखों की जड़ है। लगीं प्रार्थनाएं होने—

"मा देहि राम! जननीजठरे निवासम्" "ज्ञात्वेत्थं न पुनः स्पृशन्ति जननी-गर्भेऽर्भकत्वं जनाः"[1] और यह उस देश में जहां कि सूर्य का उदय होना इतना मनोहर था कि ऋषियों का यह कहते-कहते तालू सूखता था कि सौ बरस इसे हम उगता देखें, सौ बरस सुनें, सौ बरस बढ़-बढ़कर बोलें, सौ बरस अदीन होकर रहें—सौ बरस ही क्यों, सौ बरस से भी अधिक। भला जिस देश में बरस में दो ही महीने घूम-फिर सकते हों और समुद्र की मछलियां मारकर नमक लगाकर सुखाकर रखना पड़े कि दस महीने के शीत और अँधियारे में क्या खाएंगे, वहां जीवन से इतनी ग्लानि हो तो समझ में आ सकती है पर जहां राम के राज में 'अकृष्टपच्या पृथिवी पुटके पुटके मधु'[2] बिना खेती के फसलें पक जायँ और पत्ते-पत्ते में शहद मिले, वहां इतना वैराग्य क्यों?

हयग्रीव या हिरण्याक्ष दोनों में से किसी एक दैत्य से देव बहुत तंग थे। कवि कहता है—

विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिराद्भवत्युपश्रुत्य यदृच्छयापि यम्।
ससंभ्रमेन्द्रद्रुतपातितार्गला निमीलिताक्षीव भियामरावती॥

महाशय यों ही मौज से घूमने निकले हैं। सुरपुर में अफवाह पहुंची। बस, इंद्र ने झटपट किवाड़ बंद कर दिए, आगल डाल दी। मानो अमरावती ने आँखें बन्द कर लीं।

यह कछुआ-धरम का भाई शुतुर्मुर्ग-धरम है। कहते हैं कि शुतुर्मुर्ग का पीछा कीजिए तो वह बालू में सिर छिपा लेता है। समझता है कि मेरी आँखों से पीछा करने-वाला नहीं दीखता तो उसे भी मैं नहीं दीखता। लंबा-चौड़ा शरीर चाहे बाहर रहे, आँखें और सिर तो छिपा लिया। कछुए ने हाथ-पांव-सिर भीतर डाल लिया।

इस लड़ाई में कम-से-कम पांच लाख हिन्दू आगे-पीछे समुद्र पर जा आए हैं। पर आज कोई पढ़ने के लिए विलायत जाने लगे तो हनोज़ रोज़ अव्वल अस्त! अभी पहिला ही दिन है! सिर रेत में छिपा है!!

[प्रथम प्रकाशन : प्रतिभा : दिसम्बर, १९१९ ई०]

---

१. "हे राम! जननी के गर्भ में निवास मत देना।"
"ऐसा ज्ञान होने पर जननी के गर्भ का स्पर्श मनुष्यों को नहीं करना पड़ता।"

२. बिना जोते-बोए धरती अन्न देती थी और पत्ते-पत्ते में शहद मिलता था।

—सम्पादक

मारेसि मोहिं कुठाऊँ

जब केकयी[1] ने दशरथ से यह वर मांगा कि राम को वनवास दे दो तब दशरथ तिलमिला उठे, कहने लगे कि चाहे मेरा सिर मांग ले, अभी दे दूंगा किन्तु मुझे राम के विरह से मत मार। गोसाईं तुलसीदास जी के भाव भरे शब्दों में राजा ने सिर धुनकर, लंबी सांस भरकर कहा कि 'मारेसि मोहि कुठाऊँ'—मुझे बुरी जगह पर घात किया। ठीक यही शिकायत हमारी आर्य समाज से है। आर्य समाज ने भी हमें कुठावँ मारा है, कुश्ती में बुरे पेच से चित पटका है।

हमारे यहां पूंजी शब्दों की है, जिससे हमें काम पड़ा, चाहे और बातों में हम ठगे गये पर हमारी शब्दों की गांठ नहीं कतरी गई। राज के और धन के गठकटे यहां कई आये पर शब्दों की चोरी (महाभारत के ऋषियों की कमल नाल की तांत की चोरी की तरह) किसी ने न की, यही नहीं, जो आया उससे हमने कुछ ले लिया।

पहले हमें काम असुरों से पड़ा, असीरिया वालों से। उनके यहां असुर शब्द बड़ी शान का था। असुर माने प्राण वाला, ज़बरदस्त। हमारे इन्द्र की भी यही उपाधि हुई, पीछे चाहे शब्द का अर्थ बुरा हो गया। फिर काम पड़ा पणियों से, फिनीशियन व्यापारियों से। उनसे हमने पण् धातु पाया जिसका अर्थ लेन-देन करना, व्यापार करना है। एक पणि उनमें से ऋषि भी हो गया जो विश्वामित्र के दादा गाधि या गाधि की कुर्सी के बराबर जा बैठा। कहते हैं कि उसी का पोता पाणिनि था जो दुनिया को चकराने वाला सर्वांग-सुन्दर व्याकरण हमारे यहां बना गया। पारस के पर्शवों या पारसियों से काम पड़ा तो वे अपने सूबेदारों की उपाधि क्षत्रप या क्षत्रपावन् या महाक्षत्रप हमारे यहां रख गये और गुस्तास्प, विस्तास्प के वज़न के कुश्वाश्व, श्यावाश्व, बृहदश्व आदि ऋषियों और राजाओं के नाम दे गये। यूनानी यवनों से काम पड़ा तो वे यवन की लिपि यवनानी शब्द हमारे व्याकरण के भेंट कर गये। साथ ही बारह राशियां मेष, वृष, मिथुन आदि भी यहां पहुंचा गये। इन राशियों के ये नाम तो उनकी असली ग्रीक शकलों के नामों के संस्कृत तक में हैं, पुराने ग्रंथकार तो शुद्ध यूनानी नाम आर, तार, जितुम आदि काम में लेते थे। ज्योतिष में यवनसिद्धांत को आदर से स्थान मिला। वराहमिहिर की स्त्री रवना यवनी रही हो या न रही हो, उसने आदर से कहा है कि म्लेच्छ यवन भी ज्योतिः-शास्त्र जानने से ऋषियों की तरह पूजे जाते हैं। अब चाहे वेल्यूपेवल सिस्टम भी वेद में निकाला जाय पर पुराने हिन्दू कृतघ्न और गुरुमार नहीं थे। सेल्यूकस निकेटर की कन्या चन्द्रगुप्त मौर्य के ज़नाने में आई, यवन राजदूतों ने विष्णु के मंदिर में गरुड़ध्वज बनाये और यवन राजाओं की उपाधि सोटर त्रातार का रूप लेकर हमारे राजाओं के यहां आ लगी। गन्धार से न केवल दुर्योधन की मां गान्धारी आई, बालवाली भेड़ों का नाम आया। बलख से केसर और हींग का नाम बाल्हीक आया। घोड़ों के नाम पारसीक, काम्बोज, वनायुज, बाल्हीक आये। शक़ों के हमले हुए तो 'शाकपार्थिव' वैयाकरणों के

---

१. कैकेयी

हाथ लगा और शक संवत् या शाका सर्व साधारण के। हूण वंक्षु (Oxus) नदी के किनारे पर से यहां चढ़ आये तो कवियों को नारंगी की उपमा मिली कि ताजा मुड़े हुए हूण की ठुड्डी की-सी नारंगी। कलचुरि राजाओं को हूणों की कन्या मिली। पंजाब में वाहीक नामक जंगली जाति आ जमी तो बेवकूफ, बौड़म के अर्थ में (गौर्वाहीकः) महाविरा चल गया। हां, रोमवालों से कोरा व्यापार ही रहा पर रोमक सिद्धान्त ज्योतिष के कोश में आ गया। पारसी राज्य राज्य न रहा पर सोने के सिक्के निष्क और द्रम्म (दिरहम) और दीनार (डिनारियल) हमारे भंडार में आ गये। अरबों ने हमारे 'हिंद से' लिये तो ताजिक, मुथहा, इत्थशाल आदि दे भी गये। कश्मीरी कवियों को प्रेम के अर्थ में हेवाक दे गये। मुसलमान आये तो सुलतान का सुरत्राण, अमीर का हम्मीर, मुगल का मुङ्गल, मसजिद का मसीतिः कई शब्द आ गये। लोग कहते हैं कि हिन्दुस्तान अब एक हो रहा है, हम कहते हैं कि पहले एक था अब बिखर रहा है। काशी की नागरी प्रचारिणी सभा वैज्ञानिक परिभाषा का कोष बनाती है उसी की नाक के नीचे बाबू लक्ष्मीचन्द वैज्ञानिक पुस्तकों में नई परिभाषा काम में लाते हैं, पिछवाड़े में प्रयाग की विज्ञान परिषद् और ही शब्द गढ़ती है। मुसलमान आये तो कौन सी बाबू श्यामसुन्दर की कमिटी बैठी थी कि सुलतान को सुरत्राण कहो और मुग़ल को मुङ्गल ? तो भी कश्मीरी कवि या गुजराती कवि या राजपूताने के पण्डित सब सुरत्राण कहने लग गये। एकता तब थी कि अब ?

बौद्ध हमारे यहीं से निकले थे, उस समय के वे आर्यसमाजी ही थे, उन्होंने भी हमारे भंडार को भरा, हम तो देवानां प्रिय मूर्ख को कहा करते थे, उन्होंने पुण्यश्लोक धर्माशोक के साथ यह उपाधि लगाकर इसे पवित्र कर दिया। हम निर्वाण के माने दिये का बिना हवा के बुझना ही जानते थे, उन्होंने मोक्ष का अर्थ कर दिया, अवदान का अर्थ परम सात्विक दान भी उन्होंने किया।

बक़ौल शेक्सपीयर के जो मेरा धन छीनता है वह कूड़ा चुराता है, पर जो मेरा नाम चुराता है वह सितम ढाता है, आर्यसमाज ने वह मर्मस्थल पर मार की है कि कुछ कहा नहीं जाता, हमारी ऐसी चोटी पकड़ी है कि सिर नीचा कर दिया, औरों ने तो गांठ का कुछ न दिया, इन्होंने अच्छे-अच्छे शब्द छीन लिये इसी से कहते हैं कि मारेसि मोहि कुठाऊँ, अच्छे-अच्छे पद तो यों सफाई से ले लिये हैं कि इस पुरानी जमी हुई दुकान का दिवाला निकल गया !! लेने के देने पड़ गये !!!

हम अपने आपको 'आर्य' नहीं कहते, हिंदू' कहते हैं, जैसे परशुराम के भय से क्षत्रियकुमार माता के लहँगों में छिपाये जाते थे वैसे विदेशी शब्द हिन्दू की शरण लेना पड़ती है और आर्यसमाज पुकार-पुकारकर जले पर नमक छिड़कता है कि हैं ! क्या करते हो ? हिन्दू माने काला, चोर, काफ़िर ! ! अरे भाई ! कहीं बसने भी दोगे ? हमारी मंडलियां भले 'सभा' कहलावें, 'समाज' नहीं कहला सकतीं ? न आर्य रहे न समाज रहा तो क्या अनार्य कहें और समज कहें (समज पशुओं का टोला होता है) ? हमारी सभाओं के पति या उपपति (गुस्ताखी माफ़, उपसभापति से मुराद है) हो जावें किंतु प्रधान या उप-प्रधान नहीं कहा सकते ? हमारा धर्म वैदिक धर्म नहीं कहलायेगा, उसका नाम रह गया

है—सनातन धर्म, हम हवन नहीं कर सकते, होम करते हैं, हमारे संस्कारों की विधि संस्कार विधि नहीं रही वह पद्धति (पैर पीटना) रह गई उनके समाज-मंदिर होते हैं, हमारे सभाभवन होते हैं। और तो क्या, 'नमस्ते' का वैदिक फ़िकरा हाथ से गया—चाहे जय रामजी कह लो, चाहे, जय श्रीकृष्ण, नमस्ते मत कह बैठना। ओंकार बड़ा मांगलिक शब्द है, कहते हैं कि यह पहले पहल ब्रह्मा का कंठ फाड़कर निकला था। (प्रत्येक मंगल कार्य के आरंभ में हिंदू 'श्रीगणेशाय नमः' कहते हैं। अभी इस बात का श्रीगणेश हुआ है—इस महावरे का अर्थ है कि अभी आरंभ हुआ है। एक वैश्य यजमान के यहां मृत्यु हो जाने पर पंडित जी गरुड़पुराण की कथा कहने गये। आरम्भ किया श्रीगणेशाय नमः। सेठ जी चिल्ला उठे—वाह महाराज, हमारे यहां तो यह बीत रहा है और आप कहते हैं कि श्रीगणेशाय नमः, माफ़ करो। जब से चाल चल गई है कि गरुड़-पुराण की कथा में 'श्रीगणेशाय नमः' नहीं कहते 'श्रीकृष्णाय नमः' कहते हैं) उसी तरह अब सनातनी हिंदुओं न बोल सकते हैं, न लिख सकते हैं, सन्ध्या या यज्ञ करने पर ज़ोर नहीं देते, श्रीमद्‌भागवत की कथा या ब्राह्मण-भोजन पर संतोष करते हैं।

और तो और, आर्यसमाज ने तो हमें झूंठ बोलने पर लाचार किया, यों हम लिल्लाही झूंठ न बोलते, पर क्या करें। इश्कबाज़ी और लड़ाई में सब कुछ जायज़ है। हिरण्यगर्भ के माने सोने की कौंधनी पहने हुए कृष्णचंद्र करना पड़ता है, चत्वारि शृंगावाले मंत्र का अर्थ मुरली करना पड़ता है, 'अष्टवर्षोऽष्टवर्षो वा' में अष्ट च अष्ट च एक शेष करना पड़ता है, शतपथ ब्राह्मण के महावीर नामक कपालों को मूर्तियां बनाना पड़ता है। नाम तो रह गया हिंदू। तुम चिढ़ाते हो कि इसके माने होते हैं काला, चोर या काफ़िर। अब क्या करें? कभी तो इसकी व्युत्पत्ति करते हैं कि हि × इन्दु। कभी मेरु तंत्र का सहारा लेते हैं कि हीन च दूषयत्येव हिन्दुरित्युच्यते प्रिये।[1] यह उमामहेश्वर संवाद है, कभी सुभाषित के श्लोक 'हिंदवो विन्ध्यमाविशन्'[2] को पुराना कहते हैं और यह उड़ा जाते हैं कि उसी के पहले 'यवनैरवनिः क्रान्ता'[3] भी कहा है, कभी महाराज कश्मीर के पुस्तकालय में कालिदास रचित 'विक्रम महाकाव्य' में 'हिन्दपति पाल्यताम्' पद प्रथम श्लोक में मानना पड़ता है इसके लिए महाराज कश्मीर के पुस्तकालय की कल्पना कि जिसका सूचीपत्र डाक्टर स्टाइन ने बनाया हो, वहां पर कालिदास के कल्पित काव्य की कल्पना, कालिदास के विक्रम संवत् चलाने वाले विक्रम के यहां होने की कल्पना तथा यवनों से अस्पृष्ट (यवन माने मुसलमान! भला, यूनानी नहीं) समय में हिंदूपद के प्रयोग की कल्पना कितना दुःख तुम्हारे कारण उठाना पड़ता है!!

बाबा दयानंद ने चरक के एक प्रसिद्ध श्लोक का हवाला दिया कि सोलह वर्ष से कम अवस्था की स्त्री में पचीस वर्ष से कम पुरुष का गर्भ रहे तो या तो वह गर्भ में ही

१. हे प्रिये! जो हीनता-नीचता से द्वेष करे, वही हिन्दू है।
२. हिन्दू विंध्य पर्वत में घुस आए।
३. यवनों द्वारा पृथ्वी आक्रांत हुई।

मर जाय, या चिरजीवी न हो, या दुर्बलेन्द्रिय होकर जीवे। हम समझ गये कि यह हमारे बालिका-विवाह की जड़ कटी—नहीं, बालिकारभस पर कुठार चला। अब क्या करें। चरक कोई धर्मग्रंथ तो है नहीं कि जोड़ की दूसरी स्मृति में से दूसरा वाक्य तुर्की-बतुर्की जवाब में दे दिया जाय। धर्मग्रंथ नहीं है, आयुर्वेद का ग्रंथ है इसलिए उसके चिरकाल न जीने या दुर्बलेन्द्रिय होकर जीने की बात का मान भी कुछ अधिक हुआ। यों चाहे मान भी लेते—और व्यवहार में मानते ही हैं—पर बाबा दयानन्द ने कहा तो उसकी तरदीद होनी चाहिए। एक मुरादाबादी पंडितजी लिखते हैं कि हमारे पड़दादा के पुस्तकालय में जो चरक की पोथी है उसमें पाठ है—ऊन द्वादशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम्।[1]

लीजिए चरक तो बारह वर्ष पर ही 'एज ऑफ कन्सेंट बिल' देता है, बाबा जी क्यों सोलह कहते हैं? चरक की छपी पोथियों में कहीं यह पाठ न मूल में है न पाठान्तरों में। न हुआ करे—हमारे पड़दादा की पोथी में तो है!

इसीलिए आर्यसमाज से कहते हैं कि 'मारेसि मोहि कुठाऊँ'।

[प्रथम प्रकाशन : प्रतिभा : सितम्बर, १९२० ई०]

काशी

आर्य धर्म में, हिन्दू-सभ्यता में और भारतवर्षीय विद्या में, जो कुछ दृढ़, दुर्भेद्य और सारभूत है, वह 'काशी' इन दो मधुर अक्षरों में आता है। घर के कुतर्की और बाहर के विधर्मियों से वैदिक धर्म का लोप क्यों नहीं हो गया, कभी-कभी जीवन-संग्राम में अनुपयुक्त होने पर भी क्यों नहीं यहां की सभ्यता नामावशेष हो गई, उपेक्षा अज्ञान और आडम्बर के होते हुए भी प्राचीन अपरा और परा विद्या क्यों नहीं संसार से उठ गई—'इन प्रश्नों का 'काशी' यही पूरा उत्तर है। काशी! तेरे शीतल प्रभाव में देश भर का धर्म विषयक अनुताप हटता रहा है, तेरे आप्यायनकारी प्रकाश में चारों दिशाओं का अज्ञानान्धकार मिटता रहा है, तेरे अनुकरणीय उदाहरण में आर्यसमाज अपना सांग भरता रहा है।

काशी! तू नित्य है, तू दुर्धर्ष है, तू अजेय है! तू सदा के लिए हिन्दू धर्म, सभ्यता और विद्या का केन्द्र है। जब डैमस्कस में झोंपड़ भी न थे, जब मिस्र के पिरैमिडों की जगह नील नदी का बालू-ही-बालू था, जब बैक्टीरिया के कुम्हारों ने अपने शराकृति लेखों के पुस्तक न पकाए थे, तब तू थी और तब तू पूजित थी! 'तस्य भगवतो अरहतो सम्मासम्बुद्धस्य' उपदेश, 'देवानां पिय पियदस्सी' राजा अशोक की धर्मलिपियां, भगवान्

---

१. बारह वर्ष से कम की कन्या और पच्चीस से कम का वर। —सम्पादक

शंकराचार्य का अद्वैत, तुगलकों की ज़िज़िया, वीर बुक्क का वेदार्थ प्रकाशन और चेतसिंह का कारावस—सभी तेरी गोद में खेल चुके हैं ! जो काशी बौद्ध और जैन नीति को चुलुकित कर गई, मुसलमानों के दुराग्रह को बिना डकार निगल गई, जिसमें महाराष्ट्रों का चौथ का ऐश्वर्य और सिक्खों की फतह, घाट और सोने की चादर बनाकर आ चढ़े, जिसमें पण्डितों को क्रुस्तान बनाने का डाक्टर बालंटाइन का हठ कीन्स कालेज की उन्नति में परिणत हो गया, जो एनीबेसेन्ट से भी एक उत्तम कालेज ले बैठी और जो रेवरेंड एडविन ग्रीव्ज से भी नागरीप्रचार करा रही है, वह काशी धन्य है ! भगवती वाराणसि ! तेरी सीमा के बाहर समय और विवर्त और परिणाम टक्करें मार जावें, तेरी जादू की जमीन में वहीं मर्त्य में अमर्त्य की सदाबहार है। गंगाजी के किनारे-किनारे, हिन्दी के प्रधान कवि तुलसीदासजी का घाट, पुरैतिहासिक दस अश्वमेधों का घाट, दैवज्ञशिरोमणि सवाई जयसिंह के यन्त्रों के नीचे काबुलविजयी राजा मान का मानघाट, भक्त यवन का मीरघाट, विष्णु भगवान् का मणिकर्णिका घाट और महास्मशान, सेंधिया के और शिवाजी महाराज के वंशधर भौंसलाओं के घाट, दोनों भुजाएं उठाकर विजेताओं की प्रबलता और हारे हुओं की मर्मकातरता दिखाने वाली काशी की अधिदेवी के समान ऊंचे मीनारों वाली मस्जिद के नीचे बिन्दुमाधव घाट,—कितने इतिहासों का दृश्य है, कितने परिवर्तनों का तमाशा है, कितनी भावनाओं को जगाने वाला चित्र है !

यहां नंगे पैर चलना फैशन के डर से भाग नहीं गया है। वही चिल्ले के जाड़े में तड़के जागना, वही कमण्डलु लिए और राजकम्बल ओढ़े गंगातीर जाना, गुरुचरणों की धूलि से पवित्र वही एकान्त घाट, वही भगवती गंगा का पावन मज्जन, वही साधारणतया तीर में संध्यावंदन, वही गीली धोती लेकर स्नानार्थियों और बलीबर्दों से बचते हुए भगवान् विश्वनाथ के यहां जल चढ़ाने जाना, पुष्प लोभी बैलों से बचते हुए प्रेम के मधुर धक्के खाना, 'दर्शनं दैवदेवस्यस्पर्शनं पापनाशनं', वही परिक्रमा, वही सभामण्डपेश्वर, वही भगवती अन्नपूर्णा के यहां गोमय का कर्दम, वही बंगाली चण्डीपाठ और तैलंग दुर्गापाठ का सम्मिलित स्वर, वही ढुंडिराज, वही ज्ञानवापी, वही भैरव—चाहे यहां विद्यार्थी बनकर आवें चाहे दर्शक बनकर। काशी ! तू तो सदा वैसे ही मन्दस्तिमित कृपाकटाक्ष से सब को देखती है। तेरे में हिन्दुओं की और भारतवर्ष की एकता का वास है। एक तेरे में देश-देश के विद्यार्थियों का समूह है जो मिलकर, बंगालियों और तैलंगों, मद्रासियों और काश्मीरियों में सख्य पैदा करता है। अध्यापकों, सत्रों और संगति का प्रबन्ध ठीक न होने से चाहे विद्यार्थी यहां आकर 'बनारसी'पने का ही पास हासिल करें, परन्तु सामग्री प्रचुर है और यदि धर्म मानकर, भिक्षा मांगकर, अर्थकर विद्याओं को छोड़कर 'बुभुक्षितैर्व्याकरणं न भुज्यते' पर बीसों वर्ष बिताने वाले इस दल को जातीय भाव से अनुप्राणित कर दिया जावे तो ? एक तेरे में धर्मपरायण कल्पवासार्थ आगता विधवाओं का दल है जो प्रातःकाल से सायंकाल और सायंकाल से प्रातःकाल जल चढ़ाने और जप में लगी रहने पर भी देश-देशान्तर की समानशील-व्यसनास्त्रियों को धर्म की बहन बनाकर जातीयता का मार्ग खोल रही हैं। यदि उन्हें

समझा दिया जाय कि कल्पवास का पुण्य और दुरितक्षय न केवल मन्दिर-मन्दिर भटकने में है, प्रत्युत बालिकाओं और बालकों के रोगनिवारण और विद्यादान में दया की भगिनी बनने में भी है, तो ? एक तेरे में दान का वह क्रम विद्यमान है जो चारों दिशाओं के पुण्यार्थ दिए हुए धन को बिना भेदभाव के धार्मिक भारतवासी मात्र में सत्रादिरूप से बाँटता है। यदि वह वृथापुष्टों और कलहप्रियों को न दिया जाकर आलस्य का बंधक न बनै, पात्रों की तरफ लगाया जाकर देश का बल बढ़ा सकै तो ? एक तेरे में विद्वानों का वह समूह है जो प्राचीन शास्त्रों की पावनी त्रिपथगा में अपने मैथिलत्व, दाक्षिणात्यत्व वा पंजाबीपने को धो, 'शास्त्री' बनकर, देशकाल-पात्र की परवाह न करके, प्रकारता की कुक्षि में प्रविष्ट विशेषता की नब्ज सम्हाला करता है और खाने-पीने की सुधि तक भूलकर वेद से लेकर अर्वाचीन परिष्कारों तक की मूर्ति में शब्दब्रह्म और भगवती वीणापाणि की आराधना करता है। यदि इस समूह को, समयानुसार, मुँह फाड़कर देश का अहित चाहने वाली आपत्तियां और आवश्यकताएं समझा दी जाएँ, यदि वह दल नियत काम करके यूरोपीय पण्डितों के वेदों में टक्कर मारने के स्थान पर उचित गवेषणा चला दे, यदि जो शक्ति अवच्छेद का प्रकारता की चक्की में या फर्माइशी व्यवस्थाएं गढ़ने में वृन्तरूप से पर्यवसान पाती है वही सरलरेखा में चलाकर पहाड़ फोड़ सकने वाली बन सकै तो ? बस, फिर क्या है, देश के भाग न जाग जाएं !

परन्तु काशी ! तेरे में बड़ी भारी एकदेशिता है, यह विद्या और धर्म का स्रोत तेरे में अखण्ड होने पर भी खण्डित है, नित्य होकर भी नश्वर है। बंगाल और मिथिला में ऐसे बहुत से पण्डित कुटुम्ब मिलेंगे जो पन्द्रह-बीस पीढ़ियों से, परम्परा से शास्त्रों के पारदृश्वा विद्वान होते आए हैं। काशी की प्राचीनता से यदि हम यह नहीं पूछ सकते कि गौतम बुद्ध से शास्त्रार्थ करने वाले पण्डित तो बता, तो नहीं सही, परन्तु यहां एक वंश में दो पीढ़ी भी पण्डितों की नहीं मिलती। यहां पढ़कर कोई पण्डित हुआ, वह या तो कहीं राजाश्रय में चला गया और या कोई पण्डित राजाश्रय पाकर पढ़ने-पढ़ाने में दिन बिताने यहां पर आया। बस। यहां पर 'पण्डितपुत्र' मूर्खवाचक गाली है। फिर नये पण्डित हुए, फिर चले गए। इतने पण्डित-मण्डल में एक विद्वान की भी स्त्री विदुषी नहीं जो मण्डन मिश्र की सरस्वती की उपमा नहीं तो छाया तो बनै ! यही नहीं, पण्डितों का जीवन कर्कशा और अननुरूपा अर्धांगियों के क्लेश से दुःखमय रहता है !

परन्तु काशी ! आज तेरे में विलक्षण भीड़ है। बंगाली विश्वनाथ की पुरी में अनाथ की तरह चिल्लाने आए हैं। अन्नपूर्णा की पुरी में अन्न के अभाव को मिटाने के उपाय सोचे जा रहे हैं। ढुण्ढिराज के पड़ोस में आपत्तियों से बचने का उपाय ढूंढ़ा जाता है। पंचकोशी के भीतर पंच कोसे जाते हैं। बनारस में रस बना रखने के लिए प्रदर्शिनी लगती है। काशी में धर्म करवट ले रहा है जिसमें उसका कुसंशोधन कुरीति दोष मिट-कर सुरीति पुनर्जन्म हो। सभा मण्डपेश्वर के सामने बीसों सभाओं के मण्डप बने हैं। भगवति ! क्या ये आशाएं पूरी होंगी ? 'काशी मरणान्मुक्तिः' क्या आज से भारत के सब दुःखों की मुक्ति मान लें ? दुर्गे ! क्या हमने सब दुर्ग जीत लिए ? अन्नपूर्णे ! क्या

हमारे लिए सदापूर्ण बनोगी ?[1] ज्ञानवापी ! क्या हमारे लिए तेरा जल सुधामधुर होगा, पत्रकलुषित नहीं ? गंगे ! क्या हम निम्नाभिमुख गति को बदलेंगे ? धर्मकूप ! क्या हम कूप-पतन के लायक नहीं रहेंगे ? भैरव ! क्या आज से हम शत्रुओं के लिए भैरव बन जाएंगे ? सारनाथ ! क्या हम में कुछ सार होगा ? पिशाचमोचन ! क्या कुरीति-पिशाचों से मुक्त होंगे ? भागीरथि ! सुरधुनि !! क्या हमारी गृहलक्ष्मियां तुम्हारी तरह जगत्पावन होंगी ? और हे प्राचीन और अर्वाचीन को मिलानेवाली काशी ! सदा नित्य वाराणसी ! क्या हम तेरी तरह स्थायी, नित्य, दुर्धर्ष और पूजनीय बनेंगे ? क्या हमारा स्त्रियों की जड़ता का अर्धांग और समयानुसार प्रतीकार न सोचने की हृदय-शून्यता 'औषधं जाह्नवीतोयं' से न हटेंगे ? [अपूर्ण]

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : जनवरी-मार्च, १९०६ ई०]

काशी की नींद और काशी के नूपुर

(घरघूमन दादा का पत्र)

मैं जैसा घूमनेवाला हूं, वैसा सोनेवाला भी हूं । लोग आँखों से पहचानते हैं, मैं नींद और नींद के विघ्नों से पहचानता हूं । उपनिषदों के मेधावी पण्डित की तरह आँखें बांधकर मुझे किसी शहर में छोड़ दीजिए, मैं नींद और नींद के विघ्नों से बता दूंगा, कि मैं कहां हूं । इसमें कुछ आश्चर्य नहीं । जैसे मैं घूमने के लिए बदनाम हूं वैसे मेरा सोना भी अद्‌भुत है । किपलिङ ने सत्तावन दुर्गन्धों से रंगून को पहचाना था, मेरे कान सलामत रहें और कोई शहर मेरी नींद में विघ्न डालने का साहस करे, बस शनाख्त हो गई ।

माघ महीने की चाँदनी रात है । जाड़ा कह रहा है कि बस आज ही पड़ूं । रात के तीन बजे हैं । मैं मूसल की तरह सो रहा हूं इतने में जहां खंजड़ी की टकटक और— **हरि गुण गाय मगन भये तुलसी, मगन भये तुलसी**—का बेसुरा चीत्कार सुना कि, मैं जान गया कि यह प्रयाग तीर्थराज है । शब्दबेध तो सीखा नहीं, पर सिरहाने पानी का लोटा रखा था । उसे उठाकर इस जोर से फेंका कि, उस नींद के भूत वैरागी ने समझा होगा कि, उस मौके चेपलिन आ गये । मन को सन्तोष नहीं हुआ । यही चाहता था कि तुलसी की तरह हरि गुण गाकर वह मगन नहीं हो सकता तो इस हरिदास को त्रिवेणी

---

१. अन्नपूर्णे सदापूर्णे शंकरप्राणवल्लभे ।
ज्ञानवैराग्यसिद्ध्यर्थं भिक्षां देहि च पार्वति ।। —सम्पादक

में मगन करने के लिए क्यों नहीं वालण्टीयर बनूं। खैर हुई कि गुदड़ी छोड़ने का आलस्य न छोड़ सका, नहीं तो प्रयागवासियों की नींद का सदा के लिए बीमा हो जाता।

जेठ में एक रात लाहौर में बितायी थी। सोते समय रोज यही प्रार्थना करता हूं कि, कुम्भीपाक नरक में इधर फिर वैसी रात न बिताऊं। बीमार को मैं यह समझाना चाहता हूं कि, तीन रात यहां सोना सांस-घोटनी रोग से कहीं बढ़कर है। निराली गर्मी थी—न तो मारवाड़ की जलाने वाली लू और न सूखी तपन—एक गीली-गीली सांसघोट गर्मी। मानो आकाश उतरकर छाती और गले को दबाकर बैठ गया हो। हवा का नाम नहीं। पसीना कपड़ों को बदन से चिपका रहा था। म्युनिसिपैलिटी के संडासों की पंचमेल बास और छाती पर दुनिया भर का बोझ, इतने में स्टेशन के गधे एन्जिन ने वह किलकार मारी कि भूकम्प हो गया। मैं अपने दिन के नाम को चरितार्थ करने दौड़ा। ऐसी गीली गर्मी ! ओफ !!

ऐसे ही जहां दिन-भर गाड़ी की लोकों में सोकर और बाल-बाल बचकर लेंडी कुत्ते आधी रात के पीछे एक स्वर हो अपने कण्ठों की कसरत दिखाते हैं और बीच-बीच में चौकीदार "व्यो व्यो व्यो व्यो हो" की टेक लगाकर धूम कर देता है, वहां मैं जान लेता हूं कि, यह अमुक राजधानी है। चौकीदार की भाषा को समझने के लिए मैंने छत्तीस व्याकरण पढ़ डाले और बहत्तर बना डाले, पर उस व्यक्ताव्यक्त ध्वनि का तात्पर्य न खुला। निश्चय यही हुआ है कि कुत्तों के मलार से चिढ़कर चौकीदार अपने पंचम स्वर से उनके कोरस को मन्दा करना चाहता है और कुत्ते चक्रवृद्धि ब्याज से बदला चुकाते हैं। शायद उस शहर में संखिया नहीं बिकता है नहीं तो चौकीदार और कुत्ते—

जहां कैद किये हुए पिशाची की छाती की धड़कन की तरह रात-भर धपधप होती रहे और सारी पृथ्वी उस प्रकम्पन में धड़कती जान पड़ें, वहीं मैं जान लूंगा कि इस पुराने फलां नगर में रेलवे के कारखाने ने नये प्राण डाल दिये हैं। यह धप धप पहले तो लोरी का काम देती है और फिर स्वप्नों में वह समा बांधती है कि छाती पर बैठकर कोई हथौड़े से पत्थर तोड़ रहा है। एक रात वहां बिता आओ तो सात दिन कानों में से गूंज नहीं जाती।

उसी के पड़ोस में एक छोटा किन्तु नया शहर है जहां गधे पाव-पाव घण्टे के अन्तर से अपना शान्तिपाठ किया करते हैं। कभी एक कोने से वैशाखनन्दन जी का मधुर गान आता है, कभी दूसरे कोने से। आप समझेंगे कि, बस हो चुका, कि अचानक तीसरी ध्वनि आपके नीचे ही से आती है और आप चौंक पड़ते हैं। इन कत्थकों के गानों में पन्द्रह मिनट का इतना पूरा अन्तर रहता है कि, शहर में घड़ियों की जरूरत नहीं। गधों के सम्वाद के दौरों की संख्या में चार वरां भाग दे लिया और घण्टे जान लिये। सुना जाता है कि, यहां की म्युनिसिपल कमिटी के प्रेसिडेण्ट रात भर स्वरों के उतार-चढ़ाव को नोट किया करते हैं और वर्ष के अन्त में सबसे अच्छे गवैये को गाजरों का एक टोकरा इनाम दिया करते हैं। गधे भी इस बात को जानते हैं और अपनी परीक्षा देने में कमी नहीं करते।

सोने की जगह जो मेरे मन भायी है—काशी है। गंगा के तट का कोई कोठा हो और शरद की चाँदनी रात हो। बस। गंगा में तो काशी में बहाव है ही नहीं—न तो व्यास का-सा पत्थर पीसने वाला शब्द और न सतलज की हजार थानों के चीरे जाने की-सी ध्वनि। न अटक की-सी कूद और न बंगाले की मैदानी नदियों की-सी रोने की सुबक। सबसे पिछली नाव किनारे पर लग गई, तीन-चार लहरों ने किनारे का चुम्बन किया—लप, लप, लप और फिर सन्नाटा।

और गंगा; दुबली, प्रशान्त गंगा—पिछले मेह के कारण मिर्जापुरी मट्टी का कुछ गुलाबीपन और शान्ति। लहर नहीं, शब्द नहीं और चाल भी नहीं। क्यों न हो—

भर्तुस्तया कलुषितां बहुवल्लभस्य
मार्गे कथंचिद्रवतीर्य तनूभवन्तीम्।
सर्वात्मनारतिकथाचतुरेव दूती
गङ्गां शरन्नयति सिन्धुपतिं प्रपन्नाम्॥

अभिसारिका की चाल ही क्या जो कुछ खुटका हो जाय? 'कलुषितां कथंचित् अवतीर्य', 'तनूभवन्तीम्',—संस्कृत न जाननेवालों को कैसे समझाऊं?

रोगी को नींद नहीं आती। भरपूर नींद सोना स्वास्थ्य का लक्षण है। तीन हज़ार वर्ष का यह बुड्ढा शहर जिस सुख की नींद सोता है उसे देखकर जवान शहरों को, जो रात-भर चिल्लाते और बिचकते हैं—शरमाना चाहिए। हिन्दू-साम्राज्य के सबसे पिछले नमूने की तरह सेंधिया और भौंसला-घाटों पर शहनाई की नौबत हो चुकी—भारत के रक्षक चौकीदार अँगरेज सरकार की अभयवाणी की तरह राजघाट के पुल पर मुगलसराय की गाड़ी की जाने की गूंज गूंज गयी—रक्षादीपक की तरह राजघाट के खंभों की लालटेनें चमक रही हैं और काशी सो गयी। रात-भर न पत्ता खड़केगा न कुत्ता भूंकेगा और न कुंडी खड़केगी।

यह क्या झींगुर की झनझन है? है! इस जगह भी शान्ति न मिली! नहीं, यह तो ऊपर के कोठे पर नूपुर की ध्वनि है।

बस, काशी में नूपुर बजा करते हैं। चाहे तंग गलियों में अभिसारिकाओं के हों, चाहे कोठे पर नायिकाओं के।

काशी और नूपुर;—नूपुर और काशी—संस्कृत-साहित्य का पुराना जोड़ा है। काशी के नूपुर बहुत पुराने हैं, जहां काशी का नाम आया वहां नूपुरों की कथा।

ईसवी सन् ७५५ से ७८६ तक कश्मीर में जयापीड़ नामक राजा था। उसने अपने राज्य में व्याकरण महाभाष्य का प्रचार कराया था। जानते हो उसका मंत्री कौन था? दामोदर गुप्त। इस मन्त्री ने 'कुट्टिनीमत' नामक एक ग्रन्थ लिखा था और कुटनियों के मत का आचार्य होने के कारण ही वह मंत्री चुने जाने योग्य समझ गया। कुट्टिनीमत में बड़े मजे की बातें लिखी हैं। काशी की शान में लिखा है—

यत्र च रमणीनूपुर रववधिरित सकलदिङ् नभो भागे।
शिष्याणामाचार्यैर्नाविद्यं वार्यते पठताम्॥

काशी में रमणियों के नूपुरों की ध्वनि से सब दिशाएं और आकाश बहरे हुए रहते हैं। बिचारे गुरु क्या करें? शिष्य अशुद्ध पढ़ते हैं तो उन्हें ये टोक नहीं सकते। सुनें तो टोकें। काशी के महामहोपाध्यायों से पूछना है कि, क्या अब भी वे वैसा ही पढ़ाते हैं जैसा कि, कुट्टिनीमतकार के जमाने में पढ़ाते थे।

और सुनिये : काशी के एक किसी राजा से उसकी रानी विरक्त हो गयी थी। उसने अपने नूपुर को जहर में बुझाकर अपने पति को मार डाला था। काशी की रमणी के जहरीले नूपुर की यह कथा सारे पुराने साहित्य में गूंज रही है—

क्या वराहमिहिर की 'संहिता' में, क्या कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में, क्या कामन्दक की 'नीति' में और क्या बाण के 'हर्षचरित' में—

शस्त्रेण वेणी विनिगुहीतेन विदूरथं स्वा महिषी जघान।
विषमदिग्धेन तु नूपुरेण-देवी विक्ता किल काशिराजम्॥

वेद व्यास जी का नाम तो सुना होगा। वही कृष्णद्वैपायन व्यास, वेदों का विभाग करने वाले और पुराणों के रचनेवाले, उन्होंने यदि कहीं नूपुरवाले पैर की लात खाई है तो काशी में ही खाई। बौद्ध कवि अश्वघोष की गवाही लीजिए—

द्वैपायनो ब्रह्मपरायणश्च रेमे समं काशिषु वेशवध्वा।
तया हतो भूच्चलनूपुरेण पादेनं विद्युल्लतयेव मेघः॥

(सौन्दरनन्द)

खूब वेशवधू के यहां पहुंचे और नूपुर वाले पैर की लातें खायीं।

पुरा हि काशिसुन्दर्या वेशवध्वा महानृषिः।
ताडितोऽभूतपदाघातैर्दुर्धर्षो दैवतैरपि॥

(बुद्धचरित)

और बुड्ढे अश्वघोष को उपमा भी क्या सूझी है? 'जैसे बिजली से मेघ ताड़ित होता है।' तेज लात के नूपुर की चमक बिजली ठहरी, और व्यासश्री के शरीर की मेघ से अच्छी उपमा और क्या हो सकती है? जिस काले शरीर के भय से एक ने तो आँखें बन्द कर लीं और अन्धा धृतराष्ट्र पैदा हुआ, और दूसरी पीली पड़ गई और उसका पुत्र जन्मते ही पाण्डुरोगी पाण्डु हुआ।

ये हैं काशी के नूपुर—बाबा व्यास ने इनका स्वाद चखा था, और बुड्ढे अश्वघोष ने इनका झणत्कार सुना था। रसिया काशिराज ने इनमें अपनी जान खोई थी और छैला दामोदर गुप्त इनकी बदौलत अशुद्ध ही पढ़कर काशी से चला गया। अशुद्ध पढ़ा तो क्या हुआ, कुट्टिनियों की विद्या तो सीख गया और कश्मीर का मन्त्री बन गया।

ये हैं काशी के नूपूर—ये क्यों न बजें? शताब्दियों से ये बजते आते हैं और बजते रहेंगे। मेरी नींद चाहे रहे, चाहे जाय, इन्हें बजने दो।

यह क्या, नूपुर की आवाज बन्द और कौंधनी की झनझनाहट आरम्भ हो गई?

वहीं ऊपर के कोठे पर ! ठीक है—

प्रशान्ते नूपुरारावै बुद्धयते मेखलाध्वनिः ।
कस्यैषा कृत पुण्यस्य………………।

बस, भैया घरघूमन, रहने भी दो। होली तो है, पर आजकल हिंदी के पत्र में हँसी मसखरी को असभ्यता समझते हैं।

[प्रथम प्रकाशन : दैनिक भारतमित्र : १६ मार्च, १६१६ ई०]

जय जमुना मैया की

आज मुझे बड़े हर्ष का समय है। नए ढंग के लोग कितनी ही औंधी-सीधी बातें करें 'श्री वेङ्कटेश्वर समाचार' के सम्पादक ऐसे चिकने घड़े हैं कि अंग्रेज़ीवालों की युक्ति की बरसात उन्हें सूखे का सूखा छोड़ जाती है। भला, यह क्या कम हिम्मत की बात है कि युक्तियों को ठुकरा देना और धर्म को शास्त्रमूलक और अन्धविश्वासमूलक मानना ? यह क्या कम पण्डिताई है कि इस युग में भी विलायत यात्रा को बारम्बार पाप कहते रहना ? जहां नए समझदारों ने पुरानों को कुछ कहा कि उन पर, उनके फैशन और बकवाद पर टूट पड़ना क्या कम बहादुरी है ? जो नया सिद्धान्त उसने कहा है, जिसे मैं हर्ष के मारे अभी नहीं कहता, उसका सूत्रण करना दैवीशक्ति के बिना सम्भव है ? धन्य ! त्रिवार धन्य ! ! आप ही हमारे ठहरे हुए और ठहरनेवाले भारतवर्ष के लङ्गर हैं आपके बिना यह देश, आगे बढ़ ही जाता और इसका कहीं पता भी न लगता।

धर्म सारे मन का सर्वोच्च भाव है। मन के एक अंश का उस पर इजारा नहीं है। भाव, ज्ञान और संकल्प तीनों उसमें लगने चाहिए। बिना ज्ञान के भाव नहीं लगता, और न संकल्प ही अधीनता स्वीकार करता है। हम 'सप्तश्रृंगवृषभ' में प्रेम नहीं करते, और न उसके अधीन अपने संकल्प को करते हैं, क्योंकि हम उसे जान नहीं सकते। वृहस्पति का वचन है कि "केवल शास्त्र को मानकर नहीं चलना चाहिए, क्योंकि युक्ति-हीन विचार से धर्महानि होती है।" प्राचीन आचार्य भी वेदशास्त्रविरोधी तर्क को मानते हैं। किन्तु ऐसे प्रकाण्ड पण्डित से यह कब सहा जाय ? यहां तो अटकलवालों के विरुद्ध जेहाद है, और ज्ञान (knowing) को कोश में से निकालने का यत्न है। नहीं तो डिपटीक्लेक्टर मिश्र को 'रोर' का 'घोर' फल क्यों, और मीमांसा के एक technical शास्त्रार्थ की इतनी खुशी क्यों? स्मरण रहे, केवल शास्त्रमूलक धर्म बाह्यधर्म external sanciton of morality है, और उसमें परस्पर विरोध, अपवाद, नई व्यवस्थाएं इन सबकी ठीक व्यवस्था जो युक्तिवाद से करते हैं, वे सम्पादक को नापसन्द हैं। गत वर्ष के धर्मकार्य की आलोचना

में आप फर्माते हैं कि—"पण्डितों की सभा में सिद्ध हुआ कि धर्म शास्त्रगम्य है।" धन्य ! बीसवीं शताब्दी का चौथा वर्ष इसी के इन्तिज़ार में बैठा था ! हम पूछते हैं—धर्म में अक्ल की गुंजाइश नहीं, यह क्या आज सिद्ध हुआ है ? शंकराचार्य जी ने मन्दिर पर सोने का कलश चढ़ाया ! अब पृथ्वी अपनी धुरी पर जल्दी चलने लगेगी ! ! विलायत-यात्रा अब विवाद के विषयों में से उठकर काग़ की श्रेणी में आ गई है, अब प्रश्न यह नहीं है कि विलायत-यात्रा की जाय, या न की जाय, किन्तु यह है कि कितनी अधिक की जाय, किन्तु सम्पादकजी अभी इसे 'पाप' कहे चले जाते हैं। और जहां नयों ने कुछ कहा कि तुम सुस्त ! तुम फ़ुजूल ख़र्च ! तुम बकवादी ! बाबा ! हम बुड्ढों से तो वे अच्छे हैं कि अपने दोषों को पहचानते तो हैं, और हमारी तरह टर्र में गोबरिया गणेश नहीं बनते ! अच्छा भाई नयो ! हमारे भाग्य ही ऐसे हैं। तुम्हें यदि गालियें न सुननी हैं तो हमें हमारे दिग्विजयी सम्पादक के हवाले छोड़ जाओ ! जब हमें ऐसे बज्र का सहारा है तो किसका भय है ?

किन्तु सबसे काम की बात एक और ही है। अभागे अहमदाबादी पेपर ने लिख मारा था कि जाति भोजन से रुपया बचाकर स्कूल में लगाया जाय ! संसार में छोटी बात से बड़ी-बड़ी बातें हो जाती हैं। व्याध के क्रौञ्च पक्षी को मारने से **रामायण** बन गया। वैसे ही इस छोटी बात से एक अखण्डनीय, अपूर्व और उदार सिद्धान्त निकला है, जिसके निकलने से सम्पादक का और भारतवर्ष का गौरव हो गया है। वह यह है कि **जातीय भोजन जातीय एकता के मूल हैं।** वाह ! बीसवीं शताब्दी में जातीयता का यह सिद्धान्त भारतवर्ष के प्रवीण सम्पादक ने निकाला, तो कहो तो, यह भूमि रत्नगर्भा है कि नहीं। कांग्रेस ने मूर्खता की। प्रति वर्ष चन्दा बटोरकर ब्रह्मभोज कर दिया करै। मुझे तो सुख-स्वप्न दीखता है कि एक दिन मथुरा के कलक्टर और युक्तप्रान्त के शिक्षा-विभागाध्यक्ष मथुरा के स्कूल को तोड़कर, घाटों पर खीर बहा देंगे और हम पशुओं की तरह उसे पीएंगे ! सरकार पांच लाख रुपया यूनिवर्सिटियों को न दे, किन्तु दक्षिणियों की कढ़ी और नागरों की इमली की सबीलें लगवा दे। क्यों सिख लोग बीस लाख रुपया बरबाद करते हैं ? एक दिन 'कड़ा प्रसाद' खाकर 'वाह गुरुजी की फ़तह' कह डालें। व्यर्थ ही मारवाड़ी चन्दा मांगते फिरते हैं। राजपूताना के किसी गन्दे शहर की गलियों में ब्राह्मणों को बिठाकर लड्डू स्वाहा कर डालें ! हो जाय, एक दफ़े तो, घी की नहरें बह जायं ! टाटा को भी तार दिया जाय कि वे वृथा रुपया न नष्ट करके लड्डू तुड़वावें, और एक टोकरा हमारे दिग्गज सम्पादक के पास भेज दें।

सुनते हैं, जयपुर में इतने हेड़े होते हैं कि उनके वर्ष भर के खर्च से एक ऐसा कालेज चल सकता है जिसे विश्वविद्यालय के नये नियम नहीं डरा सकते। महाराज जयपुर को चाहिए कि अपने कालिजों को भी हेड़ों के अधीन कर दें—

जै जमुना मैया की ! आओ लड्डू ! हाय पेट !

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : मई, १९०४ ई०]

अमंगल के स्थान में मंगल शब्द

साधारण बोलचाल में अमंगल या अश्लील शब्दों की जगह अच्छे शब्दों का प्रयोग बहुत उदाहरणों में पाया जाता है। ऐसे शब्द या तो बिल्कुल उल्टा अर्थ बताने वाले होते हैं और विपरीत लक्षण से उस शब्द के अर्थ को बताते हैं जो अमंगल समझकर छिपाया जाता है, अथवा उसी भाव को हल्के रूप में प्रकट करते हैं।

'दिया बुझ गया'—कहना अमंगल समझा जाता है। क्योंकि 'बुझना' मृत्यु का भाव सूचित करता है। इसलिए 'दिया बुत गया'—'दिया नंद गया'—'दिया बड़ा हो गया'—'दिया ठण्डा हो गया'—'दिया बढ़ गया' आदि प्रयोग काम में लाये जाते हैं। बिहारी लिख गया है—

दिया बढ़ाये हू रहत, बड़ो उजेरो गेह।[1]

'होली जल गई' की जगह राजपूताने में 'होली मंगल गई' कहते हैं। 'जलना' और उसके उपकरणों का सम्पर्क शवदाह से होने के कारण चूल्हा 'जलाते' या 'बालते' नहीं, उसे 'चिताते' हैं, और 'चिताने में' भी 'चिता' शब्द के आ जाने से उसे 'जगाते' हैं। 'मरने' के बदले 'शान्त होना' या 'चल बसना' कहा जाता है। 'लकड़ी' या 'काठ' को लोग 'समिध' या 'ईंधन' या 'मुंगधणा' (राजपूताने में) कहते हैं। चिता के लिए 'लकड़ी की काठी' जाती है और रसोई के लिए 'ईंधन का भारा'। 'पानी देना'—या 'जल देना'—तर्पण का सूचक होने से—'पानी पिलाना'—ही व्यवहार में आता है। चूल्हे में—'आग देना' कहने से नई बहू डांटी जाती है। 'आग' को भी 'बैसांदर (वैश्वानर)' या 'वासदे' या 'बास्ती' (वैश्वदेव, बलि के लिए पाक होने से ?) कहते हैं। इसीसे यह कहावत प्रसिद्ध है—

दूसरे के घर लगे तो बैसांदर, अपने घर लगे तो आग।

'दुकान बन्द' करने से दिवाला निकलने या कारोबार बन्द होने की ध्वनि निकलती है। इससे दुकान या किवाड़ 'बढ़ा' कर साहजी रात को घर जाते हैं।

'घड़ा फूट गया' अमंगल वचन है। इसलिए घड़ा 'उतर' जाता है या 'बिखर' जाता है। 'चूड़ी टूटना' वैधव्य का सूचक है। इसलिए चूड़ी 'मौल' जाती है, 'मुरक' जाती है, 'बध (बढ़) जाती है या 'बड़ी' हो जाती है।

'चूड़ा' पहनना विधवा के 'नाते' या पुनर्विवाह का द्योतक होने से राजपूताने में चूड़ा 'धारण' किया जाता है। नहीं तो प्रश्न होता है—'चूड़ा पहनना ? किसका ?'

---

१. पाठांतर : (क) दिया बढ़ाये हू रहै, बड़ो उजेरो गेह।
—बिहारी बोधिनी : लाला भगवानदीन 'दीन' छंद : १४७.

(ख) दिया बढ़ाऐं हूँ रहै, बड़ौ उज्यारो गेह।
—बिहारी-रत्नाकार : जगन्नाथदास रत्नाकर, छंद, ६९.

(ग) दिया बढ़ाएं हूँ रहै, बड़ो उजारो गेह।
—बिहारी : विश्वनाथप्रसाद मिश्र, छंद २.—सम्पादक

राजपूतों में 'घोड़ा छूट गया' या 'घोड़ा खुल गया' का अर्थ घोड़े का मरण होता है। इसलिए नौकर 'घोड़ा ढल गया' चिल्लाते फिरते हैं। घोड़ी के लिए ब्याना (बच्चा देना) नहीं कहते, 'ठाठा' (=स्थान, अर्थात् तबेला) देना कहते हैं। मृत्यु का समाचार देने वाले पत्र में 'चिट्ठी' शब्द रूढ़ हो जाने से और पत्र 'कागद' कहलाते हैं। 'तुम्हारे घर से चिट्ठी आई है' सुनकर मारवाड़ वाले बुरा मानते हैं। वे कह बैठते हैं, 'तुम्हारे ही घर से आई होगी, हमारे तो आज ही राजी-खुशी का 'कागद' आया है।"

अशौच का अर्थ अशुद्धि है। जन्म और मरण दोनों ही अवसरों पर धार्मिक अशुद्धि मानने वाला हिन्दू 'जन्माशौच' को केवल 'सूतक' कहता है और 'अशौच' को 'मृताशौच' ही समझता है। खाने का ग्रास 'पिण्ड' नहीं कहा जाता और न 'कर्म, क्रिया, कृत्य' शब्द ही शुद्ध कार्यों के लिए कहे जाते हैं। मरण के पीछे के सोलह श्राद्ध 'षोडशी' कहकर बुरे नाम से बताये जाते हैं और न्हान (स्नान) की रूढ़ि अशौचान्त-स्नान में होने से सूतिकास्नान 'जल-पूजा' या 'जलुवा पूजना' ही कहाता है। गरुड़पुराण का सम्बन्ध मृत्यु से होने से और अवसरों पर उसे 'तार्क्ष्य' कहते हैं।

बाल मुंडाने का सम्पर्क मरण के साथ होने के कारण बालक के शुभ प्रथम मुंडन को 'चूड़ाकर्म' या 'चौल' ही कहते हैं। इसी अशुभ चर्चा से रात को क्षौर या नापित का नाम नहीं लिया जाता और संस्कृत कोशों में नाई का नाम 'दिवाकीर्ति' हो गया है। साधारण क्षौर का पर्याय 'बाल बनवाना' या 'संवार (शृंगार) करवाना' जैसे लोकभाषा में है वैसे ही संस्कृत 'गृह्यसूत्रों' में 'कुशली कर्म' या 'कुशलीकरण' और वात्स्यायन के कामसूत्र में 'आयुष्य' (आयु के लिए हित) है। इसी अर्थ में 'भद्राकरण' (भद्र कुशल) भी है; परन्तु उपचार से भद्र होने (भद्दर कराने) का फिर भी अमंगल अर्थ हो जाने पर 'भद्राकरण' भले अर्थ में आने लगा, जिसका कि पाणिनी ने उल्लेख (५।४।६७) किया है।

यात्रा करते समय यह पूछना कि आप कहां जाते हैं, अपशकुन समझा जाता है। इसीलिए राजपूताने में पूछने का ढंग है 'सिध पधारते हो?'। इसमें मंगलवाचक सिद्ध शब्द भी आ गया और अमंगल जिज्ञासा-वाचक 'किम्' का प्रयोग भी न आने पाया। मृत्यु में सहानुभूति दिखाने के लिए जाने को 'फिरने जाना' कहते हैं और मैथिल लोग इसी भाव को 'जिज्ञासा' शब्द से प्रकट करते हैं। शवदाह के लिए बंगाली 'सत्कार' शब्द काम में लाते हैं।

अमंगल, कटु या दुर्भावसूचक शब्दों के लिए कोमल पदों के प्रयोग के विषय में भी कुछ कहना अनुचित न होगा। वेश्या को 'सदासुहागिन', व्यभिचारिणी को 'महासती', 'अमंगलमुखी' को 'भद्रमुखी', उल्लू[1] को 'रात का राजा' कहने की चाल पड़

---

१. तत्तथ्यमेव किमकारणकण्टकं त्वां
यद्धर्मराज इति काल! जनाः स्तुवन्ति।
लोका न किं जगदमंगलमूल कोषं
शंसन्ति मंगलविहंगम इत्युलूकम्? ॥
(जगद्धर, स्तुतिकुसुमांजलि ६।७१)

गई है। महत् शब्द के प्रयोग से हड्डी को 'महाशंख', चर्वी को 'महातैल', मनुष्य-मांस (या गोमांस) को 'महामांस', यम को 'महावैद्य', कटिहा को 'महाब्राह्मण', श्मशान यात्रा को 'महायात्रा', यमलोक के मार्ग को 'महामार्ग' और मृत्यु को 'महानिद्रा' के नाम से उल्लेख किया जाता है। बल्लभ कुल की सेवा में ब्रजभाषा को छोड़कर दूसरी भाषा के व्यवहार न करने का नियम होने के कारण मुसलमान 'बड़ी जाति' कहाते हैं। चोरों की भाषा में जेल का नाम 'बड़ा घर' या 'सुसराल' है।

'हत्, तेरा भला हो', 'तेरा वंश बढ़ै'—इन गालियों में भले का अर्थ बुरा और बढ़ने का अर्थ नष्ट होना है। सर्वत्र प्रचलित 'ऐसी की तैसी' वाक्य में दोनों सर्वनाम किसी सम्बन्धिनी स्त्री के विषय की गन्दी उक्ति को छिपाते हैं।

किसी मनुष्य को सामने खड़ा देखकर पहला प्रश्न होता है कि 'क्यों, क्या है ?' इसका साधारण उत्तर यही होना चाहिए कि 'कुछ नहीं'। पर ऐसे दुःशकुनसूचक उत्तर से बचने के लिए कुछ पंजाबी गृहपति इसी अर्थ में 'सब कुछ' उत्तर चाहते हैं।

गृह्यसूत्रों में ब्रह्मचारियों के लिए, स्नातक होने के पीछे यह कड़ा नियम किया गया है कि वे शुक्त अर्थात् अमंगल या अश्लील शब्द न कहा करें। इसके कुछ उदाहरण भी देखे गए हैं।

गर्भिणी विजन्येति ब्रूयात् ॥१०॥
सकुलमिति नकुलम् ॥११॥
भगालमिति कपालम् ॥१२॥
मणिधनुरितीन्द्रधनुः ॥१३॥ (पारस्कर २।७)

गर्भिणी को विजन्या (जननेवाली) कहें, क्योंकि गर्भ शब्द का प्रयोग न करना चाहिए। नकुल (नेउले) को सकुल कहें, क्योंकि 'कुल नहीं' कहना अशुभ है। कपाल (खप्पर) को भगाल कहें क्योंकि स्नातक अब भीख मांगना छोड़ चुका है।[1] और खप्पर भीख का द्योतक है। 'प्रकृत्या भगालं' सूत्र (पाणिनि ६।२।१३७) के उदाहरणों में काशिका में भगाल, नदाल,—आदि शब्द कपाल के पर्याय माने गए हैं। इन्द्रधनु को मणिधनु कहें, क्योंकि इन्द्रधनुष देखने और दिखाने में पाप है।

इसी तरह उपनिषदों और गृह्यसूत्रों में स्त्री-सहवास के लिए 'उपहास' या अधोपहास[2] शब्द काम में लाया गया है और भाष्यकार पतंजलि ने 'काम' की जगह 'खेद' शब्द लिखकर नीचे उद्धृत किये हुए अंश में कितना ओज और सौन्दर्य भर दिया है—'खेदात् स्त्रीषु प्रवृत्तिर्भवति। समानश्च खेदविरहोगम्यायां चागम्यायां च। तत्र नियमः क्रियते—इयं गम्या, इयमगम्येति।'

कुछ गांवों के नाम अशुभ माने जाते हैं। सुबह उठकर उनका नाम लेने से यह

---

१. न ह वै स्नात्वा भिक्षेत, अप ह वै स्नात्वा भिक्षां जयतीति श्रुतेः
(पारस्कर २।७।६)

२. पारस्कर २।७।६; वृहदारण्यक ६।४।३ आदि।

भय होता है कि भोजन न मिलेगा। उनके नाम बदलकर 'राजा का शहर', 'जववाला गांव', 'डेढ़ कोस का गांव', 'मोटा गांव', 'तलाब वाला गांव' आदि रख दिए जाते हैं। कभी-कभी गांव का दुर्भाग्य नये नाम को भी नहीं छोड़ता, तब नये नाम की जगह और नाम गढ़ा जाता है। ऐसे नाम मेरी जानकारी में बहुत-से हैं; परन्तु उनका यहां लिखना एकदेशी और उनके निवासियों के अकारण चिढ़ाने का कारण हो सकता है।

शहरों के नाम बदलने की चाल बहुत पुरानी है। पतंजलि ने महाभाष्य में जहां मणिवाचक वैदूर्य शब्द को सिद्ध करने वाले पाणिनि के सूत्र (४।३।८४) की व्याख्या की है वहां यह प्रश्न किया है कि यह मणि विदूर—नगर में तो निकलता है नहीं; उसके पास वालवाय पर्वत में निकलता है; विदूर में लाकर तराशा जाता है—तो इसका नाम वैदूर्य कैसे ? इसका समाधान आचार्य ने यों किया है कि 'वालवाय' शब्द की जगह विदूर आदेश हुआ मान लो, या उस पर्वत का विदूर ही नाम सही; नहीं तो जित्वरी की तरह उपचार मानो, जैसे व्यापारी लोग वाराणसी (बनारस) को जित्वरी (जीतने वाली) नगरी कहते हैं वैसे ही वालवाय का नाम विदूर समझो।

मांसाहारियों को अपने भक्ष्य के लिए, 'तरकारी' शब्द का प्रयोग करते देख निरामिषाशी तरकारी के बदले 'साग' या 'भाजी' ही शब्द काम में लाते हैं। जहां कहीं पहली श्रेणी के लोग अपने भक्ष्य को 'भाजी' कहते हैं, वहां दूसरी श्रेणी के लोग 'तरकारी' को अपना लेते हैं। उर्दू पढ़ी हुई दिल्ली की नई बहू यदि 'खाना तैयार है, खाना खा लो, खाना पकाऊं ?' कहने लगती है तो वैष्णव श्वसुर शब्दों के साहचर्य से डरकर कानों पर हाथ रखता है। शाक को काटना या चीरना नहीं कहा जाता; बनारना या बँदारना (विदारण) कहा जाता है। और जिस शस्त्र से यह क्रिया की जाती है उसे 'छुरी' न कहकर केवल 'चाकू' कहते हैं।

संस्कृत में 'सपत्राकरण' और 'निष्पत्राकरण'—ये दो मुहावरे हैं। ये अत्यन्त पीड़ा पहुंचाने के अर्थ में (अति व्यथने) आते हैं। पाणिनी ने इनके लिए एक निराला सूत्र (५।४।६१) बनाया है। तीर के पिछले हिस्से में पंख लगे रहते हैं, जो तीर के दूर जाने में सहायक होते हैं। यदि तीर शिकार के शरीर में इस ज़ोर से धंस जायँ कि पर ही पर बाहर रह जायँ तो इस क्रिया को सपत्राकृ० कहते हैं। और यदि बाण इस वेग के चलाया जाय कि परों सहित समूचा बाण पार निकल जाय[१] तो इस अर्थ में निष्पत्राकृ० धातु काम में आता है। टीकाकारों ने उदाहरणों में यही समझाया है। प्रत्युदाहरणों में यह भी दिखाया है कि सपत्र (पत्रों सहित) और निष्पत्र (पत्तों रहित) करने के अर्थ में सपत्राकृ० और निष्पत्राकृ० प्रयोग नहीं हो सकते, जैसे—

सपत्रं वृक्षं करोती जल सेचकः।
निष्पत्रं वृक्षतलं करोति भूमिशोधकः॥ (काशिका)

---

१. ·········पत्री
वन्यस्य नेत्र विवरे महिषस्य दत्तः।
निर्भिद्य विग्रहमशोणितलिप्तपुखस्तं पातयां प्रथममास, पपात पश्चात्॥ (रघुवंश)

यह अप्रकरण-चर्चा नहीं है। तमाशा देखिए। भाष्यकार पतंजलि बड़े मसखरे थे। वे कहते हैं कि जैसे कुम्हार के यहां जाकर कह आते हो कि घड़े की जरूरत है, घड़ा बना दो, वैसे वैयाकरण के यहाँ जाकर कोई नहीं कहता कि शब्द गढ़ दो, हमें प्रयोग करना है। इसी तरह एक और स्थान पर व्यंग्य से वे यह झलकाते हैं कि वैयाकरणों के अनुबंधों को भी हाथ जोड़कर राजाओं की इच्छा के अधीन होकर नाचना पड़ता है। धन के लोभी मौर्य यदि सोने की अर्चायें (प्रतिमायें) चलाते हैं तो वहां 'जीविकार्थे चापण्ये' (५।३।९९) सूत्र का 'क' प्रत्यय मुंह देखता रह जाता है। प्रयोजन यह कि शब्दों का अर्थ और प्रयोग लोक-व्यवहार के अधीन है, वैयाकरणों के अधीन नहीं। व्याकरण को छोड़कर उपमान, कोश, आप्तवाक्य, व्यवहार, सान्निध्य आदि भी तो शक्तिग्रह के कारण हैं।

राठौड़ राजा अमोघवर्ष प्रथम (ईसवी दसवीं शताब्दी) के समय में जैन शाक्टायन ने एक व्याकरण बनाया और उसकी 'अमोघवृत्ति' नामक टीका लिखी। इन दोनों मुहावरों पर जैन शाकटायन ठिठके। व्याकरण को भी तो हिंसा से बचाना चाहिए। 'रघुवंश' आदि महाकाव्य कितने ही अच्छे हों पर उनमें 'मिथ्यात्व' भरा पड़ा है। इसलिए 'धर्मशर्माभ्युदय' या 'चन्द्रप्रभचरित' पढ़ना चाहिए, यह धारणा जैसे वर्तमान जैनों की है वैसे ही उस समय भी थी। क्या करें? पहले 'निष्पत्राकरण' को लिया। इसका अर्थ तो सीधा हो गया 'पत्त अलग करना'। पुराने वैयकरणों के प्रत्युदाहरण की कौन चलाई, जिसमें इसी अर्थ का खंडन किया गया है। और जैन धर्म के अनुसार पत्तों और वृक्षों में भी तो जीव है और हरे वृक्ष के पत्ते काटने में उतना ही 'अतिव्यथन' है जितना असली 'निष्पत्राकरण' में। बस, निष्पत्राकरण का अर्थ हुआ वृक्ष के पत्ते उखाड़ना। अब रहा सपत्राकरण। यहां क्या करें? यहां वह लोकरीति काम आई जिस पर यह लेख लिखा गया है—'सपत्राकरोत्यपि मंगलाभिप्रायेण वृक्षस्य निष्पत्राकरण-मेवाख्यायते। यथा दीपो नन्दतीति विध्वंसः। (३।४।५०)

सपत्राकरण का अर्थ भी वृक्ष के पत्ते नोचना ही है केवल मंगल के लिए निष्पत्र को सपत्र कह दिया है। जैसे दीपक बुझने यो 'नन्दना' कहते हैं!!

इस प्रसंग में प्रोफेसर के० बी० पाठक ने यह सूचित किया है कि कन्नड़ी भाषा में 'नन्दु' धातु का अर्थ बुझना भी होता है।

ऊपर के कई उदाहरणों में हम 'नकुल' के 'सकुल' होने और 'बुझने' के 'नंदना' होने को देख चुके हैं। अतएव हम जैन शाकटायन की युक्ति की प्रशंसा करते हैं। इस संबंध में हम इतना ही कहना चाहते हैं कि मार्च सन् १९१५ की 'सरस्वती' में 'प्राणैषणा' की समालोचना के उपान्त्यवाक्य में जो कुछ कहा गया है वह, और 'वृहदारण्यक उपनिषद्' के 'काममेनां यष्ट्या वा पाणिना वोपहत्यातिक्रामेत्' के आर्य समाजी भाष्यकार पर जो, कुछ समय हुआ, सरस्वती में कहा गया था वह किसी नई बात की चर्चा नहीं है—वह हमारे दार्शनिकों के एक परिचित उदाहरण पीलिया रोग वाले के रूप-ग्रहण—का स्मारक मात्र है।

(प्रथम प्रकाशन : सरस्वती : मई, १९१५ ई०)

देवकुल

'हर्षचरित' के आरंभ में महाकवि बाण ने भास के विषय में यह श्लोक लिखा है :

सूत्रधारकृतारम्भैर्नाटकैर्बहुभूमिकैः ।
सपताकैर्यशो लेभे भासो देवकुलैरिव ।।

अर्थात् जैसे कोई पुण्यात्मा देवकुल (देवालय) बनाकर यश पाता है वैसे भास ने नाटकों से यश पाया। देवकुलों का आरंभ सूत्रधार (राजमिस्त्री) करते हैं, भास के नाटकों में नांदी रंगमंच पर नहीं होती, पर्दे की ओट में ही हो जाती है।

नाटक का आरंभ 'नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्राधारः', नांदी के पीछे सूत्रधार ही आकर करता है। मंदिरों में कई भूमिकाएं (खंड या चौक) होते हैं, भास के नाटकों में भी कई भूमिकाएं (पार्ट) हैं। मंदिरों पर पताकाएं (ध्वजाएं) होती हैं, इन नाटकों में भी पताका (नाटक का एक अंग) होती हैं। यों देवकुल सदृश नाटकों से भास ने यश पाया था। किंतु आधुनिक ऐतिहासिक खोज में यह एक बात और निकली कि भास ने 'देवकुल' से ही यश पाया।

महामहोपाध्याय पंडित गणपति शास्त्री के अध्यवसाय से ट्रावंकोर में भास के कई नाटक उपलब्ध हुए हैं। वे त्रिवेंद्रम संस्कृत ग्रंथमाला में छपे हैं। उनमें एक 'प्रतिमा-नाटक' भी है। उसका नाम ही प्रतिमा यों रखा गया है कि कथानक का विकास प्रतिमाओं से होता है। नाटक रामचरित के बारे में हैं। भरत ननिहाल केकय देश में गया है। शत्रुघ्न साथ नहीं गया है, इस अयोध्या में ही है। भरत के वर्षों से अयोध्या का परिचय नहीं। पीछे केकयी ने वर मांगे, राम वन चले गए, दशरथ ने प्राण दे दिए। मंत्रियों के बुलाने पर भरत अयोध्या को लौटा आ रहा है। इधर अयोध्या के बाहर एक दशरथ का प्रतिमागृह, देवकुल, बना हुआ है। इतना ऊंचा है कि महलों में भी इतनी ऊंचाई नहीं पाई जाती।[1] यहां राम वनवास के शोक से स्वर्गगत दशरथ की नई स्थापित प्रतिमा को देखने के लिए रानियां अभी आने वाली हैं। आर्य संभव की आज्ञा से वहां पर एक सुधाकर (सफेदी करनेवाला) सफाई कर रहा है। कबूतरों के घोंसले और बीट, जो तब से अब तक मंदिरों को सिंगारते आए हैं, गर्भगृह (जगमोहन) में से हटा दिए गए हैं। दीवालों पर सफेदी और चंदन के हाथों के छापे (पंचांगुल) दे दिए गए हैं।[2] दरवाजों पर मालाएं चढ़ा दी गई हैं। नई रेत बिछा दी गई है। तो भी सुधाकर

---

१. इदं गृहं तत्प्रतिमा नृपस्य नः समुच्छ्रयो यस्य स हर्म्यदुर्लभः।

२. आजकल भी चंदन के पूरे पंजे के चिह्न मांगलिक माने जाते हैं और त्योहारों तथा उत्सवों पर दरवाजों और दीवारों पर लगाए जाते हैं। जब सतियां सहमरण के लिए निकलती थीं तब अपने किले के द्वार पर अपने हाथ का छापा लगा जाया करती थीं। वह छापा खोदकर पत्थर पर उसका चिह्न बनाया जाता था। बीकानेर के किले के द्वार पर ऐसे कई हस्तचिह्न हैं। मुगल बादशाहों के परवानों और खास रुक्कों पर बादशाह के हाथ का पंजा होता था जो अंगूठे के निशान की तरह स्वीकार का बोधक था।

काम से निबटकर सो जाने के कारण सिपाही के हाथ से पिट जाता है। अस्तु। भरत अयोध्या के पास आ पहुंचा। उसे पिता की मृत्यु, माता के षड्यंत्र और भाई के वनवास का पता नहीं। एक सिपाही ने सामने आकर कहा कि अभी कृत्तिका एक घड़ी बाकी है, रोहिणी में पुरप्रवेश कीजिएगा। ऐसी उपाध्यायों की आज्ञा है। भरत ने घोड़े खुलवा दिए और वृक्षों में दिखाई देते हुए देवकुल में विश्राम के लिए प्रवेश किया। वहां की सजावट देखकर भरत सोचता है कि किसी विशेष पर्व के कारण यह आयोजन किया गया है या प्रतिदिन की आस्तिकता है? यह किस देवता का मंदिर है? कोई आयुध, ध्वज या घंटा आदि बाहरी चिह्न तो नहीं दिखाई देता। भीतर जाकर प्रतिमाओं के शिल्प की उत्कृष्टता को देखकर भरत चकित हो जाता है। वाह, पत्थरों में कैसा क्रिया-माधुर्य है। आकृतियों में कैसे भाव झलकाए गए हैं। प्रतिमाएं बनाई तो देवताओं के लिए हैं, किंतु मनुष्य को धोखा देती हैं। क्या यह कोई चार देवताओं का संघ है?[1] यों सोचकर भरत प्रणाम करना चाहता है, किंतु सोचता है, कि देवता हैं, चाहे जो हो, सिर झुकाना तो उचित है किंतु बिना मंत्र और पूजाविधि के प्रणाम करना शूद्रों का-सा प्रणाम होगा। इतने ही में देवकुलिक (पुजारी) चौंककर आता है कि मैं नित्यकर्म से निबटकर प्राणिधर्म कर रहा था कि इतने में यह कौन घुस आया कि जिसमें और प्रतिमाओं में बहुत कम अंतर है? वह भरत को प्रणाम करने से रोकता है। इस देवकुल में आने-जाने की रुकावट न थी, न कोई पहरा था। पथिक बिना प्रणाम किए ही यहां सिर झुका जाते थे।[2] भरत चौंककर पूछता है कि क्या मुझसे कुछ कहना है? या किसी अपने से बड़े की प्रतीक्षा कर रहे हो, जिससे मुझे रोकते हो? या नियम से परवश हो? मुझे क्यों कर्त्तव्यधर्म से रोकते हो? वह उत्तर देता है कि आप शायद ब्राह्मण हैं, इन्हें देवता जानकर प्रणाम मत कर बैठना, ये क्षत्रिय हैं, इक्ष्वाकु हैं। भरत के पूछने पर पुजारी परिचय देने लगता है और भरत प्रणाम करता जाता है। यह विश्वजित् यज्ञ का करने वाला दिलीप है जिसने धर्म का दीपक जलाया था।[3] यह रघु है जिसके उठते-बैठते हजारों ब्राह्मण पुण्याह शब्द से दिशाओं को गुंजा देते थे। यह अज है जिसने प्रिया-वियोग से राज्य छोड़ दिया था और जिसके रजोगुणोद्भव दोष नित्य अवभृथ स्नान से

१. अहो क्रियामाधुर्यं पाषाणानाम्। अहो भावगतिराकृतिनाम्। दैवतोद्दिष्टानामपि मानुषविश्वासतासां प्रतिमानाम्। किन्तु खलु चतुर्दैवतोऽयं स्तोमः?

२. अयंत्रितैरप्रतिहारकागतैर्विना प्रणामं पथिकैरुपास्यते।

३. विश्वजित् यज्ञ का विशेषण 'सन्निहितसर्वरत्न' दिया है। इसका सीधा अर्थ तो यह है कि जहां ऋत्विजों को दक्षिणा देने के लिए सब रत्न उपस्थित थे (कालिदास का 'सर्वस्वदक्षिणम्')। दूसरा अर्थ यह भी है कि राजा के रत्न—प्रजा प्रतिनिधि—सब वहां उपस्थित थे अर्थात् सारी प्रजा की प्रतिनिधिलब्ध सहानुभूति से यज्ञ हुआ था। राजसूय प्रकरण में उन प्रजा के प्रधान रत्नों का उल्लेख है जिनके यहां राजा जाकर यज्ञ करता और तुहफे देता। यह राजसूय का पूर्वांग है। (दे० : प्रस्तुत ग्रंथ में 'राजसूय' निबध—संपादक)

शांत होते थे। अब भरत का माथा ठनका। इस ढंग से चौथी प्रतिमा उसी के पिता की होनी चाहिए। निश्चय के लिए वह फिर तीनों प्रतिमाओं के नाम पूछता है। वही उत्तर मिलता है। देवकुलिक से कहता है कि क्या जीते हुओं की भी प्रतिमा बनाई जाती है? वह उत्तर देता है कि नहीं, केवल मरे हुए राजाओं की। भरत सत्य को जानकर अपने हृदय की वेदना छिपाने के लिए देवकुलिक से विदा होकर जाने लगता है किंतु वह रोककर पूछता है कि जिसने स्त्रीशुल्क के लिए प्राण और राज्य छोड़ दिए उस दशरथ की प्रतिमा का हाल तू क्यों नहीं पूछता? भरत को मूर्च्छा आ जाती है। देवकुलिक उसका परिचय पाकर सारी कथा कहता है। भरत फिर मूर्च्छित होकर गिर पड़ता है। इतने में रानियां आ जाती हैं। हटो, बचो की आवाज होती है। सुमंत्र किसी अनजाने बटोही को वहां पड़ा समझकर रानियों को भीतर जाने से रोकता है। देवकुलिक कहता है कि बेखटके चली आओ, यह तो भरत है।[1] प्रतिमाएं इतनी अच्छी बनी हुई थीं कि भरत की आवाज सुनकर सुमंत्र के मुंह से निकल जाता है कि मानो महाराज (दशरथ) ही प्रतिमा में से बोल रहे हैं। और उसे मूर्छित पड़ा हुआ देखकर सुमंत्र वय:स्थ पार्थिव (जवानी के दिनों का दशरथ) समझता है। आगे भरत, सुमंत्र और विधवा रानियों की बातचीत होती है। बड़ा ही अद्भुत तथा करुण दृश्य है।

इससे पता चलता है कि भास के समय में देवमंदिरों (देवकुलों) के अतिरिक्त राजाओं के देवकुल भी होते थे जहां मरे हुए राजाओं की जीवित सदृश प्रतिमाएं रखी जाती थीं। एक वंश या राजकुल का एक ही देवकुल होता था जहां राजाओं की मूर्तियां पीढ़ीवार रखी होती थीं। ये देवकुल नगर के बाहर वृक्षों से घिरे हुए होते थे। देवमंदिरों से विपरीत इनमें झंडे, आयुध, ध्वजाएं या कोई बाहरी चिह्न न होता था, न दरवाजे पर रुकावट या पहरा होता था। आने वाले बिना प्रणाम किए इन प्रतिमाओं की ओर आदर दिखाते थे। कभी-कभी वहां सफाई और सजावट होती थी तथा एक देवकुलिक रहता था। देवकुलिक के वर्णन से संदेह होता है कि प्रतिमाओं पर लेख नहीं होते थे, किंतु लेख होने पर भी पुजारी और मुजाविर वर्णन करते ही हैं। अथवा कवि ने राजाओं के नाम और यश कहलवाने का यही उपाय सोचा हो।

भास के इक्ष्वाकुवंश के देवकुल के वर्णन में एक शंका होती है। क्या चारों प्रतिमाएं दशरथ के मरने पर बनाई गई थीं, या दशरथ के पहले के राजाओं की प्रतिमाएं वहां यथासमय विद्यमान थीं, दशरथ की ही नई पधराई गई थी? चाहिए तो ऐसा कि

---

१. भास के समय में पर्दा कुछ था, आजकल के राजपूतों का-सा नहीं। प्रतिमानाटक में जब सीता राम के साथ वन को चलती हैं तब लक्ष्मण तो रीति के अनुसार हटाओ, हटाओ की आवाज लगाता है किंतु राम उसे रोककर सीता को घूंघट अलग करने की आज्ञा देता है और पुरवासियों को सुनाता है—

सर्वे हि पश्यन्तु कलत्रमेतद् वाष्पाकुलाक्षैर्वदनैर्भवन्तः।
निर्दोषदृश्या हि भवन्ति नार्यो यज्ञे विवाहे व्यसने वने च।।

तीन प्रतिमाएं पहले थीं, दशरथ की अभी बनकर रखी गई थी, किंतु सुमंत्र के यह कहने से कि 'इदं गृहं तत् प्रतिमानृपस्य नः' और भट के इस कथन से कि 'भट्टिणो दसरहस्स पडिमागेहं देट्ठुं' यह धोखा होता है कि प्रतिमागृह दशरथ ही के लिए बनवाया गया था, और प्रतिमाएं वहां उसके अनुषंग से रखी गई थीं। माना कि भरत बहुत समय से केकय देश में था, वह अपनी अनुपस्थिति में स्थापित दशरथ की प्रतिमा को देखकर अचरज करता, किंतु वह तो इक्ष्वाकुओं के देवकुल, उसकी तीन प्रतिमा, उसके स्थान, चिह्न और उपचार व्यवहार तक से अपरिचित था। क्या उसने कभी इस इक्ष्वाकु-कुल समाधि-मंदिर के दर्शन नहीं किए थे, या इसका होना ही उसे विदित न था? बातचीत से वह इस मंदिर से अनभिज्ञ, उसकी रीतियों से अनजान दिखाई पड़ता है। सारा दृश्य ही उसके लिए नया है। क्या ही अच्छा संविधानक होता यदि परिचित देवकुल में भरत अपने 'पितुः प्रपितामहान्' का दर्शन करने जाता, वहां पर चिरदृष्ट तीन की जगह चार प्रतिमाओं को देखकर अपनी अनुस्थिति की घटनाओं को जान लेता। इसका समाधान यह हो सकता है कि भास का भरत बहुत ही छोटी अवस्था में अयोध्या से चला गया हो और वहां के दर्शनीय स्थानों से अपरिचित हो या कोई ऐसा संप्रदाय होगा कि पिता के जीते जी राजकुमार देवकुल में नहीं जाया करते हों। राजपूताने में अब भी कई जीवत्पितृक मनुष्य श्मशान में अथवा शोक-सहानुभूति (मातमपुर्सी) में नहीं जाते। राजवंश के लोग नई प्रतिमा के आने पर ही देवकुल में आवें ऐसी कोई रूढ़ि भी हो सकती है। अस्तु।

भास का समय अभी निश्चित नहीं हुआ। पंडित गणपति शास्त्री उसे ईसवी पूर्व तीसरी-चौथी शताब्दी का, अर्थात् कौटिल्य चाणक्य से पहले का, मानते हैं।[1]

१. पं० गणपति शास्त्री ने पाणिनि-विरुद्ध बहुत से प्रयोगों को देखकर भास को पाणिनि के पहले का भी माना था। कौटिल्य से पहले का मानने में मान एक श्लोक है जो 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' नाटक तथा 'अर्थशास्त्र' दोनों में हैं। अर्थशास्त्र में भास के नाटक से उसे उद्धृत मानने के लिए उतना ही प्रमाण है जितना भास के नाटक में उसके अर्थशास्त्र से उद्धृत होने का। दूसरा मान प्रतिमानाटक में बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र का उल्लेख है, कौटिल्य का नहीं। किंतु यह कवि की अपने पात्रों की प्राचीनता दिखाने की कुशलता हो सकती है। मैंने इंडियन एंटिक्वेरी (जिल्द ४२, सन् १९१३, पृ० ५२) में दिखाया था कि पृथ्वीराज विजय के कर्त्ता जयानक और उसके टीकाकार जोनराज के समय तक यह साहित्यिक प्रवाद था कि भास और व्यास समकालीन थे। उनकी काव्यविषयक स्पर्धा की परीक्षा के लिए भास का ग्रंथ विष्णुधर्म व्यास के किसी काव्य के साथ-साथ अग्नि में डाला गया तो अग्नि ने उसे उत्कृष्ट समझकर नहीं जलाया। पंडित गणपति शास्त्री ने बिना मेरा नाम उल्लेख किए पृथ्वीराजविजय तथा उसकी टीका के अवतरण के भाव को यों कह-कर उड़ाना चाहा है कि 'विष्णुधर्मान्' कर्म का बहुवचन काव्य का नाम नहीं, किंतु (क्रमशः)

जायसवाल महाशय उसे ईसवी पूर्व पहली शताब्दी का मानते हैं। प्रतिमानाटक में भास यह देवकुल का प्लाट कहां से लाया? सुबंधु ने वासवदत्ता में पाटलिपुत्र को अदिति के पेट की तरह 'अनेक देवकुलों से पूरित' लिखा है[1]। यहां देवकुल में देवताओं के परिवार और देवमंदिर का श्लेष है। क्या यह संभव है कि भास ने पाटलिपुत्र का शैशुनाक देवकुल देखा हो और वहां की सजीव सदृश प्रतिमाओं से प्रतिमानाटक का नाम तथा कथावस्तु चुना हो! इक्ष्वाकुओं के देवकुल के चतुर्दैवत स्तोम[2] की ओर लक्ष्य दीजिए। पाटलिपुत्र के स्थापन से नवनंदों द्वारा शैशुनाकों का उच्छेद होने तक पांच शैशुनाक राजा हुए। उनमें से अंतिम राजा की तो राज्यापहारी नंद (महापद्म) ने काहे को प्रतिमा खड़ी की होगी। अतएव शैशुनाक देवकुल में भी चार ही प्रतिमाएं होंगी। इस चतुर्दैवत स्तोम में से अज, उदयिन् तथा नंदिवर्धन की प्रतिमाएं तो इंडियन म्यूजियम में हैं। तीसरी को हार्किस ले गया। चौथी अगम कुएं के पास पुजती हुई कनिंगहम ने

'विष्णुधर्मात्' हेतु की पंचमी का एकवचन है कि अग्नि मध्यस्थ था, परीक्षक था, विष्णु के स्थानापन्न था, उसने विष्णुधर्म से भास के काव्य को नहीं जलाया। विष्णु को यहां घुसेड़ने की क्या आवश्यकता थी? मैं अब भी मानता हू कि भास-कृत विष्णुधर्म नामक ग्रंथ व्यास (?) कृत विष्णुधर्मोत्तर पुराण के जोड़ का हो सकता है तथा भास-व्यास की समकालिकता का प्रवाद अधिक विचार चाहता है। महाभारत के टीकाकार नीलकंठ ने आरंभ ही में 'जय' शब्द का अर्थ करते हुए पुराणों से 'विष्णुधर्मा:' को अलग ग्रंथ गिना है। यहां भी बहुवचन प्रयोग ध्यान देने योग्य है। नीलकंठ के श्लोक ये हैं—

अष्टादश पुराणानि रामस्य चरितं तथा।
कार्ष्णं वेदं पञ्चमं च यन्महाभारतं विदुः॥
तथैव विष्णुधर्माश्च शिवधर्माश्च शाश्वताः।
जयेति नाम तेषां च प्रवदन्ति मनीषिणः॥

१. अदितिजठरमिवानेकदेवकुलाध्यासितम्।

२. यह ध्यान देने की बात है कि इक्ष्वाकु-कुल में दिलीप, रघु, अज और दशरथ—ये चार नाम लगातार या तो भास में मिले हैं या कालिदास के रघुवंश में। दशरथ को अज का पुत्र तो वायु, विष्णु और भागवत पुराण तथा रामायण, सब मानते हैं। कुमारदास के जानकीहरण और अश्वघोष के बुद्धचरित में भी ऐसा है। वायुपुराण की वंशावली में दिलीप और रघु के बीच में एक राजा और है, फिर रघु, अज, दशरथ हैं। भागवत में दिलीप और रघु के बीच १५ राजाओं और रघु और अज के बीच में पृथुश्रवा का नाम है। विष्णुपुराण में दिलीप और रघु के बीच में १७ नाम हैं, फिर रघु, अज, दशरथ हैं। वाल्मीकि रामायण में दिलीप और रघु के बीच में दो पुरुष हैं, रघु और अज के बीच में १२ नाम हैं। भास और कालिदास दोनों किसी और नाराशंसी या पौराणिक गाथा पर चले हैं। चमत्कार यह है कि दोनों महाकवि एक ही वंशावली को मानते हैं।

देखी थी। संभव है कि इनका भी पता चल जाय।

परखम की मूर्ति भी संभव है कि राजगृह के शैशुनाकों के राजकुल की हो। यह हो सकता है कि वह किसी बड़ी भारी विजय या अवदान के[1] स्मरण में परखम में ही खड़ी की गई हो। किंतु यह भी असंभव नहीं कि राजगृह से वहां पहुंची हो। मूर्तियों के बहुत दूर-दूर तक चले जाने के प्रमाण मिले हैं। जीतकर मूर्तियों का ले आना विजय की प्रशस्तियों में बड़े गौरव से उल्लिखित किया गया मिलता है। दिल्ली तथा प्रयाग के अशोकस्तंभ भी जहां आजकल हैं, वहां पहले न थे। बड़े परिश्रम से तथा युक्तियों से उठवाकर पहुंचाए गए हैं।

नानाघाट की गुफा में पहले सातवाहनवंशी राजाओं की कई पीढ़ियों की मूर्तियां हैं। वह सातवाहनों का देवकुल है। मथुरा के पास शक (कुशन) वंशी राजाओं के देवकुल का पता चला है। कनिष्क की मूर्ति खड़ी और बहुत बड़ी है। उसके पिता वेम कैडफेसस की प्रतिमा बैठी हुई है। इसपर के लेख में 'देवकुल' शब्द इसी रूढ़ अर्थ में आया है। इस राजा को लेख में 'कुशनपुत्र' कहा है। वहीं पर एक और प्रतिमा के खंड मिले हैं। यह कनिष्क के पुत्र की होगी। तीसरी मूर्ति पर के लेख को फोजल ने 'मस्टन' पढ़ा था, किंतु बाबू विनयतोष भट्टाचार्य ने उसे 'शस्तन' पढ़कर सिद्ध किया है कि यह 'चश्तन' नामक राजा की मूर्ति है। यह टालमी नामक ग्रीक भूगोलवेत्ता का समसामयिक था, क्योंकि उसने 'टियांतनीस' की राजधानी उज्जैन का उल्लेख किया है। चश्तन भी शक होना चाहिए, वह कनिष्क का पुत्र हो, या निकट संबंधी हो। अतएव कनिष्क का समय ईसवी सन् ७० से १३० के बीच होना चाहिए, ईसवी पूर्व की पहली शताब्दी नहीं।

भास के लेख तथा शैशुनाक, सातवाहन और कुशन राजाओं के देवकुलों के मिलने से प्रतीत होता है कि राजवंशों में मृत राजाओं की मूर्तियों को एक देवकुल में रखने की रीति थी।

देवपूजा का पितृपूजा से बड़ा संबंध है। देवपूजा पितृपूजा से ही चली है।

---

१. लोकोत्तर सात्त्विक दान को अवदान कहते हैं। बुद्ध के अवदान प्रसिद्ध हैं। अवदान का संस्कृत रूप अपदान है। काश्मीरी कवि इसका प्रयोग करते हैं। आबू में प्रसिद्ध वस्तुपाल तेजपाल के मंदिर के सामने दोनों भाइयों तथा उनकी स्त्रियों की प्रतिमाएं हैं। विमलशाह के मंदिर में भी स्थापक की प्रतिमा है। राजपूताना म्यूजियम, अजमेर में राजपूत-दंपति की मूर्तियां हैं जो उनके संस्थापित मंदिर के द्वार थीं। पृथ्वीराजविजय में लिखा है कि सोमेश्वर (पृथ्वीराज के पिता) ने वैद्यनाथ का मंदिर बनाया और वहां पर अपने पिता (अर्णोराज) की घोड़े-चढ़ी मूर्ति रीति धातु की बनवाई। इससे आगे का श्लोक नष्ट हो गया है किंतु टीका से उसका अर्थ जाना जाता है कि पिता के सामने उसने अपनी मूर्ति भी उसी धातु की बनवाई थी (दत्तेहरिहयेनेव शुद्धरीतिमये हरौ। प्रकृतिं लम्भितस्तत्र शुद्धरीतिमयः पिता ॥८।६६॥ पितुः रीतिमयस्य रीतिवाहारूढस्य प्रतिष्ठापतिस्याग्रे रीतिमयं स्वात्मानं प्रतिष्ठाप्य राजा स सर्गं त्रिधा रीतिमयं कविरिवाकरोत् ॥) यों वैद्यनाथ का मंदिर चौहानों का देवकुल हुआ।

मंदिर के लिए सबसे पुराना नाम चैत्य है, जिसका अर्थ चिता (दाहस्थान) पर बना हुआ स्मारक है। 'शतपथ ब्राह्मण' में उल्लेख है कि शरीर को भस्म करके धातुओं में हिरण्य का टुकड़ा मिलाकर उन पर स्तूप का चयन (चुनना) किया जाता था। बुद्ध के शरीर-धातुओं के विभाग तथा उन पर स्थान-स्थान पर स्तूप बनने की कथा प्रसिद्ध ही है। बौद्धों तथा जैनों के स्तूप और चैत्य पहले स्मारक-चिह्न थे, फिर पूज्य हो गए।

देवकुल शब्द का बड़ा इतिहास है। मंदिर को राजपूताने में 'देवल' कहते हैं, छोटी मढ़ी को 'देवली' कहते हैं। समाधि-स्तम्भों को भी 'देवली', 'देउली' या 'देवल' कहते हैं। शिलालेखों में मंदिरों को 'देवकुल' कहा है, सतियों तथा वीरों के स्मारक-चिह्नों को भी 'देवल' या 'देवली' कहा है। देवली का संस्कृत देवकुली या देवकुलिका लेखों में मिलता है। पुजारी को 'देवलक' कहते हैं, लेखों में 'देवकुलिक' मिलता है। सती माता का देवल, सती की देउली यह अब तक यहां व्यवहार है। बंगाल में ऊंचे शिखर के छोटे मंदिर को 'देवली' कहते हैं। राजपूताने में मंदिर के अंदर छोटे मंदिर को भी 'देवली' कहते हैं। पंजाबी में वह लकड़ी का सिंहासन जिसमें गृहस्थों के ठाकुर जी रखे जाते हैं, 'देहरा' कहलाता है। ग्राम तथा नगरों के नाम में देहरा पद भी उनके देवस्थान होने का सूचक है। जैसे प्राकृत देवल का संस्कृत रूप देवकुल लेखों में आता था, वैसे राजाओं की उपाधि रावल का संस्कृत रूप राजकुल मिलता है। राजकुल का अर्थ 'राजवंश्य' है। मेवाड़ के राजाओं की रावल शाखा प्रसिद्ध है। उनके लेखों में 'महा-राजकुल अमुक' ऐसा मिलता है। पंजाबी पहाड़ी में सती के स्मारक-चिह्न को देहरी तथा सतियों को समष्टि में 'देहरी' कहते हैं।[1] यों देवकुल पद देवमंदिर का वाचक भी है, तथा मनुष्यों के स्मारक चिह्न का भी।[2]

सतियों तथा वीरों की देउलियां वहीं पर बनती हैं जहां उन्होंने देहत्याग किया हो। साँभर के पास देवयानी के तालाब पर एक घोड़े की देवली है जो लड़ाई में काम

---

१. सतियों के लिए 'महासती' पद का व्यवहार सारे देश में मिलने से देश की एकता का अद्भुत प्रमाण मिलता है। मेवाड़ के महाराणाओं की सतियों के समाधिस्थान को 'महासती' कहते हैं, जैसे, 'दरबार महासत्यां दरसण करण ने पधार्या हैं'। मैसूर के पुरातत्त्व विभाग की रिपोर्ट से जाना जाता है कि वहां पर सतीस्तंभ 'महासतीकल' कहे जाते हैं। विपरीतलक्षणा से पंजाबी पहाड़ी में 'महासती' या 'म्हास्ती' दुराचारिणी स्त्री के लिए गाली का पद हो गया है। पति के लिए सहमरण करने वाली स्त्रियों को ही 'सती' कहते हैं, किंतु कई देवलियां पोतासतियों की भी मिली हैं जो दादियां अपने पोते के दुःख से सती हुईं।

२. कोयम्बतूर जिले (मद्रास) में कुछ पुरानी समाधियां हैं। वे 'पांडुकुल' कहलाती हैं। यह भी देवकुल का स्मरण है। ऐतिहासिक अंधकार के दिनों में जो पुरानी तथा विशाल चीज दिखाई दी वही पांडवों के नाम थोप दी जाती थी, कहीं भीमसेन की कूंडी, कहीं पांडवों की रसोई। दिल्ली के पास विष्णुगिरि पर विष्णुपद का चिह्न (बहुत बड़ा चरण) है। उसे कई साहसी लोग भीमसेन के पाँव की नाप मानते ही नहीं, सिद्ध भी करना चाहते हैं। बहुत से विष्णुपद मिले हैं, सभी इस हिसाब से भीमसेन के पैर के चिह्न होने चाहिए।

काया था।[1]

रजवाड़ों में राजाओं की छतरियां या समाधि-स्मारक बनते हैं। उनमें सुंदर विशाल चारों ओर से खुले मकान बनाए जाते हैं। कहीं-कहीं उनमें शिवलिंग स्थापन कर दिया जाता है, कहीं अखंड दीपक जलता है, कहीं चरण-पादुका होती है, कहीं मूर्ति तथा लेख होते हैं, परंतु कई यों ही छोड़ दी जाती हैं। जोधपुर के राजाओं की छतरियां शहर से बाहर मंडोर के किले के पास हैं। जयपुर के राजाओं में जितने आमेर में थे उनके श्मशानों पर उनकी छतरियां आमेर में हैं, जो जयपुर बसने के पीछे प्रयाण हुए उनकी गेटोर में शहर के बाहर हैं। महाराजा ईश्वरीसिंह जी का दाहकर्म महलों में ही हुआ था, इसलिए उनकी छतरी महलों के भीतर ही हैं। डूंगरपुर में वर्तमान महारावल के पितामह की छतरी में उनकी प्रतिमा सजीव सदृश है। बीकानेर के पहले दो-तीन राजाओं की छतरियां तो शहर के मध्य में लक्ष्मीनारायण के मंदिर के पास हैं, कुछ पुराने राजाओं की छतरियाँ लाल पत्थर के एक छोटे अहाते में हैं, बाकी राजाओं की छतरियां एक विशाल दीवाल से घिरे अहाते में क्रम से बनी हुई हैं। प्रत्येक पर चरणपादुका हैं जहां प्रतिदिन पूजा होती है। प्रत्येक पर मूर्ति है जिसमें राजा घोड़े पर सवार बनाया हुआ है। जितनी रानियां उसके साथ सती हुईं उनकी भी मूर्तियां उसी पत्थर पर बनी हुई हैं। शिलालेख प्रत्येक पर है जिसमें विक्रम संवत्, शक संवत्, मास, तिथि, वार, नक्षत्र, योग, करण, सूर्योदय घटी आदि प्रयाण के दिन का पूरा पचांग दिया है। वहीं सहमरण करनेवाली रानियों, दासियों आदि की संख्या लिखी है। किसी में पाचक, पुरोहित, सेवक या घोड़े के सहमरण का भी उल्लेख है। पास में देवीकुंड होने से यह स्थान भी 'देवीकुंड' कहलाता है।[2] यहां के पुजारी शाकद्वीपी ब्राह्मण (सेवग, भोजक, या मग) हैं। ऐसे ही धर्माचार्यों, ठाकुरों, धनियों आदि के भी समाधि-स्मारक स्थान होते हैं।

इन देउलियों और छतरियों तथा भास-वर्णित इक्ष्वाकुओं के या शैशुनाक और कुशनों के देवकुलों में यह भेद है कि देउली या छतरी सती या राजा के दाहस्थल पर बनती तथा एक ही स्मारक की होती; देवकुल श्मशान में नहीं होते थे। उनमें एक ही भवन में एक वंश के कई राजाओं की मूर्तियां वंशक्रम के अनुसार रखी जाती थीं। छतरियों के शिल्प और निवेश में मुसलमानी रोजों और मकबरों का बहुत कुछ प्रभाव पड़ा है, देवकुल की चाल प्राचीन थी।

पंजाब के कांगड़ा जिले के पहाड़ी प्रांत में, जो राजमार्गों से विदूर तथा

१. लेख के ऊपर कमल और सजे हुए घोड़े की मूर्ति है। नीचे यह लेख है—
॥ १ श्रीराम जी (१) राजश्री नवाब मुकतार दौला बहादुरजी के मैं सन् १२२७; (२) संवत् १८६८ मिती वैशाख वदि ७ सोमवार के रोज जो बने; (३) र पै झगरा भयौ तामै पं० श्रीलाल जवाहर सींघजी कौ; (४) घोड़ा सुरंग काम आयौ ताकी देवली सांभर मैं श्रीदेउदा; (५) नीजी के ऊपर बनाई कारीगर पुआजवषस गजधर नैं बना; (६) ई॥

२. पंडित हरप्रसाद शास्त्री ने भ्रमवश देवगढ़ लिखा है। (वि० उ० रि० सो० ज०, दिसंबर, १९१९)।

मुसलमानी विजेताओं तथा प्रभावों से तटस्थ रहा, अब तक देवकुल की रीति चली जाती है। वहां प्रत्येक ग्राम के पास जलाशय पर मरे हुओं की मूर्तियां रखी जाती हैं। मेरे ग्राम गुलेर के देवकुल का वर्णन सुन लीजिए। गुलेर बहुत ही पुराना ग्राम है। कटोचवंश की बड़ी शाखा की राजधानी वह हुआ, छोटा वंश कांगड़े में राज्य करता रहा। श्मशान तो नदी के तीर पर हैं जहाँ पर कई कुलों की सतियों की 'देहरियां' हैं। गांव के बाहर, श्मशान से पौन मील इधर, बछूहा (वत्स+खूहा=वत्सकूप) नामक जलाशय है जिस पर वत्सेश्वर महादेव हैं। उसके पुजारी रौलु (रावल) नामक ब्राह्मण (?) होते हैं जो मृतक के वस्त्रों के अधिकारी हैं। वत्सकूप तथा महादेव के मंदिर के पूर्व एक तिबारा-सा है। छत गिर गई है। खंभे और कुछ दीवालें बची हैं। वहां पर सैकड़ों प्रतिमाएं हैं जिन्हें मूहरे (मोहरे) कहते हैं। मृत्यु होने के पीछे ग्यारहवें दिन जब महाब्राह्मणों को शय्यादान करते हैं उस समय लगभग एक फुट ऊंचे पत्थर पर मृतक की मूर्ति कुराई जाती है। मूर्ति बनानेवाले गांव के पुश्तैनी पत्थर गढ़नेवाले हैं जो पनचक्कियों के घरट बनाते हैं। मूर्ति सिंदूर लगाकर शय्या के पास रख दी जाती है। दान के पीछे शय्या और उपकरण महाब्राह्मण ले जाता है। मूर्ति इस देवकुल में पहुंचा दी जाती है। उस कुल के आदमी जलाशय पर स्नान-संध्या करने आते हैं तब मूर्ति पर कुछ दिनों तक जल चढ़ाते रहते हैं। मकान तो खंडहर हो गया है, पर उसके आसपास वत्सेश्वर के नंदि के पास, जलाशय पर, जगह-जगह मूहरे बिखरे पड़े हैं। कई जलाशय की मेंड, सीढ़ियों तथा फर्श की चुनाई में लग गए हैं। कई निर्भय मनुष्य इन पत्थरों को मकानों की चुनाई के लिए ले भी जाते हैं। सभी उच्च जातियों के मृतक, मूर्तिरूप में, इस देवकुल में गांव बसाकर रहते हैं। गुलेर के राजाओं तथा रानियों के मूहरे भी यहीं हैं। वे दो-ढाई फुट ऊंचे हैं। उनके नीचे 'राजा'-'राणी' अक्षर भी लड़कपन में हम लोग पढ़ा करते थे। गांव के बुड्ढे पहचान लेते हैं कि यह अमुक का मूहरा है। कई वर्षों तक हम अपने पितामह की प्रतिमा को पहिचानते तथा उस पर जल चढ़ाते थे। पिछले वर्षों में खेलते हुए लड़कों ने या किसी और ने निवेश बदल दिया है। पत्थर रेतीला दरयाई बालू का है, इसलिए कुछ ही वर्षों की धूप और वर्षा से खुदाई बेमालूम हो जाती है।[1] पुरुष की मूर्ति बैठी बनाई जाती है, स्त्री की खड़ी।

---

१. पत्थर का यह हाल है कि वहीं जवाली ग्राम में गुलेर के एक राजा का बनाया हुआ एक मंदिर है जिसकी छाया की ओर की खुदाई की मूर्तियां ज्यों की त्यों हैं किंतु बौछाड़वाले पखवाड़े पर सब मूर्तियां साफ हो गई हैं। उसी की रानी के बनवाए हुए जवाली के नौण पर शिलालेख था जिसके कुछ पंक्तियों की आदि के अक्षर आठ वर्ष हुए पढ़े जाते थे, किंतु दो वर्ष बीते जब मैं वहां गया तो उतने अक्षर भी नहीं पढ़े जा सकते थे, सबके सब खिर गए थे। इस समय इतना ही पढ़ा जाता था—ओं स्वस्ति श्रीगणेशा···(१) वदंति परं पु (प्र)···(२) मीश्वरं ···(३) पा (श)···(४) (५) (६) (७) (८) या (९) नाधि (थि)··· (१०) भूयो भूयो···(११) राजराजः······(२२) लेपालनोदो···(१३) कृतोयम्।···(१४)। ये अंक पंक्तियों के अंत के सूचक हैं।

पुरुष मूर्ति के दोनों ओर कहीं-कहीं चामरग्राहिणियां भी बनी होती हैं। राजाओं की मूर्ति घोड़े पर होती है। वस्त्र-शस्त्र भी दिखाए जाते हैं। उस प्रांत में जहां-जहां बाँ, नौण, तला आदि हैं[1] वहां सब जगह मूहरे रखे जाते हैं। सड़क के किनारे जो जलाशय मिलता है वहां गाँव पास हो तो ८-१० प्रतिमाएं रखी मिलेंगी। कुल्लू, मंडी तथा शिमले के कुछ पहाड़ी राज्यों में भी यही चाल है। यह प्राचीन देवकुल की रीति अब तक उन प्रांतों में है जहां परिवर्तन बहुत कम हुए हैं।

[प्रथम प्रकाशन : नागरी प्रचारिणी पत्रिका : सन् १६२० ई०]

सोऽहम्

'सोऽहम्' वह मैं हूं—यह बात भारतवर्ष के हिन्दू के सिवाय और कोई नहीं कहता। इसी बात के कहने से हिन्दू, हिन्दू है, इसी में हिन्दू का हिन्दूत्व है, हिन्दू का हिन्दूधर्म है। 'सोऽहम्' हिन्दू का लक्षण है, हिन्दूत्व का लक्षण है, हिन्दूधर्म का लक्षण है।

बात क्या है ? सो समझ लेनी चाहिए।

ब्रह्म और ब्रह्माण्ड, सृष्टिकर्त्ता और सृष्टि इन दोनों में क्या भेद है ? क्या सम्बन्ध है ? इस विषय में प्रधानतः दो ही मत हैं। एक मत तो यह है कि ब्रह्माण्ड और ब्रह्म, सृष्टिकर्त्ता और सृष्टि एक ही पदार्थ हैं अर्थात् ब्रह्म ही ब्रह्माण्ड का उपादान है, सृष्टिकर्त्ता ही सृष्टि का उपादान है। उपादान किसे कहते हैं ? जिसके द्वारा वस्तु निर्मित हो वही उस वस्तु का उपादान है। जैसे—मृत्तिका घट का उपादान। अतएव इस मत के अनुसार ब्रह्म जो पदार्थ है, ब्रह्माण्ड भी उसी पदार्थ से बना है। ब्रह्माण्ड ब्रह्म से पृथक् नहीं है। इस मत के बारे में यही प्रधान बात है; इस प्रबन्ध में जो और अवान्तर बातें कहना आवश्यक होंगी; आगे कही जावेंगी। दूसरा मत यह है कि ब्रह्म ब्रह्माण्ड से, सृष्टिकर्त्ता सृष्टि से बिलकुल पृथक् है। सृष्टि से पहले सृष्टि का उपादान कुछ भी न था। सृष्टिकाल में सृष्टिकर्त्ता ने अपनी असीम शक्ति से न मालूम कैसे जगत् बना दिया। सृष्टिकर्त्ता स्वयं जो वस्तु है; सृष्ट जगत् वह वस्तु नहीं है; उस वस्तु से बिलकुल पृथक् और भिन्न प्रकृति की चीज़ है। इन दोनों मतों में प्रथम मत हिन्दुओं का है, दूसरा कृस्तान प्रभृति का। यह नहीं कि प्रथम मत भारत से बाहर और कहीं प्रचारित ही नहीं हुआ। बात यह है कि जैसे यह भारत में प्रबल है वैसे और कहीं नहीं। इसलिए

१. बाँ = (संस्कृत) वापी, (बिहारी कवि) बाय, (मारवाड़ी) बाव। नौण = (संस्कृत) निपान (पाणिनि का निपानमाहावः), (मारवाड़ी) निवाण। तला = (संस्कृत) तड़ाग या तटाक (हिंदी) तालाब।

यह—'भारतवर्ष के हिन्दुओं का मत'—इस नाम से प्रसिद्ध है।

दोनों मतों में कौन सत्य है? कौन ग्रहणयोग्य है? इस मत की दो प्रकार से मीमांसा हो सकती है और दोनों ही तरह से हिन्दू का मत ही पक्का मालूम होता है।

पहली बात यह है कि जगत् यदि जगदीश्वर से पृथक् है तो फिर जगदीश्वर असीम नहीं हो सकता, उसे असीम होना पड़ेगा। जहां दो वस्तु हों वहां कोई भी असीम नहीं हो सकती, दोनों ही पदार्थ असीम हो गए। कृस्तान प्रभृति अपरधर्मावलम्बी यह कहते हैं कि जगदीश्वर जगत् से पृथक् होकर भी जगत् में विराजमान है, अतएव असीम नहीं है। किन्तु जगत् में सर्वत्र विद्यमान होना और जगत् होना—यह दोनों एक बात नहीं हैं। अतएव जगदीश्वर यदि जगत् में केवल विद्यमान ही है, जगत् नहीं है तो जगत् में जगदीश्वर को छोड़कर कुछ और भी है और उसके होने ही से जगदीश्वर को ससीम होना पड़ा। जहां दो वा उससे अधिक वस्तु हों, वहां सीमाज्ञान अपरिहार्य है। दूसरी बात यह है कि कि सृष्टि का कोई उपादान नहीं था, इस बात की हम भावना नहीं कर सकते। कोई वस्तु एक बेर कुछ भी नहीं रहीं हो यह कल्पना मनुष्य की शक्ति के बाहर है, मनुष्य मन के लिए असाध्य है। मनुष्य इसे सोच नहीं सकता, इसकी धारणा नहीं कर सकता, तो जो कुछ नहीं था, वह अचानक हो पड़ा, यह बात कैसे मन में आवै? जो इस मन के पक्षपाती हैं वह कहते हैं कि जगदीश्वर की शक्ति असीम है, उसे कुछ भी असाध्य नहीं है, मनुष्य जिस बात को समझ भी नहीं सकता, उसे वह अनायास कर सकता है। अतएव जिस बात की मनुष्य धारणा नहीं कर सकता वह असम्भव वा असत्य हो यह कोई बात नहीं। यह है तो ठीक किन्तु जगदीश्वर के सब कुछ साध्यायत्त है, यों मानकर सब कुछ उसने किया यह कहना कोई बात नहीं। विचार करते ही जो वह सब कुछ कर सकता है यही उसका प्रकृत असीमत्व और अनन्तत्व है। किन्तु असीम और अनन्त मानते हुए उसने सब कुछ किया यह मानने की कोई आवश्यकता नहीं। अतएव जिस प्रणाली की सृष्टि को मनुष्य बूझ नहीं सकते उस प्रणाली से जगदीश्वर ने सृष्टि नहीं की—यह कहना जगदीश्वर की असीम शक्ति और उसके अनन्तत्व का अस्वीकार करना नहीं है। यह विचार्य विषय यह है कि जिस मत के अनुसार सृष्टिक्रिया मनुष्य के लिए दुर्बोध्य है उस मत के अवलम्बन की आवश्यकता है कि नहीं। प्रत्युत्तर में सब ही यों कहते हैं कि सृष्ट जगत् स्रष्टा जगदीश्वर से इतना अधम और निकृष्ट है कि जगत् जगदीश्वर को एक पदार्थ मानने से जगदीश्वर की नितान्त ही अवमानना करनी होती है उसे नितान्त ही अधम मानना पड़ता है। किन्तु जगदीश्वर अधम पदार्थ का सृष्टिकर्त्ता है—यों कहने से जगदीश्वर की क्या उतनी ही अवमानना नहीं की गई, उसे उतना ही अधम नहीं दिखाया गया? क्या केवल अधम पदार्थ होने ही से अधम होना होता है, अधम कार्य करने अथवा अधम पदार्थ प्रस्तुत करने से क्या अधम नहीं होना होता। लोक में खाली दुश्चरित्र होने से अधम होता है? सच्चरित्र होकर भी यदि दुर्नीतिपूर्ण पुस्तक लिखें तो क्या अधम नहीं हुए? तो जगत् को अपकृष्ट पदार्थ कहकर इस जगदीश्वर का रूप, विकाश वा विवर्त न कहने से, इसे सृष्ट पदार्थ ही कहने से क्या ईश्वर के मान वा गौरव की रक्षा हो गई? जो यह कहते हैं उनकी बात हम

नहीं समझ सकते; उनका नीतिशास्त्र कैसा है सो वही जानें, उनका मानमर्यादा विषयक संस्कार कैसा है सो वही कह सकते हैं। इस विषय में और जो वक्तव्य है सो आगे चलकर कहेंगे।

परन्तु दोनों मतों में कौन-सा अच्छा है इसकी मीमांसा करने का एक और अच्छा उपाय है। जरा ध्यान लगाकर देखने से जाना जा सकता है कि दोनों मतों में विशेष पार्थक्य नहीं है। जगत् जगदीश्वर का रूप विकाश वा विवर्त है, यों कहने का जो अर्थ है जगत् जगदीश्वर की सृष्टि है यों कहने का भी अर्थ प्रायः वही है। सृष्टि और सृष्टिकर्त्ता के बीच में क्या सम्बन्ध है यह एक पार्थिव दृष्टान्त द्वारा बहुत कुछ समझा जा सकता है। शेक्सपीयर अथवा शेक्सपीयरत्व एक पदार्थ है। शेक्सपीयर रचित 'हैमलेट' का चरित्राङ्कन और ही पदार्थ है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'हैमलेट' शेक्सपीयर से पृथक् पदार्थ है। 'हैमलेट' का चरित्र जिन सब उपकरणों से बना है, मालूम होता है कि स्वयं शेक्सपीयर के चरित्र में वह सब उपकरण नहीं थे। इस अर्थ में 'शेक्सपीयर' और 'हैमलेट' दो भिन्न पदार्थ हैं। किन्तु और एक अर्थ में दोनों में बड़ी विभिन्नता नहीं है अर्थात् शेक्सपीयर जो है, हैमलेट भी वही है। हैमलेट के शेक्सपीयर से भिन्न होने पर भी हैमलेट में कुछ ऐसी चीज़ है जो शेक्सपीयर में पाई जाती है और किसी व्यक्ति में नहीं पाई जाती। उस 'कुछ चीज़' का नाम शेक्सपीयरत्व, शेक्सपीयर का सार, शेक्सपीयर की अस्थिमज्जा वा शेक्सपीयर का शेक्सपीयर—जो शेक्सपीयर का कोई एक भाव वा कार्यविशेष नहीं है जो शेक्सपीयर के सकलभाव और सकलकार्यों में हैं, जिसके गुण से शेक्सयीयर के भाव शेक्सपीयर के भाव हैं, और किसी के या और किसी तरह के भाव नहीं हैं, शेक्सपीयर के कार्य शेक्सपीयर के ही कार्य हैं और किसी के या और किसी तरह के कार्य नहीं हैं, वह 'कुछ चीज़' अर्थात् वह शेक्सपीयरत्व शेक्सीयर का सार, शेक्सपीयर का अस्थिमज्जा वा शेक्सपीयर का शेक्सपीयर खाली हैमलेट से ही नहीं है, शेक्सपीयर रचित छोटे-बड़े, भले-बुरे सब चरित्रों में है—लीयर में, मिरण्डा में, फालष्टाफ़ में, ओवेरन में, मैकवैथ, मैकडफ शाइलाक सब चरित्रों में है। मिल्टन रचित किसी चरित्र में वह शेक्सपीयरत्व नहीं और शेक्सपीयर रचित किसी चरित्र में मिल्टनत्व नहीं।

यों ही सकल मानव सृष्टिकर्त्ता के सम्बन्ध में यह बात कही जा सकती है एवं इस कथा का अर्थ यह है कि जो जौनसी सृष्टि वा रचना करता है उसमें उसका निज कुछ वा कुछ निजत्व रहता ही रहता है। जिस परिमाण में वह **निज का कुछ वा कुछ निजत्व है,** कम-से-कम उसी परिमाण में मानवसृष्टा और मानवसृष्टि के विषय में कहा जा सकता है कि दोनों एक ही पदार्थ हैं, और मानवसृष्टि वा मानवसृष्टपदार्थ मानवसृष्टा को लक्ष्य करके कह सकते हैं कि **सोऽहम्**। शेक्सपीयर का हैमलेट यदि काल्पनिक सृष्टि न होकर हमारा तुम्हारा-सा सजीव वा सचेतन सृष्टि होता तो तुम-हम जैसे ब्रह्म को लक्ष्य करके कह सकते हैं—**सोऽहम्**। वैसे वह भी शेक्सपीयर को लक्ष्य करके कह सकता था—**सोऽहम्**। कार्य से कारण भिन्न होने पर भी कार्य कारण में रहेगा ही। कृष्टानधर्मावलम्बी यूरोपीय दार्शनिकों ने भी इस बात को स्वीकार किया है। अतएव सृष्टि में सृष्टिकर्त्ता **अवश्य है—सृष्टि से सृष्टिकर्त्ता सम्पूर्णरूपेण पृथक् हो नहीं सकता। सृष्टिकर्त्ता को कम-**

से-कम सृष्टि का आंशिक उपादान तो करना ही होगा। अन्ततः उसी अंश के सम्बन्ध से सृष्ट पदार्थ सृष्टिकर्त्ता को लक्ष्य करके कह सकता है—सोऽहम्। कहने में कोई दोष नहीं, कहना ही कर्त्तव्य है। न कहने से सृष्टिकर्त्ता के अस्तित्व का अस्वीकार करना हुआ। एवं सृष्टिकर्त्ता के अस्तित्व के अस्वीकार का मान नास्तिकता है। अतएव कृस्तान प्रभृति द्वैतवादियों के मतानुसार भी ब्रह्म से ब्रह्माण्ड पृथक् नहीं है। सृष्टिकर्त्ता से सृष्टि नहीं है। उस मत के अनुसार भी अस्तित्व एक ही है, दो नहीं, वस्तु एक ही है, दो नहीं। दार्शनिक श्रेष्ठ फेरियर ने कहा है।[1] The only absolute existence is an eternal mind in permanent synthesis with matter. अर्थात् जड़ प्रकृति के साथ अच्छेद्य भाव से संयुक्त एक ही अनन्त चैतन्य की वास्तव सत्ता है और कुछ भी नहीं है। अतएव सृष्टि से सृष्टिकर्त्ता को भिन्न कहने पर भी, और भिन्न कहकर विवेचना करके युक्ति सिद्ध होने पर यह अवश्य स्वीकार करते हैं कि सृष्टि में जो कुछ है सो सृष्टिकर्त्ता की ओर लक्ष्य करके कह सकता है—सोऽहम्। अतएव विकासवाद और सृष्टिवाद दोनों ही पक्षों में सृष्टि और सृष्टिकर्त्ता का एकत्व निश्चित हुआ।

यहाँ एक गुरुत्तर मीमांसा आवश्यक होती है। जो कृस्तान प्रभृति की तरह द्वैतवादी हैं, वे कह सकते हैं कि ब्रह्माण्ड में जो भले-बुरे सभयविध द्रव्य देखे जाते हैं तो कैसे सब ब्रह्माण्ड को ब्रह्म कहें, कैसे तिक्त और मधुर को एक कहें, सुगन्ध और दुर्गन्ध को एक कहें, दया और निर्दयता को एक कहें?

इसका प्रथम उत्तर तो यह है कि जब विकासवाद और सृष्टिवाद दोनों ही में सृष्टि और सृष्टिकर्त्ता का एकत्व प्रमाणीकृत हो चुका ही है, तो फिर कोई भी ऐसी आपत्ति उठाने में समर्थ नहीं है। द्वितीय और प्रधान उत्तर यह है कि यह सब विभिन्नता प्रकृत विभिन्नता नहीं है—यह सब विभिन्नता मनुष्य की अवस्था विशेष का फल वा उपलब्धि मात्र है। मनुष्य जिस द्रव्य को तिक्त कहकर फेंक देता है कोई पशु उसी द्रव्य को अतिशय मधुर मानकर पेट भरके खाता है। मनुष्य की दृष्टि में जो लाल है किसी एक पक्षी की दृष्टि में वह काला है। स्थूल अवस्था में भिन्न-भिन्न द्रव्यों के भिन्न-भिन्न आकार और स्वाद रहते हैं। रासायनिक विश्लेषण द्वारा वही द्रव्य सूक्ष्म अवस्था को प्राप्त होकर एक ही आकार धारण करते हैं और प्रायः एक ही स्वाद देते हैं। स्थूल आकार में एक ही वस्तु इन्द्रियों को भिन्न-भिन्न रूप में प्रतीयमान होती है। यूरोपीय वैज्ञानिकों ने सिद्ध किया है कि ताप, तडित् और आलोक प्रभृति जो सब स्थूल पदार्थ स्थूल इन्द्रियों के द्वारा इतने न्यारे-न्यारे अनुभूत होते हैं, सूक्ष्माकार में वे सब एक ही पदार्थ हैं। अतएव जो जगत् में विभिन्नता करके जानी जाती है वह प्रकृत विभिन्नता नहीं है—स्थूल इन्द्रिय सम्पन्न स्थूल अवस्था की स्थूल उपलब्धि मात्र है। जो स्थूल इन्द्रियों का शासन अतिक्रम करके स्थूल अवस्था से उन्नत हो सूक्ष्मरूप दर्शन करने में समर्थ हो गए हैं, उनके लिए जगत् में भले-बुरे का भेद नहीं है, प्रकृत विभिन्नता नहीं है। उनके पास तिक्त-मधुर का भेद नहीं है, सुन्दर-कुत्सित का भेद नहीं है, पाप-पुण्य

१. फेरियर—'इंस्टिट्यूट आफ मेटाफिज़िक' नामक ग्रंथ देखो।

का भी प्रभेद नहीं है। जो स्थूल दृष्टि के शासन में रहकर स्थूल दृष्टि से देखते हैं—वही केवल तिक्त, मधुर, पाप, पुण्य प्रभृति विभिन्नता दर्शन करते हैं और वही समस्त विभिन्नता के अधीन होकर नानाविध क्लेश भोग करते हैं और अवनति को प्राप्त होते हैं। यह जो हम जड़ पदार्थ और चैतन्य के बीच में प्रभेद करते हैं क्या यह ठीक है? आधुनिक यूरोपीय विज्ञान कहता है कि जड़ जगत् ही चिन्मय जगत् रूप में फूट पड़ा है, [अर्थात् जड़मय से चिन्मय बना है] हम भी नित्य देखते हैं कि हम जिन सब जड़ द्रव्यों को भक्षण करते हैं वे केवल हमारे जड़ शोणित और जड़ अस्थि की ही वृद्धि नहीं करते हैं किन्तु हमारी चिन्ताशक्ति की भी वृद्धि करते हैं। शुक्रशोणित समुद्भूत सन्तान केवल जड़ नहीं चेतना सम्पन्न भी होते हैं। तौही हमारे गुरुतुल्य एक ग्रन्थकर्ता लिख गए हैं—"जड़ जगत् चिन्मय है।"[1] अतएव कैसे कहें कि जड़ पदार्थ और चेतन पदार्थ भिन्न पदार्थ हैं? कैसे यह नहीं कहें कि हम स्थूल अवस्था में स्थूल इन्द्रियों के शासन में हैं अतएव जड़ का और चैतन्य का एकत्व देख नहीं सकते। कैसे न कहें कि जड़त्व चैतन्य की एक अवस्था मात्र ही है? कैसे न कहें कि ब्रह्म अथवा स्थूलतः शून्य चैतन्य के लिए जड़ और चैतन्य एक ही पदार्थ है?

किन्तु ब्रह्माण्ड के भीतर प्रकृत विभिन्नता वा वैषम्य न होने पर भी यह तो अवश्य स्वीकार करना होगा कि ब्रह्माण्ड की एक स्थूल अवस्था है। ब्रह्माण्ड में प्रकृत विभिन्नता नहीं है ठीक, किन्तु एक प्रकार की विभिन्नता है। यह विभिन्नता स्थूलत्व का फल अथवा स्थूलत्व का अंग वा लक्षण है। अतएव स्वीकार करते हैं कि ब्रह्माण्ड में कुछ स्थूलत्व है। किन्तु उसके होते कैसे कहा जाय कि ब्रह्माण्ड और ब्रह्म एक ही पदार्थ हैं? ब्रह्माण्ड में यदि स्थूलत्व रहता है तो ब्रह्माण्ड और ब्रह्म को एक कहने से ब्रह्म को भी स्थूल कहा गया और ब्रह्म स्थूल है यह बात कहने से उसको पाप-पुण्य रूप विभिन्नता और वैषम्य का विषयीभूत वा अधीन करना हुआ। इसका उत्तर यह है कि ब्रह्माण्ड का स्थूलत्व ब्रह्माण्ड का नित्य गुण वा नित्य की अवस्था नहीं है—क्षणस्थायी गुण वा अवस्था मात्र है। एवं यह गुण वा अवस्था प्रकृत अस्तित्व ही नहीं—केवल क्षणिक अवस्था की क्षणिक उपलब्धि मात्र है। इस गुण वा अवस्था में प्रकृत अस्तित्व नहीं है, यह सहज ही जाना जा सकता है। मनुष्य को राग, द्वेष, लोभ, मोह, प्रभृति कितनी ही स्थूल प्रवृत्तियां हैं। मनुष्य जितनी देर उन सब स्थूल प्रवृत्तियों के वशीभूत रहता है उतनी देर उसे केवल कुछ क्षणस्थायी एवं विभिन्न भावों का आधार वा रणक्षेत्र इस नाम से कहकर जानना चाहिए। वह भी उन विभिन्न क्षणस्थायी भावों के अधीन रहकर अपने को प्रति मुहूर्त अलग-अलग भावों में अनुभूत करता है—अपना

---

१. देखो, स्वर्गीय भूदेवमुख्योपाध्याय सी० आई० ई० के 'पारिवारिक प्रबन्ध का उत्सर्गपत्र'।

यहां यह कहना अनुचित नहीं होगा कि भारत के सुपुत्र विज्ञानाचार्य अध्यापक जगदीचन्द्र वसु ने सुकुमार विज्ञान से जड़ पदार्थों में चेतना पूरी तरह सिद्ध कर दी है। (अनुवादकर्त्ता)

जो नखशिख सुदृढ़ सुनिश्चित सुस्थिर समतामय अस्तित्व है उसे अनुभव नहीं करता अथवा नहीं कर सकता। स्वच्छ जल में बादल के बाद बादल की छाया पड़ने से जल की जैसी आकृति होती है, वैसे ही उसकी आध्यात्मिक आकृति हो जाती है। किन्तु बादल के बाद बादल की छाया पड़ने से स्वच्छ जल की जो आकृति वा अस्तित्व है वह जैसे स्वच्छ जल की प्रकृत आकृति वा अस्तित्व नहीं है, भिन्न-भिन्न भावों के अधीन हुए मनुष्य की जो आकृति वा अस्तित्व है वह भी वैसे ही मनुष्य की प्रकृत आकृति वा अस्तित्व नहीं है। किन्तु मनुष्य ज्यों ही लोभ, मोह, मात्सर्य प्रभृति स्थूल इन्द्रियमूलक स्थूल प्रवृत्तियों के शासन को उलांघता है त्यों ही वह एक सुदृढ़, सुनिश्चित, सुस्थिर, सुन्दर, सुनिर्मल, समान आकार का धारण झटपट ही कर लेता है।

जगत् में कोई भी उस आकार का परिवर्तन वा विकार नहीं कर सकते। तब मनुष्य का आकार वा अस्तित्व मेघों की छाया से विमुक्त स्वच्छ जल के आकार वा अस्तित्व के अनुरूप वा समान है। अतएव समझा जा सकता है कि ब्रह्माण्ड में जो स्थूलत्व है वह क्षणस्थायी अवस्था मात्र है प्रकृत अस्तित्व नहीं है। अतएव ब्रह्म के आंशिक मायामय क्षणस्थायी रूप के ब्रह्म से ही उद्भूत वा प्रक्षिप्त होने पर भी ब्रह्म तद्द्वारा दूषित नहीं होता, क्योंकि ब्रह्म नित्यतामय है।

अतएव अनित्य द्वारा हारने का नहीं एवं ब्रह्म उसके अधीन नहीं है वही ब्रह्म के अधीन है। इसका कारण यह है कि वह भी ब्रह्म की इच्छा में सम्भूत है—इन्द्रजाल जैसे ऐन्द्रजालिक का इच्छासम्भूत है वैसे यह भी ब्रह्म की इच्छा से सम्भूत है। एवं इन्द्रजाल जैसे ऐन्द्रजालिक के प्रकृत अस्तित्व को स्पर्श नहीं कर सकता, वैसे वह भी ब्रह्म को स्पर्श नहीं कर सकता। वह कैसे स्थूल रूप धारण करता है वा स्थूलत्व प्रकाश करता है, यह वही जानता है। किन्तु चाहे जिस कारण से करे, वह जब अपने को लेकर आप ही इस रूप को धारण करता है तब और कोई बात ही नहीं हो सकती। दूसरे के बारे में 'भला-बुरा' काम करना कहा जाता है। अपने को लेकर भला-बुरा काम करने की कोई बात ही नहीं हो सकती। अतएव ब्रह्माण्ड में स्थूलत्व रहने पर भी ब्रह्माण्ड और ब्रह्म एक हैं, इस बात के कहने में कोई दोष हो नहीं सकता। फलतः ब्रह्माण्ड यदि ब्रह्म को लक्ष्य करके कहे—सोऽहं—तो ब्रह्माण्ड सब बातों का सार ही कहता है।

हम में से जितने हमारे शास्त्र नहीं पढ़े हैं, अंग्रेजीशास्त्र ही अधिक पढ़ा है उनके लिए यहाँ दो-तीन बातों की मीमांसा करने की चेष्टा करते हैं। उनमें से कुछ-कुछ कहा करते हैं कि यदि ब्रह्माण्ड ब्रह्म ही है तो ब्रह्माण्ड में जितने पदार्थ हैं सब ही ब्रह्म हैं। और ऐसा होने से तुम भी ब्रह्म, मैं भी ब्रह्म, वृक्ष भी ब्रह्म, पत्थर भी ब्रह्म, ईंट भी ब्रह्म —सब ब्रह्म ही ब्रह्म। ऐसा होने से जगदीश्वर एक नहीं हुआ, जगत् में जितने पदार्थ हैं उतने ही जगदीश्वर हैं। किन्तु इसकी अपेक्षा और हास्यास्पद बात हो नहीं सकती। जो ऐसा तर्क करते हैं वह ब्रह्म किसे कहते हैं सो नहीं जानते और 'सोऽहं' क्या है यह भी नहीं जानते। वे यह नहीं जानते कि ब्रह्म एक ही पदार्थ है, विभाज्य नहीं है, एवं ब्रह्म केवल ज्ञान के द्वारा जाना जा सकता है। चक्षु या अन्य किसी इन्द्रिय के द्वारा प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता। अतएव वे जब यह कहते हैं कि जगत् में जितने पदार्थ हैं वे ब्रह्म

हैं तब वे इन्द्रियातीत पदार्थों को इन्द्रियप्रत्यक्ष पदार्थों के अवस्थापन्न करते हैं। उनकी और एक भूल है कि जहां प्रकृत संख्या नहीं है वहां संख्या आरोप वा कल्पना की जाती है। जगत् में पदार्थों की संख्या है, स्थूल इन्द्रिय द्वारा जगत् देखते ही ऐसा भ्रम हो जाता है। प्रकृत ज्ञानचक्षु से देखने पर जगत में भिन्न-भिन्न पदार्थ वा बहुसंख्यक पदार्थ देखे नहीं जाते, प्रत्युत भिन्न-भिन्न पदार्थ एक ही पदार्थ के भिन्न-भिन्न रूप, आकार या अवस्था जाने जाते हैं। आधुनिक सूक्ष्म और उन्नत विज्ञान ने भी इस बात की सूचना आरम्भ की है। अतएव ब्रह्म जैसे स्थूलचक्षु से देखने की चीज़ नहीं है। ज्ञानचक्षु से देखने की चीज़ है, वैसे ही ब्रह्म के साथ ब्रह्माण्ड वा जगत् का संपर्क निर्णय करती बेर जगत् को स्थूलचक्षु से न देखकर ज्ञानचक्षु से देखना उचित है। ज्ञानचक्षु से देखने पर जगत् में एकाधिक पदार्थ नहीं दिखाई देंगे, एकाधिक ब्रह्म भी नहीं दिखाई देगा।

दूसरी बात, ज्ञानचक्षु को छोड़कर स्थूलचक्षु द्वारा देखने पर भी जगत् में जितने पदार्थ हैं उतने ब्रह्म नहीं देखे जाते। 'सोऽहम्' इसका अर्थ यह है कि ब्रह्म जो पदार्थ है मैं (अथवा जगत्) भी वही पदार्थ है। यह इसका अर्थ नहीं है कि मैं ही ब्रह्म हूं। तो कैसे कहते हो कि ब्रह्म और ब्रह्माण्ड को एक पदार्थ कहने में तुम, हम, वृक्ष-पत्ता, घर-बार सबको ही ब्रह्म वा जगदीश्वर कहना हुआ ? समस्त समुद्र जो पदार्थ है एक छींटा जल भी वही पदार्थ है, किन्तु ऐसा कहने से एक छींटा जल क्या समुद्र हो गया ? एक छींटे जल में क्या समुद्र के तिमिङ्गिल खेलते हैं, समुद्र के तरङ्ग उठते हैं, समुद्र का महा-प्रलय उद्भूत होता है ? एक अंगुलि जो पदार्थ है समस्त देह भी वह पदार्थ है। किन्तु उससे क्या एक अंगुलि देह है ? मन का एक भाव जो पदार्थ है, मन भी वही पदार्थ है। किन्तु यह कहने से मन का एक भाव क्या मन है ? तो फिर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्वानन्द ब्रह्म जो पदार्थ है जगत् भी वही पदार्थ है यों कहने से कैसे कहा जाता है कि तू-मैं, बेल-पत्ता, घट-वट एक-एक सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान सच्चिदानन्द ब्रह्म हुआ ? 'सोऽहम्' का प्रकृत अर्थ समझने की चेष्टा न करने से ही ऐसा प्रलाप बका जाता है।

जिनकी बात कह रहे हैं, उनमें से बहुत-से यह कह बैठते हैं कि ब्रह्म अति महत् पदार्थ है। अतएव जब देखते हैं कि जगत् में मनुष्य को छोड़कर और कोई वा और कुछ प्रकृत महत् नहीं है, कोई प्रकृत महत्कार्य नहीं करता तो क्यों करके जगत् और जगदीश्वर का एकत्व स्वीकार करके जगत् के सकल पदार्थों को महत् कहें ? वह कहते हैं कि जो सब पदार्थ अचेतन हैं वह सब तो कोई काम करते ही नहीं, जो पदार्थ चेतन हैं उन सब में मनुष्य छोड़कर और कोई महत्-कार्य करता ही नहीं, केवल आत्मसेवा में ही नियुक्त रहते हैं। यह क्या ठीक है ? जगत में क्या कोई एक समय नहीं था जब यहां मनुष्य नहीं थे ? किन्तु उस मनुष्य शून्य जगत् ने ही क्या मनुष्य प्रसव नहीं किये ? यदि किये हैं तो क्यों कहते हो कि जगत् में जो मनुष्य नहीं है वह महत् कार्य नहीं करते वा कर सकते ? तुम आपत्ति उठाओगे, मैं यूरोपीय विज्ञान का विवर्त्तवाद नहीं मानता वा नहीं समझता। अच्छा वही सही। तुम मनुष्य हो—अतएव तुम महत् हो—यह तो मानो, यह तो समझो। किन्तु कहो तो, तुम जिनका आहार करते हो, अर्थात् जगत् जो मनुष्य नहीं हैं, वे तुम्हारे देह में बल-संचार करते हैं इसीलिए तुम जगत् में महत्कार्य

कर सकते हो या और कुछ ? यदि यही है तो कैसे कहते हो कि जगत् में जो मानुष नहीं हैं वे महत्कार्य सम्पादन करते ही नहीं ? तुम जिस यूरोप की इतनी बड़ाई करते हो उसी यूरोप का विज्ञान आज क्या कहता है ? कहता है कि पृथिवी के कीटानुकीट, अणुपरमाणु, क्षुद्रबृहत्, सचेतनअचेतन सकल पदार्थ ही जगदीश्वर ने विपुल ब्रह्माण्ड के विशाल उद्देश्यों के साधन में नियुक्त कर रक्खे हैं। तुम आत्मप्रधान आत्मसर्वस्व प्रकृत ब्रह्मज्ञानी[1] नहीं हो, तो मन में आता है कि तुम जो करते हो वह जगत् का ही काम है, तुम्हारा जो उद्देश्य है, विपुल ब्रह्माण्ड का वही उद्देश्य है, अनन्त ब्रह्म का भी वही उद्देश्य है। तो तुम जानते नहीं हो कि अनन्त ब्रह्म की दृष्टि में तुम बालू के कण भी नहीं हो। तो तुम्हारे मन में यह नहीं है कि असीम अनन्त ब्रह्म की, असीम अनन्त ब्रह्माण्ड की ट्रेन न मालूम किस असीम अनन्त उद्देश्य से तुम-हम राजा-प्रजा, पर्वतप्रान्तर, लता-पत्ता, पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग, धूल, कादा सब पदार्थों को समभाव से उसी एक उद्देश्य के साधक मानकर, असीम वेग से अनन्त मार्ग पर छूट रही है ! तुम क्या अब कहते हो कि जगत् में मानुष के सिवाय महत् और कुछ नहीं, मानुष के अतिरिक्त महत्कार्य और कोई करता ही नहीं ! तो तुम भारत के हिन्दू नहीं हो। 'सोऽहं' भारत के हिन्दुओं की बात है। तुम तो भारतवर्ष के हिन्दू नहीं। और तुम भारत या यूरोप, किसी देश के प्रकृत मनुष्य नहीं।

कई ऐसी आशंका करते हैं कि मनुष्य यदि अपने को ब्रह्म मान ले, तो उसके अहंकार की सीमा ही नहीं रहेगी। हम कहते हैं, यह नहीं, मनुष्य जब अपने को 'ब्रह्म मान लेगा तो उसके अहंकार का नाश होगा। जो हिन्दू कहता है 'सोऽहम्' 'वह मैं हूं' वह हिन्दू वास्तव में कहता है कि जगत् में खाली मैं ही वह नहीं हूं, जो कुछ है सब वही है। जहां सब ही ब्रह्म है वहां एक को ब्रह्म कहने में अहंकार वा अभिमान करने का अवसर वा उपाय कहां है ? और जहां मनुष्य अपने को आप ही कहता है—'सोऽहम्' वहां अहं ज्ञान तो होने ही नहीं पाता, फिर वहां अहंता का स्थान कहां है ? भारत के साहित्य में भी इसका प्रमाण नहीं है। यूरोप में एक समय धर्म के नाम से अनेक अत्याचार और हत्याकाण्ड हो चुके हैं। प्रोटेस्टेन्ट और अन्यान्य धर्मसम्प्रदायों के अनेक महापुरुष मारे गये हैं किन्तु उनने आनन्द से प्राण विसर्जन किया है तथापि अपने-अपने धर्म विषयक मत को परित्याग वा परिवर्तन नहीं किया। उस बड़े इतिहास को पढ़कर विस्मित और चमत्कृत होते हैं। किन्तु उस साहित्य में एक ऐसी बात पाई जाई है जो भारत के साहित्य में नहीं पाई जाती। वह बात यह है—उन सब महापुरुषों ने धर्मच्युत होना अस्वीकार किया यह नहीं, किन्तु आत्मस्वाधीनता (individual judgement) की दुहाई देकर अस्वीकार किया। उस असाधारण वीरत्व और महत्त्व की जड़ में आत्म वा अहं दिखाई दे रहा है। हिन्दुओं के साहित्य में प्रह्लाद की कथा वैसी ही कथा है—वैसी वा तदपेक्षा अधिक वीरत्व और महत्त्व की कथा है। किन्तु उस कथा में अहं वा 'आत्मैव' का लेशमात्र भी नहीं है। उस कथा में विष्णु विद्वेषी हिरण्यकशिपु ही अहं वा आत्मैव की

१. साम्प्रदायिक अर्थ में इस शब्द का व्यवहार नहीं किया गया है।

प्रतिमूर्ति है—प्रह्लाद में अहं वा आत्मा का बिलकुल अभाव है। प्रह्लाद ने अपने नाम पर, आत्मस्वाधीनता के नाम पर सब यन्त्रणाओं को सहकर अन्तपर्यन्त वैष्णवधर्म धारण किया हो सो नहीं, विष्णु के नाम पर यन्त्रणा सहन करके उसने अन्तपर्यन्त वैष्णव-धर्म धारण किया। जहां विष्णु ही सब है, वहां प्रह्लाद और क्या है ? 'विष्णुपुराण' में प्रह्लाद-चरित्र पाठ करने से मालूम हो जायगा कि यह प्रातसत्य है वा नहीं। इसीलिए हिन्दुओं के साहित्य में, धर्म के इतिहास में, महत्त्व और वीरत्व की कहानियों में अहं वा 'आत्मैव' की गन्ध भी नहीं—कृष्टधर्मावलम्बी यूरोप के साहित्य में, धर्म के इतिहास में, महत्त्व और वीरत्व की कहानियों में अहं वा आत्मैव बड़ा ही प्रबल है। भारत के 'सोऽहं' ने भारत और यूरोप के बीच में यह अपूर्व भेद उत्पन्न किया है, भारत को यूरोप की अपेक्षा इतना श्रेष्ठ कर दिया है। भारत का 'सोऽहं' भारत के हिन्दुओं को बड़े गौरव की चीज़ है। मनुष्य वही परब्रह्म है, एक हिन्दू को छोड़कर और कोई भी इतनी ऊंची भावना को भावित करने में समर्थ नहीं है, और किसी को ऐसी बात सोचने का साहस है ही नहीं। इस विशाल बात को मन में धारण कर सके ऐसी मानसिक विशालता ही और किसी को नहीं किन्तु यह कहकर अभिमान नहीं किया जाता है। 'सोऽहं' किसे कहते हैं ? वह यदि समझ लिया जाय तो अभिमान किया ही नहीं जा सकता। अभिमान वा अहंकार के नष्ट हुए बिना कोई भी इस 'सोऽहं' का अधिकारी नहीं होता। सूक्ष्मदर्शी महामति हिन्दुओं के सूक्ष्मतम अतिविराट् 'सोऽहं' का अर्थ—प्रकृत ब्रह्मज्ञान, प्रकृत आत्म-ज्ञान है, अपरिसीम मन अपरिसीम साहस—सबका सामञ्जस्य, सबका महत्त्व, सबका एकत्व और अच्युत विश्वव्यापि अस्तित्व है।

हिन्दुओं के 'सोऽहं' कहने में, हिन्दुओं के समान ब्रह्मज्ञानी, ब्रह्मदर्शी, ब्रह्मभक्त ब्रह्माण्डग्र ही, अपरिमित साहस-सम्पन्न विराट्मना मनुष्य पृथ्वी पर और कहीं भी दृष्ट नहीं होते।

[प्रथम प्रकाशन : समालोचक : अगस्त-नवम्बर, १९०३ ई०]

हिन्दी के अनुवादकर्ता[1]

'समालोचक' में 'एक बंगमहिला' ने 'हिन्दी के ग्रन्थकार' नामक एक समयोपयोगी लेख लिखा है। हिन्दी पत्रों में आजकल उसकी अधिक चर्चा हो रही है। इस लेख में

१. यह लेख हमारे पास बहुत दिनों से पड़ा हुवा था। हमारी इच्छा इसके प्रकाश करने की नहीं थी, किन्तु लेखक के आग्रह से विवश होकर छापना पड़ा है। (सं० स०)

'बंगमहिला' ने हिन्दी के कई लेखकों का नाम दिया है, जिन्होंने बंगला से पुस्तकें अनुवादित कीं और मूल ग्रन्थकार का नाम नहीं दिया और अनुवादित पुस्तकों को स्वरचित बतलाया। इस लेख के लिखने से 'बंगमहिला' की यह इच्छा थी कि भविष्यत् में हिन्दी-लेखक मूल ग्रन्थकार से अनुमति लिए बिना हिन्दी-अनुवाद न करें और करें भी तो मूल ग्रन्थकार का नाम कृतज्ञतापूर्वक अवश्य दे दिया करें। किन्तु खेद है इस लेख का उलटा ही परिणाम हुआ। कतिपय आत्माभिमानी हिन्दी लेखक इस लेख से बहुत चटके हैं। किन्तु हर्ष है कि चटकनेवाले वह ही महापुरुष हैं जिन्होंने मूल ग्रन्थकार से अनुमति लिए बिना ही हिन्दी-अनुवाद किया है और उन अनुवादों को स्वरचित प्रसिद्ध कर रक्खा है। ऐसे अनुवादकर्ताओं की श्रेणी में 'प्रयाग समाचार' के वर्तमान सम्पादक और 'हिन्दी बंगवासी' के नवीन सम्पादक का नाम भी आता है; अतः 'प्रयाग समाचार' और 'हिन्दी बंगवासी' 'बंगमहिला' के लेख को देखकर आपे से बाहर हो जायं तो कुछ आश्चर्य नहीं। नवजात 'वैश्योपकारक' को न जाने क्या सूझी कि वह भी इन लोगों के पीछे-पीछे अपनी मिश्र चाल से पड़ा है।

'प्रयाग समाचार' का लेख लम्बा होने पर भी गंभीर नहीं है। 'बंगमहिला' ने जो यह लिखा है कि "हर्ष है कि लाला बालमुकुन्द गुप्त पंजाबी होकर बंगभाषा की आलोचना करते हैं।" उससे गुप्त महोदय पर अपनी श्रद्धा प्रकट की है उसको भी लोगों ने कटाक्ष समझा है। इसी पत्र में एक लेख श्रीयुत 'विन्ध्येश्वरीप्रसाद सिंह' के नाम से छपा है। इसमें बात का बतंगड़ बहुत बनाया गया है। लेखक ने सुप्रसिद्ध 'भारती' पत्रिका की सम्पादिका श्रीमती सरला देवी घोषाल को निष्प्रयोजन ही गाली दी हैं। 'सरस्वती' पर कटाक्ष करते हुए 'सिंह' जी लिखते हैं—" 'सरस्वती' बङ्गनिवासी बङ्गालियों के उत्तम लेख छापकर धन्य होती है, इन दिनों 'समालोचक' बङ्गमहिला का लेख छापकर बहादुर हुआ है। 'बङ्गमहिला' ने 'समालोचक' पर बड़ी रियायत की है, नहीं तो उसको लेख और बढ़ाना पड़ता है और कहना पड़ता कि 'समालोचक' में भी बहुत-से लेख ऐसे निकले हैं जिनमें मूल लेखक का नाम नहीं दिया गया है।"

हम जहां तक जानते हैं, कह सकते हैं कि 'समालोचक' के वर्तमान स्वरूप में कोई लेख मूल ग्रन्थकार की अनुमति लिये बिना नहीं छपा है। हां, उस समय 'समालोचक' में कई ऐसे लेख अवश्य निकले थे जब कि आपके श्रद्धास्पद, क्षमताशाली, 'प्रयाग समाचार' के वर्तमान सम्पादक, उसका सम्पादन करते थे। कुछ हिन्दी-लेखकों ने बंग भाषा से चोरी की है, इस बात को झूठा सिद्ध करने के लिए लेखक ने 'भारत मित्र' की शरण लेकर यह विचित्र युक्ति लगाई है कि बङ्गाली ग्रन्थकारों ने भी अंग्रेजी से चोरी की है, हम कहते हैं कि यदि बङ्गाली ग्रन्थकारों ने चोरी की है, तो उन्हें चोरी करने दो। आप उनकी देखा-देखी क्यों चोरी करते हैं? ऐसा कहने से कि बङ्गालियों ने भी चोरी की है यह कदापि सिद्ध नहीं हो सकता कि हिन्दी के लेखकों ने चोरी नहीं की है और उन्हें करनी चाहिए। हम कहते हैं कि यदि मनुष्य में कुछ भी उदारता और न्याय है और उसने मूल ग्रन्थकार की आज्ञा के बिना ही अनुवाद किया है या मूल

लेखक का नाम भूल से नहीं दिया है, तो वह अवश्य ही लज्जित होंगे और भविष्य में ऐसा करने का कभी साहस न करेंगे।

एक सुलेखक महाशय ने भूल से निज अनुवादित पुस्तक में मूल ग्रन्थकार का नाम न देकर आन्तरिक पश्चात्ताप प्रगट किया है। इसी तरह एक सत्स्वभाव स्वर्गीय महात्मा को ऐसी भूल करने से हार्दिक दुःख हुआ था और 'बंगमहिला' के कथन का समर्थन करके उन्होंने भविष्य में कभी ऐसा न करने की प्रतिज्ञा की थी, इसमें सन्देह नहीं। संसार में उदारता भी बड़ी ही अमूल्य वस्तु है। जो उदारहृदय हैं, यदि उनसे एक समय भूल भी हो जाय तो वह उसे मालूम होने पर अवश्य सुधार लेंगे, किन्तु जिनको हठ और दुराग्रह है उनको ब्रह्मा भी समझाने में असमर्थ है।

हिन्दी बङ्गवासी में 'हिन्दी में समालोचना' नामक लेख बड़ी उद्दण्डता से लिखा गया है। एक स्थान पर इसमें लिखा है—

"समालोचकों को विशेष कारणवश, किसी की समालोचना में विशेष अवगुण प्रगट करने का भी प्रयोजन उपस्थित हो जाता है, किन्तु इस तरह की आलोचना के समय आलोचना करने वालों को शिष्टता और सामाजिक स्वार्थ का पूरा विचार रखना चाहिए।"

इस समय ठीक यह ही दशा 'हिन्दी बंगवासी' के सम्पादक की हुई है और आलोचना के समय उनको 'शिष्टता' और 'सामाजिक स्वार्थ' का तनिक भी विचार न रहा। दूसरे पैरा में सम्पादक जी ने लिखा है—"···और अधिकांश आलोचकों की नालायकी की वजह से समालोचना का काम निहायत गन्दगी और वेतुकेपन से चल रहा है।" इन शब्दों में कितनी शिष्टता भरी हुई है? और इनसे क्या सम्पादकीय कर्तव्य-पालन होता है? इसे विज्ञ पाठक विचार कर कुछ देखें।

उसी पैरा में लेखक ने गौरांगभक्ति का इस प्रकार परिचय दिया है—"हमें मालूम है कि योरोप में इस समय अगणित ऐसे विद्वान हैं, जो प्राचीन धुरन्धर पण्डितों की पुस्तकों की समालोचना बड़ी आसानी के साथ कर सकते हैं, किन्तु क्या २८ करोड़ भारतवासियों में एक भी ऐसा है जो लार्ड मेकाले, हरबर्ट स्पेन्सर प्रभृति दिग्गज पण्डितों के इन्साइक्लो (?) की आलोचना कर सकै, या जो इन्साइक्लोपीडिया बृटानिका पढ़कर उसके विषय में अपनी राय प्रगट कर सकै।" साहब लोगों की क्या प्रशंसा की जाय जो कि किसी भाषा के अक्षर मात्र जानने पर उस भाषा के पारदर्शी विद्वान कहलाने लगते हैं और बिचारे हिन्दुस्तानियों को यथार्थ में पारदर्शी होने पर भी कोई नहीं पूछता। अंगरेजी भाषा में हिन्दुस्तानियों की लिखी हुई बीसों पुस्तकें ऐसी हैं जो कि अंगरेजी-साहित्य में उत्तम समझी जाती हैं, किन्तु क्या आप भी किसी योरोपीय विद्वान की लिखी हुई संस्कृत, हिन्दी, बंगला, मराठी आदि इस देश की किसी भाषा में कोई ऐसी पुस्तक का पता बता सकते हैं, जो कि आदर की दृष्टि से देखी जाय! साहब लोगों की समालोचना कैसी होती है, इसकी कुछ बानगी आपको 'सुदर्शन' में प्रकाशित 'बेबर का भ्रम' से मिलेगी। हमारी समझ में २८ करोड़ भारतवासियों में एक नहीं, सैकड़ों ऐसे हैं जो मेकाले, मिलटन, शैक्सपीयर आदि की रचनाओं पर स्वतन्त्र लेख

लिख सकते हैं और इनसाइक्लोपीडिया बृटानिका की समालोचना कर सकते हैं।[1] इस विषय में अधिक लिखकर इस लेख को हम विषयान्तर में नहीं ले जाना चाहते।

चौथे पैरा में लेखक ने 'समालोचक' के सुयोग्य सम्पादकों पर बहुत ही अनुचित, अयोग्य और तीव्र शब्दों में कटाक्ष किया है—"कोई कालेज में पढ़ता हुआ मुछाकड़ा लड़का ही अपने को हिन्दी-भाषा का अकेला समालोचक समझ रहा है।" जिन्हें विश्व-विद्यालय की हवा नहीं छू गई है, वे यों ही उस पुण्यभूमि के वासियों पर टक्करें मारना चाहते हैं। इसका निदर्शन दो वैश्यों के पत्र दे चुके हैं। हम कालेज में पढ़ते हुए लड़के को जिसने कई भाषाओं में सुशिक्षा पाई हो उन महापुरुषों (?) के मुकाबले में जो कि अर्द्धदग्ध हैं और योग्य शिक्षा न पाकर भी उर्दू के भरोसे अपने को सर्वज्ञ मान रहे हैं, लाख गुना अधिक अच्छा समझते हैं। क्या सब योग्य सम्पादकों की दाढ़ी ही होती है? जो आपने समालोचक-सम्पादकों को 'मुछाकड़ा' लिखकर मूंछों से घृणा की है। और फिर आप भी तो जहां तक मुझे स्मरण है, दाढ़ी से वैसे ही कोरे हैं जैसे—यहुदिन लेडियां'।

आगे चलकर लेखक कहते हैं कि 'समालोचक' लोग किसी एक पर ही कटाक्ष करते हैं—यह हिन्दी भाषा से अनभिज्ञ चञ्चला 'समालोचनी' सभी हिन्दी उपन्यास लेखकों पर चढ़ने लगी है। एक पुस्तक रचयिता से हमने यहां तक पूछा है—"जनाब! क्या आप अपनी जननी वा सहधर्म्मिणी से इसी भाषा में बातचीत करते हैं?" क्या यह 'नितम्बवती' 'बङ्गालन यह नहीं समझती थी, कि उसके बाप और शौहर की बातों के बारे में कोई भी मनुष्य उससे कुछ पूछ सकता है?" 'समालोचनी' और 'नितम्बवती' शब्दों में लेखक के व्याकरण-ज्ञान का अच्छा परिचय मिलता है। हम उस दिन हिन्दी का बड़ा सौभाग्य समझेंगे जिस दिन अर्द्धशिक्षित जनों के स्थान में उच्चश्रेणी के विद्वानों को हिन्दी के सम्पादकीय आसनों पर आसीन देखेंगे। 'बङ्गमहिला' ने जो यह प्रश्न किया है कि "जनाब! क्या आप अपनी जननी और सहधर्म्मिणी से इसी भाषा में बातचीत करते हैं?" उससे हम बिलकुल सहमत नहीं, क्योंकि साहित्य की भाषा और घर में कुटुम्बियों के साथ बोलने की भाषा का मिलान करना विडम्बना मात्र है। हम कभी नहीं विश्वास कर सकते कि 'कालिदास', 'हरिश्चन्द्र', 'शैक्सपीयर' आदि ने जिस भाषा का अपने ग्रन्थरत्नों में व्यवहार किया है उस ही भाषा में वह अपने कुटुम्बियों अथवा अपर जनों के साथ वार्तालाप करते हों। हां, हम बंगमहिला से उस बात में सहमत हैं कि ऐसे लेखकों की भाषा में मुसलमानी शब्द बहुत आते हैं। ऊपर ही 'पिता', 'शौहर' शब्द की जोड़ी की बहार देखिए। हमें खेद है कि 'भारतमित्र' के सुयोग्य सम्पादक भी यह लिखते हैं कि 'बंगमहिला' के लेख में छछोरापन अधिक है। किन्तु यदि वह 'बङ्गवासी' के उक्त लेख को ध्यानपूर्वक पढ़ते तो जो सम्मति उनने बङ्गमहिला के लेख पर दी है, वही सम्मति वे बङ्गवासी के लेख पर अवश्य देते।

---

१. एन्साइक्लोपीडिया बृटानिका में कई लेख प्रसिद्ध भारतवासी के भी हैं। सौ वर्ष की अंगरेजी शिक्षा के लिए यह लज्जा की बात हो यदि भारतवर्ष में एक भी मनुष्य हर्बर्ट स्पेन्सर को न समझ सकै। (समालोचक-सम्पादक)

'श्रीवेंकटेश्वर समाचार' के सम्पादक महाशय ने 'बंगमहिला' का लेख पढ़कर हार्दिक प्रसन्नता प्रगट कर अपनी योग्यता का परिचय दिया है। इस लेख से एक प्रकार 'मोहिनी' भी प्रसन्न हुई थी पर आगामी संख्या चलकर ही—"खरबूजे के रंग को देखकर खरबूजा रंग पकड़ता है"—इस लोकोक्ति को चरितार्थ किया है।

आगे चलकर 'बंगवासी' ने अपनी मार्मिकता का इस प्रकार परिचय दिया है—

"अयोग्य मनुष्य ने अनधिकार चर्चा कर इस काम की (समालोचना की) बेइज्जती कर डाली है, इससे उपकार की जगह अपकार ही हो रहा है।" जब अयोग्य मनुष्यों ने अनधिकार चर्चा कर इस काम की बेइज्जती कर डाली है, उस समय आप जैसे सुयोग्य सम्पादक ने भी साधिकार चर्चा कर इस लेख से अपने पत्र का गौरव बढ़ाकर हिन्दी का जो कुछ उपकार किया है उसे हिन्दी-साहित्य-समाज कभी न भूलेगा।

वैश्योपकारक : यह नवजात पत्र बाबू शिवचन्द भरतिया (?) द्वारा सम्पादित होता है। भरतियाजी मराठी भाषा की सेवा कर प्रसिद्धि को प्राप्त हुए हैं, अब हिन्दी-साहित्य की सेवा करने को सम्बद्ध हुए हैं। आशा होती है कि **वैश्योपकारक** एक सुयोग्य विद्वान के हाथ में होने से किसी समय हिन्दी भाषा की अच्छी सेवा करेगा, किन्तु जेष्ठ के अंक में 'समालोचना की आलोचना' नामक जो लेख छपा है, वह प्रायः पक्षपातपूर्ण है। प्रथम सर्व सम्मानित मान्यवर 'मालवीय' जी पर हाथ साफ किया है फिर 'बंगमहिला' की खबर ली है। हम इस समय अप्रस्तुत विषय पर कुछ न लिखकर प्रस्तुत विषय पर विचार करेंगे।

हम इस बात के समझने में सर्वथा असमर्थ हैं कि 'बंगमहिला' ने अपने लेख में ऐसी कौनसी बात लिखी है जिसमें 'कुलरमणी के रक्षण योग्य मर्य्यादा की रक्षा नहीं हुई'? क्या यही प्रश्न कि "जनाब! क्या आप अपनी जननी और सहधर्म्मिणी से इसी भाषा में बातचीत करते हैं?" यद्यपि इस प्रश्न के करने की तनिक भी आवश्यकता न थी, किन्तु इस प्रश्न में हम फिर भी कोई ऐसी बात नहीं देखते कि जिससे समझा जाय कि कुलरमणी के रक्षण योग्य मर्य्यादा की रक्षा नहीं हुई। यदि यह बात ठीक है कि बंगाली साहित्य-सेवियों ने भी अंगरेजी से चोरी की है और मूलग्रन्थकार का नाम नहीं दिया और बंगभाषा में भी बहुत-सी अश्लीलतापूर्ण पुस्तकें हैं, तो हमारी समझ में इस बात को स्वीकार करने में 'बंगमहिला' को कोई आपत्ति न होगी। यदि बंगमहिला अंगरेज़ी भाषा की भी जानकार होती, तो हम उनसे स्वयं बंगाली ग्रन्थकारों की चोरी दिखाने की प्रार्थना करते। इस समय हम उनसे सादर निवेदन करते हैं कि बंग भाषा में जो अश्लीलतापूर्ण पुस्तकें हों, चाहे वह बाबू रवीन्द्रनाथ ठाकुर की हों चाहे और किसी की, उनकी उचित आलोचना कर, अपने बंगाली भाइयों को भविष्य में ऐसी घृणित पुस्तकें न रचना करने की सम्मति देवें। यह कोई आवश्यक बात नहीं है कि यदि बंगालियों ने घृणित कार्य किया है तो हिन्दीवाले भी उसका अनुकरण करें। 'तारा' और 'चपला' की 'भारत मित्र', 'श्रीवेंकटेश्वर', 'समालोचक', 'राजपूत' आदि चाहे जैसी कड़ी आलोचना करें, तो कुछ नहीं किन्तु यदि 'बंगमहिला' ने इतना लिख दिया कि

"इन पुस्तकों को देखकर हमारे देवता कूच कर गये" वह 'वैश्योपरक' जी को सह्य नहीं। हम इस बात को मानते हैं कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कई एक कविताएं और बड़तल्ले की पुस्तकें अश्लील हैं किन्तु क्या इससे 'गोस्वामीजी' की 'तारा' और 'चपला' निर्दोष सिद्ध हो जायगी? या 'गोस्वामीजी' की पुस्तकें बड़तल्ले की ही पुस्तकों से तुलना करने योग्य हैं? कदापि नहीं।

'मालवीयजी' के तो आप इतने विरोधी कि यदि वह सरल हिन्दी को पसन्द करें तो आप उन्हें खिचड़ी भाषा का पक्षपाती समझें किन्तु 'जौहर' बाबू के इतने पक्षपाती कि यदि वह खिचड़ी हिन्दी भी लिखें तो इस समय यह युक्ति "पर उनसे (मुसलमानी शब्दों से) इस देश लोगों का सम्बन्ध बिलकुल दूर भी नहीं हो सकता" इन्हीं सब बातों से हमने इस लेख को पक्षपातपूर्ण समझा है। हां, 'प्रवासी' ने जो बाबू श्रीराधाकृष्णदास लिखित 'भारतेन्दु' के चरित की आलोचना की है उसके विषय में जो कुछ 'वैश्योपकारक' का मत है उससे हम अक्षरशः सहमत हैं।

अब हम इस लेख को यहीं समाप्त करते हैं कदाचित् हमें भी इस लेख के पीछे कुछ लोगों की गाली खानी पड़े। किन्तु हम श्रीभर्तृहरिजी का यह वाक्य—'न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः'—स्मरण कर निश्चिन्त हैं। किमधिकम्।'[1-2]

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : जनवरी-फरवरी-मार्च-अप्रैल, १९०५ ई०]

धर्म और समाज

समाज के लिए धर्म की आवश्यकता है या नहीं? इस प्रश्न पर कुछ अपने विचार प्रकट करना ही आज इस लेख का उद्देश्य है। प्राचीन और नवीन अथवा पूर्व और पश्चिम इन दोनों के संघर्ष से यह प्रश्न उत्पन्न हुआ है। पूर्वी सभ्यता सदा से धर्म की पक्षपातिनी रही है और उसने धर्म को समाज में सबसे ऊँचा स्थान दिया है। पश्चिमी सभ्यता इस

---

१. चार वर्ष पहिले 'भारतमित्र' में एक बंगाली प्रवासी का वृत्त छपा था, जिसमें लिखा था कि पञ्जाबी स्त्रियाँ नग्न नहाती हैं। इस पर 'भारतमित्र' ने कहा था कि स्नान करती स्त्रियों को देखने वाले को 'मालजादा' कहते हैं। बंग-महिला को जो कुवाच्य कह चुके हैं, पञ्जाबी-सम्पादक क्या कहेंगे? —एक साहित्य पाठक

२. वैश्योपकारक' में 'समालोचक' की आलोचना पढ़कर हमें बड़ा ही गर्व हुआ। यह तीर्थयात्रा करने का फल है कि पुराने सखा का फिर स्वर सुनाई दिया। ऐसा ही यदि 'समालोचक' की सभी संख्याओं पर हमारे मित्र विवेचन लिखें तो हम बड़े प्रसन्न हों, किन्तु 'खेल भी शिक्षा' को ये फिर पढ़ें। **(समालोचक-सम्पादक)**

समय चाहे उसकी विरोधिनी न हो, पर उससे उदासीन अवश्य है और कम-से-कम समाज की उन्नति के लिए वह उसे आवश्यक नहीं समझती। उसकी सम्मति में बिना धर्म का आश्रय लिए भी नैतिक बल के सहारे मनुष्य अपनी वैयक्तिक और सामाजिक उन्नति कर सकते हैं।

यद्यपि पहले पश्चिम भी धर्म का ऐसा ही अनन्य भक्त था जैसा कि इस समय भारतवर्ष। पर मध्यकाल में कई शताब्द तक वहां धर्म के कारण बड़ी अशांति मची रही। धर्ममद से उन्मत्त होकर समाज ने बड़े-बड़े विद्वानों और संशोधकों के साथ वह सलूक किया जो लुटेरे मालदारों के साथ करते हैं। ५० वर्ष तक लगातार जारी रहने वाला यूरोप का धर्मयुद्ध प्रसिद्ध ही है। इसलाम ने जो सलूक ईसाइयों के साथ किया उसको जाने दीजिए, क्योंकि वह एक भिन्न धर्म था। ईसाई धर्म की ही दो शाखाओं ने, जिनका नाम कैथलिक और प्रोटेस्टेन्ट है, एक दूसरे के साथ जैसे-जैसे अत्याचार और अमानुषिक बर्ताव किये हैं, उनपर अब तक यूरोप का इतिहास रुधिर के आँसू बहा रहा है। इसलिए अब इस सभ्यता और उन्नति के युग में पश्चिमनिवासियों को यदि धर्म पर वह श्रद्धा नहीं है जो उनके पूर्वजों की थी तो वह सकारण है। यद्यपि पूर्वापेक्षा अब उनके धर्म का भी बहुत कुछ संस्कार हो गया है और शिक्षा की उन्नति के साथ-साथ जिसमें यूरोप और अमेरिका ने सबसे अधिक भाग लिया है, उनके धर्म में भी सहिष्णुता, स्वतन्त्रता और उदारता की मात्रा बढ़ गई है, तथापि धर्मवाद के परिणामस्वरूप जो कड़वे फल उनको चखने पड़े हैं, उन्होंने उनको धर्म की सीमा नियत कर देने के लिए बाधित किया, तदनुसार उन्होंने धर्म की अबाध सत्ता से अपने समाज को मुक्त कर दिया। अब वहाँ यही नहीं कि समाज की शासन सत्ता में धर्म कुछ विक्षेप नहीं डाल सकता, किन्तु व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और सामाजिक प्रबंध में भी कुछ हस्तक्षेप नहीं कर सकता और बहुत-सी बातों के समान धर्म भी एक व्यक्तिगत बात मानी जाती है, जिसका जी चाहे, किसी धर्म को माने, न चाहे न माने। मानने से कोई विशेष स्वत्व पैदा नहीं होते, न मानने से कोई हानि नहीं होती।

यह तो रही पश्चिम की धार्मिक अवस्था, अब रहा पूर्व। यद्यपि पूर्व में सर्वत्र ही धर्म का प्राधान्य है तथापि भारतवर्ष में तो उसका एकाधिपत्य राज्य है। यद्यपि वहाँ की शासनसत्ता पश्चिमी लोगों के हाथ में होने से अब उसमें वह हस्तक्षेप नहीं कर सकता, तथापि भारतीय समाजों में और उनकी विविध शाखाओं में उसका अप्रतिबन्ध अधिकार है। हम जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त चाहे किसी दशा में रहें, कुछ करें, धार्मिक बन्धन से मुक्त नहीं हो सकते।

हमको केवल अपने पूजा-पाठ या संस्कारों में ही धर्म की आवश्यकता नहीं किन्तु हमारा हर काम चाहे वह सामाजिक हो या व्यक्तिगत, धर्म के बन्धन से जकड़ा हुआ है। यहाँ तक कि हमारा खाना-पीना, जाना-आना, सोना, जागना और देना-लेना इत्यादि सभी बातों में धर्म की छाप लगी हुई है। हम हिन्दू होकर सब कुछ छोड़ सकते हैं पर धर्म को किसी अवस्था में भी नहीं छोड़ सकते। हमारे पूर्वज धर्म को ही अपना

जीवनसर्वस्व मानते थे और यही उपदेश शास्त्रों में वे हमको भी कर गये हैं। मनु लिखता है—

धर्मएव हतो हन्ति धर्मोरक्षति रक्षितः।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मानोधर्मो हतोऽवधीत्॥

प्राचीन आर्य लोग धर्म को केवल परलोक का ही साधन नहीं मानते थे, किन्तु इस लोक का बड़े से बड़ा सुख भी धर्म के बिना उनकी दृष्टि में हेय था। त्रिवर्ग में जिसका सम्बन्ध संसार से है, धर्म ही सबसे पहला और मुख्य माना गया है। कणाद तो अपने वैशेषिक दर्शन में अभ्युदय की नींव भी धर्म पर ही रखता है। यथा—

यतोऽभ्युदय निःश्रेयससिद्धिः सधर्मः।

अतएव हम अपने शास्त्रों को मानते हुए और पूर्वजों पर श्रद्धा रखते हुए किसी दशा में भी धर्म की उपेक्षा नहीं कर सकते।

पश्चिम की शिक्षा का प्रभाव जिन लोगों पर पड़ा है, वे चाहे हमारे स्वदेशी बान्धव ही क्यों न हों, हमको भी यह सलाह देते हैं कि हम भी यदि इस जातीय उन्नति की दौड़ में भाग लेना चाहते हैं तो धर्म की कोई ऐसी सीमा नियत कर दें, जिससे आगे यह अपने पैर न फैला सके। उनका यह कथन है कि जब तक हमारे हर एक काम में धर्म का पचड़ा लगा हुआ है, हम समय की गति के साथ नहीं चल सकते और न अपना कोई जातीय आदर्श बना सकते हैं। जो लोग हमको यह सलाह देते हैं, हम उनके सद्भाव में कोई सन्देह नहीं कर सकते और यह भी हम मानते हैं कि देशहित की प्रेरणा से ही वे यह सलाह हमको देते हैं। पर हाँ यह हम अवश्य कहेंगे कि वर्तमान धार्मिक अवस्था के विकृत स्वरूप को देखकर और हमारे धर्म के वास्तविक तत्व पर गम्भीर दृष्टि न डालकर ही यह सम्मति दी जाती है। यदि धर्म को उसके वास्तविक रूप में देखा जाय तो वह कदापि उपेक्षणीय नहीं हो सकता। यद्यपि विदेशियों के संसर्ग से या हमारे दौर्भाग्य से यहाँ भी धर्म का विधेय वह नहीं रहा, जो प्राचीन काल में था। हमें यह कहने में कुछ भी संकोच नहीं है कि सभ्यता के आदि गुरु आर्यों का धर्म मतवाद से सर्वथा पृथक् है।

इस मतवाद को धर्म समझने का यूरोप में यह परिणाम हुआ कि वह राजनैतिक और सामाजिक क्षेत्र से ही अलग नहीं किया गया किन्तु मानसिक और नैतिक उच्च-भावों की रीति के लिए भी अनावश्यक समझा गया। उसका सम्बन्ध केवल उपासनालयों से रह गया और वह भी रविवार के दिन घंटे दो घंटे के लिए। बहुत से स्वतन्त्रता देवी के उपासक तो इससे भी मुक्त हो गये। हम उनकी बुद्धिमत्ता की प्रशंसा करते हैं, यदि वे ऐसा न करते और हमारी तरह से अपनी विचारशक्ति को कल्पनाशक्ति के अधीन कर देते तो आज उनके देश में विद्या और बुद्धि का यह विकास, कला-कौशल की यह उन्नति और उद्योग तथा व्यवसाय का यह प्रभाव देखने में न आता। यदि हमारे धर्म की भी ऐसी ही व्यवस्था हो और वह वास्तव में मतवाद का प्रवर्त्तक हो, तब तो हमको

भी कृतज्ञता के साथ उनकी यह सलाह मान लेनी चाहिए और यदि ऐसा नहीं है तो हमें धर्म का वास्तविक तत्व उन्हें समझाना चाहिए।

हम यहां पर कह देना चाहते हैं कि मत या संप्रदाय के अर्थ में धर्म शब्द का प्रयोग करना भी हमने अधिकतर विदेशियों ही से सीखा है, जब विदेशी भाषाओं के 'मज़हब', 'रिलीजन' शब्द यहाँ प्रचलित हुए, तब भूल से या स्पर्धा से हम उनके स्थान में 'धर्म' शब्द का प्रयोग करने लगे। परन्तु हमारे प्राचीन ग्रन्थों में जो विदेशियों के आने से पूर्व रचे गये थे, कहीं पर भी 'धर्म' शब्द मत, विश्वास या संप्रदाय के अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ, प्रत्युत उनमें सर्वत्र स्वभाव और कर्त्तव्य इन दो ही अर्थों में इसका प्रयोग पाया जाता है। प्रत्येक पदार्थ में उसकी जो सत्ता है, जिसको 'स्वभाव' भी कहते हैं, वही उसका धर्म है। जैसे वृक्ष का धर्म 'जड़ता' और पशु का धर्म 'पशुता' कहलाती है, ऐसे ही मनुष्य का धर्म 'मनुष्यता' है। वह मनुष्यता किस वस्तु पर अवलम्बित है। इसमें किसी का मतभेद नहीं हो सकता कि मनुष्यता का आधार बुद्धि है। बुद्धि की दो शाखायें हैं, एक कल्पनाशक्ति, दूसरी विचारशक्ति। कल्पनाशक्ति सन्देहात्मक है और विचारशक्ति निर्णयात्मक। बिना सन्देह के किसी बात का निर्णय नहीं हो सकता। अतएव अपनी कल्पनाशक्ति से सन्देह उठाकर पुनः विचारशक्ति से उसका निर्णय करने में जो समर्थ है, वही मनुष्य है। संसार में सिवाय असभ्य और वन्य लोगों के और कौन ऐसा मनुष्य होगा, जिसको ऐसे धर्म की आवश्यकता न होगी, जो उसको मनुष्य बनता है।

यह तो हुआ सामान्य धर्म, अब रहा विशेष धर्म, इसी का दूसरा नाम कर्त्तव्य भी है। मनुष्य चाहे किसी दशा में हो, उसका कुछ-न-कुछ कर्त्तव्य होता है। यदि राजा राजधर्म का, प्रजा प्रजाधर्म का, स्वामी प्रभुधर्म का, सेवक सेवाधर्म का, पिता पितृधर्म का, पुत्र पुत्रधर्म का, पति पतिधर्म का, स्त्री स्त्रीधर्म का, गृहस्थ गृहस्थधर्म का और यति यतिधर्म का साधन न करें तो फिर संसार में न कोई मर्यादा रहे, न व्यवस्था। संसार में शान्ति और व्यवस्था तभी रह सकती है, जब प्रत्येक मनुष्य कर्तव्य के अनुरोध से अपने-अपने धर्म का पालन करें। अतएव इसमें कुछ भी अत्युक्ति नहीं कि धर्म ही संसार की प्रतिष्ठा का कारण है। धर्म के इसी महत्व को लक्ष्य में रखकर 'तैत्तिरीयारण्यक' में यह कहा गया है—

> **धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा, लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति**
> **धर्मेण पापमपनुदन्ति धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥**

अब हम कुछ प्रमाण भी जिनमें 'धर्म' शब्द प्रस्तुत अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, उद्धृत करते हैं। 'महाभारत' में धर्म का निर्वचन इस प्रकार किया गया है

> **धारणाद्धर्ममित्याहु धर्मेण विधृताः प्रजाः।**
> **यःस्याद्धारणसंयुक्तः सधर्म इति निश्चयः ॥**

धात्वर्थ में भी इसी की पुष्टि होती है, क्योंकि 'धृ' धातु धारण के अर्थ में है।

यो ध्रियते दधाति वा सद्धर्मः ।

जो धारण किया हुआ प्रत्येक पदार्थ को धारण करता है, वह धर्म है । अग्नि में यदि उसका धर्म तेज न रहे फिर कोई उसे 'अग्नि' नहीं कहता, ऐसे ही मनुष्य यदि अपने धर्म को त्याग दे तो फिर केवल आकृति और बनावट उसकी मनुष्यता की रक्षा नहीं कर सकती । उपनिषदों में जहाँ धर्मंचर, 'धर्मान्नप्रमदितव्यम्' इत्यादि वाक्य आते हैं, वहाँ भी इससे कर्तव्य या सदाचार का ही ग्रहण होता है । मनु ने धर्म के धृत्यादि जो दस लक्षण बतलाये हैं और जिनको धारण करके एक नास्तिक भी धर्मात्मा बन सकता है, उनमें मतवाद का गन्ध तक नहीं है । गीता में भी—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।

इत्यादि वाक्यों में 'धर्म' शब्द कर्त्तव्य का ही सूचक है, क्योंकि मनुष्य के लिए प्रत्येक दशा में अपने कर्त्तव्य का पालन करना ही सर्वोपरि धर्म है, अपने कर्त्तव्य से उदासीन होकर दूसरों का अनुकरण करना चाहे वे अपने से श्रेष्ठ भी हों, अनधिकार चर्चा है। जब मनुष्य के आचार या कर्त्तव्य का नाम धर्म है तब यदि हमारे पूजनीय पूर्वजों ने उसकी मनुष्य की प्रत्येक दशा से (चाहे वह आत्मिक हो या सामाजिक या वैयक्तिक) सम्बद्ध किया तो इससे उनका यह अभिप्राय कदापि नहीं हो सकता था कि उन्होंने हमको मतवाद के जाल मे फँसाने के लिए धर्म की टट्टी खड़ी की । उन्होंने तो हमारे मनुष्यत्व की रक्षा के लिए ही प्रत्येक कार्य में इसका आयोजन किया था ।

अब प्रश्न यह होता है कि जब धर्म मत से पृथक् है तो फिर मतवाद में या भ्रमात्मक विश्वासों में उसका पर्यवसान क्योंकर हुआ ? इसका कारण चाहे कुछ हो पर इसमें सन्देह नहीं कि हमारे दौर्भाग्य से इस समय हमारी धार्मिक अवस्था वह नहीं है जो उपनिषदों और दर्शनों के समय थी । उस समय सैद्धान्तिक भेद भी हमारे धर्म को कुछ हानि नहीं पहुंचा सकता था, पर आजकल आंशिक भेद को भी हमारा कोमल धर्म सहन नहीं कर सकता । उस समय हिन्दू धर्म इतना उदार था कि वह बौद्ध और जैन जैसे निरीश्ववरवादी मतों को भी अपने क्रोड़ में स्थान दे सकता था, पर आजकल का हिन्दूधर्म साकारवादी और निराकारवादियों को मिलकर नहीं रहने देता । पहले का हिन्दूधर्म सदाचारी को धर्मात्मा और ज्ञानी को मोक्ष का अधिकारी (चाहे वह कोई हो) मानता था, पर आजकल का हिन्दूधर्म अपने लक्ष्य से ही च्युत होकर या तो मतमतान्तर के शुष्कवाद विवाद में या पुरानी लकीर को पीटने में अपनी शक्ति का दुरुपयोग कर रहा है । संसार के और समस्त विषयों में हम विचारशक्ति का उपयोग कर सकते हैं, पर केवल धर्म ही एक ऐसा सुरक्षित विषय है कि जिसमें आँखें बन्द करके दूसरों के पीछे चलना चाहिए । यदि इसकी कोई सीमा नियत होती, तब भी गनीमत थी पर अब इस दशा में जबकि इसकी अबाध सत्ता है, कोई भी विषय हमारे लिए ऐसा नहीं रह जाता, जिसमें हम स्वच्छन्द विचरण कर सकें । धर्म के नाम से अब तक हमारे समाज में जैसे-जैसे अनर्थ और अत्याचार हो रहे हैं, उनके कारण हमारे करोड़ों भाई और बहन मनुष्य होते हुए पशु-जीवन व्यतीत कर रहे हैं । इस बीसवीं सदी में जबकि अन्य देशवासी

राष्ट्र ही नहीं किन्तु राष्ट्रसंघ और साम्राज्य की स्थापना कर रहे हैं, भारतवर्ष यदि समाज संगठन के भी अयोग्य है तो उसका कारण भ्रमात्मक संस्कार ही हैं।

हम मानते हैं कि जैसा धर्म का दुरुपयोग आजकल भारतवर्ष में हो रहा है, और ऐसा कहीं देखने में न आवेगा। परन्तु अब प्रश्न यह है कि धर्म का प्रयोग अन्यथा किया जा रहा है, क्या इसलिए हम धर्म को ही छोड़ दें ? यदि कोई मनुष्य अपनी मूर्खता से अग्नि में हाथ जला लेता है तो क्या उसे यह उपदेश करना ठीक होगा कि वह अग्नि से कभी कोई काम न ले या कि उसे अग्नि से काम लेने की तरकीब सिखाना ठीक होगा। इसका उत्तर प्रत्येक बुद्धिमान मनुष्य यही देगा कि दूसरी बात ही होनी चाहिए।

यद्यपि आधुनिक शिक्षा और समय के प्रभाव से आजकल धार्मिक क्षेत्र में भी असन्तोष और हलचल मची हुई है और प्रत्येक धर्म के अग्रणी और शिक्षित पुरुष यह अनुभव करने लगे हैं कि अब इस बीसवीं शताब्दी की जनता को इस प्रकाश के युग में केवल धर्म के नाम से रूढ़ि का दास नहीं बनाया जा सकता और न इस बढ़ते हुए हेतुवाद के प्रवाह को ही रोका जा सकता है। तथापि वे :—

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्म संगिनाम्।

इस नीति का अनुसरण करते हुए धर्म के विषय में स्पष्टवादिता से काम नहीं ले सकते। इतना ही नहीं, बहुत से शिक्षित ऐसे भी मिलेंगे जो अपने समाज को प्रसन्न करने के लिए या उसका विश्वासभाजन बनने के लिए उसके भ्रमात्मक विश्वासों पर तर्क और विज्ञान की कलई चढ़ाने लगते हैं। जिस देश में नैतिक बल की यह दुर्दशा हो और जहां मान के भूखे शिक्षित लोग अशिक्षितों से मानभिक्षा की याचना करें, वहां यदि धर्म का ऐसा दुरुपयोग हो रहा है तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? परन्तु प्रश्न ये है, जब तक धर्म के सूर्य में अन्धविश्वास का यह ग्रहण लगा हुआ है क्या हम अपने उद्देश्य और लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं ? हमारे देश के नेता राजनैतिक स्वतंत्रता के लिए तो फड़फड़ा रहे हैं, पर यह धार्मिक परतन्त्रता जो हमें खुली हवा में सांस भी नहीं लेने देती, उनकी दृष्टि में जरा भी नहीं खटकती। क्या इसीलिए कि यह फांसी हमने अपने आप लगाई है, इसकी मौत मीठी है ?

हमारा वक्तव्य केवल यह है कि यदि धर्म हमारे स्वभाव या कर्त्तव्य का बोधक है, जैसा कि हम अपना अभिप्राय प्रकट कर चुके हैं, तब तो वह हमसे और हम उससे किसी दशा में भी पृथक् नहीं हो सकते। क्योंकि प्रत्येक पदार्थ की सत्ता उसके धर्म पर अवलम्बित होती है और ऐसे धर्म की आवश्यकता न केवल समाज को है किन्तु प्रत्येक व्यक्ति को है। जहां राष्ट्र या समाज अपने उस स्वाभाविक धर्म का पालन करें, वहाँ कोई व्यक्ति भी उसकी उपेक्षा न करे। इस दशा से धर्म की व्यापकता या अबाध सत्ता किसी को अवांछनीय नहीं हो सकती और यदि यह हमारा भ्रम है और वास्तव में धर्म का अभिधेय जैसा कि आजकल माना जा रहा है, मतमतान्तर के काल्पनिक सिद्धान्त और भ्रमात्मक विश्वास हैं, तो हम निःसंकोच अपने देशवासियों से

यह प्रार्थना करेंगे कि जिस प्रकार पश्चिमवासियों ने धर्म की सीमा नियत करके अपने सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक और औद्योगिक क्षेत्रों से उसका प्रतिबंध हटा दिया है, ऐसा ही हमको भी करना चाहिए अन्यथा ये भ्रमात्मक विश्वास अपने साथ हमको भी ले डूबेंगे—आप डुबन्ते बामना ले डूबे जजमान।

[प्रथम प्रकाशन : प्रतिभा : जून, १९२० ई०]

वर्ण-विषयक कतिपय विचार

कुछ दिन हुए विदेश में मेरे एक बन्धु के साथ (जो हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि हैं) मैं सब्जी-मण्डी में घूम रहा था। 'पताल' (जिसका रंग लाल होता है और जिसे अंगरेजी में 'tomato' कहते हैं और जिसको छत्तीसगढ़ी ब्राह्मण निषिद्ध समझते हैं) नामी फल को देखकर मैंने उनके विचार जानने के लिए कुतूहलतावश पूछा—

'चलो, आज इसकी तरकारी बनावें।' मेरा वाक्य समाप्त होते-न-होते ही वे चिल्ला उठे, "छिः छिः शोक ! तुम समाज का सुधार करने चले हो और तुम्हारी ऐसी कृतियां !" इतना सुनते ही मैं हँसने लगा। उनके उद्‌गार पर मुझे बड़ी प्रसन्नता और हँसी छूटी। मैंने पूछा, "इस तुच्छ विषय से सुधार के प्रति अपनी राय आप कैसे दे सकते हैं ? इसे खा लेने पर क्या मेरी मति भ्रष्ट हो जायगी ?" उन्होंने कहा, "क्या इसी तरह तुम सुधरे हुए का असुधार करोगे ? क्या तुमको मालूम नहीं कि यह निषिद्ध फल है ?" वादविवाद में यह प्रकट हुआ कि इससे शारीरिक या मानसिक क्षति होती है। मैंने कहा कि यह तो नितान्त असंभव है क्योंकि भारत के अन्य कई भागों में इसे खाते हैं। थोड़ी देर के लिए यदि यह मान भी लिया जाय कि भारत के समस्त ब्राह्मण नहीं खाते तो भी जो लोग खाते हैं, उनका शरीर बलिष्ठ क्यों है ? उनकी मानसिक क्षति क्यों नहीं होती ? वे बोले—ब्राह्मणों के लिए इस फल का उपयोग उचित नहीं। क्यों ? ब्राह्मण तो इसे खाते हैं ?

मित्र—खाते हों, परन्तु शास्त्र में इसका निषेध है। ऐसी कुवस्तुओं को खाने से आचार-विचार में मलिनता आ जाती है।

मैं—माना, हमने कि सरयूपारीण (छत्तीसगढ़ के) इसे नहीं खाते परन्तु कान्य-कुब्ज तो खाते हैं, जिनका आचार-विचार हमारे आचारों से बढ़ा-चढ़ा है। इस पर मैंने एक-दो उदाहरण भी दिये।

अनन्तर अपनी रक्षा के लिए उन्होंने 'रुचि' को प्रधान बनाया। मैंने भी कहा कि अवश्य खाना और पीना अपनी रुचि पर है, इसलिए खानेवालों को असुधारक मानना ठीक नहीं। सच पूछा जाय तो वही सुधारक है क्योंकि अन्धपरम्परा को नष्ट कर वह मूल

सत्य को ग्रहण करने का पाठ पढ़ाता है।

अनन्तर वर्ण-व्यवस्था की चर्चा छिड़ी। उन्होंने कहा कि ब्राह्मणों को अन्य जाति का बनाया हुआ भोजन न करना चाहिए अथवा किसी का छुआ हुआ पानी न पीना चाहिए क्योंकि वर्ण-विभाग वैज्ञानिक विचारों पर निर्भर है। इससे शरीर की हानि होती है। ब्राह्मण सर्वोत्कृष्ट जाति है। ये प्रश्न बड़े महत्त्व के हैं और इन्हीं पर कुछ प्रकाश डालना इस लेख का एकमात्र उद्देश्य है। इसके लिए हमें यह जानना चाहिए कि वैदिककाल में वर्ण-विभाग था या नहीं? या यह अभी हाल ही का है?

वैदिक युग में वर्ण-व्यवस्था अवश्य थी परन्तु वर्तमान रूप में नहीं। उस समय मुख्यत: केवल चार जातियाँ ही थीं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। इसका प्रमाण यह है—

ब्राह्मणोस्य मुखमासीत् बाहुराजन्य कृतः,
उरू तदस्य यद्वैश्यः पदभ्याम् शूद्रो अजाततः।[1]

इससे यह स्पष्ट है कि वर्ण-व्यवस्था का आदि कारण कार्य-निर्वाचन है। यद्यपि वेद का उपर्युक्त कथन कतिपय मनुष्यों को नीरस और मिथ्या मालूम हो परन्तु इसकी सत्यता का प्रमाण वर्तमान युग ही है। पाश्चात्य देशों को अब इसकी जरूरत दिखाई देने लगी है। वर्ण-व्यवस्था के न होने से वहां के राजनैतिक और सामाजिक क्षेत्र में महाक्रान्ति उपस्थित है। वर्ण-व्यवस्था से अधिकारों का बँटवारा भलीभांति हो जाता है और सब कोई अपने उचित अधिकारों को प्राप्त कर सुचारु रूप से कार्य करते हैं।

यूरोप में बोलशेविक दल धनी-गरीब, राजा-प्रजा सबको एक कर देना चाहता है। वह सबको समान अधिकार देना चाहता है। उसका मत है कि कोई किसी का दास होकर न रहे परन्तु प्रश्न यह है कि यदि मजदूर ही न हों तो कारखानों का काम करेगा

---

१. (क) संदर्भ : पुरुषसूक्तम् : ऋग्वेद : १०।९०।१०

(ख) ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पदभ्यां शूद्रोऽजायत॥ ११॥

—शुक्ल यजुर्वेदानुसार

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्योऽभवत्।
मध्यं तदस्य यद्वैश्यः पदभ्यां शूद्रो अजायत॥

अथर्व० १९।६।६

(ग) अनुवाद—उसका मुख वही ब्राह्मण हो गया (इस पुरुष के मुख से ब्राह्मण हुए), उसी भुजाएं राजन्य (क्षत्रिय) बनाई गईं (बाहुओं से क्षत्रिय हुए)। जो वैश्य होकर उत्पन्न हुआ वे उसकी जांघें थीं (इस पुरुष के जो दोनों उरू हैं उनसे वैश्य) और उसके पादों से शूद्र उत्पन्न हुए (पैरों से शूद्र प्रकट हुए)।

—सम्पादक

कौन ? हमारे जूठे बर्तन कौन मलेगा ? इसके उत्तर में प्रथम यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक मनुष्य अपना अपना काम कर ले। यदि यह भी हो जाय तो कोई बुरी बात नहीं परन्तु इससे सहकारिता नष्ट होकर स्वार्थपरायणता आ जावेगी। हमारी उन्नति में वह बाधक है अतः वर्ण-व्यवस्था की आवश्यकता है।

इस व्यवस्था के मुख्य दो कारण हैं 'जन्मना' और 'कर्मणा'। 'जन्मना' से यह अर्थ निकलता है कि पिता का धन पुत्र को मिले या उसके कोई नातेदार को और 'कर्मणा' का यह अर्थ है कि वह अपनी इच्छा और शक्तियों को देखकर किसी कार्य द्वारा अपना जीवन निर्वाह कर ले।

वर्ण की व्यवस्था करने के समय 'जन्मना' की अपेक्षा 'कर्मणा' पर अधिक ज़ोर दिया गया था। लोग प्रधानतः उसी का अवलम्बन करते थे। विश्वामित्र का ब्राह्मण होना इसका यथेष्ट प्रमाण है। फिर 'जन्मना' की उत्पत्ति क्यों हुई ? थोड़ी देर के लिए यह मान लिया जाय कि 'जन्मना' न हो तो क्या होगा। यही कि हम में ईर्ष्या, द्वेष, लालच आदि दुर्गुण उत्पन्न हो जायेंगे क्योंकि 'जन्मना' या (ला आफ़ हेरिडिटरी) न होने से किसी व्यक्ति या परिवार की अधिक सम्पत्ति देखकर दूसरा व्यक्ति या परिवार उस पर अधिकार जमावेगा। पिता का धन पुत्र को न मिलकर और किसी के हाथ जाने लगेगा और सच्चा अधिकारी अधिकार छीननेवाले से युद्ध ठानेगा। इस तरह राष्ट्र विप्लव और क्रान्ति का घर हो जायेगा अतः 'जन्मना' की आवश्यकता वर्ण-व्यवस्था में अनिवार्य है।

अब 'कर्मणा' को लीजिये। यदि यह न हो तो क्या होगा ? यदि सबके-सब अपने-अपने कार्य स्वयं कर लें तो क्या काम न चलेगा ? क्या यह न रहे तो स्वार्थ की आग धधक उठेगी ? ईर्ष्या, द्वेष आदि दुर्गुण हर किसी में नजर आयेंगे क्योंकि फिर 'सहयोगिता' का नाम संसार से उठ जायगा। बड़ी-बड़ी उन्नति, बड़े-बड़े कार्य, जिनकी आवश्यकता प्रत्येक राष्ट्र जाति या व्यक्ति को है, न हो पायेंगे। उन्नति और परिवर्तन रुक जायगा। 'जन्मना' से 'कर्मणा' प्रधान है और दोनों के संयोग से राष्ट्र का काम भलीभांति चल सकता है।

परन्तु वर्तमान भारत में 'जन्मना' अधिक वन्दनीय है। इससे किसी को फायदा नहीं। यूरोप में तो वर्ण-व्यवस्था के न होने से अमीर को लाभ है परन्तु यहा वर्ण-व्यवस्था के होते हुए भी न अमीर को लाभ है और न गरीब को। इसके विपरीत फायदा है किसी अन्य राष्ट्र को क्योंकि भारत में इस समय पश्चिमीय का अन्तरग नहीं तो बहिरंग प्रभाव है। यह बहिरंग सभ्यता अंगरेज़ी पढ़े-लिखे मनुष्यों में ही नहीं परन्तु बेपढ़े-लिखे और पुरानी शिक्षा पाये हुए हमारे भोले-भाले पण्डितों में भी पाई जाती है क्योंकि आजकल यही मान मिलने का साधन हो गई है।

इस सभ्यता को पूर्ण करने के लिए गरीबों का गला घोंटा जाता और नित नये-नये छलछिद्रों का जन्म होता है। यूरोपीय मजदूरों का दल इस कारण निर्धन हो गया है। यहां के लोगों ने मदिरा-पान जैसी व्यर्थ चीजों में अधिक खर्च कर गरीबों का ग्रास छीन लिया है। फैशन से यूरोप में केवल मजदूर-दल ही की हानि हुई और धनी मालदार

हो गये परन्तु भारत में अमीर और गरीब दोनों दल ही आर्थिक हानि सहते हैं।

भारत में 'जन्मना' का प्रभाव अब अधिक होने से कई कुरीतियां दृष्टिगोचर होने लगी हैं। छूत-अछूत इसी का परिणाम है। इससे जाना जाता है कि अब भारत से उस आन्तरिक आत्मा का ज्ञान जाता रहा, जिसकी समस्त संसार में आवश्यकता है। इससे पारस्परिक सहयोगिता नष्ट हो गई क्योंकि एक को अभिमान करते देखकर दूसरा अभिमान करने लगा है। उन जातियों को छोड़कर जिनसे हमारा धार्मिक सम्बन्ध है, जैसे नाऊ, धोबी, कहार आदि शायद और कोई दूसरी जाति नहीं जो ब्राह्मणों का भी पकाया हुआ भोजन खाती हो। इन जातियों में एक धांगर जाति भी है, जो पालकी उठाती है। ये लोग ब्राह्मण के यहां भोजन नहीं ग्रहण करते। ऐसी अवस्था में उनमें शुद्ध प्रेम का होना कहां तक संभव है?

यदि आत्मा शुद्ध हो तो समय आ पड़ने पर नीची जाति का बनाया हुआ भोजन ग्रहण करना भी योग्य है और यदि आत्मा शुद्ध नहीं है तो उसे शुद्ध बना लेना चाहिए।

आचार-विचार करने वाले अधिकतर मनुष्य शंकित होते हैं और उनकी आत्मा दुर्बल हुआ करती है। हां, आचार-विचार से अवश्य मनःशुद्धि होती है परन्तु मनःशुद्धि करने वाले आचार-विचार कुछ दूसरे ही हैं। वे हैं ईश्वरभजन, यज्ञानुष्ठानादि।

इन विचारों को यानी नीची जातियों को ग्रहण करने वाले ब्राह्मण पर यह इल्जाम लगाया जाता है कि वे सनातन धर्म के अनुयायी नहीं, क्योंकि कहा जाता है कि छुआछूत मानना ही सनातन धर्म है। अच्छा, एक संयुक्त प्रान्त के और एक छत्तीसगढ़ के ब्राह्मण को लीजिये। हम जानते हैं कि दोनों कट्टर हिंदू, सनातन धर्म के पालक हैं और उन्हें छुआछूत का पूरा ज्ञान है, परन्तु एक सूती कपड़ा पहिनकर क्यों भोजन बनाता या खाता है और दूसरा क्यों कोसा या रेशम पहिनकर? एक अपने निश्चित चौके से बाहर निकलकर बनाना अधर्म समझता है और दूसरा क्यों बाहर भी पका सकता है? उसे ऐसे चौके आदि की आवश्यकता क्यों नहीं है? ऐसी दशा में किसको श्रेष्ठता दी जाय? सनातन धर्म वह है जो मनुष्य मात्र को अपना सके, मरते हुए अछूत को दवा-दारू पिलावे और समय पड़ने पर अपने ही सर पर लाद कर उसे दवाखाने में पहुंचावे। जब यह बात सनातन धर्म में नहीं तो वह सनातन धर्म में नहीं। सनातन धर्म वही है, जो सनातन से चला आ रहा है और जो हमारे वैदिक भारत का भूषण था। क्या वैदिक भारत में हमारे ऋषिमुनि ऐसे धर्म-कार्यों से मुख मोड़ते थे? कदापि नहीं। यदि हमें अपनी वास्तविक उन्नति करनी है तो आधुनिक विचारहीन जाति-भेद को हमें त्याग देना, दीनों का, अन्य जातियों को अपनाना; अपनी कठोरता से मुख मोड़ना और मन की संकीर्णता त्यागकर उस भव्य कर्म-क्षेत्र में आना चाहिए, जहां सामाजिक जाति-भेद नहीं; मानसिक जाति-भेद नहीं और जहां जाति-भेद है तो कार्य-व्यवस्था के हित।

इस पर यदि कोई कहे कि जब 'जाति-भेद' नहीं तो फिर ब्राह्मणों को जनेऊ क्यों पहिनना चाहिए। उत्तर में हम यह कहेंगे कि उनका चिह्न है। जनेऊ पहिनने का उद्देश्य यह है कि लोग जान सकें कि वह ब्राह्मण है; वे उनकी पूजा कर सकें। पूजा

इसलिए करें कि शास्त्र-पुराणों में उसका गान है। ब्राह्मणों की पूजा इसलिए की जाय कि उनका जीवन परोपकारमय है। यह चिह्न (जनेऊ) केवल ब्राह्मणों में नहीं, परन्तु प्रत्येक वर्ण में है, जैसे क्षत्रिय का, तलवार और विशेष प्रकार का वेश, वैश्य की चपटी या छोटी दबी हुई पगड़ी या और कुछ जिसका इस युग में लोप हो गया होगा। शूद्र का कोई निश्चित चिह्न नहीं।

अच्छा तो, अब खाने-पीने में कोई रुकावट नहीं तो अन्तर्जातीय विवाह में क्यों रुकावट डाली जाय ? यह विवाद तब शुद्ध और ग्रहणीय माना जा सकेगा जबकि वर-कन्या में आगे चलकर कोई अन्तरता न पैदा कर दे और जिससे उनका जीवन नष्ट हो जाय। अन्तरता स्वाभाविक इसलिए है कि यदि ब्राह्मण की लड़की वैश्य को ब्याह दी गई तो पूजानुरक्ता या अध्यात्म-नीतियों को जानने वाली वह लड़की व्यापारिक झंझटों या नीतियों से सहज ही घबरा उठेगी। यद्यपि इसके सांसारिक बंधनों को कष्ट न पहुँचेगा फिर भी वह आन्तरिक पीड़ा को न सह सकेगी। यदि वह सती और सच्ची हिन्दू बाला होगी तो वह अपने पति का त्याग कभी न करेगी या आत्महत्या कर संसार से छुट्टी लेगी। यही हाल पुरुष का भी होगा। हाँ, ऐसा विवाह तब पवित्र और सराहनीय हो सकता है जब विवाह के पहिले भिन्न जाति के पुरुष और स्त्री में प्रेम हो जाता है क्योंकि उस समय उन्हें दूर कर देना जघन्य कार्य है।

[प्रथम प्रकाशन : **मर्यादा** : जून, १९२० ई०]

वंशच्छेद

बंग देश के एक भूतपूर्व लैफ्टिनेंट गवर्नर ने, भारतवर्ष में मनुष्य संख्या की अधिकता से घबरा कर कहा था They breed and breed and breed और कई नवशिक्षित सज्जन जनसंख्या के विषय में मैलथस के सिद्धांतों का अनुसरण करते हुए संतानोत्पत्ति के विरुद्ध हैं। विलायत में इसके विरुद्ध भय हो रहा है कि उचित संतान नहीं उत्पन्न होती और जनसंख्या घट रही है। इसमें एक कारण तो है कि शिक्षित माता-पिता अपने एकांतगृह को चीं पों से पूर्ण करना नहीं चाहते, एक या दो संतानों की भोग्य संपत्ति पर पंद्रह सोलह को बिठाना नहीं चाहते और इससे यह होता है कि योग्य और शिक्षित लोगों का, और विशेषतः शिक्षित स्त्रियों का, प्रजनन नष्ट हो गया है। अतएव कई वैज्ञानिक मनुष्य वंश को उसी तरह बढ़ाना चाहते हैं जैसे घोड़ों की या बैलों की नस्ल सुधारी जाती है। या जैसे पेड़ों को देख-देखकर कलम लगाई जाती है। औषध या वैद्यों के उपदेश केवल मार्ग ही दिखला सकते हैं, और जीवन मनुष्य जाति को एक बड़े भारी अन्धकूप में ले जा रहा है जिसमें से राजनियमों से वैद्यक-शास्त्र उसे बचा सकता है।

सब कहीं, वंशज रोग, वंशज मद्यपान, अंधापन, बहरापन, कोढ़ प्रभृति बढ़ते जाते हैं। सेना के योग्य मनुष्यों की संख्या घटती जाती है और नये उपनिवेशों में मँगते, पागल और पापी बढ़ते जाते हैं। इसका कारण यही है कि जो अच्छी संतान उत्पन्न कर सकते हैं, वे नहीं करते, और अयोग्यों का जनकत्व घटता नहीं, किंतु बढ़ता ही है।

पहले बालक रोगों से मर जाते थे, और जो बचते थे, 'सत्तम' रहते थे, किंतु डाक्टरी से बालरोगों से मौत तो घट गई किंतु दूध के साथ औषध का विष लेकर बालक बड़े होने पर अयोग्य और क्षीण सृष्टि को बढ़ाते हैं। सार्वदेशिक अधःपात का भूत सत्य है, हमारी घ्राणेन्द्रिय पशुओं से कम हो गई है, सभ्यता से दाँत गलते जाते हैं, आँखें अनुपयुक्त होती जाती हैं, अस्थियाँ, स्त्रियों के स्तन, और विषयवासना घटती जाती है। परिणाम यह होगा कि हाथ गीले होते ही ज्वर आ जाया करेगा, साधारण वायु हमारे श्वास के लिए भट्ठी होगी, इसकी छनी छनाई 'आक्सीजन' बाँधते फिरना होगा, और बिना उसके मछली की तरह तड़पना होगा। आँख को रोज साफ करना होगा, मद्य और तम्बाकू से उत्तेजना न पाकर मनुष्य विषों से काम लेंगे, सहवास असभ्य समझा जाकर प्रजनन कृत्रिम उपायों से किया जाया करेगा। इस मार्ग पर चलते-चलते हमारा जीवन वनस्पतियों का-सा हो जायेगा। इस भयंकर परिणाम का भयंकर उपाय डाक्टर चैपल ने यह बताया है कि जो स्त्री बलिष्ठ संतान जनन के अयोग्य है या जो दुर्बल संतान जननेवाले को ब्याही जा चुकी है, उसे बलात्कार से, सरकारी कायदे से, डाक्टरी उपाय से, गर्भाशय को काटकर वंध्या बना दिया जाय। इस दुर्बल श्रेणी में सभी रोगी और असमर्थ आ गए हैं। किंतु केवल अयोग्यों को वंध्य करने से काम न चलेगा। इस निषेधात्मक क्रिया से वंश का लोप शीघ्र होगा जब तक कि योग्यों को संतान उत्पन्न करने में बाधित न किया जाय।

बुद्धि के व्यायामों में लगने से शक्तिहीन होकर, कितने ही प्रजनन नहीं करते और कितने देशों में यह स्वयं सिद्ध सिद्धांत हो गया है कि कोई पत्नी बिना अपनी इच्छा के माता नहीं बनाई जा सकती, और पति भी नहीं चाहते कि कई पुत्रों के पिता बनकर उन्हें निर्धन या अशिक्षित छोड़ जायँ, कठिनाई तो यह है कि इन सिद्धांतों को प्रजनन के योग्य वंश मानते हैं, जिससे इंग्लैण्ड में प्रति दिन पांच सौ जन्म कम होने लग गए हैं और कहीं-कहीं बीस प्रति सैकड़ा जन्म घट गए हैं। पहले तो सिद्धांत था कि संपत्ति बढ़ने से संतति बढ़ती है, किंतु अब संपत्ति बढ़ने से संतति का नाश होता है, क्योंकि संतति होने से अपने लाभ और उत्साह को रोकना पड़ता है। नाड़ी-विज्ञान के नियम से इन लोगों ने पत्नीत्व और मातृत्व को पृथक् कर लिया है और जनक होकर भी वे दांपत्य सुख से निबाह देते हैं। अर्थशास्त्र का यह नियम तो वंशच्छेद करता ही है, किन्तु स्त्रियों की उन्नति और अपने अधिकारों का जानना भी इस घोर परिणाम का कारण है। वे परिवार को कम करना चाहती हैं, और वेदना को बारंबार नहीं सहना चाहतीं। वर्तमान युग पीड़ा से घबड़ाता है। और, यदि पुरुष उस वेदना को जानते तो स्त्रियों की इस 'हड़तालों' को बुरा न कहते। किंतु उस वेदना का अनुमान करके पुरुषों ने भी स्त्रियों के उस कार्य में सम्मति दे दी है जिससे प्रेम और पशुवृत्ति का पूरण हो जाय, किंतु मातृत्व न उठाना

पड़े। यद्यपि यों इन दोनों कर्मों का पृथक् करना बुरा है, किंतु संतान को पाल सकने वाले, संपन्न, अपनी शक्ति भर संतान उत्पन्न करें और असमर्थ और दुर्बल इस काम से रोके जायँ तो यह न्याय है। नहीं तो पृथ्वी से अच्छे-अच्छे वंश लोप हो रहे हैं और हो जायेंगे और दुर्बल लोग और दीन पृथ्वी को छा लेंगे। अतएव अच्छे सामाजिकों का धर्म है कि जितनी संतति उत्पन्न कर सकें, करें किंतु उन्हीं में इसका विरोध पाया जाता है। तो, बलात्कार से वंध्यत्व का नियम चलने पर कितना बड़ा अनिष्ट होगा। योग्य स्त्रियां भी यदि इस डाक्टरी उपाय का परिणाम वंध्यत्व जानेंगी तो वे क्या इसे पहिले न स्वीकार करेंगी? वे इस यातना से बचने की पीड़ा भी सहेंगी, किंतु यह आपरेशन तो बिना पीड़ा के होगा। अतएव विचार है कि योग्य स्त्री को वंध्या करने वाले डाक्टर को दंड की व्यवस्था की जायेगी। यदि डाक्टर को रुपया देकर मैं अपनी आंख निकलवा लूं तो राजा क्या कह सकता है! कौन जूरी यह कह सकेगी कि बिना पीड़ा का आपरेशन करना, प्रार्थना पर दंडनीय है? और इस नियम से ब्रह्मचारियों को भी दंड मिलना चाहिए। यों अयोग्यों को बलात्कार से वंध्य किया जाय, और योग्य स्वयं वंध्य होते जायें, तो संसार में बचे मनुष्यों को पांव पसार कर सोने का स्थान खूब मिल जायेगा। यों योग्यों का संतान उत्पन्न न करना भयंकर है, और ज्ञान के विस्तार से जब मूर्खों और नीचों में भी यह ज्ञान पहुँच गया कि जनक के बिना वासनाएं पूरी हो सकती हैं, तो अनर्थ हो जायगा और "सत्तमों का अवशेष" जगत् पर छा जाएगा। यह सब तत्त्व Review of Reviews से लिए हैं।

श्वेतों की इस चिंता में हमें भी चिंता का कारण है कि पीत और श्याम जातियां संतान उत्पन्न करने में धर्म समझती हैं और वे अर्थशास्त्र या स्त्री-स्वाधीनता के चक्र में जनसंख्या घटाती नहीं। तब भला उनका दिन-रात बढ़ता बोझा कोन उठावेगा? जब ग्वाले और गड़रिए कम हो रहे हैं तो बढ़ती हुई रेवड़ को कौन सम्हालेगा? 'मुनीनां च मतिभ्रमः'।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : जनवरी-फरवरी-मार्च-अप्रैल, १९०५ ई०]

खेल भी शिक्षा ही है[१]-१

प्रकृति कितनी उजाड़नेवाली है यह देखकर सबको ही विस्मय होता है,—कई जीव मरते हैं, नदियां कई मील मट्टी को बहाकर ले जाती हैं, लड़ाई में, मद्यपान में, जूआ में कई

१. (सितंबर, १९०३ के 'कंटेम्पोरेरी रिव्यू' में छपे डाक्टर हचेसन के लेख सारांश) ('समालोचक'-संपादक द्वारा संक्षिप्त और परिवर्तित)

लोगों का सर्वनाश होता है, यह प्रकृति का 'उड़ाऊपन' बड़ा भारी कलंक है। किंतु ध्यान देने से प्रतीत होगा कि यह दूषण नहीं, भूषण है। मृत्यु एक प्रकार की किफायत है जिससे टूटे हुए प्रयोग, प्रकृति की हँडिया में फिर गढ़े जाकर बढ़िया रूपों को धारण करते हैं, नदियों की बहाई हुई मीलों मिट्टी समुद्र के तले जाकर अंत को 'डेल्टा' के रूप में मनुष्य जाति के लिए नये निवास और क्षेत्र बनाती है, युद्ध का 'दिव्य' वीरता प्रभृति गुणों का पैदा करनेवाला है, मद्यपान अयोग्यों को टालता है और द्यूत राज्य-स्थापक, खोजी व्यापारी के कर्मों का कुछ बढ़ा हुआ नमूना है। हानि और लाभों से बहुत कम होने पर भी उनकी जननी है।

यों ही हमारे जीवन में 'बहुत सा भाग वृथा जाता है' यह पुकार सुनी जाती है। जीवन में हम चलते हैं, सोचते हैं, करते हैं, किंतु क्या जीवन का दो-तिहाई अंश देह अंजन को चलाने के लिए भोज्य-कोएले के संपादन में नहीं व्यतीत होता ? हम जीने के लिए खाते ही हैं, किंतु खाने के लिए भी जीते हैं. खाना, शक्ति पाना, उसी शक्ति के लिए फिर खाना—इसी चक्र में हम घूम रहे हैं।

दार्शनिक लोग सदा ही इस बात पर पुकारते आए हैं कि मनुष्य जाति का कितना ही समय इस जड़ देह को खिलाने, पहराने, सजाने में व्यतीत होता है, किंतु अब हम जानने लगे हैं कि इस गधे की तंदुरुस्ती से ही मानसिक शक्ति और आध्यात्मिक गुण प्राप्त होते हैं। तो अच्छे फल फूल पाने के लिए भद्दी जड़ों में जल देना क्या मूर्खता है ? यों ही बालकों का निसर्ग (पशुवृत्ति) है कि बिना प्रयोजन के कामों में, खेल में समय बिता दें, और गर्वान्ध धार्मिकों की दृष्टि में टहलना फिरना शैतान का काम है, बैठकर स्तोत्रपाठ करना जगदीश्वर का भाग है। निसर्ग बलात्कार का शत्रु है। धर्माचार्य, पाठक और रटाने वाला सब वही चाहते हैं जो बालक कभी नहीं करेगा, अर्थात् बैठकर पढ़ना ही पढ़ना। भला दुनिया एक सराय है, यहाँ से दूसरी जगह जवाबदेही के लिए जाना है, तो क्या इस छोटे से जीवन को यों खो दिया जाय ? हाय रे ! अब इन अधिकारों की नहीं चलने पाती।

सदा से मानते आए हैं कि मन, बुद्धि, और इंद्रिय सदा अच्छी बातों के बने बनाए शत्रु हैं, किंतु अब लोग जानने लगे हैं कि प्रवृत्ति का हठ सम्मान का बीज है, निसर्ग की बलवती इच्छा ही उस कार्य के भलेपन का लक्षण है।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : अक्तूबर-नवम्बर, १९०३ ई०]

खेल भी शिक्षा ही है-२

"मनुष्यों ने बड़ी भारी मूर्खता की जो पशुवृत्ति (निसर्ग) को घृणा से देखना आरंभ किया, यह तो पशुवृत्ति है" यह कहना ही किसी काम की बुराई का सूचक हो गया,

किंतु गवेषणा से देखा जाय तो पशुवृत्तियां, करोड़ों पीढ़ियों के अनुभव का सार हैं। हानिकारी काम के लिए निसर्ग पैदा ही नहीं हो सकता, हानिकारी काम की ओर प्रवृत्ति रखने वाली जाति ही नष्ट हो जाती है।

व्यक्ति-जीवन में भी, 'अच्छी आदतों का डालना' और कुछ नहीं है, केवल सद्विवेक (भले-बुरे की पहचान) शक्ति की आज्ञाओं का अनुभवानुसार पशुवृत्ति के रूप में परिणत करना ही है। पशुवृत्ति से भूल भी हो सकती है क्योंकि सीमाओं के या पार्श्ववर्ती दशाओं के बदले जाने से पशुवृत्तियाँ हानि भी कर सकती हैं। किंतु पशुवृत्ति बुरी ही है यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि कई उपयोगी काम पशुवृत्ति से ही किए जाते हैं। इससे खेलने की इच्छा को गालियां न देकर उसका विश्वास करना चाहिए कि जब उसका इतना हठ है तो अवश्य ही हमारे पूर्व पुरुषों को पिछले झगड़ों में उसने बहुत ही काम दिया होगा। अब हम मानने लगे हैं कि प्राकृतिक इच्छाएँ बलवती हैं और काम की हैं, हम, विद्यार्थी जो न करना चाहे वही उससे कराना—इसी का नाम शिक्षा है। बिन कठिन हुए पढ़ाई ही नहीं, पढ़ाई में आनंद आवै तो वह पढ़ाई काहे की, इन बातों को नहीं मानते। हम शिक्षा को विद्यार्थी दिलाना नहीं चाहते, किंतु विद्यार्थी को शिक्षा दिलाना चाहते हैं।

खेलना वह शक्ति है, जिसके दर्जों का भेद, मनुष्य का उच्च पशुओं से, और उच्च पशुओं का नीच पशुओं से जो भेद है उसका द्योतक है। जन्म के साथ बालकत्व और परवशता एक तरफ और एक तरफ बुद्धि आरंभ होती है। जो जीव खेल सकते हैं, वे सिखाए भी जा सकते हैं। बुद्धि की वृद्धि के साथ-साथ माता-पिता के अधिक अधीन रहना पड़ता है अर्थात् अधिक बुद्धिमान जीव अधिक दिन परवश रहता है। परवश रहना ही खेलने का काल है। अर्थात् अधिक खेलनेवाले जीव ही अधिक बुद्धिमान् होते हैं, क्योंकि खेलना उन शक्तियों की कवायद और परीक्षा है जिनके ऊपर, आगे जाकर जीवन निर्भर होगा।

दृष्टांतों से समझिए। मेंढक जन्मते ही अपनी रक्षा करने को समर्थ होता है, जनक उसकी संभाल नहीं करते इससे वह बिल्कुल नहीं खेलता। भोजन तलाश करना और समय पर स्त्री सहवास करना यही उसका कर्तव्य है। बस वह इन्हीं दो कर्मों की गठरी है। मेंढक की प्रत्येक छलांग पशुवृत्ति मात्र है, या तो भोजन पाने को या तो शत्रु से बचने को, खेलने को नहीं।

यही दशा मछलियों की है, यद्यपि बड़ी होने पर ये खेलती हैं अर्थात् बिना किसी काम के भी तैरा करती हैं। किंतु स्वभाव में मछलियां बहुत कम खेलती हैं इससे वह कुछ भी शिक्षा नहीं पा सकतीं इसके सिवाय कि घंटी बजाने पर खाने को आ जायं। कई मछलियां किनारे पर आदमी देखकर खाना मिलने की आशा से तट पर भी आ जाती हैं, हाथ पर से राम-नाम की गोलियां भी चुन लेती हैं। एक सज्जन ने घंटी बजाकर मछलियों को उसकी आवाज पर भोजन के लिए एकत्र करने का अभ्यास डाला। फिर घंटी के लटकन में डोरी बाँध कर, उसमें कुछ बांधकर उसे खेंचने से मछलियों को घंटी बजाना भी सिखाया। जब एक मछली घंटी बजाती तो और भी आ

जातीं, किंतु भूख लगने पर घंटी बजाकर इकट्ठा होना वे न सीख सकीं। याने वे 'एक पद' संयोग की शक्ति रखती हैं, उनका मन दो (भाव से) पदों का संयोग नहीं कर सकता।

अब जरा पशुओं में नीचे भी चलना चाहिए क्योंकि कई लोगों की बुद्धि में चींटी और मधुमक्खी बहुत बुद्धिवाली होती हैं। किन्तु यद्यपि चींटियों में जाति-भेद है और कर्म-भेद है तथापि वे केवल अचेतन भारवाहक ही हैं, और जन्म से (न कि शिक्षा और ज्ञान से) उनकी प्रवृत्ति इस ओर होती है। एक चींटी दल निसर्ग से बच्चों को पालता है, दूसरा निसर्ग से अन्न ढो लाता है, तीसरा शत्रुओं से लड़ता है। यदि चींटियों को किसी काम में लगा पाकर उनका पहला हिस्सा काट डालें तो भी बाकी हिस्सा उस काम से न हटेगा अर्थात् न खेलने के कारण उनमें अपने काम को जानने की बुद्धि नहीं है, सब काम जड़ता ही किए जाती है। बड़े-बड़े चिंउटों से तो सर्जनों के ऐसे टांके देने का काम लिया जाता है, अर्थात् चींटे के जबाड़ों में दोनों ओर का मांस फँसाकर उनका पिछला भाग काट दिया जाय तो अग्रभाग वैसे ही चिपटा रहेगा। पहले मानते थे कि ये एक दूसरे से बातचीत कर सकती हैं, क्योंकि जहां मिठाई पर एक चींटी पहुँची तो वहीं पचासों मौजूद ! किंतु इसका कारण खाद्य पदार्थ की गंध है। चींटियाँ अपनी मित्र चींटियों को बहुत दिनों पीछे भी पहचान लेती हैं, और अपने निवास में आए शत्रुओं को फाड़ देती हैं, किंतु शत्रु का रुधिर मित्र के और मित्र-रुधिर शत्रु के मल देने से वे उलटा व्यापार दिखाती हैं। मनुष्य की दृष्टि में इनका काम और परिश्रम मूर्खता है, बुद्धिमत्ता नहीं; यही हाल मधुमक्खी का है। सैकड़ों वर्षों से इनको हम आदर्श मानते आए हैं, किंतु बालक 'पशुवृत्ति' से ही अपने गुरुओं से अधिक जानते थे, इसी से उसने इनका अनुसरण नहीं किया।

पक्षियों में भी खेलने की प्रवृत्ति बहुत कम है। वे पक्षी जो वृक्षों पर और ऊंची जगहों पर गोल खोते बनाते हैं और जिनके बच्चे कमजोर होने से अधिक संभाल के प्रार्थी होते हैं अधिक शिक्षा पा सकते हैं और अधिक खेलते हैं। इसके विरुद्ध भूमि पर खोता बनाने वा अंडा देने वाले पक्षी जिनमें जन्मते ही बच्चों की आँख खुल जाती हैं और जो झट दौड़ने और खाने लगते हैं, नहीं खेलते और शिक्षा नहीं पाते।

द्वितीय श्रेणी में मुर्गे गिने जाने चाहिए। इनके बच्चे जन्म से २० मिनिट बाद ही कीड़ों पर चोंच मारते हैं, ये कभी नहीं खेलते, केवल कीड़ों के लिए लड़ते हैं। झटपट उनका जीवन शुरू हो जाता है और इसी से 'मुर्गी के बच्चे' यह मूर्ख के लिए गाली का शब्द है। मांसाहारियों के पंजे में कई शताब्दियों से पड़े रहने पर भी अब तक ये (मुर्गी, तीतर, पँरू, बत्तक) कुछ न सीख सके। पालतू मुर्गा प्रायः असंभव सी बात है, किंतु जहां चाहो वहां पालतू भेड़, बछेड़े, बछरे, सुअर तक देख लो। कौवे अधिक बुद्धिमान हैं, उच्च स्थानों में खोते बनाने वाले पक्षियों की बुद्धिमत्ता उसी क्रम से अधिकाधिक है जिस क्रम से वे अधिक खेलते हैं वा नाचते हैं। सबसे उच्च दशा में तोते और मैना हैं, जो खेला करते हैं, मजाक पसंद करते हैं और इसीलिए सबसे अधिक बुद्धिमान हैं। हँसना बुद्धि का चिह्न भी है फल भी है।

पशुओं में आइए तो अधिक खिलाड़ी मिलेंगे। कंगारू में खेलने का उतना प्रेम नहीं है किंतु धीरे-धीरे उन्नति पद पर आकर देखते, बकरी और बिल्ली के बच्चे अपनी खेलवाड़ के लिए कहावतों में प्रसिद्ध हैं। बिल्ली का बच्चा अपनी बहन की पूंछ पर, वा डोर के गुच्छ पर वैसे ही झपटता है जैसे कि बड़ा होने पर चूहों पर, चिड़ियों पर वा दूसरे बिलार पर झपटेगा। भेड़ के वा गौ के बछड़े की खेल-कूद, सोचिए तो, कितनी प्यारी है ! दोनों अपनी टांगों को सब ओर फटकारते हैं जिससे निश्चय हो जाय कि यह हमारी ही है। बछड़े का टकराना उस भविष्यत् बड़प्पन का सूचक है जब वह अपने श्रृंग के बल से गोविंद होकर "सुरमोरनुनिः सपत्नं" गमन करेगा। बछड़े का कूद कर ऊंचे टीले पर चढ़ जाना अपने पूर्वजों की वीरोचित प्रवृत्ति का नमूना है। जरा बंदरराज का भी ध्यान कीजिए, वे तो दिन-भर खेला ही करते हैं।

क्या हमको अपने (मनुष्य जाति के) बालकों का खेलना अच्छा नहीं मालूम देता ? उनमें भी खेल आगामी जीवन की दशा बताती है और उन्हें जीवन के योग्य बनाती है। बालक अपने पूर्वजों की नकल करता है। प्रकृति की खेलने की पाठशाला में जो पढ़ाया जाता है रटाई की शिक्षा उसकी भी नकल है। खेलने में बालक को विश्राम मिलता है, भूख लगती है, तंदुरुस्ती होती है, यही नहीं, उसके मन और मस्तिष्क की भी रचना होती है। बालक भी २०वीं शताब्दी में नहीं जन्मता, और न महलों में जन्मता है, वह उस काल में जन्मता है, जब मनुष्य गुहावासी थे और प्रालेय और प्रलय से बचते फिरते थे। मनुष्य जाति ने जीवन को जैसे आरंभ किया था, बालक का सुकुमार मन भी जीवन का वैसे आरंभ कर, सभ्यता की उन्हीं दशाओं में होता हुआ, बड़ों का अनुकरण करता हुआ बढ़ता है। मनुष्य जाति में और मनुष्य बालक में उन्नति का क्रम पहचानने से यह संबंध प्रकाशित होता है—पकड़-धकड़, शिकार, शांति, खेती और व्यापार।

इस बीसवीं शताब्दी में जन्मे बालक को जो दिखाई देता है वही खाने का पदार्थ माना जाता है। कोले से लेकर खिलौने तक जो कुछ उन गुलाबी हथेलियों में आया, वही मुखारविंद में गया मानो वही खजाना है। देह के अंगों के अपने होने की परीक्षा भी मुंह में डालने से होती है। बिना वस्त्र के मनुष्यों को भी पहले मुख ही 'अपना' होगा, पाकट तो थे ही नहीं। जहां रेंगकर चलना आया कि शिकार की सूझी, माता की कैंची हो, या पिताजी की अँगूठी, बच्चे के हाथ लगी कि मुखारविंद में ! अब खिलौने, पक्षी, गुड़िया, सबको पकड़ने का ही ध्यान होता है और यों बालक 'शिकार' की दशा में आ पहुँचा। साथ-ही-साथ उसे छिपना आ जाता है, तकिए के पीछे, खंभे के पीछे, माता ही के पीछे, और कुछ भी न हो तो अपनी आँखों के सामने हाथ ही करके अपने को छिपा मान कर आगन्तुक पर हँसते हुए झपटना और आँखमिचौनी प्रभृति खेलना आदिम शिकारी मनुष्यों की नकल है और वन्य पशुओं से डरकर उनकी तरह ही छिपना है। साथ ही दरवाजे के बाहर 'हाबू' गली में जाओ तो 'भूत' रात को 'काला रींछ' अँधेरे में और कोई चौथे वीर, मनुष्य जाति के उस पुराकाल के स्मारक हैं।

शिकार के साथ ही साथ लड़ाई और शांति दोनों आरंभ हो जाती हैं। लाल जी लाठियां लेकर बिल्ली को मारते फिरते हैं, तलवार बांधते हैं, गुड्डियों की फौज बनाकर

किले जीतते हैं। गलियों में लड़कों के दल बन जाते हैं। पार्टी पार्टी में बहस होती है। राजा की कचहरी होती है, चोर का इंसाफ होता है, साथ ही साथ में मिट्टी के घर बनाए जाते हैं, रसोई की जाती है, दुकान जमती है, लेन-देन होता है, घोड़ी पर सवार होकर ही फिरना होता है, खेती की जाती है, तोते पाले जाते हैं, कुत्ते, बिल्ली, गिलहरियां तक पाली जाती हैं, उनसे प्रेम उत्पन्न होता है। इमारतें बनती हैं गुड़ियों के ब्याह होते हैं। और मरी गुड़ियां जलाई जाती हैं। यही सब कर्म करके मनुष्य जाति ने वर्तमान सभ्यता पाई है। फिर व्यापार आरंभ होता है, जैसे पैसों से जेब भरना, तुलसी के पत्रों को ही खेल में बेचना, कोई कुछ काम करने को कहे तो, "मुझे क्या देंगे?" पूछना, मिठाई मिले तो चुप रहना, नई टोपी मिले तो मदरसे जाना इत्यादि।

प्रकृति की पाठशाला में मनुष्य जाति ने जो १०००० वर्ष में किया है, बालक खेलने की महिमा से ८-१० वर्ष में वही करके जंगली गुहावासी से खासा व्यापारी बन गया। यहाँ पर बालक ने अपनी गूढ़ शक्तियों की कवायद मात्र की। किंतु इस बात पर लोग यह आपत्ति उठावेंगे कि यों धन कमाना, चालाकी, लड़ना, वा शांति सीखे भी सही, किंतु मानसिक शिक्षा कहां हुई? मानसिक शिक्षा की दृष्टि में तो खेल विश्राम ही है; मन एंजिन का फालतू धूम निकालने के लिए ढिपनी के समान ही है।

किंतु खेल का देहगठन में जितना काम है, मस्तिष्क-गठन में भी उतना काम है। मस्तिष्क साधारण मांसपिंड का विवर्त-सिद्ध उन्नत रूप मात्र है। देह की आवश्यकता के अनुसार स्नायु बनते व बढ़ते गए। मस्तिष्क देह का नौकर ही तो है। पहले पहल सृष्टि में जब एक पदार्थ को दूसरे से संबंध करना पड़ता है तो आकर्षण बल से उस तक जाना वा उसको अपने पास लाना जरूरी था। कई पास-पास के वृक्ष सरक-सरक के मिलते हैं और पत्थर लुढ़क कर नीचे आ जाता है। इसी साधारण उपाय की उन्नति होते-होते कुछ जीवों को रेंगना आया और उसी के विवर्त से टांगे बनीं जिनसे जीव दूसरे पदार्थ तक जा सकता है। इसी उन्नति के साथ-साथ ऊपर के मांसपिंड बढ़कर हाथ बन गए। फिर भिन्न प्रकार के पकड़ने (ज्ञान) के लिए नाक खुल गए और आँख ने तथा कान ने पकड़ने का नया उपाय पा लिया। यह सब आवश्यकतानुसार हुआ और साथ ही साथ त्वक्संवेदन और स्नायु जाल सारेप ले गया और तारघरों की तरह उन तारों का केंद्र एक मस्तिष्क तक चेतना पहुँचती है और वहां से मांस के बल्लों को आज्ञा मिल जाती है। यों इंद्रिय चेतनाओं का तंतुओं के द्वारा जाना जाकर काम करना और काम की अधिकाई से एक केंद्र वा तार महकमे के इंस्पेक्टर (मस्तिष्क) का बनाना छोटे-मोटे जीवों से मनुष्य तक किस प्रकार हुआ है और खेल ने इसमें कितनी सहायता दी है, इस बात को पाठक बहुत ध्यान देकर पढ़ें। बड़ा आनंद आवेगा।

एक प्रकार की मच्छियों में मस्तिष्क नहीं होता, केवल सारे देह पर तंतुजाल ही बिछा हुआ होता है जिसके एक अंश को छूने से स्नायु पर दबाव पड़ने से मछली भाग जाती है या अपने कांटे बढ़ाकर शत्रु पर हमला कर देती है। वही तंतुजाल 'जेली' मत्स्य के मुँह के चौतरफ कमरबंद की तरह बंध जाता है और 'तारा मत्स्य' में गलेबंद की तरह मुँह के ऊपर लिपटा जाकर अपनी शाखाएं सब अंगों में फैलाए रहता है।

कीड़ों में, सारे देह में व्याप्त ज्ञानतंतु की दोहरी गांठ के साथ पीठ में जुड़ा हुआ वही गलेबंद मुँह के पास होता है। यद्यपि देह के प्रत्येक अंग में ज्ञानतंतु की दो-दो गांठें होती हैं, तो भी मुँह के पास गांठों को अधिक काम करना पड़ता है इसलिए उन्नति होते-होते, प्रयोग बाहुल्य से वह गलेबंद की-सी गांठें बन जाती हैं। उनमें गंध-ग्रहण की शक्ति होती है और रूप भी कुछ-कुछ पहचाना जाता है। क्रे-मत्स्य में भी यही सिर पर गलेबंद और पीठ पर ज्ञानतंतुओं का तार होता है, किंतु यहां गलेबंद कुछ बढ़ जाता है। कीड़ों में तो उसे 'नासिका-मस्तिष्क' कह सकते हैं, किंतु आँखों के निकल जाने मे मस्तिष्क में तीन पोटलियां सी बन जाती हैं और इसे 'नासा नेत्र' मस्तिष्क कह सकते हैं। उससे उच्च जीवों के मस्तिष्क में इतना ही विशेष है कि नेत्र पोटली मस्तिष्क में और भी प्रकट हो जाती है और उनके सिवाय ज्ञानतंतु कुछ और भी बढ़ जाता है।

यहां से मस्तिष्क का बढ़ना आरंभ होता है। उस ज्ञानतंतु के छल्ले से मुँह तो बाहर निकल आता है और ज्ञानतंतुसंघ उलटकर मेरुदंड में घुस जाता है। मुँह से ऊपर ही मस्तिष्क है, उसकी पूंछ में, जो मेरुदंड में प्रविष्ट है, अब न्यारी-न्यारी गांठें नहीं रहीं किंतु एक ही संबंधरेखा हो गई। मस्तिष्क में सामने ही 'नासिका पोटली', बीच में 'नेत्र पोटली' और बगल में 'कर्ण पोटली' हुई और कटे हुए मस्तिष्क के बाकी अंश के दो 'गोलार्ध' बने रह गए। इन जीवों से मनुष्य पर्यंत, इन गोलार्धों के बढ़ने का ही विशेष है, नहीं तो मस्तिष्क का क्रम वही रहता है। यह गोलार्ध नासिका पोटली से विशेषतः और औरों से गौणता से सहायता पाकर बढ़ते जाते हैं। ये छोटी मछलियों में नासिका पोटली के समान, सालमन मीन में उससे द्विगुण, मेंढक और छिपकली में तीनों पोटलियों से बड़े चिड़ियाओं में मस्तिष्क से आधे, कुत्तों में प्रथम पोटलीत्रय से तिगुने, और मनुष्य में प्रायः अठगुने हो जाते हैं। खाना अच्छा है वा नहीं, यह निश्चय करने के लिए मुख के ऊपर ही नासा मस्तिष्क उत्पन्न हो जाता है और देह के उसी भाग को अधिक खतरे रहने के कारण वही नेत्र मस्तिष्क हो गया। अब देह समाज की इस राजधानी में दो प्रतिनिधि आ गए और सब अंगों के ज्ञानतंतुओं के प्रतिनिधि आ मिलने से उनकी सम्मिलित शक्ति से मस्तिष्क गोलार्धरूपी पार्लमेंट स्थापित हो गई।

यही सब बातें मनुष्य की गर्भावस्था से लेकर उसी क्रम से होती हैं जिस क्रम से कि वह नीच जीवों से उच्च जीवों पर्यंत होती आईं। गर्भ में रसांश के चौतरफ डोरी-सी फिर जाती है और वह डोरी छोरों पर लिपटकर बीच में धंसकर सिर की तरफ निकलने लगती है। निकलते ही सामने नासा पोटली, आंखों से निकलने वाली डोरी से नेत्र पोटली, कानों से निकलनेवाली डोरियों से श्रोत्र पोटली बनकर इन तीनों से मस्तिष्क गोलार्द्ध निकलने लगता है और इन सबको लपेट कर इन सबसे बड़ा भाग रोक कर मस्तिष्क १०० में ८५ के अनुपात को पहुंच जाता है।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : मार्च-अप्रैल, १९०४ ई०]

शिक्षा के आदर्शों में परिवर्तन

पहले यह माना जाता था कि विद्या कोई बाहरी चीज है जिसे गुरु पढ़नेवाले के हृदय में घुसेड़ता है। पढ़नेवाले का हृदय कोरा कागज है और उस पर गुरु नये अक्षर और नये संस्कार अंकित करता है। उसके खाली मस्तिष्क में या पोले मन में कोई बहुमूल्य पदार्थ बाहर से भरा जाता है जैसा कि रहीम ने एक सुन्दर उपमा से कहा है :

रहिमन विद्या पढ़न में, बालक झोंका खाय।
तन घट अरु विद्या रतन, भरत हिलाय हिलाय॥

अथवा जैसा वैदिक काल की एक पुरानी गाथा कहती है :—

यथा खनन् खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति।
एवं गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति॥

(जैसे कुदाली से खोदते-खोदते आदमी को पानी मिल जाता है वैसे सेवा करने वाले को गुरु में से विद्या मिलती है।)

पर यह आदर्श अब बदल गया है। विद्या कोई बाहरी चीज नहीं है जो गुरु को बाहर से ठूंस कर भरनी पड़ती है। गुरु का काम शिष्य के हृदय की सोती हुई शक्तियों को जगाना है, उसके सहज और परम्परागत संस्कारों को चिताना है। पीढ़ियों से पशुत्व और मनुष्यत्व के जो भाव उसके मस्तिष्क में हैं उन्हें उत्तेजित करना, उनमें जो हानिकारक हों उन्हें मिटाना और जो अच्छे हों उन्हें प्रबल कर देना—ये गुरु का काम हैं। गुरु धोबी के गधे को जौनपुर का काजी नहीं बना सकता। कथा के अनुसार वह फिर रस्सी देखकर दौड़ा चला जावेगा। गुरु बाहर से कुछ नहीं डालता, भीतर के अचेतन बलों को चमका देता है। गुरु का काम जिला करने वाले का, या रत्नों को घिसनेवाले का है, नई वस्तु गढ़नेवाले का नहीं। भवभूति इस सत्य को कुछ-कुछ कह गया है :

वितरति गुरु प्राज्ञे विद्यां तथैव, तथा जडे-
न च खलु तयोर्ज्ञाने शक्तिं करोत्यपहंति वा।
भवति च त्तयोर्भूयान् 'भेदः' फलं प्रति तद्यथा,
प्रभवति शुचिर्विम्बोद्ग्राहे मृणिर्न मृदां चयः॥

जिसकी आँखों पर पट्टी बंधी हो, उसे जैसे सड़क की लीक पर छोड़ दिया और यह कह दिया कि इधर दहने हाथ जाना और उधर बायें हाथ, और उपनिषदों की भाषा में, वह 'पण्डित मेधावी गांधार देश को पहुंच जाएगा।' वैसे ही गुरु मार्ग दिखा सकता है। अज्ञान-तिमिरांध की आँखें वह ज्ञानांजन-शलाका से खोल सकता है, जन्मांध को वह आँख नहीं दे सकता। विद्यार्थी अनगढ़ लकड़ी के कुंदे नहीं होते, वे पशु होते हैं, मनुष्य होते हैं। प्रकृति उन्हें शिक्षा दे रही है। गुरु का काम केवल प्रकृति की सहायता करना है। बल्कि बालक निचले नहीं बैठ सकते। जो गुरु उन्हें चित्र की तरह निःस्पंदन

बिटाकर स्थिरोपवेश बनाना चाहता है वह बड़ी भूल करता है। वह प्रकृति की चलती चक्की में कंकर डालता है, प्रवृत्ति के स्वाभाविक रस के स्रोत को सुखाता है। चतुर गुरु वह है जो उनकी इस प्रवृत्ति को उचित मार्ग में जोतकर वनस्पति-विज्ञान, पदार्थ-परिचय और सहयोगिता की शिक्षा देता है। पहले यह माना जाता था कि सीखनेवाले सिखाया जाना नहीं चाहते। रीते मुंह पाठशाला में जाते हैं और छूटते ही तीर की तरह भागते हैं। खेलना वे चाहते हैं। पढ़ना नहीं। खेलने से खराब होने की धमकी और पढ़ने से नवाब होने की प्रलोभना कहावतों में उनकी आँखों के सामने नचाई जाती थी। अब यह सब बदल गया है। खेलना बड़ी भारी शिक्षा है। जितने मनुष्यत्व के अंग खेल में और खुले में सीखे जाते हैं उतने गुरु जी की तंग कोठरी में पट्टी और खड़िया से नहीं। एक बात में पहले पण्डित बनाने का यत्न किया जाता था, अब मनुष्य बनाने का यत्न आदर्श माना जाता है। यह दूसरी बात है कि आजकल की शिक्षा में कुछ दोष बिना बुलाए आ घुसते हैं जैसे पहले की शिक्षा में गुण अकस्मात् आ जाते थे। यहां केवल आदर्शों का विचार है, व्यावहारिक गुण-दोष का नहीं। यही दावा है कि नई आदर्श प्रणाली जैसी चाहिए वैसी यहां चल रही है। प्रत्युत शिक्षा प्रणाली में यह देश बड़ी असमंजस में पड़ा हुआ है। न पुरानी चाल के अच्छे अंश ही रहे हैं और न नई के गुण अभी चल सके हैं। इस लेख में केवल सिद्धान्तों का विचार है।

विद्यार्थी पात्र (बरतन) माना जाता था। पर कुछ खोदनेवाले का सा परिश्रम करने की उससे आशा की जाती थी। ऊपर की वैदिक भाषा में 'शुश्रूषु' पर ध्यान दीजिए। जिस समाज में गुरु कुछ वेतन नहीं पाते थे, जहां विद्या का वेचना पाप था, वहां सेवा में शिष्यों को जोतना अर्थशास्त्र के अनुसार था। गुरु शिष्य के मन को सुधारने में जो श्रम करता था उसका विनिमय (क्योंकि बदला अवश्य चाहिए, चाहे वह माहवारी तनख्वाह हो, चाहे खेती की रखवाली और चाहे समावर्तन के पीछे गुरुदक्षिणा की आशा) छात्रों की मेहनत से हो जाता था। संस्कृत का इतिहास इस सेवा के कितने ही उल्लेखों से भरा पड़ा है। कहीं गुरु बरसते पानी में शिष्य को अपनी वह जानेवाली खेत की मेंड़ बना देता है, कहीं वह चार सौ दुर्बल गायें सौंपकर उसे कहता है कि उन्हें बिना हजार किये जंगल से मत लौटना, कहीं अपने वीर शिष्यों के द्वारा अपने पराजय का बदला किसी अभिमानी राजा से निकालना चाहता है। और गुरुपत्नियां कहीं अपनी भूषणप्रियता से राजमहिषी के कुंडल मंगवाती हैं, कहीं विद्यार्थियों को गौओं का दूध पीना तो दूर रहा बछड़ों के मुंह पर लगा हुआ झाग पीने से रोकती हैं, कहीं रगड़कर इतनी मजदूरी लेती हैं कि विद्यार्थी पढ़ने को प्रणाम करके हिमालय में तपस्या करने चला जाता है और शिव जी को प्रसन्न करके जगत् भर से कहलाता है कि 'हताः पाणिनिना वयम्'। हमें पापिनी ने मार डाला। और विद्यार्थी पण्डित होकर किस प्रकार उस अपनी कठोर सेवा को प्रेम से याद करते हैं। मुरारि 'गुरुकुल क्लिष्ट' होने का अभिमान करता है और श्रीहर्ष अपनी कविता की गांठें श्रद्धा से गुरुसेवा करनेवालों से खुलवाने की आशा करता है। पर इतना पानी भरने और लकड़ियां ढोने पर भी जिसे कुछ आ गया उसे आ गया, गुरु का कुछ दायित्व नहीं। अब सारा परिश्रम गुरु

के सिर पर है। यदि विद्यार्थी न समझें तो उसका दोष है, उसे समझाने का ढंग नहीं आता। वह बालक-मनोविज्ञान से अजान है। उसे प्रत्येक बालक के इतिहास से, उसके वंशगत विचारों से, उसकी रुचियों से, जानकार होना चाहिए, जिससे वह उनका सुधार कर सके।

यह सम्भव नहीं कि हर किसी को हर कोई पढ़ा ले। तभी तो कहा गया है कि 'मातृमान्, पितृमान्, आचार्यवान् पुरुषो वेद'—जिसे माता, पिता, और पीछे आचार्य सिखावे, वही सीख सकता है। इसी से तो कहा गया है कि 'पितैवबोधनयेत् पुत्रम्' पिता ही पुत्र को सिखावे। जितनी बालक की प्रवृत्तियों की जानकारी माता को और उसके पीछे पिता को होती है, उतनी बाहर के किसको हो सकती है। परन्तु सभ्यता के कारण काम करने की शक्ति इतनी बिखर जाती है कि प्रत्येक पिता अपने पुत्र को नहीं पढ़ा सकता और यह श्रम-विभाग का भी एक उदाहरण है कि सिखाने वालों का एक समूह पृथक् बन जाय। पुराने लोग अपने खेत में अन्न उपजा कर अपने लिए आप ही कपड़ा बुनते और लकड़ी काटने के लिये आप ही कुल्हाड़ी बनाकर चौकियाँ बना लेते हों, पर अब किसान और जुलाहा, लोहार और खाती का न्यारा-न्यारा है। पर पढ़ाने के काम में इतनी छीछालेदर है जितनी किसी में नहीं। रोगी अपनी चिकित्सा आप नहीं करता न वह चाहता है कि मेरे पुत्र की चिकित्सा अनाड़ी डाक्टर करे। अपना रुपया हम ऐसे कोठीवाले के यहां रखना नहीं चाहते, जो धन विनियोग के सिद्धांतों को न जानता हो। अपना मुकदमा हम स्वयं कचहरी में नहीं ले जाते और न ऐसे वकील को सौंपते हैं जो पैरवी न कर सकता हो। पर अपने बालकों की शिक्षा का भार हम या तो स्वयं उठाने का बहाना करते हैं, या ऐसे लोगों को सौंपते हैं जो डाक्टर या वकील या और कुछ बनने में अयोग्य सिद्ध होकर लड़के पढ़ाना प्रारम्भ करते हैं। जो और पेशों में सफलता नहीं पा सकते हैं उनके लिए मास्टरी का द्वार खुला है, आफिसों के क्लर्क अपने कलम रगड़ने से फ़ुरसत के समय को लड़के पढ़ाने में लगाना चाहते हैं। और यह एक साधारण उक्ति है कि 'और कोई रोजगार नहीं हुआ तो चार लड़के ही पढ़ा कर गुजारा करेंगे'। शाहजहाँ ने भी तो अपनी कैद के दिनों में अपने सुपुत्र औरंगजेब से समय काटने के लिए पढ़ाने को लड़के मांगे थे।

विश्वविद्यालय के नये उपाधिकारियों को गुरु बनाना, नाई का हाथ जम जाय इसलिए अपना सिर छिलवाना है। यों रटाई होती है, पढ़ाई नहीं। पढ़ाना भी एक कला है जिसे पूरी तरह न जाननेवाला निभा नहीं सकता। यों तो सिखाना कविता की तरह ईश्वर की देन है, सौ-सौ ट्रेनिंग स्कूलों में धक्के खाने पर भी वह योग्यता नहीं हो सकती जो 'जन्म के गुरु' को होती है, पर आजकल पढ़ाना भी पढ़ना चाहिए। पढ़ाने की परीक्षा होती है। समझाने का विज्ञान जानना पड़ता है। अच्छे पढ़ानेवालों का ढंग सीखना होता है। बालक-मनोविज्ञान समझना होता है। विकासवाद के तत्त्व टटोलने पड़ते हैं। समाजशास्त्र और प्राणिशास्त्र, ज्ञानतंतुशास्त्र और आचारशास्त्र का मनन करना होता है। यह कोई आवश्यक बात नहीं कि अच्छा विद्वान् अच्छा अध्यापक हो। कभी-कभी इसके बिलकुल विपरीत होता है। विद्वान् अपने को बालकों की बुद्धि के

पलड़े पर नहीं बिठा सकता, वह चौमंजिले से खड़ा-खड़ा बालकों के क्षितिज के ऊपर देख सकता है। बालक छोटी-सी झड़बेरी के फल तोड़ सकते हैं, ऊँचे आम के नहीं।

'मारना' गुरुओं का एक अमोघ शस्त्र है। जो बात समझाने से किसी शिष्य के मन में न बैठे वह मार कर बिठाई जाय। हजरत सुलेमान कह गए हैं कि 'लाठी को बचाओ और बालक को बिगाड़ो'। 'मनुस्मृति' में शिष्य और पुत्र के मारने की मनाई नहीं है और भाष्यकार पतंजलि खंडिकोपाध्याय की चपेटिकाओं को जगह-जगह याद करके एक पुराने श्लोक को उद्धृत करते हैं जिसके अनुसार चोर और क्रुद्ध गुरु भयदायक पड़ोस से दूर रहने में ही भलाई कही गई है :

दूरादावसथान्मूत्रं दूरात्पादावसेचनम्।
दूराच्च भाव्यं दस्युभ्यो दूराच्च कुपितोद्गुरोः॥

एक और स्थान पर उन्होंने गुरु के हाथों को अमृतमय कहा है, परन्तु ताड़न में गुण और लाड़ लड़ाने में दोष समझने की पुरानी कहावत है :

सामृतैः पाणिभिर्घ्नन्ति गुरवो न विषोक्षितैः।
लालनाश्रयिणो दोषास्तडनाश्रयिणो गुणाः॥

'जोशी की चोट और विद्या की पोट' वाली कहावत के बल पर गुरु की 'मूरख समझावनी' राजदण्ड से भी बढ़कर चला करती थी। वर्तमान शिक्षा-विज्ञान ने यह प्रतिभा भी तोड़ दी है। आजकल बालक को मारना एक कायरपन है, जिसका सहारा यह जानकर कि बालक लट्ठ के जवाब में लट्ठ नहीं मार सकता, केवल कापुरुष ही लेते हैं। आचरण सम्बन्धी अपराधों में शासन के लिए मारने की उपयोगिता मानी गयी है पर वह भी भय उपजाने के लिए और दण्ड की बुद्धि से पीड़ा पहुँचाने और बदला लेने की नीयत से नहीं। अधिक मार से बालक निर्लज्ज हो जाते हैं और बुद्धि के दोषों, न समझने और न याद रखने आदि पर शारीरिक दण्ड का प्रयोग अनुचित है। गुरु की आँख का दण्ड, साथियों के सामने हँसे जाने का दण्ड और गुरु के प्रसाद का पुरस्कार अब इस प्राचीन प्रथा को निर्दय और अनावश्यक सिद्ध करते जाते हैं।

यह कहा जा चुका है कि पहले पण्डित बनाने का यत्न किया जाता था, अब मनुष्य बनाने का। पहले भाषा के जानने पर अनावश्यक जोर दिया जाता था, अब विषयों पर ध्यान है। लैटिन या ग्रीक, या संस्कृत का कोश और व्याकरण की रटाई के भरोसे पढ़ना विद्या की सीमा थी। कितने वर्ष व्यर्थ इस अलूनी सिला को चाटने में बीतते थे। अब भाषा पढ़ाई जाती है तो वह ज्ञान का लक्ष्य नहीं मानी जाती, ज्ञान का साधन मानी जाती है। भाषा 'भाषा' की तरह कान और मुख को सिखाई जाती है, तोते की तरह स्मृति को नहीं। न अधिकारी और अनधिकारी का भेद था। उदार शिक्षा और विशिष्ट अभ्यास में कोई अन्तर नहीं किया जाता था। संस्कृत भाषा को भाषा समझकर नहीं पढ़ा जाता था, परन्तु प्रत्येक मनुष्य ही नागोजी भट्ट के लच्छेदार परिष्कारों में उलझकर रात बिता कर फिर सबेरे जहां से चला वहीं लंघाई के भाड़े की कुटिया पर

खड़ा मिलता था। तभी तो ज्ञानी पश्चात्ताप करते थे कि काल के आने पर 'डुकृञ करणे' नहीं बचाता। जो समय शब्दों में बीतता था, वह भावों में लगाया जाता है। गणित, पदार्थ-विज्ञान, रसायन आदि की शिक्षा मनुष्यों में 'क्यों' और 'कैसे' के प्रश्नों को नित्य जगाती जाती है। पहले जो आचार्य ने लिखा है वह बिना समझे ही मानना होता था, पीछे वर्षों के श्रम के बाद चाहे वह समझ में आवे, चाहे न आवे। अब गणित के नियम सूत्र या गुर से नहीं सिखाये जाते, पचास सवाल करके स्वयं गुर या सूत्र निकालने के लिए शिष्य तैयार किया जाता है। स्मृति को अनावश्यक बोझ से लादा नहीं जाता, परन्तु उसे जागती हुई समझ का जेबी बटुआ बनाया जाता है। इतिहास केवल तारीखों की कड़ी या राजाओं की नामावली नहीं रहा है, वह मनुष्यों के व्यवहारों के अनिष्फल परिणामों का अनुशीलन है। भूगोल केवल नदियों और शहरों की सूची नहीं है, वह जल, स्थल और ऋतुओं के परिवर्तन और बस्ती के बदलने के कारणों की खोज है। एक बात में पहले हम छात्रावस्था में मुँह में भरी हुई घास की जन्म भर जुगाली करते थे, अब काम की चीज़ों को चुन सकने और ले सकने के लिए तैयार कर दिए जाते हैं। अपनी खोज से पाया हुआ आलू दूसरे के दिए हुए जमींकंद से अच्छा है—इस सिद्धांत के लिए छात्र तैयार किए जाते हैं। गुरु का काम साधारण और उदार शिक्षा से मन का मैल धो देना है, पीछे खोजी अपने आप जैसा रंग चाहे वैसा चढ़ा ले।

पहले जल्दी बहुत की जाती थी। आठ वर्ष की नियत अवस्था तक जिसे ब्रह्मचर्य पा सकने की प्रतीक्षा न थी उसका उपनयन पाँच वर्ष की ही उमर में किया जा सकता था। पतंजलि ने आह भरकर कहा है कि 'वेदमधीत्यत्वरिता: प्रवक्तारो भवंति' और मध्य समय के योरप के विश्वविद्यालयों में जितनी छोटी उम्र में डाक्टर की पदवी पाई जाती थी उतनी ही प्रतिष्ठा होती थी। यहां भी यह घमंड मारा जाता है कि 'अमुक ने बारह वर्ष की अवस्था में मैंट्रीकुलेशन कर लिया था'। इसका फल वही होता था, जो बालविवाह का होता है। उधर दादा जी को गोदी में नाती खिलाने का सौभाग्य मिलता है, इधर दूध के दाँत टूटते न टूटते त्रिकोणमिति होने लगती है। जब सीखने की प्रकृत अवस्था आती है तब कमर झुक और आँख धँस चुकती है। प्रकृति का पृष्ठ खुलने के बदले बन्द हो जाता है। वर्तमान शिक्षाशास्त्र समय को यों सरपट दौड़ाने की सम्मति नहीं देता। वह कहता है कि जब तक देह का पूरा विकास न हो ले, तब तक मन को लादने का उद्योग न करो, नहीं तो मिठाई के मार से छींके के टूटने का शोकमय नाटक अभिनीत होगा।

एक पाठशाला का वार्षिकोत्सव था। मैं भी वहां बुलाया गया था। वहां के प्रधान अध्यापक का एक मात्र पुत्र, जिसकी अवस्था ८ वर्ष की थी, बड़े लाड़ से नुमाइश में मिस्टर हादी के कोल्हू की तरह दिखाया जा रहा था। उसका मुँह पीला था, आँखें सफेद थीं, दृष्टि भूमि से उठती नहीं थी। प्रश्न पूछे जा रहे थे। उनका वह उत्तर दे रहा था। धर्म के दस लक्षण वह सुना गया, नौ रसों के उदाहरण दे गया। पानी के चार डिग्री के नीचे शीतता में फैल जाने के कारण और उससे मछलियों की प्राणरक्षा को समझा गया, चंद्रग्रहण का वैज्ञानिक समाधान दे गया, अभाव को पदार्थ मानने न मानने का

शास्त्रार्थ कह गया और इंग्लैंड के राजा आठवें हेनरी की स्त्रियों के नाम और पेशवाओं का कुर्सीनामा सुना गया। यह पूछा गया कि तू क्या करेगा। बालक ने सीखा सिखाया उत्तर दिया कि मैं यावज्जन्म लोक-सेवा करूंगा। सभा 'वाह-वाह' करती सुन रही थी, पिता का हृदय उल्लास से भर रहा था। एक वृद्ध महाशय ने उसके सिर पर हाथ फेरकर आशीर्वाद दिया और कहा कि जो तू इनाम मांगे वही दें। बालक कुछ सोचने लगा। पिता और अध्यापक इस चिंता में लगे कि देखें यह पढ़ाई का पुतला कौन-सी पुस्तक मांगता है। बालक के मुख पर विलक्षण रंगों का परिवर्तन हो रहा था, हृदय में कृत्रिम और स्वाभाविक भावों की लड़ाई की झलक आँखों में दीख रही थी। कुछ खाँसकर, गला साफ कर नकली पड़दे के हट जाने पर स्वयं विस्मित होकर बालक ने धीरे से कहा, 'लड्डू'। पिता और अध्यापक निराश हो गए। इतने समय तक मेरा श्वास घुट रहा था। अब मैंने सुख से सांस भरी। उन सबने बालक की प्रवृत्तियों का गला घोंटने में कुछ उठा नहीं रखा था। पर बालक बच गया। उसके बचने की आशा है क्योंकि वह 'लड्डू' की पुकार जीवित वृक्ष के हरे पत्तों का मधुर मर्मर था, मरे काठ की अलमारी की सिर दुखाने वाली खड़खड़ाहट नहीं।

[प्रथम प्रकाशन : विद्यार्थी : १८ नवम्बर, १९१४ ई०]

अवंतिसुंदरी

अवंतिसुंदरी राजशेखर की स्त्री थी। स्त्री के वर्णन में पति का वर्णन करना पड़ता है।

राजशेखर ने अपने को 'यायावरीय' अर्थात् यायावर ऋषि के कुल में उत्पन्न कहा है। जहां-जहां 'काव्यमीमांसा' में उसने अपना मत पुराने आचार्यों से भिन्न दिया है वहां अर्थशास्त्र के 'इति कौटिल्यः', 'नेति कौटिल्यः' के ढंग पर 'इति यायावरीयः', 'नेति यायावरीयः' आदि लिखा है। धनपाल ने 'तिलकमंजरी' के आरम्भ में उसे 'यायावर कवि' कहा है। 'उदयसुंदरी' के कर्ता सोड्ढल ने भी उसे यायावर कहा है। उसका प्रपितामह अकालजलद महाकवि था। मालूम होता है कि उसका नाम कुछ और था, 'भेकैः कोटरशायिभि...' आदि चमत्कारी श्लोक पर से, जो सुभाषितावलियों में 'किसी दाक्षिणात्य' के नाम से दिया है और जिसमें अकालजलद पद आया है, उसका यह नाम पड़ा। ऐसे ही क्रीड़ाचंद्र, चंडालचंद्र आदि कवियों के नाम पड़ गए हैं। चेदि देश का भूषण सुरानंद, तरल, कविराज आदि प्रसिद्ध कवि भी उसी यायावर कुल में हुए थे। राजशेखर का पिता दुर्दुक या दुहिक महामंत्री था और उसकी माता का नाम शीलवती था।

राजशेखर कन्नौज के राजा महेंद्रपाल का उपाध्याय था और उसके पुत्र महीपाल

से भी सम्मानित था। सियोडोनी लेख के अनुसार महेंद्रपाल विक्रम संवत् ९६० और ९६४ में और महीपाल ९७४ में विद्यमान था। यही राजशेखर का समय है।

राजशेखर ने पहले 'बालरामायण' और 'बालभारत' की रचना की और 'बालकवि' उपनाम पाया। 'विद्धशालभंजिका' (विंधी पुतली) और 'कर्पूरमंजरी नाटिका' (प्राकृत) भी उसकी रचना है। पीछे उसने 'काव्यमीमांसा' नामक अपूर्व ग्रंथ बनाया जिसका संस्करण एक ही अधूरी प्रति पर से गायकवाड़ प्राच्य पुस्तक-माला में निकला है[1]। ऐसे ग्रंथ को खोज निकालने और छापने का प्रभूत यश मि० दलाल, पं० अनंतकृष्ण शास्त्री और गायकवाड़ सयाजीराव महाराज को है। हेमचद्र ने 'काव्यानुशासनविवेक' में राजशेखर के 'हरविलास' काव्य का उल्लेख करके उसमें से दो श्लोक उद्धृत किए हैं। उज्ज्वलदत्त ने 'उणादिसूत्र-टीका' में भी 'हरविलास' का एक आधा श्लोक उद्धृत किया है। यह 'हरविलास' महाकाव्य अभी नहीं मिला। संभव है कि 'सूक्तिमुक्तावली' में जो कई कवियों की प्रशंसा के श्लोक दिए हैं, वे इसी काव्य के उपक्रम के हों अथवा 'काव्य-मीमांसा' के अनुपलब्ध अंश में से हों।

'काव्यमीमांसा' में 'भुवनकोश' नामक भूगोल-विषयक बड़े ग्रंथ की रचना का भी उल्लेख है। उज्ज्वलदत्त ने एक आधा श्लोक राजशेखर के नाम से दिया है जिससे मान सकते हैं कि उसने कोई कोश भी बनाया हो।

चारण जाति के मंगन मोतीसर[2] जब चारणों को बढ़ावा देते हैं तो उन्हें 'अबरी का केड' अर्थात् अबरी (यायावर) के वंशज कहते हैं। यायावर एक प्रकार के वानप्रस्थ ऋषि या ब्रह्मज्ञानी गृहस्थ होते थे जो सदा चलते ही रहते थे, उनका नियत स्थान न था। सम्भव है कि चारण उन्हीं यायावरी में से हों। राजशेखर ने 'काव्य-मीमांसा' में कवियों के दस दर्जे गिनाए हैं। काव्यविद्यास्नातक, हृदय-कवि, अन्यापदेशी, सेविता, घटमान, महाकवि, कविराज, आवेशिक, अविच्छेदी और संक्रामयिता। जो सब भाषा, सब प्रबंध और सब रसों में स्वतंत्र हो वह 'कविराज' कहलाता है। राजशेखर 'कर्पूर-मंजरी' में अपने को 'कविराज' कहता है।

इस राजशेखर की स्त्री अवंतिसुंदरी थी। वह चाहुआण (चौहान) कुल की थी। ब्राह्मणों की क्षत्रिय स्त्री होना कोई विरल बात नहीं है। एक ही ब्राह्मण की ब्राह्मण स्त्री से संतान ब्राह्मण और क्षत्रिय स्त्री की संतान के क्षत्रिय होने के कई प्रमाण हैं, जैसे राजा बाउक के लेख प्रतीहारों की उत्पत्ति। 'कर्पूरमंजरी नाटिका' का पहला अभिनय उसी की इच्छा से हुआ था।[3]

वही बड़ी विदुषी थी। 'काव्यमीमांसा' में तीन जगह उसका मत पति ने उद्धृत

---

१. इस संस्करण की भूमिका में राजशेखर-विषयक बातें अच्छी तरह संगृहीत हैं। टामस की 'कवींद्रवचनसमुच्चय' की भूमिका में भी हैं।

२. ना० प्र० पत्रिका, भाग १, अंक २, पृष्ठ १३३, टिप्पणी ५२.

३. चाहुआणकुलमोलिमालिआ राअसेहरकविंदगेहिणी।
भत्तुणो कइमवंतिसुंदरी सा पउञ्जयिदुमेअमिच्छइ ॥—(कर्परमंजरी १-११)

किया है, जिससे मालूम होता है कि उसने काव्यशास्त्र पर कोई ग्रंथ लिखा होगा।

(१) "कविता का 'पाक' क्या है? वामन के मतवाले कहते हैं कि कवि ऐसे पद बैठावे जो बदले न जा सकें, वही 'शब्दपाक' है। इस पर अवंतिसुंदरी का मत है कि यह तो अशक्ति हुई, पाक नहीं। एक वस्तु पर महाकवियों के अनेक पाठ भी पाकवान् होते हैं, इसलिए रसोचित सूक्ति होना ही पाक है। उसने कहा भी है—गुण, अलंकार, रीति, उक्ति, शब्द, अर्थ इनके गाँठने का क्रम जैसे विद्वानों को अच्छा लगे, वही मेरे मत में 'वाक्यपाक' है। कहनेवाला भी हो, अर्थ भी हो, शब्द भी हो, रस भी हो, तो भी कुछ और चीज बाकी रह जाती है जिसके बिना वाणी मधु नहीं टपकाती।" (पृष्ठ २०)

(२) "अर्थ चाहे रस के अनुगुण हो या विगुण, काव्य में कविवचन ही रस उपजाते या बिगाड़ते हैं, अर्थ नहीं।···पाल्यकीर्ति का मत है कि वस्तु का रूप कैसा ही हो, रसीलापन तो कहने वाले के अधीन है। जिस अर्थ को रागी सराहेगा, उसी को विरागी धिक्कारेगा और मध्यस्थ उससे उदासीन रहेगा।···अवंतिसुंदरी कहती है कि वस्तु के रूप का स्वभाव नियत नहीं है, वह तो विदग्ध के कहने के ढंग के अधीन है, उससे जाना जाता है। वह कहती है कि काव्य में उक्ति के वश से गुण या अगुण होते हैं, वस्तुस्वभाव कवि के किसी काम का नहीं, चंद्रमा की स्तुति करने वाला उसे 'अमृतांशु' कहता है और धूर्त उसकी निंदा करता हुआ उसे 'दोषाकर' (रात करनेवाला, और दोष+आकर) कह डालता है।" (पृष्ठ ४५-४६)

(३) काव्य की चोरी पर राजशेखर ने बहुत लिखा है। अंत में सिद्धांत किया है कि न तो बनिये अचोर हो सकते हैं और न कवि अचोर, वही बिना बदनामी के गुलछर्रे उड़ाता है जो छिपाना जाने।[1]

इस विचार में पूर्वपक्ष किया है कि चोरी न सिखानी चाहिए, क्योंकि समय बीत जाने पर मनुष्य की और चोरियां हट जाती हैं, किंतु वाक्चौर्य पुत्र-पौत्रों तक भी नहीं हटता।[2]

इस पर अवंतिसुंदरी कहती है—"इस (दूसरे कवि) की प्रसिद्धि नहीं, मेरी है; इसकी प्रतिष्ठा नहीं, मेरी है; इसका संविधानक (प्लाट) अक्रम है, मेरा क्रमयुक्त है; इसके वचन गिलोय के जैसे, मेरे अंगूर ऐसे; यह भाषा-विशेष का आदर नहीं करता, मैं करता हूं; इसके (रचना के) जाननेवाले मर गए, इसका कर्त्ता देशांतर में है; यह बीती बात को बांधने या अशुद्ध अथवा क्रोधयुक्त रचना पर अवलंबित है; इत्यादि कारणों से शब्द या अर्थ के चुराने में मन लगावे।" (पृ० ५७)

अवंतिसुंदरी ने प्राकृत कविता में आनेवाले 'देशी' शब्दों का एक कोश बनाया

---

१. नास्त्यचौरः कविजनो नास्त्यचौरो वणिग्जनः।
स नन्दति विना वाच्यं यो जानाति निगूहितुम्॥

२. पुंसः कालातिपातेन चौर्यमन्यद् विशीर्यति।
अपि पुत्रेषु पौत्रेषु वाक्चौर्यं न विशीर्यति॥

और उसमें प्रत्येक शब्द के प्रयोग के स्वरचित उदाहरण दिए। हेमचंद्र ने अपनी 'देशी-नाममाला' में दो जगह (१।८१, १।१२५) अवंतिसुंदरी के मतभेद का उल्लेख करके उसकी उदाहरण कविता उद्धृत की है।

(१) 'इंदमह'—हेमचंद्र का अर्थ—कँवारी का पुत्र; अवंतिसुंदरी का अर्थ—कुमार अवस्था, जैसा कि उसीने उदाहरण दिया है[1]—

उवहसए एराणि इंदो इंदीवरच्छि एताहे।
इंदमहपेच्छिए तुह मुहस्स सोहं णिअच्छंतो।।[2]

(२) ओहुर = खिन्न (हेमचंद्र); झुका या लटका हुआ (अवंतिसुंदरी), जैसा कि उसी ने उदाहरण दिया है—

खणमित्तकलुसिआए लुलिया लयवल्लरीसमोत्थरिअं।
भमरभरोहुरयं पंकयं व भरिमो मुंह तीए।।[3]

किं तं पि हु वीसरिअं णिक्किव जं गुरुअणस्स मज्झम्मि।
अहिधाविऊण गहिओ तं ओहुरउत्तरीआए।।[4]

ऐसी प्रौढ़ नायिका के पति के स्त्रीशिक्षा के विषय में क्या विचार होने चाहिएँ? "पुरुषों की तरह स्त्रियां भी कवि हों। संस्कार तो आत्मा में होता है, स्त्री या पुरुष के विभाग की अपेक्षा नहीं करता। राजाओं और मंत्रियों की बेटियां, वेश्याएं, कौतुकियों की स्त्रियां, शास्त्रों में निष्णात बुद्धिवाली और कवि देखी और सुनी जाती हैं।" (काव्यमीमांसा, पृ० ५३)

[प्रथम प्रकाशन : नागरी प्रचारिणी पत्रिका : भाग २, अंक-१, १९२१ ई०]

पुरानी पगड़ी

संस्कृत वैयाकरण लोग पगड़ी के अर्थ में 'उष्णीष' शब्द लाते हैं जिसका अर्थ 'गर्मी का मारनेवाला' होता है। शब्दार्थ से अवश्य ही यह सिर में लपेटने की चीज होनी चाहिए।

---

१. यदुदाहरति स्म।
२. हँसी करता है, इन्द्राणी को (की) इन्द्र, हे कमलनयनी, अब, हे जवानी से भरी हुई, तेरे, मुख की, शोभा को, देखता हुआ।
३. क्षण मात्र में रूठी हुई (नायिका) का, बिखरे बालों की बेल से बिछा हुआ, भौंरों के बोझ से झुका हुआ, कमल-सा, मानते हैं, मुख, उसका।
४. क्या, वह, भी, ही, भूल गया, निर्दय!, जो, गुरुजनों के, मध्य में, दौड़कर, पकड़ा था, तू, (मुझ) लटकते हुए दुपट्टेवाली ने?

यह कई रंग की होती होगी, क्योंकि जो अभिचार (शत्रुमारण आदि) के यज्ञ हैं उनकी विधि में आता है कि 'ऋत्विज् लोग लाल उष्णीष पहनकर काम करते हैं' (लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति)। यजुर्वेद (शुक्ल) की संहिता में (३८।३) गौ के बांधने की रस्सी की प्रशंसा में कहा है कि 'तू अदिति का रस्सा है, इन्द्राणी का उष्णीष है।' इससे सिद्ध हुआ है कि स्त्रियों का उष्णीष भी कोई लम्बी, बाँधने की, लपेटने की चीज होती होगी, ओढ़ने की नहीं। संभव है कि स्त्री पुरुष दोनों का उष्णीष एक-सा होता हो, जैसा पुराने ईरानियों के यहां होता था। इस मंत्र की व्याख्या में 'शतपथ ब्राह्मण' में कहा है—'इन्द्राणी इंद्र की प्रिय पत्नी है उसका उष्णीष विश्वरूपतम है' १४.२.१.८.) राजसूय प्रकरण में जहां अभिषेक और शस्त्रधारण के पहले राजा को वस्त्र पहनाए जाते हैं[1] वहां शरीर से सटा हुआ एक तार्प्य नामक कपड़ा पहनाया जाता है। श्रौतसूत्र और उसके भाष्यों में तार्प्य का अर्थ तृपा नाम के घास का बना हुआ, बुनते समय तीन बार घी या जल पिलाया हुआ वस्त्र, या वल्कल, या तीन बार घी में भिगोया हुआ वस्त्र दिया है। जो हो, उसकी प्रशंसा में लिखा है कि **तस्मिन् सर्वाणि यज्ञरूपाणि निष्यूतानि भवन्ति** (शतपथ, ५-३-५-२०) जिसका अर्थ इसके सिवा कुछ नहीं हो सकता कि उस पर सब यज्ञ की तसवीरें, वा यज्ञपात्र, वेदि आदि की तसवीरें सुई से काढ़ी हुई होती हैं। इसके स्वारस्य से इंद्राणी के उष्णीष के विशेषण 'विश्वरूपतम' का यह अर्थ करना पड़ेगा कि सबसे अच्छे चित्रोंवाला, सबसे अच्छे कसीदे वाला, सबसे बड़ी सुन्दरतावाला। यह नहीं कह सकते कि वह पंजाबिनों के सालू की तरह पूरा कसीदे का बना हुआ होता था, या राजपूताने की लूगड़ी की तरह रंग-बिरंगा।

जो हो, राजसूय में तार्प्य पहनाए पीछे एक **पांड्व** पहनाया जाता था जिसका अर्थ बिना रँगी ऊन का कंबल होता है। तीसरा कपड़ा **अधीवास** या सब कुछ ढकने वाला लंबा चोगा है। चौथा वस्त्र हमारा पहचाना हुआ मित्र उष्णीष है। इसे सिर पर लपेटकर दोनों छोर आगे की और लटकाकर धोती की मोरी में दोनों ओर खोंस लिए जाते थे, या नाभि के पास ही खोंसे जाते थे। (कात्यायन श्रौतसूत्र १५-५-१३, १४) इस प्रकरण के ब्राह्मण का अनुवाद यह है—"फिर उष्णीष को समेटकर आगे इकट्ठा करता है, इस मंत्र से कि 'तू क्षत्र की नाभि है', इससे जो क्षत्र की नाभि है उसे ही यों इसमें (यजमान में) धरता है ! कुछ लोग सब ओर लपेटते हैं, यह कहते हुए कि यह इसकी नाभि है, सब तरफ ही यह नाभि जाती है; सो ऐसा नहीं करना चाहिए; आगे ही इकट्ठा करे, आगे ही तो नाभि होती है" (शतपथ ५, ३, ५, २३, २४)। इससे जान पड़ता है कि उस समय भी पगड़ी लपेटने की दो चालें थीं, परन्तु दोनों सिरे कमर तक अवश्य लाये जाते थे।

'किरीट' शब्द भी सिर के ढकने की चीज के अर्थ में आता है। यह वैयाकरण पाणिनि से पुराना है, क्योंकि उसने उसे अर्धर्चादि गण (२।४३१) में पढ़ा है। यदि

---

१. इसी ग्रंथ में 'राजसूय' निबंध—संपादक

यह संदेह किया जाय कि गणपाठ में शब्द समय-समय पर बढ़ाए गए हैं तो उणादि सूत्र ४।१८४ ('कृतृकृपिभ्य: कीटन्') से यह शब्द बनता है जिसमें न्यासकार के मत से 'तिरीट' वाला 'तृ' धातु भले पीछे जोड़ा गया हो तो भी किरीट का कृ तो पुराना मानना पड़ेगा। उणादि सूत्र पाणिनि से पहले के हैं। मुकुट शब्द इतना पुराना नहीं है।

हिंदुस्तान में सबसे पुरानी मूर्तियां जो कहीं मिली हैं वे भरहुत के स्तूप की भित्तियों पर हैं। उनका समय ईसा से पहले तीसरी शताब्दी माना गया है। वहां के चित्रों में पुरुष बहुत सुंदर साफा बांधे हुए बनाए गए हैं। विशेष करके कनिंघम के ग्रंथ 'स्तूप आफ भरहुत' के प्लेट २१ के चित्र ३ में नागराज चक्रवाक और प्लेट २४ के चित्र २ और ३ देखिए। इसमें साफा या फेंटा बहुत सुंदर लपेटों से बांधा गया है और सामने एक मुरेठा या गेंद-सी बनाई गई है। यदि श्रौतसूत्र में साफ न कहा गया होता तो इन चित्रों को देखकर 'शतपथ ब्राह्मण' के 'आगे समेटकर इकट्ठा' करने का अर्थ ऐसा मुरेठा बनाना ही समझ में आता। उस समय स्त्रियों का वेश कैसा था यह उसी के प्लेट २३ में सिरीमा देवता के चित्र से जान पड़ेगा। इसमें एक छोटा रूमाल सिर पर लपेटा हुआ है। बौद्ध जातक ग्रंथों में लिखा है कि धनवानों की सुंदर-सुंदर पगड़ियां सजाना और बनाना नाइयों का काम था।

चीनी यात्री हुएन्सांग, जो हिंदुस्तान में ईसवी सन् की सातवीं शताब्दी के पिछले भाग में आया था, यहां के लोगों के बारे में लिखता है कि लोग सिर पर टोपी या मुकुट पहनते हैं और उनके साथ फूलों की माला या जड़ाऊ सरपेच। व्रात्यों की टेढ़ी पगड़ी के लिए देखिए—पत्रिका, भाग १, पृ० ७६, ७७ में मेरी टिप्पणी।'

[प्रथम प्रकाशन : नागरी प्रचारिणी पत्रिका : १९२२ ई०]

पंचमहाशब्द

गोसाईं तुलसीदास जी के 'रामचरितमानस' में, 'बालकांड' में, राम की बरात के जनक के द्वार पर पहुंचने के वर्णन में लिखा है कि—

पंच सबद सुनि मंगल गाना। पट पाँवड़े परहिं बिधि नाना॥

यहां पर साधारण लोग तो, 'पंच सबद' का अर्थ पांच मंगल गीत, या पांच देवताओं के स्तोत्र, या पांच मंगल बाजे करते हैं। किंतु काशी नरेश की अनुमति से

---

१. दे०—गुलेरी रचनावली-२, में 'शैशुनाक मूर्तियां' निबंध में 'तिर्यङ्नद्धमुष्णीषम्।'
—संपादक

बनाई हुई 'रामचरितमानस' की एक टीका में लिखा है कि—

तंत्री, ताल, सुझाँझ पुनि, जानु नगारा चार ।
पंचम फूंके से बजे, पाँच शब्द परकार ।।

कनड़ी भाषा के ग्रंथ 'विवेकचिंतामणि' में लिंगायत ग्रन्थकार ने पंचमहाशब्द के बाजों के नाम यों गिनाए हैं—शृंग, तंमट, शंख, भेरी और जयघंटा ।[1]

प्राचीन शिलालेख और ताम्रपत्रों में स्वतंत्र राजाओं, सामंतों, मंडलेश्वरों और कभी-कभी राज्य के बड़े अधिकारियों के नाम के साथ **समधिगतपंचमहाशब्दः** यह उपाधि मिलती है । कहीं-कहीं जिस अधीश्वर की कृपा से पंचमहाशब्द मिले हों उसका नाम भी दिया होता है, जैसे **श्रीमहेंद्रायुधपादाक्षतावाप्तपंचमहाशब्दः** या (**अमुक**)—**प्रसादावाप्तपंचमहाशब्दः** । इससे जान पड़ता है कि अपने यहां पांच (विशेष बाजे बजवाना बड़े राजाओं का चिह्न समझा जाता था और सामंत तथा अधिकारी अपने यहां उन्हें तब तक नहीं बजा सकते थे जब तक कि अधिराज प्रसन्न होकर उन्हें 'पंच-महाशब्द' का सम्मान न दे देते थे । यह भी एक प्रकार का रुतबा था जैसे कि मुगल बादशाहों के यहां से माही मरातिब (मछली के झंडे का सम्मान) तथा झंडा, डंका और तोग[2] का मिलान था । जिन सामंतों को यह मिल जाता था वे साभिमान अपने लेखों में अपने नाम के साथ 'समधिगतपंचमहाशब्दः' लिखते । सर वाल्टर इलियट का यह अनुमान कि यह महामंडलेश्वर की तरह अधीन सामंतों की उपाधि है, स्वतंत्र राजाओं की नहीं[3] ठीक नहीं क्योंकि सामंतों को पंचमहाशब्दों का सम्मान देने वाले स्वतत्र राजाओं को तो पाँच बाजों का अधिकार था ही, वे अपने नाम के साथ ऐसा क्यों लिखते ? जैसे राजपूताने के बड़े राजा अपने जागीरदारों या सेवकों को सोना बख्शते अर्थात् पैर में सोना पहनने का मान देते हैं तो जागीरदारों के अपने को 'सोने का कड़ा या लंगर पाए हुए' कहने से यह अर्थ नहीं निकलेगा कि स्वतन्त्र राजाओं को पैर में सोना पहनने का अधिकार नहीं है ।

श्रीयुत शंकर पांडुरंग पंडित ने **समधिगतपंचमहाशब्द** का यह अर्थ किया था[4] कि 'जिन्हें महा से आरंभ होने वाली पांच उपाधियां मिली हों, जैसे महामंडलेश्वर आदि' किंतु वैसी पांच उपाधियों का कहीं उल्लेख नहीं मिलता । अश्वपति, गजपति, नरपति उपाधियां जो शिलालेखों में मिलती हैं तीन ही हैं, पांच नहीं । संभव है कि अभिज्ञानशाकुन्तल के एक श्लोक[5] में 'शब्द' का अर्थ उपाधि या उपनाम देखकर शंकर

---

१. इंडि० एंटि० जिल्द १२, पृ० ९६
२. मुंशी देवीप्रसाद, खानखानानामा, पृ० ७२
३. जर्न० रा० ए० सो०, जिल्द ४, पृ० १८३६
४. इंडि० एंटि०, जिल्द १, पृ० ८१
५. अस्यापि द्यां विशति कृतिनश्चारणद्वन्द्वगीतः
पुण्यः शब्दो मुनिरिति मुहुः केवलं राजपूर्वः ।।

पंडित ने यह कल्पना की हो।

सर वाल्टर इलियट ने यह भी कल्पना की थी[1] कि दिन में पाँच दफा नौबत का बाजा बजवाने की चाल बड़े गौरव की थी क्योंकि दक्षिण में कई जागीरें नौबत का सम्मान जारी रखने के लिए ही दी गई हैं। फरिश्ता में दो जगह पांच बार नौबत बजाये जाने का उल्लेख है। एक[2] तो कुलबर्गा के बहमनी शाह मुहम्मदशाह प्रथम के वर्णन में जो सन् १३५८ ई० में अपने पिता का उत्तराधिकारी हुआ। दूसरे[3] गोलकुंडा के सुलतान कुली कुतुबशाह के वर्णन में जो ई० स० १५१२ में बहमनी राज्य की पराधीनता से छूटकर स्वतन्त्र हुआ। दूसरे अवसर पर फरिश्ता ने सुलतान का ईरान से आई हुई (पाँच दफा नौबत बजवाने की) नई चाल चलाने के लिए लोकप्रिय न होना कहा है किंतु लगभग दो सौ वर्ष पहले कुलबर्गा के सुलतान के वैसा करने पर कोई टिप्पणी नहीं की। ब्रिग्स ने नौबत का अर्थ नौ प्रकार के बाजों का एक साथ बजना कहा है किंतु फारसी कोशों के अनुसार नौबत एक ही बड़े वाद्य का नाम था। पांच दफा बजने के विषय में यह लिखा है कि सिकंदर जुल करनैन के समय तक तो नौबत तीन ही दफा बजती थी। उसने चौथी बार बजाया जाना आरंभ किया। एक समय सुलतान संजान अपने शत्रुओं से भाग रहा था। चार नौबत बज चुकी थी। उसने शत्रुओं को यह धोखा देने के लिए कि सुलतान संजान मर गया, पांचवीं नौबत बजवा दी। शत्रु इस चकमे में आए। तब से उसने पांच नौबत बजवाने की चाल चला दी। नौबत का अर्थ समय-परिवर्तन भी होता है। नौबत बजने पर पहरा बदला करता था।

इलियट ने 'पंचमहाशब्द' का अर्थ पाँच दफा बाजे बजवाना स्थिर करने के लिये चंद के 'पृथ्वीराजरासो' के १९वें पर्व में पद्मावती के पिता पद्मसेन के वर्णन में से निम्नलिखित छंद का बीम्स का अनुवाद उद्धृत किया किंतु ग्राउज[4] ने तुलसीदास की चौपाई और उसकी टीका उद्धृत कर पंचमहाशब्द का अर्थ ठीक बतलाया और लिखा कि चंद का अर्थ संदिग्ध है, वहाँ पाँच स्वरों या बाजों से अभिप्राय है या उनके पाँच बार बजने से यह ठीक नहीं कहा जा सकता।

घन निशान बहु सद्द नाद सुर पंच बजत दिन।
दस हजार हय चढ़त हेम नग जटित तिन।।

के० बी० पाठक महाशय[5] ने रेवाकोट्याचार्य नामक जैन ग्रंथकार से एक अवतरण देकर सिद्ध किया कि पंचमहाशब्द का पाँच बार बाजे बजवाना अर्थ नहीं हो सकता। अतएव वही अर्थ ठीक है जो 'रामचरितमानस' की टीका में दिया है।

---

१. इंडि० एंटि०, जिल्द ५, पृ० २५१
२. ब्रिग्स फरिश्ता, जिल्द, २, पृ० २९९
३. वही, जिल्द ३, पृ० ३२३
४. इंडि० एंटि० जिल्द ५, पृ० ३५४
५. वही, जिल्द १२, पृ० ९६

[२]

यह लिखा जा चुका है कि पांच प्रकार के कोई बाजे बजाने का सामान, जो बड़े राजा की ओर से छोटे सामंत या अधिकारी को मिलता था, वही **समधिगतपंच-महाशब्द** उपाधि से सूचित किया जाता था। वे पाँच बाजे कौन होते थे इसकी परिसंख्या में भेद है। केवल नाम-गणना मिलती है, कोई वैज्ञानिक विभाग नहीं। 'अमरकोश' में चार तरह के बाजों का उल्लेख है[1]—तत (तना हुआ) जैसे वीणा, सैरंध्री, रावणहस्त, किन्नरी, आदि: आनद्ध (ठेका बँधा) जैसे मुरज, दर्दुर, करट आदि; सुषिर (छेदवाला) जैसे वंशी आदि; घन (ठोस) जैसे कांस्यताल आदि। क्षीरस्वामी की टीका अमरकोशोद्-घाटन में इस प्रसंग की भरत की परिभाषा भी उद्धृत की है। 'प्रबंधचिंतामणि' में एक जगह 'पंच-शब्द बजाने वालों को सोना बाँटकर फोड़कर' म्लेच्छों से युद्ध करते समय बलभी के राजा शिलादित्य के घोड़े के चमकाए जाने का उल्लेख है।[2] उसकी अनुवाद की टिप्पणी में टानी ने प्रोफेसर जेचरे के हवाले से साधु-कीर्ति की 'शेषसंग्रहनाममाला' नामक कोश की पूना की एक हस्तलिखित प्रति से पंचशब्द का यह लक्षण उद्धृत किया है[3] जहाँ बाजों के पाँच वैज्ञानिक विभाग बताने का यत्न किया है—

आहतं अनाहतं दण्डकराहतम्।
वाताहतं कंसालादि कण्ठाद्यं पटहादिकम्।
वीणादिकं च भेर्यादि पंचशब्दामिदं स्मृतम्॥

यह तो हुआ, किंतु कश्मीर के इतिहास में 'पंचमहाशब्द' का और ही अर्थ मिलता है जो इससे पुराना है। वहाँ 'पंचमहाशब्द' का यही अर्थ होता है कि "पाँच राज्य के अधिकार जिनके नाम के पहले 'महा' शब्द हो।" इस अर्थ में **समधिगतपंचमहाशब्द** मंत्रियों, प्रधानों और कामदारों के लिये आ सकता है, सामंत या स्वतंत्र राजाओं के लिये नहीं। यद्यपि उनमें से एक महाशब्द राजा या रानी के लिये भी आया है। ये पंचमहाशब्द ओहदों या पदों के सूचक थे और वे पाँच प्रकार के बाजों के।

कहते हैं कि पहले कश्मीर का राजप्रबंध इतना अधूरा था कि वहाँ सात ही प्रकृतियाँ (राज्यांग) थीं—धर्माध्यक्ष, धनाध्यक्ष, कोषाध्यक्ष, सेनापति, दूत, पुरोहित और ज्योतिषी। व्यवहार, धन आदि से राज्य की यथावत् वृद्धि नहीं हुई थी इसलिये सामान्य देश की तरह राज्य चलता था। राजा जलौक ने अट्ठारह कर्मस्थान (महकमे) बनाकर युधिष्ठिर की-सी स्थिति कर दी।[4] युधिष्ठिर की-सी स्थिति कहने

---

१. अमरकोश १।६।४। और क्षीरस्वामी का अमरकोशोद्घाटन, ओक का संस्करण, पृ० ३१
२. शास्त्री का संस्करण, पृ० २७९
३. टानी का अनुवाद, पृ० २१४
४. राजतरंगिणी १।११८-१२० मेवाड़ में कमठाण = कर्मस्थान = इमारत का महकमा।

का यही अभिप्राय है कि महाभारत, सभापर्व, में जो अट्ठारह 'तीर्थ' या अधिकारी कहे हैं[1] उन सब के अधिकार स्थापित किए। पीछे जब कश्मीर के राजा ललितादित्य मुकुटापीड ने[2] कान्यकुब्ज देश के राजा यशोवर्मा[3] को हराया तब उन दोनों में संधिपत्र लिखा जाने लगा। उसमें लिखा गया कि 'यशोवर्मा और ललितादित्य की संधि'। इस पर ललितादित्य के सांधिविग्रहिक[4] मित्रशर्मा से नहीं रहा गया। उसने आपत्ति की कि पीछे नाम लिखे जाने से विजेता होने पर भी मेरे स्वामी का अपमान होता है। राजा ने इसे बड़ी बात समझी, यद्यपि लंबी लड़ाई से थके हुए सेनापतियों को यह हुज्जत बुरी लगी। राजा ने पहले के अट्ठारह कर्मस्थानों के ऊपर और पाँच बनाकर उसे उनका अधिकार दे पंच महाशब्दों का पात्र बनाया।[5] वे पांच पद ये थे—महाप्रतीहारपीडा[6] (राजा की पेश-गाह में लोगों की सूचना देना और मिलाना), महासंधिविग्रह (इलाके ग़ैर), महाश्वशाला (घुड़साल की प्रधानता), महाभाण्डागार (खजाने की प्रधानता)

---

१. महाभारत, सभापर्व, अध्याय ५, श्लोक ४१ में नारद ने युधिष्ठिर से प्रश्न किया है कि--

कच्चिदष्टादशान्येषु स्वपक्षे दश पञ्च च।
त्रिभिस्त्रिभिरविज्ञातैर्वेत्सि तीर्थानि चारकैः॥

उसकी टीका में इन तीर्थों का विवरण दिया है—

मंत्री पुरोहितश्चैव युवराजश्च भूपतिः।
पंचमो द्वारपालश्च षष्ठोन्तर्वेशिकस्तथा॥
कारागाराधिकारी च द्रव्यसंचयकृत्तथा।
कृत्याकृत्येषु चार्थानां नवमो विनियोजकः॥
प्रदेष्टा नगराध्यक्षः कार्य्यनिर्माणकृत्तथा।
धर्माध्यक्षः सभाध्याक्षो दण्डपालस्त्रिपंचमः॥
षोडशो दुर्गपालश्च तथा राष्ट्रान्तपालकः।
अटवीपालकान्तानि तीर्थान्यष्टादशैव तु॥

२. कल्हण के अनुसार इसका समय ई० सं० ७०० से ७३६ तक आता है। इसी ने बादशाह हिउन्त्संग के राज्यकाल में चीन में दूत भेजा था।

३. वाक्पति यशोवर्मा का राजकवि था और उसने गउडवहो में यशोवर्मा की गौड़ राजा पर जीत का वर्णन प्राकृत कविता में किया है। यशोवर्मा (इ-च फोन-मो) ने सन् ७३१ में अपने मंत्री सेङ्षो-ता को चीनी दरबार में भेजा था। भवभूति भी इसी के यहां था। (राजतरंगिणी ४।१४४)

४. संधि और विग्रह (मेल और झगड़े) के अधिकारी, फारेन मिनिस्टर।

५. राजतरंगिणी ४।१३७ से १४२

६. पीडा क्या है ? पं० दुर्गाप्रसादजी ने महाप्रतीहारपीठ (आसन) पद की कल्पना की है जो उचित है।

और महासाधनभाग[1] (प्रधान कार्यकारी)। ये पाँच पद प्रतिष्ठ मात्र ही हैं, वस्तुतः अट्ठारह कर्मस्थानों में अंतर्भूत हो जाते हैं।[2]

पीछे शाही आदि राजपुरुषों को भी यह पद मिलने लगे।[3] कश्मीर के राजा जयापीड़ ने या तो स्वयं 'महाप्रतीहारपीड़ा (ठा ?)धिकार' पाया या अपनी रानी कल्याणदेवी को यह अधिकार दिया।[4] उसी राजा के मंत्री जयदत्त ने जयपुर कोह में मठ बनाया था[5] जिसे 'पंचमहाशब्दभाजन' कहा गया है। राजा चिप्पट जयापीड़ की बाल्यावस्था में उसकी माता जयादेवी के भाइयों में बड़े उत्पलक ने 'पंचमहाशब्द' ग्रहण किए, और बाकी कर्मस्थान दूसरे मामाओं ने।[6]

[प्रथम प्रकाशन : नागरी प्रचारिणी पत्रिका : भाग-१, सन् १९२० ई०]

महर्षि च्यवन का रामायण

महाकवि अश्वघोष[7] ने अपने प्रसिद्ध काव्य

---

१. साधनभाग पुलिस हो सकती है।

२. अष्टादशानामुपरि प्राक् सिद्धानां तदुद्भवैः।
कर्मस्थानैः स्थितिः प्राप्ता ततः प्रभृति पंचभिः॥ राजतरंगिणी ४।१४१

३. वही, ४।१४३

४. महाप्रतीहारपीडाधिकारं प्रतिपद्य सः। कल्याणदेवी (वीं ?) दाक्षिण्यादक रोदधि-कोन्नतिम्॥ राजतरंगिणी ४।४८५, पहला अर्थ पं० दुर्गाप्रसादजी का पाठ है, दूसरा स्टाइन का।

५. राजतरंगिणी ४।५१२

६. वही ४।६८०

७. तिब्बती और चीनी बौद्ध ग्रंथों से छै अश्वघोषों का पता चलता है, किंतु अश्वघोष सम्राट् कनिष्क का समकालिक था। वह साकेतक अर्थात् अयोध्या का निवासी था और आचार्य पार्श्व के शिष्य पूर्णयशस् ने इसे बौद्धधर्म में दीक्षित किया था। जब कनिष्क ने, जिसकी राजधानी पुरुषपुर (पेशावर) थी, मगध के पाटलिपुत्र पर आक्रमण किया तब वहाँ से अश्वघोष को ले गया। पीछे पार्श्व आचार्य से कनिष्क ने बौद्ध आगमों का अध्ययन किया और धार्मिक शंकाओं की निवृत्ति के लिये अपने

(क्रमशः)

बुद्धचरित' में एक प्रसंग पर लिखा है कि 'वाल्मीकि के नाद ने वह पद्य उपजाया जो च्यवन महर्षि नहीं बना सके थे।' इस पर प्रोफेसर ल्यूमैन ने लिखा कि इस प्रकार के

राज्य के अन्तर्गत कश्मीर में कुंडलवन नामक स्थान पर बौद्ध ज्ञाताओं का संघ कराया। वसुमित्र इस संघ का प्रधान और अश्वघोष उपप्रधान हुआ। उसी संघ में महाविभाषा बौद्धधर्म की व्याख्या की रचना की गई।

राजतरंगिणी में हुष्क, जुष्क और कनिष्क नामक तीन बौद्ध धर्मानुयायी तुरुष्क राजाओं का कश्मीर में साथ-ही-साथ राज्य करना लिखा है किन्तु वहाँ उनका गोनंद तृतीय और अभिमन्यु के भी पहले, अर्थात् राजतरंगिणी के क्रम के अनुसार ईसवी सन् से लगभग १२०० वर्ष पहले, राज्य करना कहा है जो मानवीय नहीं। कनिष्क का बसाया हुआ कनिष्कपुर भी कश्मीर में कहा गया है जो डाक्टर स्टाइन के मत से बारहमूला से श्रीनगर को जाती हुई सड़क और वितस्ता (विहाट) नदी के बीच का वर्त्तमान कानसीपोर है। (राजतरंगिणी : १।१६८-१७३)

तुरुष्क या यूहचि राजाओं में कुजुल कडफिसिस और उसके पुत्र वेम कडफिसिस के पीछे कनिष्क आता है। उसका पुत्र हुविष्क था और उसका वसुदेव वा वसुष्क। यों कनिष्क, हुविष्क और वसुष्क की तीन पीढ़ियाँ राजतरंगिणी के कनिष्क, हुष्क और जुष्क हो सकती हैं। इन सबके सिक्के मिले हैं। कनिष्क का राज्यारंभ सन् ७८ ई० में और उससे ही शक संवत् का चलना मानने के पक्ष में कई लोग हैं। इस विषय में बहुत वाद-विवाद है किंतु ईसवी सन् की पहली शताब्दी के उत्तरार्ध से दूसरी के मध्य तक कनिष्क का काल कभी-न-कभी मानना ही पड़ता है। चतुर्थ बौद्ध-संघ, जिसका उल्लेख ऊपर किया है, ई० स० १४० के लगभग हुआ था।

सुभाषितावलियों में कुछ श्लोक अश्वघोष के नाम से मिलते हैं, और अमरकोश की टीकाओं में कुछ उदाहरण, जो बुद्धचरित और सौंदरनंद से लिए हैं। चीनी और तिब्बती भाषाओं में अश्वघोष के बहुत-से ग्रन्थों के अनुवाद मिलते हैं। वहाँ के बौद्ध-साहित्य की परीक्षा से जाना जाता है कि अश्वघोष, मातृचेट, शूर, आर्य्यशूर, सब एक ही महाकवि के नाम हैं। सम्राट् कनिक (कनिष्क) के नाम मातृचेट का एक पत्र 'कनिकलेख' भी मिला है। अश्वघोष के प्रधान ग्रन्थ ये हैं—(१) बुद्धचरित काव्य; (२) सौंदरनंद—महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री ने इसे नेपाल से प्राप्त कर बिब्लोथिका इंडिका में छपवाया है। इसमें बुद्ध के अपने भाई नंद के पास जाकर, उसे पत्नी सुंदरा के प्रेमपाश से छुड़ाकर वैराग्य-मार्ग में लाने का बड़ा ही सुंदर वर्णन है; (३) वज्रसूची—इसमें जन्म से जाति मानने का खंडन है; (४) शारिपुत्र प्रकरण—इस नाटक का खंड तुरफान की खोज में मिला था। डाक्टर लूडर्स ने इसे छपवाया है; (५) जातकमाला; (६) सूत्रा-लंकार; (७) डेढ़ सौ स्तोत्र। और भी कई ग्रंथ हैं। बौद्ध साहित्य में अश्वघोष, मातृचेट अथवा आर्यशूर का बड़ा ऊँचा स्थान है। संस्कृत-साहित्य में उसका निवेश नई खोज का फल है।

१. इसमें बुद्ध के जन्म, गृहत्याग, तपस्या, सिद्धि आदि का बड़ा उत्तम वर्णन है। इस महाकाव्य का चीनी अनुवाद ईसवी सन् की पांचवीं शताब्दी में धर्मरक्ष ने किया और तिब्बती अनुवाद सातवीं या आठवीं शताब्दी में हुआ। संस्कृत मूल पाठ की प्रतियाँ नेपाल से मिली हैं। वहां पंडित अमृतानंद ने उसकी खंडित प्रति को,

(क्रमशः)

उल्लेख से यह अनुमान करना कि वैदिक ऋषि च्यवन का बनाया हुआ कोई रामायण गद्य में था और वह वाल्मीकि की पद्यमय रचना के प्रचलित होने पर लुप्त हो गया, बड़े साहस का काम है। ल्यूमेन का यह कहना था[1] कि हवा ही चल गई कि च्यवन का रामायण वाल्मीकि के पहले था। नन्दर्गिकर ने अपने रघुवंश के संस्करण की भूमिका में यह माना है[2] कि च्यवन-रचित रामायण था, और भी कई लोग ऐसा मानने लग गए हैं। अतएव यह विचार करना अनुचित न होगा कि बुद्धचरित के उस उल्लेख से यह अनुमान कहाँ तक निकल सकता है।

बुद्धचरित के उस प्रसंग की विस्तारपूर्वक आलोचना करने का एक और भी कारण है। पिछले हज़ार-दो हज़ार वर्षों से हिन्दू-सभ्यता में धर्म के नाम पर यह कुसंस्कार घुस गया है कि पहले जो कुछ हो गया वैसा अब नहीं हो सकता, अब गिरने के दिन हैं, चढ़ने के नहीं। प्रचलित धर्म और समाज के शोकसंगीत की टेक यही है कि वह पहले का-सा समय है, न राजा, न ऋषि, न विद्या और न संपत्ति। वर्तमान आंदोलनों में भी आगे उन्नति करने की प्रवृत्ति को दबाकर यह रोग बढ़ता जा रहा है कि प्राचीन समय फिर लौट आवे तो हम निहाल हो जायं। जिस बुद्धि ने हिंदू-सभ्यता की जड़ों में अवसर्पिणी काल और कलियुग के तेल की सिंचाई की है उसने बड़ा अनर्थ किया है, सारे समाज को उत्साहशून्य बना दिया है। और देशों में पिता पुत्र से यह आशा करता है कि वह मुझसे सब बातों में बढ़कर हो, पर यहां वह यही कहता है कि हमारी चाल निबाह लोगे तो बहुत है, हमसे बढ़कर क्या हो सकते हो। जहां पलने से लेकर बैकुण्ठी तक यही मनहूस रौर मचा रहता है कि जो पीछे गया अच्छा था, आगे आवेगा वह बुरा-ही-बुरा

कई श्लोक और चार सर्ग अपनी ओर से जोड़कर नेवारी संवत् ७५० (ईसवी सन् १८३० ई०) में पूर्ण किया। डाक्टर कावेल ने एनेकडोटा आकसेनसिया में इसका अतिप्रामाणिक संस्करण निकाला है। चीनी अनुवाद और अमृतानंद के संशोधित (!) पाठ का अनुवाद बील ने 'सेक्रड बुक्स आफ दी ईस्ट' में छपवाया है। चीनी, अनुवाद सारमात्र है, तिब्बती अनुवाद पूर्ण, अक्षरानुयायी और प्रामाणिक है। डाक्टर वेंजल ने उसका अनुशीलन किया है। बंबई विश्वविद्यालय के पाठकों के लिए नंदर्गिकर ने 'बुद्धचरित' के पाँच सर्गों का संस्करण छापा है जिसकी भूमिका में लिखा है कि एक नई प्रति उन्हें पंजाब के बेतिया नगर से (?) मिली है।

कालिदास को विक्रम संवत् के चलानेवाले विक्रम के यहाँ माननेवाले लोग 'बुद्धचरित' में बुद्ध को देखने के लिए आनेवाली नगरवासिनी स्त्रियों के शृंगार और हड़बड़ी के वर्णन में 'रघुवंश' तथा 'कुमारसंभव' के वैसे ही वर्णनों की छाया देखते हैं, किंतु कालिदास का समय गुप्तकाल में माननेवाले अश्वघोष के वर्णन को कालिदास का उपजीव्य मानते हैं। अश्वघोष की कविता बहुत ही ओजस्विनी और मधुर है।

१. विएना ओरिएंटल सोसाइटी का जर्नल, जिल्द ७, पृष्ठ १९७

२. 'रघुवंश' के संस्करण की भूमिका, पृष्ठ १००

होगा, वहां उन्नति की क्या आशा की जा सकती है ? यह बारहमासी आत्मग्लानि, यह निराशामय आत्मवंचना, यह दुर्भाग्यजनक आत्मघर्षण, पहले न था। पहले लोग अपने को पूर्वजों की बराबरी का समझते थे और यह असम्भव नहीं मानते थे कि हम उनसे बढ़कर हो सकते हैं। कम-से-कम उन पर यह निराशा का उन्माद और जन्म-भर का सियापा तो नहीं चढ़ा था कि हम गिरते ही जायंगे। कम-से-कम आर्यसुवर्णाक्षीपुत्र साकेतक आचार्य आर्यभदंत अश्वघोष ने तो इस विषय पर बहुत ही स्पष्ट लिखा है। उदाहरणों की प्रचुरता में, भाषा के अनुपम लालित्य में, उत्साह के उद्दीपन में, उसका कथन इतना ओजस्वी, इतना मधुर और इतना रमणीय है कि उसका पूरी तरह मनन करना चाहिए।

कपिलवस्तु में महाराज शुद्धोदन के मायादेवी के गर्भ से तथागत बुद्ध का जन्म हुआ है। राजा चिंता में मग्न है कि देखें यह बालक कैसा निकले। इस पर ब्राह्मणों ने उसे दृष्टान्त कहकर विश्वास दिलाया, आश्वासन दिया, अभिनंदन किया; तब राजा ने मन से अनिष्ट शंका छोड़ दी और वह अत्यंत प्रसन्न हुआ। ब्राह्मणों ने क्या दृष्टान्त दिए थे?—

यद् राजशास्त्रं भृगुरङ्गिरा वा न चक्रतुर्वंशकरावृषी तौ।
तयोः सुतौ तौ च ससर्जतुस्तत्कालेन शुक्रश्च बृहस्पतिश्च ॥
सारस्वतश्चापि जगाद वेदं नष्टं पुनर्यं ददृशुर्न पूर्वे।
व्यासस्तथैनं बहुधा चकार न यं वसिष्ठः कृतवान्न शक्तिः ॥
वाल्मीकिनादश्च ससर्ज पद्यं जग्रन्थ यन्न च्यवनो महर्षिः।
चिकित्सितं यच्च विवेद नात्रिः पश्चात्तदात्रेय ऋषिर्जगाद ॥
यच्च द्विजत्वं कुशिको न लेभे तत्साधनं सूनुरवाप राजन्।
वेलां समुद्रे सगरश्च दध्रे नेक्ष्वाकवो यां प्रथमं बबंधुः ॥
आचार्यकं योगविधौ द्विजानामप्राप्तमन्यैर्जनको जगाम।
ख्यातानि कर्माणि च यानि शौरेः शूरादयस्तेष्वबला बभूवुः ॥
तस्मात्प्रमाणं न वयो न कालः कश्चित्क्वचिच्छ्रैष्ठ्यमुपैति लोके।
राज्ञामृषीणां च हितानि (चरितानि ?) तानि कृतानि पुत्रैरकृतानि पूर्वैः ॥[1]

भावार्थ—भृगु और अंगिरा[2] वंश के चलानेवाले ऋषि थे; उन्होंने जो राजशास्त्र[3]

१. बुद्धचरित, कावेल संस्करण, सर्ग १, श्लोक ४६-५१

२. भृगु का पुत्र भार्गव (शुक्र), अंगिरा का पुत्र आंगिरस (बृहस्पति) 'अंगिरा बृहस्पतिपिता···भृगुः शुक्रपिता' (गणरत्नमहोदधि, एकलिंग का संस्करण, पृष्ठ ५५)

३. बृहस्पति और शुक्र के नीतिशास्त्र प्रसिद्ध हैं। 'उशना वेद यच्छास्त्रं यच्च वेद बृहस्पतिः।' महाभारत के शांतिपर्व में लिखा है कि बृहस्पति ने एक लक्ष श्लोकों का नीतिशास्त्र बनाया और फिर उशनस् (शुक्र) ने उसे संक्षिप्त किया। इनके मत और कहीं-कहीं इनकी गाथाएं भी महाभारत में हैं। कौटिल्य ने भी इनके मत उद्धृत किए हैं। प्रचलित शुक्रनीति और नये मिले हुए बृहस्पति-सूत्र पीछे के ग्रन्थ हैं। ये दोनों राजनीति के पुराने आचार्य मनुष्य-ऋषि थे, कथाओं में देवताओं और असुरों के गुरु हो गए।

नहीं बनाया वह उनके पुत्र शुक्र और बृहस्पति ने समय पाकर बना दिया। पहले ऋषियों को जिसका दर्शन भी नहीं हुआ था उस नष्ट वेद को सारस्वत ऋषि ने (फिर) कह दिया।[1] व्यास से वेद का (शाखाभेद-) विस्तार किया जो न उसके पड़दादा वसिष्ठ से हुआ और न पितामह शक्ति[2] से। वाल्मीकि के नाद[3] ने वह पद्य उत्पन्न किया जो च्यवन महर्षि न गाँठ सके थे; अत्रि को जो चिकित्सा नहीं आती थी वह उसके पीछे

१. महाभारत, शल्य पर्व, में कथा है कि एक समय दुर्भिक्ष पड़ने पर और सब ऋषि पेट पालने के लिए भटकते फिरे, वेद भूल गए। केवल अंगिरा और सरस्वती का पुत्र अपनी माता के प्रसाद से उसके तट पर प्रतिदिन एक मछली खाकर वेद को जीवित रख सका। समय बीतने पर उस युवा ऋषि ने वृद्ध ऋषियों से गुरूचित सम्मान पाकर उन्हें फिर वेद पढ़ाया। यों सारस्वत सबका गुरु हुआ। 'अध्यापयामास ऋषीन् शिशुरांगिरसः कविः। पुत्रका इति च प्राह···।। न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बंधुभिः। ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान्।' (मनुस्मृति : २।१५१,४); 'अथांगिरा रागपरीतचेताः सरस्वतीं ब्रह्मसुतः सिषेवे। सारस्वतोऽभूत्तनयस्तु सोऽस्य नष्टस्य वेदस्य पुनः प्रवक्ता'।। (सौंदरनंद काव्य)

आसीद्ब्रह्मसरः सुधासहचरं—भांढात्ततः।
प्रावर्तिष्ट सरस्वती सुरनदी गंभीरनीरा भुवि।
सा तीरे तपसि स्थितं वृतवती देवी दधीचिं मुनिं
तस्मादाप सुतं वसिष्ठसदृशं सारस्वतं नामतः।। २।।
तत्रानावृष्टिरासीज्जगति तनुतरब्राह्मणे द्वादशाब्दं
तस्यामासाद्य वृष्टिं कथमपि तपसा देवराजप्रसादात्।
वेदा···म तान् स्मृतिपथविमुखान्ब्राह्मणान् भक्तिभाजो
भूयः सारस्वतो यः श्रवणरससुखं पाठयामास सम्यक्।। ३।।
सरस्वती पत्तननामधेये सारस्वतास्तस्य सुता बभूवुः।
श्रुतिस्मृतीहासपुराणविज्ञा यज्ञप्रधानाः शिवसन्निधानाः।। ४।।

(ग्वालियर राज्य के सुरवाया स्थान में सोमधर के पुत्र ईश्वर की कराई वापी की प्रशस्ति सं० १३४१ कार्तिक शुदि ५ बुधे, एक फोटो से)

२. वसिष्ठ—शक्ति—पराशर—व्यास। 'विव्यास वेदान् यस्मात्स वेदव्यास इतर्यते' (महाभारत)। वेद के शाखाभेद के बारे में पौराणिक मत यह है कि व्यास ने सुमंतु, जैमिनि, पैल और वैशंपायन नामक शिष्य को एक-एक वेद बांट दिया, उन्होंने अपने शिष्यों की शाखाएं पढ़ाईं, नहीं तो पहले सारा वेद एक ही था (भागवत : १२।६, विष्णुपुराण : ३।३-४)

३. वाल्मीकि ने एक व्याघ्र को क्रौंच पक्षियों के जोड़े में से एक को तीर से मारते देख, जो शोक 'नाद' किया था वही आदिकाव्य की श्लोकमय रचना का बीज हुआ। (वाल्मीकि-रामायण : १।२) 'शोकः श्लोकत्वमागतः' (वही : १।२।४०)

आत्रेय[1] ऋषि ने कही। कुशिक को जो ब्राह्मणत्व प्राप्त नहीं हुआ उसका साधन, हे राजा, उसके पौत्र विश्वामित्र[2] ने पाया। सगर ने समुद्र पर वेला बांधी (समुद्र का तीर नियमन किया) जो उसके पहले इक्ष्वाकुवंशी नहीं कर सके थे।[3] योग विधि के ब्राह्मणों का गुरु बनना औरों के भाग्य में नहीं बदा था, वह जनक[4] ने पाया। कृष्ण के जो लोकोत्तर कर्म

१. चरकसंहिता का वक्ता आत्रेय ही है, अध्याय अध्याय में 'इति ह स्माह भगवान् पुनर्वसुरात्रेयः' मिलता है।

२. विश्वामित्र क्षत्रिय थे, तपस्या से ब्राह्मण हुए। उन्हें ब्राह्मण न मानना ही विश्वामित्र और वसिष्ठ के अंगों में द्वेष का कारण हुआ जिसकी कथा ऋग्वेद (३।५३, ७।३२) से लेकर सभी पुराणों तक चली आई है। महाभारत, आदिपर्व १९१ आदि, रामायण : १।५१-६५)

विश्वामित्र ऋषि तो बन गये किंतु पूछ खानदानी ऋषियों की होती थी। यज्ञ में जब होता का आवाहन करते थे उस समय कई इकट्ठे हुए हों तो उनमें से 'ऋषे! आर्षेय! ऋषीणां नपात्!' (शुक्लयजु २१।६१) अर्थात् ऋषि, ऋषिपुत्र और ऋषिपौत्र कहकर योग्य ही को बुलाते थे। बृहस्पति के पुत्र कच और शुक्र की कन्या देवयानी के प्रेम की कथा में भी कच के परंपरागत ऋषि होने की ही प्रशंसा है। (ऋषेः पुत्रं तमथो वापि पौत्रं कथं न शोचयमहं न रुद्याम्—महाभारत, आदिपर्व, ७०।५२) कम-से-कम निरंतर ऋषि-वंश में पैदा न होने से व्याकरण के तद्धित-प्रत्यय तो नहीं हो सकते थे (पाणिनि ४।१।१०४)। इसलिए विश्वामित्र ने तपस्या न केवल इसलिए की कि मैं ऋषि हो जाऊं किंतु फिर भी इसलिए की कि ऋषि का बेटा और ऋषि का पोता कहलाऊं ('विश्वामित्रस्तपस्तेपे नानृषिः स्यामिति। तत्र भवानृषिः संपन्नः। स पुनस्तपस्तेपे नानृषेः स्यामिति। तत्र भवान् गाधिरपि ऋषिः सम्पन्नः। स पुनस्तप तेपे नानृषेः पुत्रः स्यामिति। तत्र भवान्कुशिकोऽपि ऋषिः सम्पन्नः'—पाणिनि ४।१।१०४ पर पातंजल महाभाष्य) और गाधि और कुशिक को भी ऋषि बना लिया। यह वृद्धकुमारी-न्याय की-सी बात हुई। एक वृद्ध कुमारी ने इन्द्र से वर मांगा कि मेरे पुत्र कांसे की थाली में बहुत घी, दूध और भात खावें। यों उसने पति, पुत्र, गौ और अन्न सब एक ही वाक्य में गिन लिया (अथवा वृद्धकुमारीवाक्यवदिदं द्रष्टव्यम्। तद्यथा वृद्धकुमारी इन्द्रेणोक्ता वरं वृणीष्वेति सा वरमवृणीत पुत्रा मे बहुक्षीरघृतमोदनं कांस्यपात्र्यां भुंजीरन्निति। न च तावदस्याः पतिर्भवति कुतः पुत्राः कुतो वा गावः कुतो धान्यम्। तत्रानया एकवाक्येन पतिः पुत्रा गावः धान्यमिति सर्वं संगृहीतं भवति एवमिहापि···पाणिनि ८।२।३ पर पातंजल-महाभाष्य)

३. महाभारत : वनपर्व १०५-१०९, ('समाप्तयज्ञः सगरो···पुत्रत्वे कल्पयामास समुद्रं वरुणालयम्' १०७।३७, भागवत ८।८-९। ('सगरश्चक्रवर्त्यासीत्सागरो यत्सुतैः कृतः' ८।८।५)। भागवत की वंशावली में सगर इक्ष्वाकु से ३१वाँ पुरुष है।

४. 'च्यवनो जीवदानं च चकार भगवानृषिः। चकार जनको योगी वैद्यसन्देहभंजनम्'॥ (ब्रह्मवैवर्त पुराण, १।१६।१९) जनक के ब्राह्मणों को योग सिखाने की कथा

(क्रमशः)

प्रसिद्ध हैं उन्हें करने में पूर्वज शूर[१] आदि असमर्थ थे। इसलिए न तो अवस्था प्रधान है, न काल। लोक में कोई कभी श्रेष्ठ हो जाता है। राजाओं तथा ऋषियों में कई हितकारक कार्य हैं जो पुरखाओं से न हो सके और उनके पुत्रों ने कर दिखाए।

कैसा उत्साहवर्धक वर्णन है ! **कृतानि पुत्रैरकृतानि पूर्वैः !!**

इन सारे उदाहरणों को विचार कर देखते हैं तो जान पड़ता है कि इनमें उन महत्व के कार्यों का उल्लेख है जो पूर्वजों से न बन पड़े और उनके वंशधरों ने कर दिखाए। इससे यह परिणाम तो निकाल सकते हैं कि च्यवन वाल्मीकि का पिता पितामह या पूर्वज था, किंतु यह नहीं कह सकते कि च्यवन ने गद्य या पद्य में रामायण लिखा था।

प्राचीन काल के वाल्मीकि-रामायण के अतिरिक्त रामकथा के विषय के और भी पुराण, इतिहास, काव्य आदि रहे होंगे जिनमें वाल्मीकि-रामायण की कथा में कहीं-कहीं भेद था। 'महाभारत' की रामकथा में ही वाल्मीकि-रामायण से कुछ भेद हैं।[२] कालिदास, भास और कुमारदास के काव्यों में रघुवंश की परंपरा वाल्मीकि से भिन्न है, पुराणों में भी भिन्न है।[३] पतंजलि के महाभाष्य में 'एति जीवन्तमानन्दः' यह उदाहरण का टुकड़ा दो जगह[४] आया है, और यह वाल्मीकि-रामायण में भी है[५] किन्तु यह साधारण

'विष्णुपुराण' में भी है ('आज' दैनिक पत्र, रविवार ता० १६।२।२० की संख्या में बाबू भगवानदास का लेख)। 'शतपथ ब्राह्मण' में कथा है कि जनक श्वेतकेतु आरुणेय, सोमशुष्म सात्ययज्ञि और याज्ञवल्क्य तीनों से अधिक अग्निहोत्र की जानकारी दिखाकर और याज्ञवल्क्य को यह कहकर कि तू भी इतनी-इतनी बातें नहीं जानता, रथ पर बैठा आगे चला गया। इस पर उन दोनों ऋषियों ने कहा कि यह राजन्यबंधु (घृणावाचक शब्द, क्षत्रिय के लिये) हमसे बढ़कर बोल गया, इसे ब्रह्म विचार के लिये ललकारें क्या ? तब याज्ञवल्क्य ने उन्हें समझाया कि हम ब्राह्मण ठहरे, यह राजन्यबंधु, यदि इसे जीत लिया तो बड़ाई क्या और कहीं हार गए तो हमें लोग कहेंगे कि क्षत्रिय से हार गए। वे मान गए। उन्हें यों समझाकर याज्ञवल्क्य जनक के पीछे रथ दौड़ाकर गया। जनक ने पूछा कि अग्निहोत्र सीखने आया है ? याज्ञवल्क्य ने कहा, 'हां', सम्राट्'। तब जनक ने उसे उपदेश देकर कहा कि इससे परे कुछ नहीं है। फिर जनक ब्राह्मण हो गया। (शतपथ ६।२।१—१०)

१. शूर वसुदेव के पिता थे।
२. 'महाभारत' वनपर्व, २७४-२९३; देखें : इस ग्रंथ के दूसरे भाग में 'पुरानी हिंदी' प्रबंध में 'सोमप्रभाचार्य के कुमारपाल प्रतिबोध' के अन्तर्गत पांचवां अनुच्छेद।
३. देखें : प्रस्तुत ग्रंथ में 'देवकुल' शीर्षक लेख के पांचवें पैरे में 'इक्ष्वाकुओं के देवकुल के चतुर्देवत स्तोम' से सम्बद्ध टिप्पण।—सम्पादक
४. पाणिनि १।३।१२ और ३।१।६७ पर महाभाष्य
५. 'कल्याणी बत गाथेयं लौकिकी प्रतिभाति मा। एति जीवंतमानंदो नरं वर्षशतादपि' (सुंदरकांड ३४।६)। युद्धकांड में यही श्लोक 'प्रतिभाति माम्' पाठांतर से है (युद्धकांड : १२६।२)

कहावत है, यह नहीं कह सकते कि भाष्य में वाल्मीकि-रामायण से ही उद्धृत की गई है।[1]

१. महाभाष्य के टुकड़ों से यह अनुमान करना कि महाभाष्य के पहले वे ग्रंथ विद्यमान थे जिनमें वे टुकड़े अब श्लोकरूप से मिलते हैं, बड़े खतरे में पड़ना है। 'व्यक्तवाचां समुच्चारणे' (पाणिनि १।३।४८), के महाभाष्य में उदाहरण दिया है—'वरतनु संप्रवदंति कुक्कुटाः'। यह शाकटायन के उणादि सूत्रों की उज्ज्वलदत्त-रचित टीका में भी है। रायमुकुट कृत 'अमरकोश' की टीका पदचंद्रिका में यह टुकड़ा 'भारवि' का कहा गया है किंतु भारवि के किरातार्जुनीय में यह खंड या इसका पूरा श्लोक नहीं है। (भंडारकर की सन् १८८३-४ की रिपोर्ट में पंडित दुर्गाप्रसादजी का परिशिष्ट)। क्षेमेंद्र ने अपनी औचित्य-विचार-चर्चा में 'अयि विजहीहि दृढोपगूहनं त्यज नवसंगमभीरु वल्लभे (भम्)। अरुणकरोद्गम एष वर्तते वरतनु संप्रवदंति कुक्कुटाः॥' यह पूरा श्लोक कुमारदास का बताया है किंतु 'जानकीहरण' में इसका पता नहीं। 'छंदोमंजरी' में यह श्लोक भारवि का कहा गया है। वर्धमान के 'गणरत्नमहोदधि' में इस श्लोक का प्रथम चरण दिया है (एगलिंग का संस्करण, पृष्ठ १६)। न्यास की एक पोथी में पूरा श्लोक मिलता है (वरेंद्र रिसर्च सोसाइटी का संस्करण, पृष्ठ २३५, टिप्पण)। काशिका की टीका 'पदमंजरी' में पूरा श्लोक यों दिया है—'अपनय पादसरोजमंकतः शिथिलय बाहुलतां गलादृताम्। क्व च वदनेंशुकमाकुलीकृतं वरतनु संप्रवदंति कुक्कुटाः॥' (शेषगिरी की रिपोर्ट, सन् १८९३-९४, पृ० १७-१८) तो क्या पतंजलि को कुमारदास या भारवि के पीछे का ठहराया जाय? प्रत्यक्ष तो यह है कि भाष्य के उदाहरणों की समस्यापूर्तियां पीछे की गई हैं; भाष्य में किसी उस समय प्रचलित किसी काव्य का प्रतीक दिया है जो या तो स्वतंत्र काव्य हो, या भट्टिकाव्य का-सा उदाहरणमय काव्य हो।

ऐसे ही 'अनुवादे चरणानाम्' (पाणिनि २।४।३) के महाभाष्य में 'उदगात्कठकालापं प्रत्यष्ठात्कठकौथुमम्' दिया है। वही वहीं की काशिका में भी उद्धृत है। भट्ट भौमक के रावणार्जुनीय काव्य में यह अर्ध श्लोक है। तो क्या महाभाष्यकार भट्ट भौमक से भी अर्वाचीन हैं? बात तो यह है कि भाष्यकार ने किसी अपने समय के उदाहरणमय काव्य से यह अंश उद्धृत किया, रावणार्जुनीयकार ने भी उसे ज्यों-का-त्यों भाष्य उद्धृत कर लिया।

भाष्यकार से पहले भी भट्टिकाव्य के भैया या दादा काव्य बन चुके थे जिनसे भाष्यकार ने जहाँ-तहाँ उद्धृत किया है ('स्तोष्याम्यहं पादिकमौदवाहिं' इत्यादि)। इसी 'एति जीवंतमानंदः' को लीजिए। वैयाकरण काशिककार तो कदाचित् अपने शास्त्र के संकेत को जानते थे कि भाष्यकार ने यह अवतरण कहां से दिया है। काशिका की कुछ प्रतियों में तो यही रामायणवाला श्लोक दिया है, और कुछ में इसका पाठ यह है—'एति जीवतमानंदो नरं वर्षशतादपि। जीव पुत्रक

(क्रमशः)

महाभाष्य में एक जगह रामकथा के संबंध के दो श्लोक मिलते हैं[1] जो वाल्मीकि-रामायण में नहीं हैं, संभव है कि वे किसी और रामकथाविषयक काव्य में से हों, यह भी संभव है कि किसी भट्टिकाव्य के ढंग के प्राचीन उदाहरणमय काव्य में से हों, क्योंकि इनमें उपसर्गसहित √स्था के प्रयोग के दो भिन्न अर्थों का[2] विवेचन किया गया है।

यों रामकथा-संबंधी अनेक प्राचीन काव्यों के होते हुए भी वाल्मीकि के रामायण के पहले च्यवन का रामायण था, ऐसा मानने का कोई कारण अश्वघोष के उद्धृत प्रतीक में नहीं है।

[प्रथम प्रकाशन : **नागरी प्रचारिणी पत्रिका** : १९२१ ई०]

मामैवं तपः साहसमाचर ।।' इसके अर्थ से मालूम होता है कि यह रामायण का नहीं है, कोई पिता संसार से दुखी होकर तपस्या के लिए जाते हुए पुत्र को रोक रहा है, जैसे मैना ने पार्वती को रोकना चाहा था। यों ही पाणिनि २।२।२४ पर महाभाष्य में यह उदाहरण दिया है—

'सुसूक्ष्मजटकेशेन सुनताजिनवाससा।'

इसका काशिका की एक प्रति में तो पूरा पाठ है—

'सुसूक्ष्म०—समंतशितिरंध्रेण द्वयोर्वृत्तौ न सिद्धयति।'

इससे तो जान पड़ता है कि यह किसी व्याकरण के उदाहरणकारिकामय ग्रंथ से है, किंतु दूसरी प्रति का पाठ है—

'सुसूक्ष्मजटकेशेन मलिनाजिनवाससा।
पुत्री पर्वतराजस्य कुतो हेतोर्विवाहिता ।।'

इससे जान पड़ता है कि यह किसी शिवपार्वतीपरिणय या शिवपार्वती के पुराने 'व्याहले' का श्लोक है।

कई श्लोक महाभारत, मनुस्मृति और धम्मपद में, कई महाभारत और रामायण में एक ही मिल जाते हैं, वहाँ कहना कठिन है कि किसमें किससे लिया गया है।

१. 'उपान्मंत्रकरणे' (पाणिनि १।३।२५) पर—

'बहूनामप्यचित्तानामेको भवति चित्तवान्।
पश्य वानरसैन्येऽस्मिन्यदर्कमुपतिष्ठते ।।
मैवं मंस्थाः सचित्तोयमेषोऽपि हि यथा वयम्।
एतदप्यस्य कापेयं यदर्कमुपतिष्ठति ।।'

२. उपतिष्ठति—सामने खड़ा होता है, उपतिष्ठते—पूजा करता है।

आत्मघात

आत्मघात करना महापाप माना जाता है। आत्मघातियों के लिए आशौच, जलदान, पिंडदान आदि उत्तर कर्मों का, पातकियों की तरह, निषेध किया गया है[१]। गौतम-स्मृति में इस निषेध के वचन में आत्मघात की प्रचलित रीतियाँ बताई गई हैं—'प्राय, अनाशक, शस्त्र, अग्नि, विष, उदक, उद्बंधन, प्रपतन[२]। 'प्राय' का अर्थ भूखा रहकर मरना होता है[३], वही अर्थ 'अनाशक' का है, इसलिए यहां पर गौतम के टीकाकारों ने प्राय का अर्थ महाप्रस्थानगमन अर्थात् शरीरत्याग पर्यंत हिमालय की यात्रा करना, जैसा पांडवों ने किया था[४], किया है। अनाशक = अनशन = भूखा रहकर मरना। शस्त्र, अग्नि, विष, उदक (= जल) स्पष्ट हैं। उद्बंधन गले में फाँसी लगाकर मरना और प्रपतन (= भृगुपतन) ऊँचे पहाड़ पर से कूदकर प्राण देना है। किंतु पति के साथ सती के सहमरण को पातक नहीं माना है[५] और असाध्यरोगी और असमर्थों के आत्मघात को

---

१. व्यापादयेद् वृथात्मनं स्वयं योऽग्न्युदकादिभिः।
विहितं तस्य नाशौचं नाग्निर्नाप्युदकादिकम्॥ (कूर्मपुराण)

२. प्रायोऽनाशकशस्त्राग्निविषोदकोद्बंधनप्रपतनैश्चेच्छताम् (गौतम)

३. अहं वः प्रतिजानामि न गमिष्याम्यहं पुरीम्।
इहैव प्रायमासिष्ये श्रेयो मरणामेव च॥ (वाल्मीकिरामायण ४।५३।१२)

४. महाध्वनिक = महाप्रस्थानयात्री।

५. ऋग्वेदवादात्साध्वी स्त्री न भवेदात्मघातिनी (ब्रह्मपुराण)
यहां पर ऋग्वेदवाद से अभिप्राय 'इमा नारीरविधवाः सुपत्नीरांजनेन सर्पिषा सं विशन्तु। अनश्रवोऽनमीवाः सुरत्न आ रोहन्तु जनयो योनिमग्रे' (मंडल १०।१८।७) मंत्र से है। यहा पर 'योनिमग्नेः' पाठ से सत्तीदाह का समर्थन किया जाता था किंतु प्राचीन पाठ 'अग्रे' है। वैदिक काल में कभी-कभी सतीदाह होता था जैसा कि और कई सभ्य, असभ्य जातियों में था। हेराडोटस ने थ्रेसी, सीथियन और हेरुली जातियों के दृष्टांत दिए हैं और वीनहोल्ड ने जर्मनी के, किंतु यह पूर्णतया प्रचलित न वहाँ था, न यहाँ। वैदिक काल में यह रीति प्राचीन हो चली थी ('इयं नारी पतिलोकं वृणाना निपद्यत उप त्वा मर्त्य प्रेतम्। धर्मं पुराणमनु-पालयंती'—अथर्ववेद १८।३।१) और स्त्री को प्रेत के पास केवल लिटाकर दस्तूर पूरा कर लिया जाता था, फिर देवर उसे हाथ पकड़कर उठा लेता था ('उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि। हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्व-मभि सं बभूथ'—ऋग्वेद १०।१८।७, अथर्व १८।३।२; 'अथास्य भार्यामुप संवेशयन्ति।...उत्थापयति'—बोधायन गृह्यसूत्र १.७।७ से १।८।३-५)। वैदिक आर्यों में सतीदाह साधारणतः नहीं होता था। विष्णुस्मृति में भी 'मृते भर्तरि ब्रह्मचर्यं तदारोहणं वा' में जीवित रहकर ब्रह्मचर्य को मुख्य और सहमर को गौण कहा है।

उतना बुरा नहीं कहा गया है[१]।

ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं कि राजाओं अथवा अन्य जनों ने अग्नि में या गंगा आदि पुण्य नदियों में प्राण दे दिए। रामायण में जहां दशरथ कौसल्या को मुनिकुमार के शब्दवेधी बाण से मारे जाने पर अंधमुनि के शाप की कथा कह रहे हैं वहां मुनिदंपती का दुःख से चितारोहण कहा गया है[२]। राजा शूद्रक अग्नि में जलकर मरा था[३]। चंदेल राजा यशोवर्मा का पुत्र धंगदेव गंगा में डूबकर मरा था[४]। गुजरात का सोमेश्वर (आहवमल्ल) सोलंकी एकाएक दाहज्वर चढ़ने तथा नैरोग्य होने की आशा न होने से दक्षिण की गंगा समान तुंगभद्रा नदी में जलसमाधि लेना निश्चित कर मंत्रियों की सम्मति से वहां गया और शिव की आराधना करते-करते जल-निमग्न हो परलोक को गया[५]। सामोली के गुहिल शीलादित्य के समय के सं ७०३ के शिलालेख से जाना जाता है कि जेतंक महत्तर वैवस्वत के दूतों को आता हुआ देखकर किसी सिद्धायतन में अग्नि में प्रविष्ट हुआ[६]। बल्लालसेन रचित 'अद्‌भुतसागर' की भूमिका में लिखा है कि गौडेंद्र (बल्लालसेन) ने शक संवत् १०९० (ई० स० ११६८) में इस ग्रंथ का प्रारंभ किया किंतु समाप्त होने को पूर्व ही पुत्र (लक्ष्मणसेन) को गद्दी पर बिठाकर, ग्रंथ पूर्ण करने का भार उसपर डाल, गंगा में अपने दान के जल के प्रवाह से यमुना का संगम बनाकर, वह स्त्रीसहित स्वर्ग को गया और उसके पुत्र लक्ष्मणसेन के उद्योग से अद्‌भुत सागर पूर्ण हुआ[७]। लाहौर के राजा जयपाल ने भी वृद्धावस्था में मुसलमानों से हारकर लज्जित होकर अग्नि में जलकर प्राणत्याग किया था[८]। प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिल भट्ट ने 'यदि वेदाः प्रमाणं' कहकर पूर्वपक्ष में भी वेद की प्रामाणिकता में शंका करने की नास्तिकता के प्रायश्चित्त में तुषाग्नि में जलकर प्राण दिए थे यह कथा प्रसिद्ध है।

---

१. वृद्धः शौचस्मृतेर्लुप्तः प्रत्याख्यातभिषक्क्रियः। आत्मनं घातयेद् यस्तु भृग्वग्न्यनशनाम्बुभिः। तस्य त्रिरात्रमाशौचं (आदिपुराण), गच्छेत महापथं वापि तुषारगिरिमादरात्... सर्वेन्द्रियविमुक्तस्य स्वव्यापाराक्षमस्य च। प्रायश्चित्तमनुज्ञातमग्निपातो महापथः। (ये वाक्य निबन्धों से लिए गए हैं) अनुष्ठाना सर्वस्य वानप्रस्थस्य जीर्यतः। भृग्वग्निजलसंपातैर्मरणं प्रविधीयते (रघुवंश १।८१ पर मल्लिनाथ की टीका में उद्धृत)
२. वाल्मीकि, अयोध्याकांड ६४।५९, रघुवंश ९।८१
३. मृच्छकटिक नाटक, प्रस्तावना।
४. एपि० इंडि० जिल्द १, पृ० १४६, श्लोक ५५
५. विक्रमांकदेवचरित, सर्ग ४, श्लोक ४६-६८
६. इसी संख्या में पहले।
७. अद्‌भुतसागर की भूमिका; पं० गौरीशंकर ओझा, सोलंकियों का इतिहास, प्रथम भाग, पृ० ९५ टिप्पण; प्राचीन लिपिमाला, द्वितीय संस्करण, पृ० १८४-५, टिप्पण २
८. तारीख यमीनी, इलियट, जिल्द २, पृ० २७

इससे जान पड़ता है कि कई लोग आत्मघात को पाप और "अंधेरे से घिरे हुए असुरों के लायक लोकों"[1] में पहुंचानेवाला जान कर भी इन कारणों से उसको स्वीकार करते थे—(१) किसी असाध्य दुःख वा रोग के क्लेशों से बचने के लिये, (२) किसी ऐसी लज्जा से बचने के लिये जिसको मिटाने की उन्हें आशा न हो, (३) वीरों के लायक शस्त्र से मृत्यु पाने का मौका न पाकर, (४) किसी बड़े अपराध के प्रायश्चित्त के लिये। इन सबका कारण यही है कि वीर लोग—सभी देशों में और सभी कालों में—खटिया पर पड़कर मरने से युद्ध में मरना अच्छा मानते आए हैं और कीर्ति नष्ट होना मरने से भी कष्टकर समझते रहे हैं।

महाभारत, कर्णपर्व में भीष्म, द्रोण, कर्ण आदि का हराया जाना और मरण सुनकर धृतराष्ट्र संजय से कहते हैं—

संजय ! यदि मैं ऐसे दुःखों से नष्ट नहीं होता तो अवश्य मेरा अटूट हृदय वज्र से भी कड़ा है। संबंधी, जातिवाले, और मित्रों का यह पराजय सुनकर मेरे सिवा ऐसा मनुष्य कौन है जो प्राण न छोड़े ? मैं विष खाना, आग में जल मरना, पहाड़ के शिखर से कूदना (स्मृतियों का भृगुपतन) हिमालय में गलने जाना, पानी में डूब मरना, या भूखे रहकर मरना अच्छा मानता हूं, परंतु संजय ! कष्टमय दुःखों को नहीं सह सकूंगा[2]।

भीष्म ने दुर्योधन को उपदेश दिया है कि—

कीर्ति की रक्षा करो, कीर्ति ही परम बल है; जिस मनुष्य की कीर्ति नष्ट हो गई है उसका जीना निष्फल है। जब तक मनुष्य की कीर्ति नष्ट नहीं होती तब तक वह जीता है; हे गांधारी के पुत्र, जिसकी कीर्ति नष्ट हो गई वह रहता ही नहीं[3]।

---

१. असुर्या नाम तेलोका अंधेन तमसाऽवृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः। (यजुर्वेद ४०।३)

उपनिषदों के भाष्यकारों ने यहाँ पर 'आत्महनः' को ब्रह्मज्ञान में ध्यान न लगाकर इन्द्रियपूजा में लगे हुए लोगों के अर्थ में लिया है परन्तु भवभूति ने 'उत्तर-रामचरित' में जनक के मुख से इसका अर्थ 'आत्मघाती' ही कहलवाया है।

२. इदृशैर्यद्यहं दुःखैर्न विनश्यामि संजय।
वज्राद्दृढतरं मन्ये हृदयं मम दुर्भिदम्॥
ज्ञातिसंबन्धिमित्राणमिमं श्रुत्वा पराभवम्॥
को मदन्यः पुर्माल्लोके न जह्यात्सूत जीवितम्॥
विषमग्नि प्रपातं च पर्वताग्रादहं वृणे।
महाप्रस्थानगमनं जलं प्रायोपवेशनम्।
न हि शक्ष्यामि दुःखानि सोढुं कष्टानि संजय॥ (भारत, कर्णपर्व, ५।३०-३२)

३. कीर्त्तिरक्षणमातिष्ठ कीर्त्तिर्हि परमं बलम्।
नष्टकीर्तेर्मनुष्यस्य जीवितं ह्यफलं स्मृतम्॥
यावत्कीर्त्तिर्मनुष्यस्य न प्रणश्यति कौरव।
तावज्जीवति गान्धारे नष्टकीर्त्तिर्न जीवति॥१॥ (भारत, सभापर्व, २२२।१०,११)

शांतिपर्व में लिखा है कि क्षत्रिय के लिये यह अधर्म है कि खटिया पर मरे। जो क्षत्रिय दीनता से रोता हुआ, बलग़म और पित्त बहाता हुआ, शरीर को बिना छिदाए मरता है तो प्राचीन बातों को जाननेवाले उसके उस कर्म को नहीं सराहते। क्षत्रियों का घर में मरना, वीरों का कायरों की तरह मरना, प्रशंसित नहीं है, वह अधर्म और दया के योग्य है। यह दुःख है, यह कष्ट है, कैसा पाप है—यों कराहता हुआ, मुंह बिगाड़े हुए, दुर्गंधियुक्त, पास बैठे हुओं का सोच करता हुआ, बार-बार नीरोगों की दशा की ईर्षा करता है या मृत्यु चाहता है। वीर अभिमानी और बुद्धिमान् ऐसी मृत्यु के लायक नहीं है। युद्ध में मार-काट करके मित्रों से आदर किया गया, तीक्ष्ण शस्त्रों से कटा हुआ क्षत्रिय मृत्यु के लायक होता है। बल और क्रोध से भरा हुआ शूरवीर युद्ध करता है और शत्रुओं से काटे जाते हुए अपने अंगों की परवाह नहीं करता। यों युद्ध में मृत्यु पाकर वह लोकपूजित श्रेष्ठ धर्म को प्राप्त करके इंद्र का सलोक होता है[1]।

आश्चर्य की बात है कि वीरों के मरण के बारे में जो विचार महाभारत में हैं, उन्हीं विचारों पर यूरोप की प्राचीन जाति नार्थमैन[2] के रिवाज भी बने हुए थे। कार्लाइल लिखते हैं[3]—

---

१. अधर्मः क्षत्रियस्यैष यच्छय्यामरणं भवेत्।
विसृजञ्श्लेष्मपित्तानि कृपणं परिदेवयन्॥
अविक्षतेन देहेन प्रलयं योऽधिगच्छति।
क्षत्रियो नास्य तत्कर्म प्रशंसन्ति पुराविदः॥
न गृहे मरणं तात क्षत्रियाणां प्रशस्यते।
शौटीराणामशौटीर्यमधर्मं कृपणं च तत्॥
इदं कृच्छ्रमहो दुःखं पापीय इति निष्टनन्।
प्रतिध्वस्तमुखः पूतिरमात्याननुशोचयन्॥
अरोगाणां स्पृहयते मुहुर्मृत्युमपीच्छति।
वीरो दृप्तो मनस्वी च नेदृशं मृत्युमर्हति॥
रणेषु कदनं कृत्वा सुहृद्भिः प्रतिपूजितः।
तीक्ष्णैः शस्त्रैरभिक्लिष्टः क्षत्रियो मृत्युमर्हति॥
शूरो हि सत्वमन्युभ्यामाविष्टो युद्धयते भृशम्।
हन्यमानानि गात्राणि परैर्नैवावबुध्यते॥
स संख्ये निधनं प्राप्य प्रशस्तं लोकपूजितम्।
स्वधर्मं विपुलं प्राप्य शक्रस्येति सलोकताम्॥
(महाभारत, शान्तिपर्व ९७।२३—३०)

२. नार्थमैन आर्य जाति की पश्चिमी शाखा के लोग थे जो जर्मनी, स्वीडन, नार्वे, डेनमार्क आदि देशों में बसकर इंग्लैण्ड पर चढ़ गये थे। इनके पुराणों में ओडिन, थार आदि बलप्रधान देवों की कथाएँ हैं। अँगरेजी-सप्ताह के दिनों के कई नाम इनके देवताओं के नामों पर रक्खे गए हैं।

३. कार्लाइल, हीरो एज डिविनिटी, पृष्ठ २९

"पुराने नार्थमैन की वीरता बेशक बड़े जंगलीपन की थी। स्नारो लिखता है कि वे युद्ध में न मरने को लज्जा और कष्ट गिनते थे और जब मौत अपने आप आती जान पड़ती तो वे अपने मांस में काट-काटकर घाव कर लेते इसलिये कि ओडिन देवता उन्हें युद्ध में मरा जान कर उनका स्वागत करे। पुराने राजा, जब वे मरनेवाले होते, अपना देह एक जहाज में रखवाते। जहाज़ में आग सुलगाई जाती और जहाज़ खे दिया जाता कि समुद्र में पहुंच कर एकदम भभक उठै जिससे वृद्ध वीर अपने स्वरूप के अनुसार आकाश के नीचे समुद्र पर दफ़न हो जाय! यह जंगली खूंखार वीरता थी, पर एक प्रकार की वीरता अवश्य थी, मैं कहता हूँ कि वीरता न होने से तो अच्छी थी।"

जैसा बिंब-प्रतिबिंब भाव पुरानी जातियों की चालों में मिलता है वैसा ही देश-विदेश के कवियों की भाषा में भी मिलता है। यहाँ पर एक उदाहरण दिया जाता है। स्कॉट ने किसी अज्ञात कवि की यह कविता उद्धृत की है—

Sound, sound the clario'n, ring the fife,
To all the sensual world proclaim;—
One crowded hour of glorious life
Is worth an age without a name.

इससे ठीक मिलता हुआ भाव महाभारत, उद्योग-पर्व में है जहाँ विदुर ने अपने दुर्बलमना पुत्र को उपदेश दिया है (१३३। १४-१५)—

अलातं तिन्दुकस्येव मुहूर्तमपि हि ज्वल।
मा तुषाग्निरिवानर्चिर्धूमायस्व जिजीविषुः॥
मुहूर्तं ज्वलितं श्रेयो न च धूमायितं चिरम्।

घास-फूस के पलीते की तरह घड़ी भर ही भभक उठ; प्राण बचाने की आशा में तुस की आग की तरह बिना चमके धुँधुआता मत रह। घड़ी भर जलना अच्छा है, चिरकाल तक धुआँ देना अच्छा नहीं।

[प्रथम प्रकाशन : **नागरी प्रचारिणी पत्रिका** : भाग-१,
सं० १९७७ वि०, १९२० ई०]

होली की ठिठोली, वा एप्रिल फूल

अनुकरणशीलता में भारतवासी पीछे नहीं रहेंगे। अच्छे गुणों का अनुकरण तो उनके अनुष्ठान की पहली सीढ़ी है, परन्तु व्यर्थ या अनर्थक बातों के अनुकरण में ही हमारी सब शक्तियाँ पर्यवसान पा जाती हैं। सभ्यता के मद में होली की समयानुमोदित ठठोली का अपाकरण चाहते हुए भी हम लोग 'एप्रिल फूल' की नई प्रथा को अपना रहे हैं और न्यू ईयर्स डे पर कार्ड या डाली भेजने का रिवाज तो इतना बढ़ गया है कि अपना वर्षारंभ

हम लोग पंचांगों में ही पढ़ते हैं। हिंदी के एक सर्वज्ञ मासिक पत्र ने तो अबके खास एप्रिल एडिशन निकाल दिया है। किसी सार्वजनिक विशेष बात पर या धर्म, इतिहास वा जाति की उन्नति पर, संवादपत्र अपनी विशेष संख्या निकाला करते हैं। प्रयाग के 'हिंदुस्थान रिव्यू' ने कांग्रेस पर कांग्रेस-नंबर और नेशनल नंबर निकाले हैं और अवध की अंग्रेजी राज्य में प्रविष्ट होने की जुबिली पर अवध-नंबर निकाला है। 'जमाना' अकबर के राज्य के ३०० वर्ष पीछे उसके स्मरणार्थ अकबर-नंबर में निकला था। परन्तु इस पत्र की धर्म-संरक्षणार्थैव प्रवृत्ति जन्माष्टमी वा रामनवमी नंबर न निकाल सकी, रामानुज नंबर की कल्पना भी न कर सकी, और अप्रैल-एडिशन में परिणत हो गई। धन्य ! इनके लिए संसार ही एप्रिल है; सारा जीवन ही पहली एप्रिल है और उसका परम लक्ष्य एप्रिल के दुलहे बनाना ही है। एप्रिल का समकक्ष भारतवर्ष में वैशाख मास है न ? अतएव फूल फूल कर, कुढ़-कुढ़कर एप्रिल में ही अपनी जयंती मनाने वाले इस पत्र को इस वर्ष की होली का नायक Lord of Misirule कहना चाहिए। होली के उपहार इन्हीं को संपूर्ण रूप से अर्पण करने चाहिए। यों सर्वप्रधान आसन उन्हें देकर दूसरा आसन एक उचकनप्रिय वीर को दिया जाता है। ये काटने के लिए आरे और जलाने के लिए आग तो हैं, पर गढ़ने के लिए हथौड़ा नहीं हैं। इनने एक मनुष्य को एक श्लोक "पसंद आवे" के लिए लिख भेजा है, वह प्रेम से एक के बदले में तीन हाजिर करता है—

उत्तरङ्गो महान क्रवक्रोक्तिचक्रभीषणः।
शब्दोदधिः सुदुर्गम्यो दुस्तरोऽकृतबुद्धिभिः॥
येषां सद्गुरुकर्णधारभजनं प्रज्ञावहित्रागमोऽ-
भ्यासश्चानुगुणो मरुत् प्रतिदिनं शब्दागमाम्भोनिधौ॥
पारं यत्नवशादवाप्य नितरां रत्नानि लभ्यानि तै-
र्दूरात्तीरगतैस्तु दर्शनभिया सीदद्भिराप्पानि किम्॥
नो चक्षुषापि कलिता किल कौमुदी यैः,-
र्भाष्यादिदीपनिवहोऽधिगतो न वा यैः।
येषां च पाणिनिमतार्कसमागमो नो।
तेषां तमःप्रचय एव न चास्य शांतिः।

(तारानाथ तर्कवाचस्पति=:)

नीचे उनकी मनस्तुष्टि के लिए थोड़े से वाक्य बाईबल से उद्धृत किए जाते हैं। बाईबल से इसलिए कि उन्हें वैदिक साहित्य के प्रचंड पंडित नापसंद हैं। उनका वर्तमान आचरण इन वाक्यों में खूब प्रकाशित होगा। लोगों ने उनको उन्हीं की नाप से नापा है, उन्हीं के आइने में उनका मुंह दिखला दिया है। इसपर आप सह नहीं सके। बार-बार नहीं-नहीं कह कर 'मन भावे मूंड हिलावे' की चाल पर, 'प्राङ् मामेति, भर्तृहरि के श्लोक के अनुसार (पूरा श्लोक इम्ला तक की गलतियों के भय से नकल नहीं किया गया) प्रलाप ही करने लग गये। जो औरों को मजाक में 'सहस्राक्ष' कह देता है उसे उनके 'सहस्रजिह्व' कहने

पर आँखें नहीं दिखानी चाहिए । जो औरों के व्यर्थ निंदा के सिद्धांत के ठट्ठे में एक स्वतंत्रता विषयक पुस्तक लिखने दौड़ता है, उसे अपनी समालोचनाओं को तो उचित और औरों के कथन को चरखा कातती बुढ़ियों के गीत नहीं मानना चाहिए । जो चिढ़कर पुरानी सेवाओं को और झगड़े की सहायता को याद कर सकता है, वह यह भी सोच देखे कि उस 'प्राज्ञमन्यमना हठेन पठिती' को श्रीहर्ष क्या कहते जो वंश के भूषण और ज्ञानदाता खंडन-खंडखाद्यकार का ठट्ठा उड़ाता है ? जितना अनुपात आपके समालोचकों और आप में है, क्या उतना भी आप अपने में और श्रीहर्ष में मानेंगे ? जो यह कह सकता है कि हरिश्चंद्र अपने ही निकाले हुए मार्ग के मुसाफिर से रुष्ट नहीं होते, वही क्यों अपने ही पथ के पथिक को 'मूर्खस्य पंच चिह्नानि' और 'कुत्सापूर्ण निःसार वर्णना' कहता है ? परन्तु क्या करें—"दुनिया में उपदेश एक ऐसी चीज है जो अपने लिए नहीं बल्कि औरों के लिए ही बनाई गई है ।"

भगवान् करे इस दो-चार के युग की आठ आँखें सदा दोष खोजने में सलामत रहें । तब पितर ने उस पार आ कहा, "हे प्रभु ! मेरा भाई कै बेर मेरा अपराध करे और मैं उसको क्षमा करूँ ? क्या सात बेर लौं ।" यीशु ने उससे कहा, "मैं तुझसे नहीं कहता हूँ कि सात बेर लौं परन्तु सत्तर गुणे सात बेर लौं (मत्ती १८-२१, २२) । दूसरों का विचार मत करो कि तुम्हारा विचार न किया जाय । क्योंकि जिस विचार से तुम विचार करती हो उसी से तुम्हारा विचार किया जाएगा और जिस नाप से तुम नापते हो उसी से तुम्हारे लिए नापा जाएगा । जो तिनका तेरे भाई के नेत्र में है उसे तू क्यों देखता है और तेरे ही नेत्र में लट्ठा तुझे नहीं सूझता । अथवा तू अपने भाई से क्योंकर कहेगा, रहिए मेरे तेरे नेत्र से यह तिनका निकालूँ और देख तेरे ही नेत्र में लट्ठा है (मत्ती ७-१-५) । लोग पूरा नाम दबाया और हिलाया हुआ तुम्हारी गोद में देंगे क्योंकि जिस नाप से तुम नापते हो उसी से तुम्हारे लिए भी नापा जाएगा (लूक ६-३८) । कोई अच्छा पेड़ नहीं है जो निकम्मा फल फले और कोई निक़म्मा पेड़ नहीं है जो अच्छा फल फले, हर एक पेड़ अपने ही फल से पहचाना जाता है, क्योंकि लोग कांटों के पेड़ से गूलर नहीं तोड़ते और न कँटेले झूड से दाख तोड़ते हैं । भला मनुष्य अपने मन के भले भण्डार से भली बात निकालता है और बुरा मनुष्य अपने मन के बुरे भण्डार से बुरी बात निकालता है, क्योंकि जो मन में भरा है सोई उसका मुंह बोलता है (लूक ६-४३/४५) । तब अध्यापकों और फरीशियों ने एक स्त्री को जो व्यभिचार में पकड़ी गई थी, उसके पास लाके बीच में खड़ा किया और उससे कहा, "हे गुरु, यह स्त्री व्यभिचार-कर्म करते ही पकड़ी गई । व्यवस्था में मूसा ने हमें आज्ञा दी कि ऐसी स्त्रियां पत्थरवाह की जावें सो आप क्या कहते हैं ।···जब से उससे पूछते रहे तब उसने उठके उनसे कहा कि तुम्हीं में से जो निष्पापी होय सो पहिले उस पर पत्थर फेंके ।··· पर वे यह सुनके और अपने मन से दोषी ठहर के बड़ों से लेके छोटे तक एक एक करके निकल गए (योहन ७/३,४,५,७,९) ।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक :** जनवरी-मार्च, १९०६ ई०]

शोध

'विक्रमोर्वशी' की मूल कथा-१

प्राचीन आर्य-गौरव के प्रधान कीर्तिस्तंभ, कविकुल चूड़ामणि कालिदास की रचनाओं में 'विक्रमोर्वशी' नाटक का भी जगत् के नाटक-साहित्य में अद्वितीय आसन है। दृश्य वा श्रव्य मधुरता में यह 'अभिज्ञान शाकुंतल' वा 'उत्तररामचरित' से किसी प्रकार निकृष्ट भी क्यों न हो, तथापि और और अभिनेय रचनाएं इसके आगे सिर झुकाती हैं, इसमें सन्देह नहीं। प्रकृति की वर्णना में, भावों के समावेश, सम्पर्क और संघर्ष के अंकन में, एक शब्द से ही कई प्रकार के भावों को जगाने में, रंगमंच पर दिखाई देने वाले अभिनय के साथ-साथ सुनाई देने वाले शब्दों से वास्तव प्रकृति और वास्तव मनुष्यस्वभाव का धोखा देने में, इस नाटक के विषय में यही कहना बस होगा कि जिस अमृतमय लेखिनी से यह निकला है, वह परिणत न होने पर भी, उसी कालिदास की लेखिनी है, जिसका लिखा 'अभिज्ञान शाकुंतल' गत बीस शताब्दियों में जगत् के रंगमंच पर अधिकार किए रहा है। उस नाटक की मूल कथा क्या है और कहां से ली गई है, और महाकवि ने उसमें क्या-क्या परिवर्तन करके इस सुन्दरता की वस्तु को सदा के लिए सुखदायिनी बनाया है, इन बातों का दिग्दर्शन कराने के लिए ही इस निबन्ध की अवतारणा है।

कथा की मूल भित्ति को 'स्रोत' या 'सोता' (Source) भी कहा करते हैं। हमारे प्राचीन इस विषय में इतना ही कहकर चुप हो जाते हैं कि 'कविरनुहरतिच्छायाम्' और देखा जाए तो एक प्रकार से भारतवर्ष के काव्य वा आख्यायिकाओं का सोता जानना उतना कठिन नहीं है। वैदिक वा पौराणिक उपाख्यान, दैविक, अर्धदैविक, मानुष, और मिश्र इतिहास, और समकालीन साहित्य, जो सदा अमर वेद, पुराण और इतिहासों में निबद्ध है, किसी न किसी रूप में संस्कृत कवियों के मुख्य भोजन रहे हैं। कहीं-कहीं कवियों ने प्राचीन नियमों की श्रृंखलाओं को तोड़ने का साहस किया है। एक तो धर्मप्रधान भारतवर्ष में देवचरित्र वा अवतारचरित्र के सामने नरकीटों के चरित्र की गिनती ही क्या थी, दूसरे उसमें अनर्गल कल्पना को उतना स्वच्छंद अवकाश न मिलता। तथापि कुछ कवियों ने मनुष्यचरित्र को भी बड़ी योग्यता से निबाहा, और कुछ ने 'भोजप्रबन्ध' जैसे ग्रन्थों में एक राजा के गले सब कवियों को, ऊँट के गले म्याऊँ की तरह, बांधने की योग्यता दिखाई। यों मनुष्यचरित्र से कम वर्णित होने से और देव

और देवकोटि प्रविष्ट मनुष्यों के चरित्र गिने हुए स्थिर और ज्ञात ग्रन्थों में होने से, मुद्रणकला के न होने से ग्रन्थों में जीवन योग्य और मरण योग्य का भेद निश्चित होकर उनमें जीवन-संग्राम और सत्तमों का अवशेष न होने से, जिस समय संस्कृत पुस्तकें नष्ट होने लगीं उस समय संस्कृत-रचनाकाल का भी शेष हो जाने से, प्रधान-प्रधान दृश्य और श्रव्य काव्यों की मूलभित्ति जानना उतना कठिन नहीं है। किन्तु योरोप में, जहां सात-आठ सौ वर्ष से मुद्रायन्त्र ग्रन्थ प्रकाश में सहायता करके ग्रंथ-लोप में भी सहायता करता रहा है, जहां प्रकाशित साहित्य रक्तबीज की तरह बढ़ता गया और नष्ट होता गया है, अनेक कवियों के अनेक काव्यों के अनेक सोतों का पता लगाना कठिन यों है कि देवचरित्र में मनुष्यचरित्र की संसृष्टि वहां की गई है, और जगत् के वृत्तांत दैव इतिहासों में प्रतिबिंबित किए गए हैं। तथापि प्राचीन और नवीन योरोपियों ने इस काम को "पुराने महाकवियों की धज्जियां उड़ाना" न समझा, और और-और विषयों की तरह इसमें खूब उन्नति की। महाकवि शेक्सपीयर के नाटकों में क्या-क्या भाव और घटना, कहां-कहां से कैसे-कैसे ली गई, मिल्टन की 'स्वर्गच्युति' में किस-किस ग्रन्थ का प्रतिबिंब है, इन पेचीली बातों को लेकर अंग्रेजी में एक साहित्य का साहित्य उत्पन्न हो गया है। अब तो अंग्रेजों की कृपा से हम लोग भी अपने कवियों के विषय में लिखने-पढ़ने और सुनने भी लगे हैं, तो भी अंग्रेजी न जानने वाले 'गूंगे के गुड़' की तरह उन प्राचीन कवियों के प्रति कृतज्ञता का स्वाद नहीं ले सकते, जो 'शेक्सपीयर सोसाइटी' प्रभृति के नाम और काम से प्रकट है।

प्राचीन और योग्य कवियों ने नई कहानी गढ़ने का यत्न नहीं किया। अपटु कवि ही नई कहानी में उलझाने का यत्न करके अपने और दोषों को छिपाने का यत्न करते हैं; जिस कहानी को आबालवृद्ध जानते हों, जो हमारे घर-बार का अंग हो गई हो, उसी को नया रंग चढ़ाकर, नव भाव से पूजा देना महाकवियों की शक्ति है। जैसे, एक हल जोतने वाले ने कोहनूर को पाकर अपने बैल के गले में बांध दिया था, और सुचतुर जौहरियों ने उसे ओप देकर राजा कर्ण के भोटे, शाहजहान के मयूर-सिंहासन, पंजाब-केसरी के नेत्र, और विक्टोरिया के ताज का भूषण बनाया वैसे ही प्राचीन साहित्य में बिखड़े कंकर-पत्थरों को जगत् के प्यारे रत्न बनाना महाकवियों का ही महत्त्व है। अब सब लोग जानते हैं कि अभिज्ञान-शाकुंतल की मूलभित्ति 'महाभारत' और 'पद्म-पुराण' की एक-एक आख्यायिका है। क्या उस आख्यायिका के भरोसे दुष्यन्त और शकुंतला अमर हो जाते? और विचार से देखा जाय तो उस आख्यायिका में हाड़-मांस के अतिरिक्त जीवन कितना है? धीरोदात्त गुणान्वित नायक अपनी व्याहता को भूल जाता है, और उससे अश्लील भाषण कर उसे व्यभिचारिणी ठहराना चाहता है। सौंदर्य की और रस की प्रतिलिपि नायिका उसे स्वार्थी और कृतघ्न कहती है। 'शकुंतला' को जो कुछ शकुंतला बनाता है वह सब कालिदास का है। अरण्य में मिलन, एकांत में पवित्र प्रणय, दुर्वासा का शाप, कण्व का कन्या को घर भजना, दैवी कला से वियोगियों का शाप, कण्व का कन्या को घर भेजना, दैवी कला से वियोगियों का मेल, जो कुछ 'शाकुंतल' की जान है वह कालिदास का है। अतएव शाकुंतल-कोहनूर के आगे

हम उस निर्जीव आख्यान को कंकड़ और खसड़ा कूतें न तो क्या करें ? जगत्पावन रामचरित्र को वाल्मीकि, कालिदास और भवभूति ने गाया है। यों तो चाहे तुलसीदास जी की तरह ये भी कहें कि पावन कथा को कहकर हमने अपनी जिह्वा और लेखिनी पवित्र की, किन्तु हमारी बुद्धि में रामचरित्र का भी सौभाग्य है कि वह इनके हाथ पड़ा। वाल्मीकि के मनुष्यदेव रामचन्द्र से कालिदास और भवभूति के मर्यादापुरुषोत्तम रामचन्द्र कितने उदात्त चरित्र वाले हैं ; यह तो वारांतर में समालोच्य है, तथापि इतना कहे बिना नहीं रह सकते कि जो रामचरित्र भवभूति की सुधावाहिनी लेखिनी से यह कहलाता है कि—

पाप्मभ्यश्च पुनातु वर्धयतु च श्रेयांसि सेयं कथा
मंगल्या च मनोहरा व जगतां मातेव गंगेव च।

उसी का 'अद्वैतं सुखदुःखयोः' 'सुमानुष' आदर्श दांपत्य बौद्ध जातक-ग्रन्थों के हाथ में पड़कर भ्राता-भगिनी के कलुषित विवाह में परिणत हो जाता है, और वेबर, लासन, दत्त प्रभृति के श्री करकमलों में पड़ अपना ऐतिहासिक रूप खोकर किसान और खेती के रूपक की कीर्ति पाता है ! ! कुछ चिन्ता नहीं, हम एक प्राचीन कवि के श्लोक के अनुसार रामचरित्र को सम्बोधन करके यही कहेंगे कि— "हे रत्न ! वानर ने तुम्हें सूंघा, चूमा, चाटा, चाबा और उदास मन से फेंक दिया तो इससे खेद न मानो। तुम्हारा कल्याण यही हुआ है कि अन्तःसार के खोजी वानर महाराज से तुझे पत्थर से चूर्ण न कर डाला !"

एक बात और है। गंगोत्री में जो क्षुद्र जल की रेखा है, क्या पुण्यतोया भगवती भागीरथी का मूल कहलाने योग्य है ? 'बैलीफरिस्ट' में जो भद्दा उपाख्यान है वह क्या जगन्मंगल 'हैमलेट' का पिता कहलावेगा ? 'मूलकथा' का नाम सुनकर पाठक बड़ी आशाएं न बांधें। जो कुछ कालिदास का कालिदासत्व है, जो कुछ कालिदास को कालिदास और उसके नाटक को उसका नाटक बनाकर अनन्वयालंकार और 'अनामिका' नाम को सार्थक करता है, उस चीज़ को तुम कहीं न पाओगे। कहते हैं कि शेक्सपीयर ने हैमलेट की कथा अमुक जगह पाई, लीयर का वृत्तांत फलाने ग्रन्थ में पाया, किंतु वास्तव में विचार तो सही कि उसने क्या पाया और क्या लिया ? हैमलेट का ज्ञानगर्भ पागलपन और लीयर का परिणामानुकूल पागलपन उसे कहां मिला था ? जिन क्षुद्र ग्रन्थों को इन मनुष्य जाति के चित्रों का 'सोता' कहा जाता है उन्हें पढ़कर फर्नेस ने कितना अच्छा लिखा है—"रात्रि को खद्योतों को, और दूर से बीर बहूटियों को देखकर यही ध्यान होता है कि ये अमूल्य रत्न राजकुमारों के खिलौने हैं जिन्हें वे खेलते समय छोड़ गए हैं। किन्तु दिन में और पास जाकर वे ऐसे गर्हित और घृणा के पात्र कीड़े मालूम देते हैं कि दया के मारे पैर उन्हें कुचलना भी नहीं चाहता।"

जो हो, 'विक्रमोर्वशी' नाटक की आख्यायिका जहां-जहां जैसी है, उसे यहां वैसी ही उद्धृत करके, इस 'मूलभित्ति' पर कालिदास ने क्या कारचोबी की, यह दिखलाने का यत्न किया जाएगा।

(क) वैदिक

१. ऋग्वेद, दशम मण्डल, सूक्त ९५

(अ) सायणभाष्यानुसार अनुवाद।[1]

१. पुरूरवा—हे घोर (दुःख देने वाली) पत्नी ! मन लगाकर ठहर अभी संवाद के वाक्य करें। अपनी ये रहस्य बातें, नहीं कही जाने से, अनेक दिनों तक, अन्तिम

---

१. भगवान् वेदपुरुष के चरण-कमलों का ध्यान और सहारा लेकर कठिन मंत्रों पर कुछ लिखने का साहस किया जाता है। ॐ।

वेद भाष्यकर्ताओं में सदा से दो पक्ष चले आते हैं—ऐतिहासिक और नैरुक्त। ऐतिहासिक वेद में लिखे संज्ञा शब्दों को मनुष्यनाम वा देवनाम मानते हैं और नैरुक्त उन्हें एक ही देवता के गुण विशेष से कल्पित रूपक मात्र मानते हैं। जैसे इन्द्र वृत्र के संग्राम को नैरुक्त लोग 'वर्षणकर्म' मात्र ही कहते हैं। इन्द्र और वृत्र का स्वतन्त्र नर-जीवन वा देवजीवन नहीं मानते। पुराणों की कथाएं इसके विरुद्ध ऐतिहासिक परिपाटी से बढ़ी हैं। आजकल भी योरोपीय भाष्यकार वर्षण-कर्म, उषा और सूर्य, मृगशिर और रोहिणी प्रभृति कई दृश्य पदार्थों पर श्रुतियों को घटाते हैं। मीमांसा में वेद को अपौरुषेय और नित्य सिद्ध किया गया है उसमें एक यह भी युक्ति है। ववर प्रवाक्षणि किसी राजा का नाम नहीं है, किंतु बहने वाले वायु का। देखा चाहिए, वर्तमान सूक्त पर दोनों संप्रदायों के क्या-क्या मत हैं।

(क) ऋग्वेद में एक जगह वर्णन है कि वासतीवर सत्र में बुलाए मित्रावरुणों का वीर्य उर्वशी को देखकर कलश में गिरा, उससे वसिष्ठ की उत्पत्ति हुई। "सत्रेह जाता विषिता नमोभिः कुंभे रेतः सिसिचतुः समानम्। ततो ह मान उदियाय मध्यात्ततो जातमृषिमाहुर्वसिष्ठम्।।" ७।३३।१३ यह रूपक मात्र है। दिन रात्रि का उषा को देखते ही सूर्य को उत्पन्न करना अथवा बिजली के आते ही वायु से जल बरसाना, मात्र है। पौराणिकों के लिए कलशोद्भव मुनि और वसिष्ठ का जन्म है।

(ख) इस सूक्त में, मिलकर बिछड़े हुए और फिर मिले दो प्रेमियों का संवाद पौराणिकों के लिए और नैरुक्तों के लिए, बिजली और वायु, की स्तुति है, अथवा उषा और सूर्य का संवाद है। निरुक्त में पुरूरवा की व्युत्पत्ति यों की है—पुरु (भृश, बहुत) जो शब्द करै (रू) मेघ जो कई तरह का शब्द करै। वात और प्राण ही पुरूरवा है, यह विज्ञान है।

उर्वशी—उरू, बहुत स्थान को जो (अश्नोति) व्याप्त करै वा वश करै अथवा जो उरू (जांघ) से सम्भोगकाल में कामी को वश कर ले। उरू (बड़ा) है काम जिसका। बहुतों में वा बहुतों का है काम जिसका।

दिन में भी, सुख नहीं देतीं।"[1]

२. उर्वशी—इस (कोरी बात से क्या करें? मैं तुम्हारे पास से चली गई हूं, जैसे उषाओं में से पहली। पुरूरवा! फिर अस्त (घर) को लौट जा, मैं वायु की तरह दुष्प्राप्य हूं।[2]

३. पुरूरवा—तरकस में से बाण जीत के लिये नहीं फेंका जाता। वेगवान् भी मैं (शत्रुओं की) गौओं का पानेवाला न हुआ, न सैकड़ों (शत्रु धनों) का। वीरविहीन (राज) कर्म में (मेरी सामर्थ्य) नहीं चमकती। कँपानेवाले वीर विस्तीर्ण संग्राम में (सिंहनाद) शब्द को नहीं समझते।[3]

४. उर्वशी—हे उषा! वह (उर्वशी) धन और अन्न श्वसुर को देती हुई यदि पति को चाहती तो पास के (रसोई) घर से (पति) के घर को पहुंच जाती। जिस घर में वह पति को चाहती थी और दिन-रात पति-सम्भोग-सुख पाती।[4]

---

१. ऋक्-स्त्री को देखकर पुरूरवा कहता है। घोर इसलिए कि वियोग में दुःख दिया। हमारे दिल के उद्गार नहीं निकलने से इकट्ठे होकर कई दिन बीतने पर भी सुख नहीं देते, यह तात्पर्य है। अतएव उफान निकाल लें। 'पूरोत्पीडे तडागस्य परीवाहः प्रतिक्रिया। शोकस्तम्भे तु हृदयं प्रलापैरेव धार्यते।' (उत्तरचरित) न कहने से कोई लाभ नहीं, कह लेना ही अच्छा है।

२. उर्वशी का उत्तर—'इस वाणी से' अर्थात् अब फिर मिलना हो नहीं सकता, खाली वाचिक सहानुभूति क्यों? 'उषाओं में से अगली' ऋग्वेद में कई जगह उषा और उर्वशी को समानार्थ-सा प्रयोग किया है, यह नैरुक्तों के हाथ में अच्छा शस्त्र है। 'उषाओं में से पहली' का तात्पर्य उस क्षीण आभा से है जो कुछ अंधकार हटते-हटते ही हट जाती है, और जिसके पीछे कुछ गुलाबी प्रकाश आता है। इस वाक्य से तिलक महाशय का सिद्धान्त भी पोषित होता है। उत्तर ध्रुवप्रदेशों में ग्रहों का उदयास्त नहीं होता किन्तु नियमित काल की रात्रि के पीछे नियमित उषाएं चारों तरफ घूमती दिखाई देती हैं, फिर यह भी वैसे चलते हैं। सो उनमें अगली उषा अर्थात् महारात्रि के अव्यवहितोत्तर उषा का झंडा, जिसके पीछे कई उषाएं आती हैं। 'तैत्तिरीय संहिता' में तीस उषाओं का हाल है, देखो—इयमेवसा याप्रथमा व्योच्छत्…त्रिंशत्स्वसार उपयन्ति निष्कृतिं समानं केतुं प्रतिमुञ्चमानाः (तै० ५।३।४।७)॥ अपनी बात पर उर्वशी दृढ़ है, अपनी दुष्प्राप्यता ही उसके वक्तव्य का तत्त्व है।

३. पुरूरवा—अपनी विरह-वेदना बताता है। राजा बाण नहीं छोड़ सकता, दौड़ में गौएं और धन नहीं पाता, सारी वीरता सूख जाने से (अब) वीरविहीन कामों में बल नहीं चलता, और न सिंहनाद ही हो सकता है।

४. इस ऋक् में उर्वशी अपने पुराने प्रेम और राजा के पुराने सुखों की याद से उसकी ग्लानि को मिटाती है। मानो उसी आनन्द के स्मरण में अपने को तृतीय पुरुष में कहती है। उषा का संबोधन अपनी आत्मा को है, मालूम देता है। इतना प्रेम था कि श्वसुर की सेवा करते भी पति के पास दौड़ आती। अन्तिम चरण का अक्षरार्थ यह होगा—"दिन रात पुरुष चिह्न से ताड़ित होती।" यह उर्वशी ने परोक्ष वचन से कहा, अब—

५. उर्वशी—हे पुरूरवा ! तू मुझको दिन में तीन बार संतुष्ट करता, और बिना सौतों के (ओसरे से) मुझे पूर्ण करता। (यों) मैं तेरे घर गई (रही) थी। वीर राजा ! तू मेरे शरीर का उन दिनों (सुख देने वाला था)।[५]

६. पुरूरवा—जो सुजूर्णि, श्रेणी, सुम्नेआपि, ह्रदेचक्षु, (मानिनियां) थीं, उनके साथ संदर्भवाली चलती-फिरती उर्वशी (आई) (अथवा, सुजूर्णि(=वेगवती) उर्वशी, ग्रंथिनी और श्रेणि, सुम्नेआपि, और ह्रदेचक्षु इन सखियों के साथ गई।)वे गुलाबी गहनेवालियां (पहले की तरह) नहीं चलतीं। आश्रय के लिए बच्चेवाली की तरह शब्द नहीं करतीं।[६]

७. उर्वशी—इस (पुरूरवा) के जायमान होते (अप्सराएँ वा) देव पत्नियां इकट्ठी हुईं और इसको स्वयं चलने वाली नदियों ने भी बढ़ाया। हे पुरूरवा ! बड़े लड़ाई के संग्राम के लिए दस्युओं को मारने के लिए देवताओं ने तुमको बढ़ाया।[७]

---

५. मैं फिर आत्मनिर्देश आ गया। यहां प्रथम चरण का अक्षरार्थ होगा—"तीन बार पुं० प्रजनन से दिन में ताड़न करता।" अव्यती = invariable अब भी उन पुराने दिनों का स्मरण कर लो, कातर क्यों होते हो ? सपत्नियों का न होना, अहोरात्र विहार, देह का आधिपत्य, यही बहुत थे।

६. पुरूरवा का अभिप्राय कदाचित् यह है कि खैर, तुम्हारे प्रेम को तो मैं स्मरण करता रहूंगा, किंतु तुम्हारे साथ की देवपत्नियां अब मेरे पास नहीं हैं। उर्वशी उसे रोकती है और बार-बार उसके जन्म और वीरता की स्तुति करके उसे भुलावा देती है कि तुम ऐसे बडे आदमी, इन नाचीजों का ख्याल छोड़ दो (ऋक् ७)।

इस ऋक् में सुम्नेजूर्णि, श्रेणि, सुआपि, ह्रदेचक्षु, ग्रंथिनी, चरण्यु इतने पद इकट्ठे हैं। गूफिथ ने सबको नाम मान लिया है। सुजूर्णि = वेगवती, ग्रंथिनी = गन्दर्भवती, गठीली ? चरण्यु = विचरनेवाली। इनमें से अन्तिम को तो उर्वशी का विशेषण माना है। बाकी में चार सखियों के नाम हैं। एक अर्थ में सुजूर्णि उर्वशी का विशेषण, एक अर्थ में सखी नाम। दूसरे में ग्रंथिनी सखी नाम, एक में उर्वशी का विशेषण। ये अब मेरे आश्रय के लिए (जब तुम साथ थीं तब की तरह) नहीं चलतीं, नहीं उत्सुक होतीं। गौवें जैसे शरण आने को शब्द करती हैं वैसे (उत्सुकता से) ये नहीं करतीं। 'गुलाबी गहने वाली' विशेषण फिर उषा का ही स्मरण कराना है।

७. आधे में परोक्षोक्ति, आधे में प्रत्योक्षोक्ति। पुरूरवा, उर्वशी, और देव-पत्नियां तीनों ही 'ऋग्वेद' के अनुसार मध्यस्थान देवता हैं। इस मंत्र में नैरुक्त और ऐतिहासिक दोनों पक्ष खूब साफ प्रकट होते हैं। 'नैरुक्त' अर्थ यह है—इस पुरूरवा (बड़े शब्द के करने वाले वायु) के वृष्टिकर्म में अपने को लगाने पर जल सब तरफ से आ जाता है, आ घेरता है। और शब्द करने वाली स्वयं चलने वाली नदियां इसे बढ़ाती हैं (यहां या तो लौकिक नदियां मानें, जो बात को प्रेरण

(क्रमशः)

८. पुरूरवा—जब सहायभूत पुरूरवा अपने रूप को छोड़ती हुई अमानुषी (अप्सराओं) में मानुष (होकर) सामने होता है, तो वे मुझसे हटकर चलती हैं जैसे तरसत् मृग की भोज्य (स्त्री) और रथ में जुते हुए घोड़े।[८]

९. पुरूरवा—जब अमर इनमें मर्त्य (मैं) बिलकुल स्पर्श करता हुआ वाणी से और काम से सम्पर्क करता है, तब वे आति बनकर अपने रूप नहीं प्रकाश करतीं जैसे खेलते हुए ओंठ चाटते हुए घोड़े।[९]

१०. पुरूरवा—जो बिजली की तरह गिरती हुई प्रकाशित होती है, अंतरिक्ष सम्बन्धी (अथवा) व्याप्त, चाहे हुए पदार्थों को वा जल को मेरे लिए संपादन करती हुई, तो कामों में लगा हुआ मनुष्यों के लिए हित अच्छे जन्मवाला, पुत्र उत्पन्न होता है। उर्वशी दीर्घ आयु बढ़ाती है।[१०]

करती मानी गई हैं, या द्युलोक की 'सप्तसिंधु' जो वृष्टि की प्रेरणा करती हैं (देखो, तिलक का 'आर्यध्रुवनिवास, पृ० २८८-२९३)। "हे पुरूरवा! तुमको मेघ के साथ बड़े संग्राम के लिए और मेघ के बध के लिए देवता बढ़ाते हैं।" यों वायु के अर्थ में सब ठीक लगाकर निरुक्तकार यास्क कहते हैं—"देवपत्नयो वा" अर्थात् जल के स्थान में देवपत्नी अर्थ (ग्ना) शब्द का करने से ऐतिहासिक बन जाना है, वह यों है। सब देवपत्नियां इसके चौतरफ आ जाती हैं और स्तुति करती हुई स्वयं चलने वाली (स्वच्छन्द) उसे बढ़ाती हैं। हे पुरूरवा! असुरों से युद्ध और उनके मारने के लिए तुम्हें देवता आगे करते हैं।

८. बाइबल में एक जगह लिखा है कि ईश्वर के पुत्रों ने (देवताओं) ने मनुष्यों की कन्याओं को सुन्दरी देखा और उनसे विवाह कर लिया। इसके विरुद्ध वृत्तांत को अर्थात् देवकन्याओं से अमर्त्यों से मर्त्यों के विवाह को टेनीसन ने inverted scripture 'औंधी बाइबिल' कहा है। जिस देश को जातीय संकीर्णता की जड़ कहा जाता है उस (भारतवर्ष) में यह उलटा वेद बड़ा पुराना है। इससे ही पुराणों में जहां-तहां राजा का शत्रुविजय में देवताओं की सहायता को स्वर्ग जाना, वहां अप्सराओं से विवाह और देवांशसम्भूत राजाओं का जन्म पाया जाता है। अस्तु! राजा अपने वार्तालाप के पुराने सिलसिले में ही कहे जाता है—८-९ में सब देवपत्नियों से और १० में केवल उर्वशी से अभिप्राय है। "अपने रूप को छोड़ती हुई", मनुष्य सेवन से। 'सामने होता है' वा होता था तब भी वह भागती थी। अर्थात् पुरूरवा विषयों से अब भी सन्तुष्ट नहीं हुआ है।

९. आति = आधि, मानस-पीड़ा। जैसे मानस-पीड़ा छिपी रहती है, प्रकाश नहीं होती, जैसे अड़ियल घोड़े अपना असली रूप (गति का) हांकनेवाले को नहीं बताते, वैसे वे भी पूरी तौर से प्रेम नहीं करतीं। पुरूरवा अब फिर उन सबको चाहता है।

१०. इसमें फिर नैरुक्त और ऐतिहासिक की संसृष्टि का आनन्द लीजिए—जब बिजली (मेघों से) झट गिरती हुई प्रकाश करती है, प्यारे (काम्य) जलों को ले जाती हुई

(क्रमशः)

११. उर्वशी—यों पृथ्वीपालन के लिए तू उत्पन्न हुआ है, मेरे (उदर में) तैंने बल रक्खा है। जानती हुई मैंने तुझे सब दिनों में (जो कुछ करना था सिखाया, मेरा वचन नहीं सुनते, क्यों तो नहीं निभानेवाला (प्रतिज्ञाओं का) बोलता है ?[११]

१२. पुरूरवा—कब पुत्र उत्पन्न होकर पिता को (मुझको) चाहैगा ? कब (मुझको) जानकर, पाकर रोता हुआ अश्रु बहावैगा ? कौन समान मन वाले पति-पत्नी को बिलगावैगा, अब जो (गर्भरूप) अग्नि श्वसुरों में दीप्त हो रहा है।[१२]

१३. उर्वशी—मैं तुझे उत्तर देती हूं (तेरा पुत्र) अश्रु बहावैगा, और सोची हुई कल्याण वस्तु के होने पर रोता-चिल्लाता होगा। जो तेरा (अपत्य) हम में निहित है वह तुम्हारे पास भेजती हूं। तुम घर लौट जाओ, मूढ़ ! तुम मुझे नहीं पाते।[१३]

अर्थात् बरसाती हुई, तब अवश्य मनुष्यों का लाभदायी जल का प्रवाह अच्छी तरह से होता है (और उसके द्वारा अब उत्पन्न करा के) उर्वशी विद्युत सब मनुष्यों को दीर्घ आयु देती है। ठीक है, बिजली चमकने से दृष्टि अधिक होकर दीर्घ आयु होती ही है। निरुक्त कहता है—"नाराशंस्यो वा" अर्थात् इसका मनुष्योपाख्यान भी अर्थ है। वह जैसे अब बिजली की तरह झलक से आती हुई उर्वशी (रूप से) चमकी, और मेरे चाहे हुए स्वर्गीय (प्रेमादि) भावों को पूरी तरह निभाती हुई (वह मेरी प्यारी रही और वह गर्भवती है इससे) मनुष्यों का हितकारी (राजा) अथवा मनुष्य का पुत्र अच्छे, (देवाप्सरा सम्बन्धी) जन्मवाला, पुत्र उत्पन्न होगा, उर्वशी (अपनी संभाल से) उसकी आयु दीर्घ करती है।

अमर्त्य उर्वशी मर्त्य पुरूरवा की भी अपने सम्बन्ध से, पुत्र के होने के कारण, दीर्घ आयु बढ़ाती है, उसे अमर करती है क्योंकि तैत्तिरीय श्रुति है—"हे मर्त्य यही तेरा अमृतपना है कि प्रजा में तू ही जन्म लेता है।" "प्रजामनु प्रजायसे तदु ते मर्त्यामृतम्"। इसमें पुरूरवा ने उसकी पूरी खुशामद की है और उसे पाने की आशा ही ने तीन ऋचाएं एक साथ कहला दी हैं।

११. यों, मुझमें पुत्र उत्पन्न करके। 'आत्मा वै जायते पुत्रः', पुत्र आत्मा ही होता है, यह श्रुति है। तू फिर उत्पन्न हुआ है। यों पुत्र के रूप में स्वयं उत्पन्न होने की बात कह उर्वशी राजा को अमरत्व का लोभ दे, नश्वर विषय-वासना से दूर करती है। यदि कहो, तू मेरे पास रह जा, तो अब पुराने समयों (कौलों) की याद दिलाती है, अब प्रतिज्ञा का पालन कर विलाप क्यों करते हो ? स्मरण रहे, कौल तीन थे।

१२. अब राजा पुत्र की ममता माता पर डाल उसे लपेटना चाहता है। बिना पिता के पास रहे बेटा उसे कैसे जानेगा ? यदि तुम्हारे गर्भ न होता, तो भले ही पृथक् हो जाते, किंतु जब श्वसुर कुल का (मेरा) अग्नि "दम्पत्योः स्नेहबन्धनं" विद्यमान है तो पृथक् क्यों ? 'समान मन वाले' दोनों ही हैं, किंतु इस ऋक् में बड़ा ही करुण स्वर है।

१३. उर्वशी पुत्र को पिता के पास भेजने की प्रतिज्ञा करती है, किंतु अब तक का उसका प्रेम का स्वर यहां बदलकर 'मूढ़ !' बन जाता है। मूढ़ यों कि प्रतिज्ञाएं तोड़ चुका है। सुख-दुःख में पुत्र को पिता का साथ बताकर उर्वशी मानो सम्बन्ध तोड़ देती है। पुरूरवा वहां कह सकता है—"ते हृदयं नाविदाम्"।

१४. पुरूरवा—अच्छी तरह (तुम्हारे साथ) खेलनेवाला आज पड़ जाओ, बिना ढका हुआ दूर से दूर देश जाने को चला जावे अथवा पृथ्वी की (वा मृत्युपापदेवता की) गोद में शयन करे, अथवा जंगली कुत्ते वेग वाले इसे खा जावें।[१४]

१५. उर्वशी—पुरूरवा ! मत मरो, मत पड़ो, अशुभ वृक भी तुमको न खाएं। स्त्रियों की की हुई मित्रता नहीं ही होती, ये (इनकी) मित्रताएं जरखों के हृदयों की-सी (विश्वस्तों की घातुक) होती हैं।[१५]

१६. उर्वशी—अब[१६] अपना रूप छोड़ (अथवा तुम्हारे प्रेम से अनेक रूपों में) मनुष्यों में विचरी थी, (तो) चार शरद (ऋतु वा वर्ष ?), रात्रि रही थी; तब थोड़ा-सा घी दिन में एक बार खाती थी उससे मैं यों तृप्त रहती हूं।

१७. पुरूरवा—(अपने तेज से) अंतरिक्ष को भरने वाली, रज (जल) की बनानेवाली उर्वशी को खूब बसानेवाला मैं वश में लाता हूं। अच्छे कामों का देनेवाला (पुरूरवा) तुझे उपस्थित हो, मेरा हृदय तप्त होता है, (इससे) लौट चल।[१७]

१८. उर्वशी—ऐल ! तुझे देवता कहते हैं कि तू मृत्यु का बंधुआ है, जिस कारण तू यों है, प्रकर्ष से लायमान तू देवताओं का हवि से याग करता है, स्वर्ग में भी तू प्रसन्न करता है (यज्ञ से सबको)।[१८]

---

१४. वही देह जो तुम्हारी लीलाओं का पात्र था, आज भगुपतन, महाप्रस्थान गमन, जीवित खनन और आत्मघात की दुहाई देता है। न मालूम क्यों अन्तिम आठ मन्त्रों का सायण-भाष्य कुछ निर्जीव और शिथिल है।

१५. यहां उर्वशी अपना दोष समस्त स्त्रीजाति पर रखकर राजा से पृथक् होना चाहती है, यह अन्तिम दशा है। राजा को अब तक उर्वशी में पूर्ण प्रेम था। बारंबार उसका उल्लेख और उससे अतृप्त होने का निदर्शन है। किन्तु यहां उर्वशी ने दिल तोड़ दिया। इस ऋक् के अंतिम चरण का sentiment भाव अच्छा नहीं है।

१६. पुरूरवा पहले वाक्य को सुनकर उदासीन हो गया हो, तथापि पुराने प्रेम के सम्बन्ध से उर्वशी को साथ रखना चाहे या उर्वशी के जीवन-निर्वाह के लिए उसे अपनी राजधानी में ले जाना चाहे तो यह कथन। यह पता नहीं चलता कि चार वर्ष से अभिप्राय है, वा चार शरत् से, वा चार शरद् ऋतु की रात्रियों से।

१७. पूरूरवा की अंतिम आपत्ति—"मेरा चित्त दुखी है।" हक का खयाल न कर, कौल को भूल जा, तूने आकाश व्याप्त किया है, तू बिजली रूप से जल की भी स्रष्ट्री है, मैं भी प्रेमियों में सर्वश्रेष्ठ हूं। इससे लौट चल।

१८. तुम मृत्यु के बन्धन में हो, इससे यागादिक करके अमर हो जाओ और मेरे समोक होकर सदा अपनी इच्छा पूरी करो। अथवा यहीं से इसी लोक में बैठकर तुम यज्ञों से सब देवों को तृप्त करते हो, तो यज्ञफल से हमारे साथ मोद करोगे। ऐसे यज्ञों के कर्त्ता तुम यज्ञपुरुष का आश्रय लो, मेरे मोह की क्या चिंता करते हो ?

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन्।
पुमर्थांश्चतुरो दद्याद् विद्यातीर्थमहेश्वरः॥

(इ) ग्रिफिथ का अनुवाद (मैक्समूलर और आफ्रेक्ट के आधार पर)

१. पु०—हे मेरी पत्नी ! ठहर, ऐ भयंकर आत्मावाली स्त्री, और अपन कुछ देर तक साथ विचार करें। हमारे इन विचारों के-से विचार पिछले दिनों में न कहे जाकर भी हमें कभी सुख नहीं लाए हैं।

२. उ०—मुझे तेरे इस कहने का अब क्या करना है ? मैं प्रातःकालों में से पहले की तरह तेरे पास से चली गई हूं। पुरूरवा, तू अपने घर को लौट जा, मैं वायु की तरह पकड़ने में कठिन हूं।

३. पु०—विजय के लिए तरकस से छोड़े तीर की तरह, या वेगवान् घोड़े की तरह, जो गौओं को (बाजी में) जीतता है, सैकड़ों (रुपए जीतता है, बिजली चमकती हुई दिखलाई दी, जैसे कायरों ने विचारा था। भाट लोग दुःख में भेड़ की तरह बरड़ाए।

४. उ०—अपने पति के पिता को जीवन और धन देती हुई, पास के घर से, जब उसका पति उसे चाहता, वह उस घर में पहुंच जाती जहां वह अपना सुख पाती, दिन और रात अपने पति के आलिंगनों का स्वीकार करके।

५. उ०—तू दिन में तीन बार अपनी जाया का आलिंगन करता, यद्यपि वह तेरे प्यारों को रूखी तरह से स्वीकार करती। हे पुरूरवा, मैं तेरी इच्छाओं के वश थी, वीर ! यों तुम मेरे देह पर राजा थे।

६. पु०—सुजूर्णि, श्रेणि, सुम्नेआपि, चरण्यु, ग्रंथिनी, और हृदेचक्षु—ये सब युवतियां लाल गौओं की तरह दौड़ गई हैं; प्रकाशमान और दूध देनेवाली गौओं ने बहस में राम्भा है।

७. उ०—जब यह उत्पन्न हुआ था तो बुढियाएं साथ बैठी थीं, नदियों ने स्वतन्त्र दयालुता से उसे पोषण दिया, और तब, हे पुरूरवा देवताओं ने तुझे बड़ी लड़ाई में दस्युओं को नष्ट करने के लिए बढ़ाया।

८. पु०—जब मैंने मर्त्य होकर, अपने आलिंगनों में कपड़े खोलने वाली इन दैवी देवियों को लपेटा, वे कातर हरिणियों की तरह मुझसे डरकर भागीं, गाड़ी के घोड़ों की तरह से, जब गाड़ी उन्हें छू गई हो।

९. पु०—जब इन अमरों को प्यार करता हुआ, मर्त्य इनकी आज्ञा में देवियों से संपर्क रखता है, हंसों की तरह वे अपने देह की सुंदरता दिखाती हैं, मचलते हुए घोड़ों को तरह काटती और कुतरती हैं।

१०. पु०—वह, जो गिरती बिजली की तरह प्रकाशमान चमकी थी, मेरे लिए जलों में से बढ़िया भेंटें लाई। तब उस तूफान से वीर युवा उत्पन्न हो ! उर्वशी अपनी आयु सदा बढ़ावै !

११. उ०—तेरे जन्म ने मुझे पृथ्वी की दुधार गायों से दूध पिलाया है, पुरूरवा ! यह शक्ति तैंने मुझको दी है। मैं जानती थी और तुझे उसी दिन चेताया था तू मुझे नहीं सुनाना चाहता था। अब तू क्या चाहता है, जब कोई बात तुझे लाभदायक नहीं ?

१२. पु०—पुत्र कब पैदा होगा और पिता को खोजेगा ? विलापी की तरह उसे पहले-पहल जानते ही क्या वह रोवेगा ? दिल की लगन वाले पति-पत्नी को कौन पृथक् करेगा, जब अग्नि तेरे पति के माता-पिता के पास जल रही है ?

१३. उ०—मैं उसे ढाढस दूंगी जब उसके आंसू गिरते होंगे; उस सम्हाल के लिए जो सुख देती है वह नहीं रोवै-चिल्लावेगा। हम दोनों में जो कुछ तेरा है वह मैं तुझे भेज दूंगी। मूर्ख ! घर को लौट जा, तैंने मुझको नहीं पाया।

१४. पु०—तेरा प्रेमी आज के दिन सदा के लिए भाग जायगा, न लौटकर सब दूर की दूरी खोजने को। तो उसका बिछौना नाश की छाती में होने दो और भयंकर निर्दय भेड़िए उसे खा जाएं।

१५. उ०—नहीं, पुरूरवा, मत मरो, मत नष्ट हो, कुशकुन के भेड़िए भी तुझे न खाएं। स्त्रियों के साथ स्थायी मित्रता नहीं हो सकती, जरखों के हृदय हैं, स्त्रियों के हृदय।

१६. उ०—जब बदली हुई सूरत में मनुष्यों में मैं रही, और चार पतझड़ तक उनमें मैंने रातें बिताईं, मैं दिन में एक सेर घृत का एक बिंदु चखती थी, और अब भी मैं उससे ही सन्तुष्ट हूं।

१७ पु०—मैं उसका सर्वप्रधान प्रेमी, जो हवा को भरती है और देश भर को नापती है, ऐसी उर्वशी को मुझसे मिलने को बुलाता हूं। पवित्रता से लाया दान (वर) तुझे पहुंचे। तू मेरे पास हट आ, मेरा हृदय दुःखित है।

१८. उ०—हे इला के पुत्र ! ये देवता तुझसे यों कहते हैं। मृत्यु ने सच्चे ही अपना विषय कर लिया है, तेरे पुत्र अपनी भेंट से देवताओं की सेवा करेंगे, और तू भी स्वर्ग में सुख पावेगा।

(उ)—बड़े खेद का विषय है कि स्वामी दयानन्द जी का ऋग्वेद भाष्य यहां तक पहुंच ही न पाया, नहीं तो नैरुक्त शैली का एक और अर्थ यहां उद्धृत किया जा सकता।

२. सर्वानुक्रम, सायणभाष्य में उद्धृत :

"....'हये'। दो कम (बीस) उर्वशी को इला के बेटे पुरूरवा ने पहले की कामना से फिर पाकर पकड़ना चाहा; वह उसे न चाहती हुई उसकी बात मोड़ने लगी...."

३. बृहद्देवता ७, १४०-१४७ (डा० मित्र के संस्करण से) :

पूर्वकाल में अप्सरा उर्वशी राजा पुरूरवा के पास संवित् करके रही और उसने राजा के साथ धर्माचरण किया। इन्द्र ने उन दोनों के सहवास की और ब्रह्मा का पुरूरवा पर जो इन्द्र के समान प्रेम था उसकी ईर्ष्या करके उन दोनों के वियोग के लिए पास खड़े वज्र को कहा—हे वज्र ! तू यदि मेरा प्रिय चाहता है तो इन दोनों की प्रीति तोड़ दे।। "ठीक है" कहकर माया से वज्र ने उनकी प्रीति तोड़ दी। तब उस (उर्वशी) के

बिना राजा पागलों की तरह फिरने लगा। घूमते-घूमते सरोवर में उसने सुन्दरी उर्वशी को पांच सुन्दरी अप्सराओं से घिरी हुई देखा। उससे कहा कि "आ जा," किन्तु उसने राजा से कहा, "नहीं"। राजा ने उसे प्रेम से बुलाया किन्तु उसने राजा को दुःख से कहा, "मैं आपको आज यहां दुष्प्राप्य हूं, स्वर्ग में मुझे फिर पाओगे।" यह (सूक्त) उनका आपस में आह्वान और आख्यान है। इसे यास्क (कल्पित) संवाद मानते हैं और शौनक इतिहास। 'हये' इति···

४. **उसी में आर्षानुक्रमणी में** उर्वशी और पुरूरवा ऐल को इस सूक्त के भिन्न-भिन्न मंत्रों का ऋषि लिखा है। जिस मत्र का जो अर्थ (जिसके प्रति) लगता हो, वही उस मंत्र का देवता है अर्थात् उसके प्रति वह मंत्र कहा गया है, ऐसा सायणभाष्योद्धृत अनुक्रमणिका में लिखा है।

५. **सायणभाष्य** में सूक्तस्थल में कुछ श्लोक 'बृहद्देवता' से उद्धृत किए हैं। वही एशियाटिक सोसाइटी के निरुक्त संस्करण' और मैक्समूलर की भाष्य-भूमिका में उद्धृत हैं, किन्तु डा० राजेन्द्रलाल मित्र की 'बृहद्देवता' इनका पता नहीं। **षड्गुरुशिष्य ने सर्वानुक्रमणी** पर जो 'वेदार्थ दीपिका' टीका बनाई है, उसमें भी वही श्लोक, कुछ पाठ-भेद से, मिलते हैं। यद्यपि ये **वैदिक** नहीं कहला सकते, तथापि उनका अनुवाद, हम यहीं दे देते हैं—

ऐल और उर्वशी का इतिहास यहां स्पटष्टता के लिए वर्णन किया जाता है। मित्र और वरुण दोनों दीक्षित थे, उर्वशी को देख चलचित्त हो, घड़े में शुक्र रखकर उनने उसे शाप दिया कि तुम पृथ्वी में मनुष्यभोग्या हो जाओ। इसी काल में इल राजा, मनुपुत्रों के साथ, शिकार खेलता हुआ देवी की गोद (? हिमालय) में घुसा, जहां गिरिजा भगवान् शंकर को सब प्रकार से संतुष्ट कर रही था। "यहां घुसनेवाला पुरुष स्त्री हो जायगा" —यह कह (पार्वती) वहां घुसी थी, अतएव स्त्री होकर लज्जित होकर, वह झटपट शिव की शरण गया।

"राजन्! तुम इसे प्रसन्न करो।" शिव जी के यह कहने पर अपने पुरुषत्व की सिद्धि के लिए देवी की शरण गया। देवी ने भी छै महीने में उसे पुरुषत्व प्राप्त करा दिया। कभी स्त्रीकाल (वसंत ऋतु?) में सौंदर्य से मोहित होकर बुध ने अप्सराओं से भी विशिष्ट उस राजस्त्री (अर्थात् स्त्रीभूत राजा इल) की कामना की। इला में सोमपुत्र से राजा पुरूरवा उत्पन्न हुआ। प्रतिष्ठानपुर (पैंठान) में उसकी उर्वशी ने कामना की। "बिछौने के सिवाय कहीं तुम्हें नंगा देखकर मैं जैसे आई वैसे चली जाऊंगी। दो भेडे, पुत्र वहां मेरे पास दृढ़ कर दो।" यह समय करके उसने राजा को प्रसन्न किया। चार वर्ष बीतने पर देवताओं ने दोनों भेडे चुराए, उसकी ध्वनि सुनकर वह भूपति नंगा ही उठकर "जीतकर आऊंगा"—यों बोला। बिछौने से अलग ही बिजली ने इस (उर्वशी) को नंगा ही दिखा दिया। प्रतिज्ञा नष्ट होने से उर्वशी तो स्वर्ग को चली गई। तब उसे देखने की इच्छा रखता हुआ राजा पुरूरवा ने पागल की तरह इधर-उधर उसे खोजता हुआ मानस सरोवर के तीर में अप्सराओं के साथ विचरती हुई, उसे देखा। पहले की तरह उससे भोग की राजा ने इच्छा की, किन्तु

उसने अपने आप शाप के मुक्त हो जाने से अश्रुपूर्वक उसे "चला जा" कहकर प्रत्याख्यान किया।

६. **यास्क ने निरुक्त में** इस विषय में जो कुछ लिखा है वह हम 'ऋग्वेद' के अंश की टिप्पणी में कह चुके हैं।

७. **शतपथ ब्राह्मण ५, १।२**

उर्वशी अप्सरा ने इड़ा के पुत्र पुरूरवा की कामना की। उसे स्वीकार करते समय कहा। तीन बार ही मुझको अहोरात्र में वैतस दंड से ताड़न करना। अनिच्छा वाली मुझसे न मिलना, मैं तुझको नंगा न देखूं। यह स्त्रियों का उपचार नहीं है। वह इसके साथ जुड़कर रही। और इससे गर्भिणी भी हुई। तब तक सुख से इसके साथ रही। तब गंधर्व इकट्ठे हुए। "क्या ठीक है कि सुख से उर्वशी मनुष्यों में रही? उपाय करो जिससे वह फिर आ जाय।" उसके प्रकट दो भेडे बिछौने में बंधे थे। तब गंधर्वों ने एक भेडे को दबाया। वह बोली--"जहां कोई वीर न हो, जहां कोई जन न हो, वहां की तरह मेरे पुत्र को हरते हैं।" दूसरे को दबाया। वह वैसे ही बोली। अब इसने (पुरूरवा ने) विचारा। कैसे वहाँ वीर नहीं, कैसे वहां जन नहीं, जहां मैं हूं? वह नंगा ही कूद पड़ा। देरी इसको माना कि कपड़ा पहनता। तब गंधर्वों ने बिजली को पैदा किया। उसको जैसे दिन में (वैसे साफ) नग्न देखा (उर्वशी ने) तभी यह तिरोभूत हो गई। 'फिर आऊंगी' यों गई। छिपी हुई का ध्यान कर बकता हुआ कुरुक्षेत्र के पास फिरने लगा। वहां आधि से प्लक्षोंवाली और कमलोंवाली (वापी) के पास चला गया। उसमें चलती-फिरती अप्सराएं डुबकियां ले रही थीं। उसे यह (उर्वशी) जानकर बोली। यह वह मनुष्य है जिससे पास मैं रही थी। वे बोलीं। उस पर हम प्रकट हों। ठीक है। (सब) उसके (सामने) प्रकट हुईं। यह उसे जानकर बकने लगा। "हे पत्नि! मन से ठहर, भयंकरे! वचन मिले हुए करें तो। नहीं, हमारे मंत्र बिना कहे ये सुख करते हैं परतर दिनों में।" ठहर तो जा; बातें तो करें यों यह उसको बोला। उसको इसने उत्तर दिया, "क्या ऐसी बातें करूं तुमारी, मैं चली गई हूं, उषाओं की पहली की तरह। पुरूरवा! फिर घर को चला जा, दुष्प्राप्य हवा की तरह मैं हूं। नहीं, तूने वह किया जो मैंने कहा था। दुष्प्राप्य अब तुझे मैं हूं फिर घरों को जा, यह इसको बोली। तब यह खिन्न होकर बोला, "अच्छा देव आज गिरेगा बिना सम्हाला परम न लौटनेवाली दूरी को जाने को। और सोएगा निर्ऋति की गोद में, और निर्दय वृक इसे खाएंगे।" सुदेव जो या तो मारेगा या गिर जायगा जिससे इसे वृक वा कुत्ते खाएं। यह वह इसे बोला। उसको दूसरी बोली—"पुरूरवा! मत मर, मत गिर, मत तुझको भेड़िये अमंगल क्षय करें। नहीं स्त्रियों की मित्रता है सालावृकों के हृदय हैं इनके।" मत इसका आदर कर। नहीं स्त्रियों की मित्रता है। फिर गृहों को जा।" यह उसको बोली—जो रूप बदलकर विचरी मर्त्यों में शरद की रात्रि चार। घी थोड़ा-सा एक बार दिन में खाया उससे ही मैं तृप्त फिरती हूं।" सो यह उक्त प्रत्युक्त (सवाल-जवाब) पंद्रह ऋचों का वह्वृच कहते हैं। उसको हृदय अर्पण किया। वह बोली—वर्ष भर (पीछे) की रात्रि को आना। तब मेरे एक रात्रि पास सोएगा। उत्पन्न भी तब यहां तेरा पुत्र हो जायगा।

वह वर्ष भर पीछे की रात्रि को सुवर्ण निर्मित (गंधर्व लोकों में ?) आया। तब इसको एक बोली—'इसको ले ले।' तन इसको वह ला दी। वह बोली—"गंधर्व तुझको प्रातःकाल वर देंगे। उनसे वर ले। उसे मेरे लिए तू ही वर ले। तुममें से ही एक हो जाऊं—यह कहना।" उसको सवेरे गंधर्वों ने वर दिया। वह बोला—"तुममें से ही एक हो जाऊं।" वे बोले—"मनुष्यों में अग्नि की वह यज्ञिय तनू नहीं है जिससे यज्ञ करके हममें एक हो जावे। उसे स्थाली में रख अग्नि दिया। इससे याग करके हममें एक हो जायगा।" उस (अग्नि) को और एक कुमार को लेकर चला आया। वह अरण्य में ही अग्नि को रख कुमार के साथ ही ग्राम को गया। "फिर आऊंगा, यों आया तो गुप्त ! जो अग्नि था उसे अश्वत्थ और जो स्थाली थी उसे शमी (पाया) वह फिर गंधर्वों के पास गया। ये बोले—"संवत्सर भर चार के खाने लायक ओदन बना। वह इसी अश्वत्थ की तीन-तीन समिधें घी से आंजकर समित्‌वाली घी वाली ऋचों से आधान करे। उससे जो अग्नि होगा, वही वह होगा। वे बोले—यह सब तो परोक्ष ही है। अश्वत्थ की ही उत्तर अरणि बना। शमीमयी अधर अरणि (नीचे की) बना। वह जो उससे अग्नि उत्पन्न होगा, वही वह होगा।" उसने अश्वत्थ की ही ऊपर की अरणि बनाई। अश्वत्थ की ही नीचे की। उससे जो वह अग्नि हुआ वह वही हुआ। उससे याग करके गंधर्वों में से एक हो गया। इससे अश्वत्थ की ही उत्तरारणि करै, अश्वत्थ की ही अधरारणि। वह उससे जो अग्नि होता है वह वही होता है। उससे याग करके गंधर्वों में से एक हो जाता है।

८. मैक्समूलर, चिप्स फ्राम दी जर्मन वर्कशाप, जिल्द ४, पृष्ठ १०७ प्रभृति

वेद की कथाओं में से एक जो उषा और सूर्य के इस परस्पर सम्बन्ध का, अमर्त्य और मर्त्य के इस प्रेम का, प्रातःकाल की उषा और सायंकाल की उषा की एकता का, निरूपण करती है, उर्वशी और पुरूरवा की कथा है। उर्वशी और पुरूरवा ये दो नाम हिन्दू के लिए केवल नाममात्र ही हैं, और वेद में भी उनका असली अर्थ प्रायः पूरी तरह से उड़ गया है। 'ऋग्वेद' में उर्वशी और पुरूरवा का एक संवाद है जिसमें दोनों वैसे ही पुरुषायित (Personified) रूपक में हैं जैसे कालिदास के नाटक में। इसलिए पहली बात जो हमें सिद्ध करनी है यह है कि उर्वशी वास्तव में एक विशेषण था और उसका अर्थ 'उषा' था।

उर्वशी का शब्दविज्ञान कठिन है। यह 'उर्व' शब्द से 'श' प्रत्यय लगाकर तो बनाया नहीं जा सकता, क्योंकि 'उर्व' कोई शब्द ही नहीं, और 'रोमश', 'युवश', प्रभृति शब्दों में अन्तोदात्त होता है। इससे मैं साधारण भारतवासियों का अर्थ मानता हूं जिसके अनुसार यह नाम उरु (विस्तीर्ण) शब्द से, औ अश् (व्याप्त होना) धातु से बना मानना पड़ता है। यों उर्व-अशी उषा के दूसरे प्रसिद्ध विशेषण 'उरूची', 'उरू-अच्' दूरव्यापी के स्त्रीलिंग रूप से तुलनीय होता है। यह वास्तव में बहुत ध्यान देने योग्य लक्षण है, और आकाश के और सब वासियों से उषा का भेदक है कि वह आकाश का बड़ा विस्तार रोकती है, और उसके घोड़े मानो विभा की-सी शीघ्रता से सम्पूर्ण

क्षितिज पर दौड़ जाते हैं, इससे हम पाते हैं कि 'उरू' से आरम्भ होनेवाले नाम प्रायः उषा के ही पौराणिक नाम हैं। वेद में उषा का नाम कदाचित ही यों लिया जाता हो जबकि उसकी दूर दूर तक व्याप्त शोभा का उल्लेख न किया हो, जैसे 'उर्विया विभाति', दूर-दूर तक चमकती है, 'उर्विया विचक्षे', दूर देखती हुई, 'वरीयसी', सबसे चौड़ी, इसके विरुद्ध सूर्य का प्रकाश दूर फैला हुआ नहीं वर्णित किया जाता है, किन्तु दूर दौड़ता हुआ।

किन्तु केवल उर्वशी के नामों के सिवाय ऐसे और भी चिह्न हैं जो हमसे कल्पना कराते हैं कि वह वास्तव में उषा की देवी थी। वसिष्ठ, यद्यपि वेद का अन्यतम प्रधान कवि कहकर प्रसिद्ध है, तथापि वसु (प्रकाशमान) का प्रधानतम द्योतक है और यों सूर्य का भी एक नाम है। इससे यह हुआ कि जो पद केवल सूर्य ही पर घटते हैं वही पद इस प्राचीन कवि पर आरोपित कर दिए गए। वह मित्र और वरुण (रात्रि और दिन) का पुत्र कहा जाता है और यह पद सूर्यार्थक वसिष्ठ ही हर कुछ अर्थ रखता है, और इसलिए कि कई बार सूर्य को उषा का पुत्र कहा गया है, वसिष्ठ ऋषि भी उर्वशी से उत्पन्न कहा गया (ऋ०, ७, ३३, ११)। उसके जन्म की विशेषता ही सियड् की वर्णित अफ्रोडाइट की कविता का शीघ्र ही स्मरण दिला देती है।

और भी ऋग्वेद में जिन थोड़ी सी ऋचाओं में उर्वशी का नाम आता है, उसे वही गुण और वही काम लगाए जाते हैं जो साधारणतः उषा के हैं।

यह उषा के लिये बारम्बार कहा गया है कि वह मनुष्य की आयु बढ़ाती है, और वही उर्वशी के विषय में वर्णित है (५-४, १६, १०. ९५, १०)। एक ऋक् में (४. २. १८) उषसः की तरह उर्वशी शब्द ही बहुवचन में कहा गया है, इसी अर्थ में कि बहुत-सी उषा वा बहुत से दिन मनुष्यों की आयु बढ़ावें। यह सिद्ध करता है कि इस शब्द (उर्वशी) का विशेषणार्थ अभी पूरी तरह से नहीं भूला गया था। वह अन्तरिक्षप्रा, आकाश को भरती हुई कही जाती है। (यह उपमा सूर्य की है)। बृहद्दिवा, बड़े प्रकाश वाली भी वर्णित है, ये सब उषा की प्रकाशमान उपस्थिति के सूचक हैं। उर्वशी उषा ही है, इसका सबसे अच्छा प्रमाण उसके और उसके पुरूरवा के लिए प्रेम की जो कथा कही जाती है, वही है। यह कथा उषा और सूर्य की ही सच्ची हो सकती है। सूर्य वीर के लिए पुरूरवा उपयुक्त नाम है, इस बात के प्रमाण की बहुत कम जरूरत है। पुरूरवा का अर्थ है—बहुत प्रकाश से युक्त, क्योंकि यद्यपि 'रव' शब्द के अर्थ में आता है तथापि 'रू' धातु जिसका वास्तव अर्थ 'चिल्लाना' है बड़े प्रकाशमान अर्थात् 'रैड' लाल रंग के अर्थ में भी लगाया जाता है (तुलना करो—रबर, रूफस, रॉड, रोट, रुधिर, रवि = सूर्य)। पुरूरवा अपने को 'वसिष्ठ' कहता है, जो कि, हम जानते हैं, सूर्य का नाम है और यदि वह इडा का पुत्र 'ऐड' है तो वही नाम और जगह अग्नि को दिया गया है। ऋग्वेद के अन्तिम पुस्तक में इन दैव-प्रेमियों में एक संवाद पाते हैं। इन पद्यों में से एक में उर्वशी कहती है—"मैं सदा के लिए गई हूं, जैसे उषाओं की पहली।" यह कवि के मन में प्राचीन कथा का विलक्षण चमकना दिखाता है और मैमन की माता अपने पुत्र की लाश पर जो आँसू बहाती थी, और जिन्हें पिछले कवि 'प्रातःकाल की ओस' कहते थे, उनकी हमें याद दिलाता है। और चौथी ऋक् में उर्वशी अपने को सम्बोधन

करके कहती है—"यह व्यक्ति (अर्थात् मैं) जब उसको ब्याही गई थी, हे उषा ! उसके घर में गई और दिन-रात आलिंगित हुई।" फिर भी वह पुरूरवा को कहती है कि देवताओं ने तुझे अन्धकार की शक्तियों को मारने के लिए (दस्युहत्याय) बनाया, ऐसी बात सदा इन्द्रादि व्यक्तियों ही के लिए कही जाती है। उर्वशी की सहेलियों के नाम भी उषा की ओर इशारा करते हैं।

यह अवश्य हमको मानना होगा कि वेद में कवि लोग उर्वशी और पुरूरवा के वास्तव अर्थ के वैसे अनभिज्ञ थे जैसे होमर टिथोनोस, इयोस नामों का। पुरावार्ता नंगे सूर्य का वृत्त कहती और सती उषा का पति को देखकर मुँह छिपाना वर्णन करती। तो भी वह कहती है कि मैं फिर आऊंगी। जब सूर्य अपनी प्रिया की खोज में जगत् भर के ऊपर घूम चुका, तब वह मृत्यु के दरवाजे आता है और अपने एकाकी जीवन को समाप्त करने को होता है, वह फिर दिखाई देती है, वैसी ही उषा (जैसे होमर में भी इयोस दिन का आदि अन्त दोनों करती है) और वही उषा उसको अमरों के वासस्थान को ले जाती है। पुरूरवा-उर्वशी की सब कहानियों की जड़ छोटे कहावती वाक्य थे, जो प्राचीन भाषाओं को बहुत प्यारे थे, जैसे "उर्वशी पुरूरवा को प्यार करती थी"="सूर्य का उदय होता है", "उर्वशी ने पुरूरवा को नंगा देखा"="उषा हो चुकी", "उर्वशी को पुरूरवा फिर मिल गया"="सूर्य अस्त हो रहा है।"

आगामी प्रस्ताव में इस कथा का पौराणिक रूप दिखाया जायगा।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : जनवरी-अप्रैल, १९०५ ई०]

विक्रमोर्वशी की मूल कथा-२[1]

पुरूरवा अत्यन्त दानी और तेजस्वी राजा था, जिस सत्यवादी और रूपवान् राजा को 'मित्रावरुण के शाप से मुझे मर्त्यलोक में रहना होगा' यह विचार के उर्वशी ने देखा। उसको देखते ही अपना मान छोड़, स्वर्ग के सब सुखों की इच्छा को तज, उसी में मन लगा, सेवा करने लगी। उसे सब लोकों की स्त्रियों से कान्ति, सुकुमारता, लावण्य, हास्य, विलास आदि गुणों में उत्कृष्ट जान राजा की चित्तवृत्ति भी उर्वशी के अधीन हो गई। दोनों ही एक-दूसरे में मन लगाए रहें, और कहीं न देखें, और और सभी प्रयोजनों को छोड़ बैठें। राजा ने बुद्धिमानी से उसे कहा—"हे सुभ्रु ! तुझसे मेरा अत्यन्त प्रेम है, कृपा करके विवाह कर ले।" ऐसा कहने पर लज्जा से मुँह छिपा, उर्वशी बोली—"ऐसा ही सही, यदि मेरे वचन का आप पालन करें।" "अपना वचन मुझे कहो।" यह पूछने

१. पौराणिक मूल (१) विष्णु पुराण ४,६ (गद्य)

पर बोली—"सोने के समय मेरे पुत्र समान दो भेडे न हटाए जायं। मैं आपको नंगा न देखूं। घी ही मेरा भोजन रहेगा।" राजा ने कहा—"यों ही सही।" उसके साथ राजा ने अलकापुरी में चैत्ररथादि वनों में, निर्मल कमलोंवाले सरोवरों में, विहार करते एकसठ हजार वर्ष, दिन-दिन बढ़ते आनन्द में बिताए। उर्वशी भी उसके उपभोग से दिन-दिन अनुराग बढ़ने के कारण स्वर्गलोक में रहने की इच्छा नहीं करती थी। उर्वशी के बिना स्वर्गलोक अप्सराओं और सिद्ध गन्धर्वों को रमणीय नहीं मालूम पड़ने लगा। तब उर्वशी और पुरूरवा के समय (प्रतिज्ञा, कौल) को जानने वाला विश्वावसु, गन्धर्वों के साथ, रात को, नेत्रों के पास से ही, एक भेडे को ले गया। आकाश में ले जाए जाते उसका शब्द उर्वशी ने सुना और कहा—"मुझ अनाथा के पुत्र को कोई ले जाता है, किसके शरण जाऊं?" यह सुनकर भी राजा मुझे 'देवी नंगा देख लेगी' यह विचार कर न गए। गन्धर्व दूसरे भेडे को भी लेकर चलने लगे। चुराए जाते उसके शब्द को सुनकर "मैं अनाथा हूं, बिना पति की, कुपुरुष के आश्रय में हूं।" यह (उर्वशी की) आर्तवाणी हुई। राजा भी मारे गुस्से के अन्धेरा समझकर (नंगे ही) तलवार लेकर, "मारा है दुष्ट! मारा है।" कहता दौड़ा। इतने में गन्धर्वों ने अत्यन्त उज्ज्वल बिजली पैदा की। उसके प्रकाश से राजा को बिना वस्त्रों के देखकर उर्वशी, प्रतिज्ञा टूट जाने से, उसी क्षण चली गई। उन भेडों को छोड़कर गन्धर्व सुरलोक को चल दिए। राजा भी जब उन भेडों को ले प्रसन्न होते हुए बिछौने पर आया तो उर्वशी को न पाया। उसे न देखकर बिना कपड़ों ही के पागल होकर घूमने लगा। कुरुक्षेत्र में, कमल-सरोवर में, चार अप्सराओं के साथ उसने उर्वशी को देखा और उन्मत्तों की तरह "हे भयंकर पत्नी! मन में रह, वचन में रह" ऐसे कई प्रकार के सूक्त कहने लगा। उर्वशी बोली—"महाराज! ऐसी अविवेक चेष्टा को बस कीजिए। मैं गर्भिणी हूं। वर्ष के अन्त में आप यहां आवें। आपके कुमार होगा। एक रात्रि मैं तुम्हारे साथ रहूंगी।" ऐसा सुनकर प्रसन्न हो, राजा अपने घर चले आए। उन अप्सराओं में उर्वशी ने कहा—"यह वह पुरुष-श्रेष्ठ है जिस प्रेमी के साथ मैं इतने काल तक रही।" यह कहे जाने पर अप्सराएं बोलीं—"इनका रूप बहुत ही अच्छा है, इनके साथ तो हमारी भी सर्वदा रमण करने की इच्छा हो सकती है।" वर्ष पूरा होने पर राजा वहां आए। उर्वशी ने उसे 'आयु' कुमार दिया। और एक रात्रि राजा के साथ रह पांच पुत्रों की उत्पत्ति के लिए गर्भ पाया। और राजा से कहा—"मेरी प्रीति से महाराज के प्रति सभी गन्धर्व सन्तुष्ट हैं और वर देना चाहते हैं, सो वर मांगो।" राजा बोले—"मैंने सब शत्रु जीत लिए हैं, मेरी इन्द्रियों की सामर्थ्य घटी नहीं है, मेरे मित्र भी हैं, सेना और कोश भी है। हमें उर्वशी सालोक्य के सिवा, और कुछ अप्राप्य नहीं है। सो मैं इस उर्वशी के साथ काल बिताना चाहता हूं।" यह कहने पर गन्धर्वों ने राजा को अग्निस्थाली दी, और उसे कहा—"अग्नि को वेद के अनुसार तीन बार उर्वशी-सलोकता मनोरथ का उद्देश करके याग करो। इससे अवश्य ही अभिलषित को पाओगे।" ऐसा कहने पर उस अग्नि-स्थाली को ले राजा चला आया। जंगल में राजा ने सोचा—'अहो! मेरी बड़ी मूर्खता

हुई जो मैं अग्निस्थाली को लाया, उर्वशी को नहीं।" और अग्निस्थाली को वन में ही छोड़ दिया। अपने नगर को लौट आया। आधी रात बीतने पर नींद टूटने से सोचा—'मेरे उर्वशी-सालोक्य प्राप्ति के लिए गन्धर्वों ने अग्निस्थाली दी थी। वह मैंने जंगल में छोड़ दी। सो मैं वहां उसे लेने जाता हूं।' यह सोच, उठकर जब वहां गया तो अग्निस्थाली नहीं देखी। शमीगर्भ अश्वत्थ को अग्निस्थाली के स्थान में देखकर राजा विचारने लगा—'मैंने जहां थाली फेंकी थी वहीं शमीसंयुक्त अश्वत्थ हो गया है। सो इसी अग्निरूप को ले, अपने घर जा अरणि बना, उससे उत्पन्न अग्नि की उपासना करूगा।' अपने नगर में पहुँचकर ऐसी ही अरणि बनाई। उसके प्रमाण को अंगुलों से नापते हुए गायत्री का पाठ करने लगा। पाठ करते-करते जितने गायत्री के अक्षर थे, उतने अंगुलों (२४) की ही अरणि बनी। उससे अग्नि मन्थन करके, वेद के अनुसार तीनों अग्नियों का होम किया, और उर्वशी-सालोक्य फल का निर्देश किया। उसी विधि से बहुत से यज्ञों को करके गन्धर्वलोकों को पाया, उर्वशी के साथ वियोग नहीं पाया। पहले एक ही अग्नि था; ऐल (पुरूरवा) ने इस मन्वंतर में त्रेता (दक्षिणाग्नि, गार्हपत्य, आहवनीय) चलाई।

२. भागवत ९.१४

उससे इला में उदाहृत पुरूरवा का जन्म हुआ। इन्द्र के भवन में नारद के द्वारा जिसके रूप, गुण, उदारता, शील, धन, पराक्रम आदि का गान सुनकर काम पीड़ित हो उर्वशी उसके पास आई। मित्रावरुण के शाप से मनुष्यलोकता को पा, कामदेव के सदृश सुन्दर उस पुरुषश्रेष्ठ को जान, धैर्य धारण करके, उसके पास उपस्थित हुई। वह नरपति उसे देखकर रोमांचित हो, हर्ष से नेत्र प्रसन्न करके, मीठी वाणी से बोले—"हे सुन्दरि ! तुम्हारा स्वागत है; बैठो, क्या करें ? मेरे साथ अनन्तकाल पर्यन्त रमण करो।" "हे सुन्दर ! किस कारण तुममें दृष्टि और मन न लगें ? जो दृष्टि और मन आपसे क्रीड़ा करने की इच्छा से और अंग को पाकर भी लौट जाते हैं। हे राजन् ! मानद ! ये मेरे दो भेडे अमानत रख लो, मैं तुम्हारे साथ रमण करूंगी। स्त्रियों का वर श्लाघ्य ही होता है। वीर, घृत ही मेरा भोजन रहे और मैं तुझे नंगा न देखूं।" महामना ने इन सब बातों को वैसे ही मान लिया। "धन्य है तुम्हारा रूप और धन्य है तुम्हारा मनुष्यलोक को मोहनेवाला भाव, कौन मनुष्य स्वयं आई हुई तुझ देवी को न स्वीकार करे !" वह पुरुषश्रेष्ठ, यथावत् रमण करती हुई उसके साथ चैत्ररथादि देवताओं के विहारों में यथावत् विहार करता रहा। कमल केसर की सुगन्धिवाली उस देवी के साथ विहार करता हुआ, उसके मुख के आमोद से चुराया जाकर बहुत से अहर्गणों तक आनन्द करता रहा। इन्द्र ने उर्वशी को देखते हुए गन्धर्वों को प्रेरणा की कि "उर्वशी से रहित राजधानी मुझको शोभा नहीं देती।" वे रात्रि को बड़े अंधियारे में आ, पत्नी उर्वशी के राजा के पास रक्खे हुए भेडों को चुरा ले चले। देवी ले जाए जाते पुत्रों का चिल्लाना सुनकर बोली—"नपुंसक और अपने को वीर माननेवाले दुष्ट स्वामी ने मुझे मार डाला। जो पुरुष होकर भी, दिन में स्त्रियों की तरह रात को निश्चिन्त सोता है और

जिसके विश्वास से मैं नष्ट हुई और चोरों ने मेरे पुत्र चुरा लिए।" जैसे हाथी अंकुश से, वैसे इन वाक्य-बाणों से बिद्ध होकर राजा बिना वस्त्र ही क्रोध में रात्रि को खड्ग लेकर दौड़े। गन्धर्व भेडों को वहां छोड़कर बिजलियां चमकाने लगे। मेषों को लेकर आते हुए अपने पति को उर्वशी ने नंगा देखा (और अदृश्य हो गई)। ऐल भी शयन में पत्नी को न देखकर विकल और उदास हो, उसी में मन लगा, पागल की तरह भूमि में घूमने लगा। कुरुक्षेत्र में सरस्वती नदी में उसे और उसकी प्रसन्नमुख पांच सखियों को देखकर पुरूरवा सूक्त को बोला—"हे घोर पत्नि! ठहर-ठहर। मुझे छोड़ना ठीक नहीं। आज भी सन्तुष्ट न हो करके बातें करें। देवि! इस देह को तूने बहुत दूर घसीटा है, यह यहीं गिरता है; यह तेरे प्रसाद का पात्र नहीं होता तो इसे भेड़िये और गीध खाते हैं।" "तू पुरुष है, मत मर, ये वृक भी तुझे न खायें, स्त्रियों से कहीं भी मित्रता नहीं होती। जैसे भेड़ियों के हृदयों से। स्त्रियें बिना दया के, क्रूर, असहिष्णु और साहस को चाहनेवाली होती हैं। थोड़ी-सी बात के लिए विश्वस्त पति और भ्राता को भी मार डालती हैं। मूर्खों में झूंठा विश्वास बनाकर, मित्रता छोड़, नए-नए को चाहती हुई स्वच्छन्द पुंश्चलियां बन जाती हैं। ईश्वर! वर्ष के अन्त में आप मेरे साथ एक रात्रि रहोगे और आपके और भी पुत्र होंगे।" देवी को गर्भिणी जानकर वह अपने नगर को लौट गया और वर्ष के अन्त में वहां जा, उर्वशी को वीरमाता पाकर प्रसन्न हुआ। रात्रि को उसके साथ बिताया। घबराए हुए, विरह से पीड़ित राजा को उर्वशी बोली—"इन गन्धर्वों से मांगो, ये मुझे तुमको दे देंगे। हे राजन्! उसकी स्तुति से सन्तुष्ट होकर उनने अग्नि-स्थाली दी।" उसे उर्वशी मानता हुआ वह चलता-चलता वन में जागा। स्थाली को वन में छोड़कर घर को जाकर रात को ध्यान करते हुए त्रेतायुग आ जाने से उसके मन में फिर त्रयी (अग्नि) आयी। स्थाली छोड़ आने की जगह पर जाकर वहां शमीगर्भ अश्वत्थ को देखकर राजा ने उससे दो अरणि बना, उर्वशी लोक की कामना से, उर्वशी का मन्त्ररूप से ध्यान करते हुए (याग किया)। उस अरणि के मन्थन से जातवेदा जो अग्नि उत्पन्न हुआ, उसे तीन बार राजा ने त्रयी विद्या से अपने पुत्रपने में कल्पित किया। उर्वशी लोक को चाहते हुए, राजा ने उस अग्नि से सर्वदेवमय विष्णु भगवान् का याग किया। पूर्वकाल में एक ही वेद था। सर्ववाङ्मय एक ही ओंकार था, एक देव नारायण, एक अग्नि और एक वर्ण था। हे राजन्! त्रेता के आदि में पुरूरवा को ही त्रयी हुई। अग्नि की कृपा से सन्तान होने से (अथवा अग्नि के पुत्र रूप होने से) राजा गन्धर्व-लोक को पहुंच गए।

३. मत्स्य पुराण, अध्याय २४

बुध ने इला के उदर में धर्मात्मा पुत्र जना, जिसने अपने तेज से एक सौ एक अश्वमेध किये। पुरूरवा यह उसका नाम था और वह सर्वलोक-नमस्कृत था। वह महाराज रोज-रोज इन्द्र से मिलने को जाया करता था। कभी सूर्य के साथ दक्षिण-आकाशगामी रथ पर आरूढ़ हो, उसने केशी नामक दैत्यराज से ले जाई जाती चित्रलेखा उर्वशी को देखा। यश चाहनेवाले बहुत अस्त्रों के लिए हुए बुधपुत्र ने वायव्यास्त्र चला-

कर उसे युद्ध में जीतकर, इन्द्र को भी इसने (केशी ने ?) यों ही युद्ध में जीता था, इससे देवताओं से मित्रता कर ली और उर्वशी इन्द्र को दे दी। तब से लेकर इन्द्र मित्र हो गया। भरत ने लक्ष्मी-स्वयंवर प्रवृत्त किया जिसमें मेनका, उर्वशी और रम्भा को नाचने की आज्ञा दी। उसमें उर्वशी लक्ष्मी बनकर लय के साथ नाच रही थी। नाचती-नाचती, पुरूरवा को देख कामपीड़ित हो भरत के बताए हुए सम्पूर्ण अभिनय को भूल गई। भरत ने क्रोध से शाप दिया कि इसके वियोग से भूतल में तू पचपन वर्ष लता रहेगी और पुरूरवा पिशाच वहीं तेरा अनुभव करेगा। तब चिरकाल तक जाकर उर्वशी ने उसे पति बनाया और भरत के शाप के अन्त में बुध के पुत्र से उसने आठ पुत्र जने, जिनके नाम सुनो—आयु, दृढ़ायु, अश्वायु, धनायु, धृतिमान्, वसु, शुचिविद्य और शतायु —इन सब ही के बल और ओज दिव्य थे।

४. हरिवंश, १०।२६

हे प्रजापति तात ! प्रजापति मनु ने पुत्रकाम होकर मित्रावरुणों की इष्टि की। जब मुनि ने मित्रावरुणों के अंश में आहुति दी, तब दिव्य वस्त्र और अलंकरणों वाली दिव्य इला उत्पन्न हुई। दण्डधर मनु ने उसका 'इला' नाम कहा और कहा कि तू मेरा अनुगमन कर। इला ने उत्तर दिया कि 'हे वक्ता ! मैं मित्रावरुणों के अंश में उत्पन्न हुई हूं, उन्हीं का अनुगमन करूंगी, हत धर्म मुझे न मारे (इससे मैं तुम्हारे साथ नहीं जाती)।' मनु देव को यों कह मित्रावरुणों के पास जा, हाथ जोड़ इला रमणी यों बोली---"देवो ! मैं तुम्हारे अंश में हुई हूं। बोलो, क्या करूं ? मनु ने मुझे कहा था कि मेरा अनुगमन कर।" उस धर्मपरायणा, साध्वी इला को यों कहते समय मित्रावरुणों ने जो कहा सो सुन—"महाभागे ! तू हमारी कन्या कहलावेगी और तू ही मनु का वंशधर पुत्र होगी। तीनों लोकों में प्रसिद्ध सुद्युम्न तेरा नाम होगा।" यह सुनकर वह पिता (मनु) के पास लौट चली। रास्ते में बुध ने उसका मैथुन के लिए आह्वान किया और सोमपुत्र बुध से उसमें पुरूरवा उत्पन्न हुआ।···महाराज ! बुध का पुत्र पुरूरवा विद्वान्, तेजस्वी, दानी, यागी, दक्षिणा देनेवाला था। उस ब्रह्मवादी, क्षान्त, धर्मज्ञ, सत्यवादी को मान छोड़ यशस्विनी उर्वशी ने वरा। राजा उसके साथ १०,५,५,६,७,८,१०,८ वर्ष रहा। विशाल अलका में वनोत्तम नन्दन में, मनोरथ के अनुसार फल देनेवाले उत्तरकुरुओं में, गन्धमादन की तलहटी में, मेरु के उत्तर पृष्ठ में, देवताओं से बसे हुए इन मुख्य वनों में वह उर्वशी के साथ परम हर्ष से निवास करता था। महर्षियों से स्तुत पुण्यतम देश प्रयाग में उसने अपना राज्य बनाया। देवसुतों के समान, स्वर्ग में उत्पन्न, महात्मा सात पुत्र उसके हुए—आयु, धीमान् अमावसु, विश्वायु, धर्मात्मा श्रुतायु, दृढ़ायु, वनायु, शतायु। ये उर्वशी के पुत्र थे। इसके पीछे कथा वैसे ही ठीक-ठीक चली है जैसे 'विष्णुपुराण' में। विशेष इतना ही है कि गंगाजी के उत्तर तीर में प्रयाग में प्रतिष्ठानपुर में उसने राजधानी बनाई।

५. वायु पुराण में ये कथा हरिवंश के शब्दों में ही वर्णित है, केवल कलाप ग्राम में राजा

की यात्रा, उत्तर **यामुन** तीर में राजधानी और सात के स्थान में छः पुत्रों का उल्लेख है।

६. **देवी भागवत में भागवत** की ही कथा का सार है।

प्रथम प्रस्ताव[1] में विक्रमोर्वशी के वैदिक मूल दिखाए गए थे और दूसरे में पौराणिक मूल बताए गए हैं। काश्मीरिक सोमदेव भट्ट कृत 'कथासरित्सागर' में भी पुरूरवा और उर्वशी की कथा है। यह पार्वती के प्रणय-मन्दरान्दोलन से निकला हरमुखाम्बुधि का कथामृत चाहे और कई कवियों और नाटकों का जन्मदाता हुआ हो, परन्तु सोमदेव भट्ट के कालिदास के बहुत पीछे होने से, कालिदासीय कथा सोमदेवीय कथा से कुछ नहीं ले सकी है, यह कहना अयुक्त न होगा। सम्भव है, यदि कालिदास पंचम शताब्दी में ही हुए हों तो, 'कथासरित्सागर' की मूलभित्ति **गुणाढ्य** की 'बृहत्कथा' और उससे पहले की भूत-भाषामयी पैशाची बृहत्कथा ने कालिदास को कुछ ऋणी बनाया हो। यों तो जितने पुराणों के वाक्य ऊपर उद्धृत किए गए हैं उनमें से कई एक को भी आधुनिक ऐतिहासिक कालिदास से प्राचीन न मानेंगे, परन्तु पुराणों में

---

१. **टिप्पणी :**

प्रथम प्रस्ताव में वैदिक और प्रायोवैदिक ग्रंथों से उर्वशी की कथा को खोलने का यत्न किया गया था। बड़े खेद का विषय है कि हिन्दी सामयिक पत्रों के कर्ताओं ने उस पर कुछ भी न लिखा। इससे यह अभिमान करना कि वह प्रबन्ध निर्दोष था, मेरी धृष्टता होगी, परन्तु यह अनुमान करना आवश्यक होगा कि हिन्दी साहित्यज्ञों ने उस पर ध्यान ही नहीं दिया। अपनी तरफ से वेद के कठिन अर्थों को समझाने में टका भर यत्न किया था और 'शतपथ' का जो मूलानुसारी अनुवाद किया था उस पर वर्धक या कर्तक सम्मति पाने की मेरी बड़ी इच्छा थी। और वह इच्छा उन लोगों से थी, जो काशी से प्रकाशित रमेशचंद्र दत्तीय भारतवर्ष के इतिहास के अनुवाद का समर्पण लिखने वालों की भाषा में—"इसमें लिखी बातों के समझने के उपयुक्त पात्र हैं।"

प्रयाग के धार्मिक मासिक पत्र 'राघवेंद्र' ने आश्विन, १९६२ के अंक के ५५वें पृष्ठ में लिखा है—"विक्रमोर्वशी की मूल कथा में लेखक महाशय ने कलकत्ते के The Arya Missson Institution को भी मात कर दिया है।" इस संक्षिप्त समीक्षा का अर्थ मैं नहीं समझा। यदि लेखक का अभिप्राय यह है कि किसी बंगाली के गवेषणा के परिश्रम को मैं बिना नाम-धाम दिए अपना रहा हूं, तो यह कहना अलं होगा कि 'बंगला भाषा के भंडार' को 'नाच कूद का सार' बिना बनाए हिन्दी में कुछ लिखना असंभव नहीं है। और यदि कुछ धार्मिक कटाक्ष है तो, लेखक क्षमा करें, अनर्थक वेद पढ़ने या सुनने से, चाहे उसे शलाटु और नीरस पत्ते न भी कहा जाय, सार्थ वेद को जानने का यत्न करना अधिक पुण्यकारक है और वैसा करने वाले को धर्मच्युत कहने का इशारा करना भी संकीर्ण कलुषता है।

किस प्रकार की कथा चली आई है और वास्तव वैदिक रूप इस कथा का क्या था, यह दिखाने के लिए ऐतिहासिक विचार पीछे डाल दिए गए हैं। अब आगामी प्रस्ताव में कालिदास की कथा का सार देकर किस-किस वैदिक या पौराणिक कथा से उसका स्वारस्य और वैरस्य है और वह कवि ने किस अभिप्राय से किया है, इसका यथाज्ञान अनुसन्धान करने का विचार है। परमेश्वर चाहेगा तो वह प्रस्ताव अवकाश मिलने पर पाठकों की सेवा में उपस्थित किया जाएगा।[1]

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : नवम्बर-दिसम्बर, १९०५ ई०]

१. लगता है, गुलेरी जी इस लेख को आगे बढ़ा नहीं पाए। इस प्रसंग पर उनका और कुछ लिखा नहीं मिलता।
—सम्पादक

पुरानी पांडुलिपियां

जयसिंहप्रकाश

('रघुवंश' का हिन्दी-कविता में एक पुराना अनुवाद)

कुछ वर्ष हुए मुझे जयपुर में गलता (गालवाश्रम) की गद्दी के आचार्यजी के पुस्तकालय में कालिदास महाकवि के बनाये हुए प्रसिद्ध रघुवंश महाकाव्य का एक हिन्दी पद्यबद्ध अनुवाद मिला जिसका नाम 'जगसिंहप्रकाश' है। मैंने इस पुस्तक की नोटिस काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा को कर दी थी और सभा ने मेरी पुस्तक से इस काव्य की प्रतिलिप भी करवा ली। कदाचित् सभा उसे कभी छापे। आज इस लेख के द्वारा हिन्दी के प्रेमियों का उस पुस्तक से परिचय कराये देता हूं।

पुस्तक गुटके के ढंग की है; खुले पत्रों की नहीं। ऊपर लाल मखमल की जिल्द बंधी हुई है। पत्र पतले, चिकने, मैले काश्मीरी के समान कागज के २५८ हैं और दोनों ओर लिखे हुए हैं। प्रत्येक पृष्ठ ६.२/३ इंच चौड़ा और ८.१/२ इंच लम्बा है। प्रति पृष्ठ में पंक्ति १४ और प्रति पंक्ति में प्राय: १६ अक्षर हैं। लिखावट लाख की काली स्याही की है, अंक और विराम-चिह्न, छन्दों के नाम और 'उवाच' और प्रत्येक उल्लास के अन्त की 'इतिश्री' लाल स्याही से लिखे हुए हैं। लिखावट के चौतरफ़ा लाल रेखायें हैं और उनके आगे प्राय: एक इंच से कुछ अधिक का हाशिया छूटा हुआ है जिसे पुराने समय में 'आयु' कहा करते थे, क्योंकि जितनी यह आयु बड़ी होती उतनी ही पुस्तक की आयु—कीड़े आदि के आक्रमणों से—बचती थी। बाईं ओर के पृष्ठ की बाईं आयु के ऊपर के कोने पर पत्रांक हैं जिन पर 'र भा' लिखा हुआ है जिससे इस पुस्तक का नाम रघुवंश भाषा जान पड़ता है।

पुस्तक का आरम्भ इस प्रकार होता है—

श्री गणेशाय नमः। ॐ।

बचन अरथ ज्यों मिलि रहे, बचन अरथ निति आप।
पारबती परमेश्वरै, बन्दौ जग मा बाप ।।१।।
पाई कु'सुम जयसिंह को, जु हैं सवाई नाम।
भाषा रघु में करत हों, सुकवि आतमाराम ।।२।।

१. इसके पहले शोधक की कलम ने 'हु' लिखा है। 'हुकुम' चाहिए। 'सु' शोधक ने मिटाया नहीं।

सूरज तें लै ह्यांतकें, बंसु बरनिहौं तास।
नांउ धर्यो या ग्रन्थ को, तौ जयसिंहप्रकास ॥३॥
कितै बंसु रवि ते भयो, कित मेरी मति छुद्र।
तिन पूरा लै मोहतें, दुस्तर तिरत समुद्र ॥४॥

इसमें पहला और चौथा दोहा क्रमशः 'रघुवंश' के पहले और दूसरे श्लोक का अनुवाद है, बीच के दोनों दोहे कवि ने अपने वर्णन के जोड़ दिये हैं।

मूल के एक श्लोक का अनुवाद कवि ने नियम से एक ही छन्द में किया है। कहीं एक आध छन्द बढ़ाया है। अवश्य ही छन्द कई प्रकार के काम में लिये हैं, एक सर्ग में एक ही छन्द रहे यह संस्कृत कवियों की-सी पाबन्दी नहीं रक्खी गई। दोहा, सोरठा, कवित्त, चर्चरी, वृतानन्द, हिंडोलना, लीलावती, छप्पै, घनाक्षरी, वत्थुवा, प्लवंगम, बरवै, हाकलि, पदाकुलिक, तोटक, पटहली, करिणी—ये कुछ छन्दों के नाम यों ही देखकर लिखे जाते हैं। मूल के सर्ग की जगह उल्लास रक्खा गया है। जहां किसी का वाक्य आरम्भ होता है वहां 'धेनु के वचन राजा सों' 'हरिणी उवाच' आदि भी कहीं-कहीं लगा दिया है; पर बहुत थोड़े स्थानों पर। नीचे की सारणी से सर्ग और उल्लासों का सम्बन्ध जान पड़ेगा—

रघुवंश[1]		जयसिंहप्रकाश	
सर्ग	श्लोक संख्या	उल्लास नाम	छन्द संख्या
१ वसिष्ठाश्रमगमन	... ९५	वसिष्ठासमाजिगमनो०	... ९२
२ नन्दिनी-वर-प्रदान	... ७५	नंदिनीवरप्रदानो०	... ७५
३ रघुराज्याभिषेक	... ७०	पुत्रोत्पत्ति	... ७२
४ रघुदिग्विजय	... ८८	रघुदिग्विजय	... ९१
५ अजस्वयंवराभिगमन	... ७६	स्वयंवराभिगमन	... ७९
६ स्वयंवरवर्णन	... ८६	स्वयंवरवर्णन	... ८५
७ अजपाणिग्रहण	... ७१	इंदुमती-पाणि-ग्रहण	... ७२
८ अजविलाप	... ९५	अजविलाप	... १००
९ मृगयावर्णन	... ८२	मृगयावर्णन	... ८७
१० रामावतार	... ८६	रामोत्पत्ति	... ७३
११ सीताविवाहवर्णन	... ९३	भार्गव रामजय	... ९४
१२ रावणवध	... १०४	रावणवध	... ९८
१३ दण्डका-प्रत्यागमन	... ७९	भरतसंगम	... ८९
१४ सीता-परित्याग	... ८७	सीतापरित्याग	... ८८
१५ श्रीरामस्वर्गारोहण	... १०३	स्वर्गागमन	... १०६
१६ कुमुद्वती-परिणय	... ८७	विभीषण प्राप्ति	... ८५
१७ अतिथि-वर्णन	... ८१	अतिथि-वर्णन	... ८०
१८ वंशानुक्रम	... ५३	वंशानुवर्णन	... ५४
१९ अग्निवर्ण-शृंगार	... ५७	राज्ञीराज्याभिषेक	... ५६

१. सर्गों के नाम और श्लोकों की संख्या जीवानन्द विद्यासागर के संस्करण (सन् १८८०) से ली गई है।

पुस्तक का अन्त इस तरह पर है—

सोरठा

जो वह प्रजनि समाज, पुत्र हौंस राखे हिए।
तासु भूति के काज, रानी गरभु धर्यो तबै ॥
महि ज्यों बीज समेति, बैठी सिंहास (न) लसै।
सिखें राज विधि लेति, मूल वृद्ध मन्त्री सहित ॥
फिरि भाखत हैं तासु, रीति यहै कोविद सकल।
अगिनि बरन सम जासु, फैलि रह्यो वसुधा हुकम ॥५६॥

इति श्रीमन्महाराजाधिराज सवाई जैसिंहजी निदेसात आत्मारामकृतौ जैसिंहप्रकासे राज्ञी राज्याभिषेको नाम एकोनविंसतिकोल्लासः[1] ॥२१॥ शुभं ॥ शुभमस्तु लेखक पा ॥२२॥ ठकयोः ॥

नीचे हरिताल की रेखा देकर दूसरे हस्ताक्षरों में)—

सत्रह सै यकहत्तरा, दसराहौ गुरुवार।
राम कियो उज्जेनि में, कै रघुवंस विचार ॥

पुस्तक के लिपिकार ने अपना नाम नहीं लिखा। र के संयोग, एकार आदि अक्षरों की लिखावट से यह सम्भव जान पड़ता है कि वह कश्मीरी हो।

ग्रन्थकार का नाम आत्माराम कवि है और कविता में उसने अपना नाम (तखल्लुस) 'राम' रक्खा है। यह जयपुर के महाराजा सवाई जयसिंह जी (दूसरे) के आश्रित था और उनकी आज्ञा से (निदेशात्) उसने यह काव्य बनाया। पुस्तक स्थान-स्थान पर हरताल से शोधी गई है; जो अक्षर कहीं-कहीं छूट गये हैं वे फिर लिख दिये गये हैं, जो पंक्तियां लेखक ने भूल से दो बार लिखी हैं वे हरताल से मार दी गई हैं। यों ही जो पंक्तियां—एक जगह समूचा छन्द—छूट गई हैं वे आयु पर लिख दी गई हैं। और जिस हस्त ने ये टूटक लिखी हैं उसी हस्त ने अन्त का समयवाला दोहा लिखा है। यही नहीं, एक जगह एक छन्द को बदलकर दूसरा पाठ (और यह कहना चाहिए कि सुधरा हुआ पाठ) भी उन्हीं हस्ताक्षरों में लिखा है—

तं कर्णमूलमागत्य रामे सीर्व्यस्यतामिति।
कैकयी शङ्कयेवाह पलितच्छद्मना जरा ॥

(रघुवंश १२।२)

इसका अनुवाद यथास्थान यह लिखा हुआ है—

राजु राम को देहु, कानमूल में आइ नृप।
जरा कहति मनु एहु, कैकेई की संक तै ॥ २ ॥

(पत्र १६२)

१. इसी ढंग की इबारत प्रत्येक उल्लास के अन्त में है।

और आयु पर, उसी मनुष्य ने जिसने अन्त का दोहा लिखा है, यह दूसरा अनुवाद लिखा है—

सेत केस मिसि है जरा, करन मूल नृप आइ।
राम राजु दै कहति मनु, कैकेई डर पाइ॥

यह स्पष्ट है कि यह अनुवाद पहले सोरठे से अच्छा है। अब यदि यह मानें कि किसी 'राम' ने 'उज्जैन' में रघुवंश का विचार किया अर्थात् पहले की लिखी पुस्तक को सुधारा तो यह प्रश्न उठता है कि उसे क्या पड़ी थी कि ग्रन्थकार के पाठों को सुधारे और नये छन्द बनाकर रक्खे ? इसलिए यही ठीक जँचता है कि संशोधन और पाठान्तर स्वयं आत्माराम कवि ने अपने हाथों किए हैं और संवत् १७७१ के दशहरा (आश्विन शुक्ल १०) गुरुवार को वह कवि उज्जयनी में विद्यमान था। इससे यह तिथि यदि इस अनुवाद के पूर्ण होने की नहीं है तो 'विचार' (आवृत्ति = संशोधन) की अवश्य है।

महाराजा सवाई जयसिंहजी के विषय में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं।[1] संवत् १७५६ में ये आमेर (ढूंढाड़) की गद्दी पर बैठे जिस समय इनकी अवस्था ११ वर्ष की थी और संवत् १८०० में इनका स्वर्गवास हो गया। फर्रुखसियर बादशाह ने, अपने पूर्वज जहाँदारशाह की तजवीज़ को बहाल रख के इन्हें मालवे का सूबेदार बनाया। (संवत् १७६९ ?) "उज्जैन पहुंचने पर निश्चय हुआ कि रुहेल ने मालवा में बहुत उपद्रव मचा रक्खे हैं तुरन्त उन पर चढ़ाई की। उमदनी और भिलसा नामी स्थानों पर दो बड़ी लड़ाइयां हुईं जिनमें से भिलसा के खेत रूहिलों का सरदार दलेलखाँ मारा गया तब वे लोग निराश होकर मालवा से निकल गए। इन लड़ाइयों से लौटते समय सागरपुर नामी नगर में[2] नदी के तट पर जयसिंहजी ने यज्ञोपवीत[3] लिया और जगन्नाथजी जोशी ने गायत्री मन्त्र का उपदेश किया। रुहेलों का बखेड़ा मिटे पीछे मालवा में जयसिंहजी के अधिकार में किसी प्रकार का क्लेश न हुआ। हां, एक बार मरहठों की सेना चौथ मांगती हुई नर्मदा के पार उतर आई थी परन्तु पीछे हटा दी गई। दिल्ली में बादशाह फर्रुखसियर को जब सैयद अब्दुल्लाह और हसन अली के पक्ष का बहुत भय हुआ तब उसने जयसिंहजी को दिल्ली बुला लिया।" यह संवत् १७७४ के पहले हुआ जबकि

---

१. स्वर्गीय रामनाथ रत्नूजी के इतिहास राजस्थान से।

२. सिप्रा ?

३. जगन्नाथ ज्योतिषी जगन्नाथ सम्राट् थे जिनके वंश में जयपुर के राजगुरु सम्राट् जी हैं। जगन्नाथ सम्राट् ने सम्राट् सिद्धान्त नामक ज्योतिष ग्रन्थ बनाया, रेखागणित का संस्कृत-अनुवाद किया और ज्योतिष वेधशालाएं बनाने और अश्वमेध यज्ञ करने में वे जयसिंहजी के दक्षिण हस्त थे। जयसिंहजी का यज्ञोपवीत इतने विलम्ब से होना चिन्त्य है; सम्भव है कि सम्राट् जगन्नाथ ने कोई दीक्षा दी हो। इन्हें 'गंगा-लहरी' के कर्ता प्रसिद्ध पण्डितराज जगन्नाथ त्रिशूली से जो शाहजहाँ के समसामयिक थे, मिलाना भूल है।

"फर्रुखसियर ने अपने दरबार के कई लोगों को मिलाकर सैयत अब्दुल्लाह को मारना चाहा उस मिलावट में चिनकिलीजखां जयसिंहजी और सर बुलन्दखां मुख्य थे।"

एक दफ़ा फिर भी महाराज सवाई जयसिंह मालवे के सूबेदार हुए थे, जैसा कि स्वर्गवासी रत्नूजी अपने इतिहास के पृष्ठ ११५ में लिखते हैं—"संवत् १७८९ में दक्षिण में मरहठों ने बहुत सिर उठाया और नर्मदा के पार होकर उत्तर को बढ़े और मालवा के सूबेदार मुहम्मदखां से न दबे तो बादशाह मुहम्मदशाह ने जयसिंहजी को मालवा का सूबेदार नियत किया। जयसिंहजी ने मालवा में पहुंच कर दो वर्ष तक मरहठों का सामना किया परन्तु जब देखा कि मरहठे बढ़ते चले आते हैं और दिल्ली से सहायता के लिए सेना कुछ भी नहीं आती तब बादशाह मुहम्मदशाह से लिखा-पढ़ी करके संवत् १७९१ में मालवा का सूबा मरहठों के सेनापति बाजीराव को दिलाकर[1] आप जयपुर चले आए और फिर अपने घर कार्यों में तत्पर हुए।"

---

१. सुनते हैं, पेशवा ने महाराज सवाई जयसिंह को यह खरीता भेजा था—

पीत्वा गर्जन्त्यपस्ते दिशि दिशि जलदास्त्वं शरण्यो गिरीणां,
सुत्रामत्रासभाजां, त्रिदशविटपिनां जन्मभूमिस्त्वमेव।
ऐश्वर्यं यच्च यादृक् त्वयि सलिलनिधे किन्तु विज्ञाप्यमेतत्,
सर्वोपायेन मैत्रावरुणिमुनिकृपादृष्टयः प्रार्थनीयाः॥

अर्थात् "हे समुद्र ! सब दिशाओं में मेघ तुम्हारा जल पीकर गरजते हैं; इन्द्र से (पक्ष कटने के भय से) डरे पार्वतों का शरण भी तू ही है; कल्पवृक्षों की जन्मभूमि भी तू ही है; और तुझमें ऐश्वर्य भी जितना कुछ है (वह कहना जरूरी नहीं) परन्तु, प्रार्थना यह है कि सब उपायों से अगस्त्य मुनि की कृपादृष्टि चाहते रहिए"। इसमें चमत्कार यह है कि सवाई जयसिंहजी को समुद्र की अन्योक्ति से बढ़ाता हुआ ब्राह्मण दक्षिणी पेशवा अपने को दक्षिण दिशा के पति अगस्त्य ऋषि से मिलाता है जो समुद्र को पी गए थे। इसके उत्तर में सवाई महाराज का यह उत्तर गया—

क्षन्तव्यो द्विजजातितः परिभवोऽप्येतद्वचः पालनात्
पीतः कुम्भसमुद्भवेन मुनिना किं जातमेतावता ?
मर्यादां यदि लङ्घयेद्विधिवशात् तस्मिन् क्षणे वारिधि-
स्त्रैलोक्यं सचराचरं ग्रसति वै कस्तत्र कुम्भोद्भवं ?

"ब्राह्मण जाति से अपमान भी सहना चाहिए इस वचन को पालने वाले समुद्र को यदि घड़े से पैदा होने वाला (अगस्त्य) ऋषि पी गया तो इससे क्या हुआ ? यदि कभी वह अपनी मर्यादा को उलाँघ जाए तो स्थावर-जंगम सहित तीनों लोकों को ग्रस जाए, बिचारे घड़े से जन्मे हुए की गिनती ही क्या ?

परन्तु कुछ समय पीछे जयसिंहजी ने मरहठों को मालवा देने की आज्ञा बादशाह से लेकर, स्वयं सिप्रा नदी में स्नान करके ब्राह्मण बाजीराव पेशवा को मालवा का भूमिदान संकल्प कर दिया।

अतएव यदि यह ग्रन्थ पहली सूबेदारी के समय में बना है (संवत् १७६९—१७७४) तो ऊपर लिखे दोहे के संवत् "सतरह से यकहत्तरा" और 'उज्जैनि' का समन्वय हो जाता है। तुष्यतु न्याय से यदि यह दोहा प्रमाण न माना जाय तो भी आत्माराम कवि संवत् १७५६—१८०० के बीच में हुए।

सवाई भूपाल की कीर्ति इतिहास में कई प्रकार की है। अपने समय में जैसे लोकोत्तर कार्य उन्होंने किये वैसे किसी और ने नहीं। कहीं अश्वमेध और वाजपेय यज्ञ होता है, कहीं धर्मशास्त्र का जयसिंह कल्पद्रुम लिखवाया जा रहा है, कहीं लाटिन और अरबी से गणित के ग्रन्थों का अनुवाद कराया जाता है, कहीं 'जीच मुहम्मदशाही' सारिणी बनाकर पुर्तुगाल के ज्योतिषियों की ग़लतियां सुधारी जाती हैं, कहीं पांच-पांच वेधशालाएं बनाकर उलुगवेग समरकन्दी और अरब ज्योतिषियों के यन्त्रों के दोष मिटाए जाते हैं, कहीं भूषण कवि के शब्दों में 'दिल्ली की ढाल' बनकर विरोधियों को मुंह तोड़ते समय फटे आसमान में थेगली लगाई जाती है और कहीं 'दिल्ली ढाहनहार' बनकर छोटे आमेर राज्य की सीमाएं बढ़ाकर राजपूताने का सबसे समृद्ध राज्य सवाई जयपुर स्थापन किया जा रहा है, कहीं एक सूत से नापकर ज्यामिति के क्षेत्र का-सा नगर बसाया जाता है जिसके जोड़ के नगर अमेरिका में डेढ़ सौ वर्ष पीछे बसने लगे, कहीं राजपूतों के विवाह आदि की कुरीतियों और अपव्ययों के मिटाने के नियम बनाए जा रहे हैं और यों कर्नल वाल्टर की वाल्टर कृत राजपुत्रहितकारिणी सभा के उद्देश्यों को उससे पौने दो सौ वर्ष पहले पूरा किया जा रहा है![1]

अब यहां पर कुछ अवतरण दिए जाते हैं जिससे आत्माराम कवि की शक्ति का ज्ञान हो जाय और पाठक जान सकें कि उसने महाकवि कालिदास की उक्तियों की मान-रक्षा कहाँ तक की है। पहले मूल श्लोक दिए जाते हैं और पीछे 'जयसिंहप्रकाश' के अनुवाद। इनको लिखने में पदच्छेद और आजकल की लिखावट के अनुरूप परिवर्तन कर दिए गए हैं। और, पहले तीन चार अवतरणों के साथ तुलना के लिए लाला सीताराम बी० ए०—अवधवासी 'भूप' उपनाम—का अनुवाद भी उद्धृत किया जाता है।

आस्वादवद्भिः कवलैस्तृणानां कण्डूयनैर्दंशनिवारणैश्च।
अव्याहतैः स्वैरगतैः स तस्याः सम्राट् समाराधनतत्परोऽभूत्॥ (२।५)

सहित सवाद जे हैं तिनन के अगरास,
ल्याइ करि करि ते वे आगे भरिबो करै।
'रामु कवि' कहै ताको अंग सहरावत रहत,
फेरि हेरि हेरि डांस हरिबो करै॥

---

१. सवाई जयसिंहजी का विशेष वर्णन पढ़ना हो तो The Jaipur observatory and its Builder, by Lieut. A. ff. Gurrett, R. E., assisted by Pandit Chandradhar Guleri, Pioneer Press, Allahabad, 1902. में मिल सकता है जो Superintending Engineer, Jaipur State से मोल मिल सकती है।

चल्यो चाहै तहाँ ताही ओर को चलति कहूं,
रोके न अखंडित यों गति धरिबो करै।
भूपति दिलीप सोई दिन दिन ऐसी भाँति,
नंदिनी गऊ की नीकें सेवा करिबो करै ।। (२१५)[१]

स न्यस्तचिह्नामपि राजलक्ष्मी तेजोविशेषामुमितां दधानः।
आसीदनाविष्कृतदानराजिरन्तर्भदावस्थ इव द्विपेन्द्रः ।। (२।७)

तजे प्रसिद्ध चिह्न राजलक्षि भूप सो धरें।
लई सु जानि तेज की विशेषता चितै परें।।
मनो मतंग इन्द्र चित्त मत्तभाउ है सही।
प्रगट्ट दानतोय पाँति ऊपरै नहीं गही ।। (२१७)[२]

स पल्वलोक्षीर्णवराहयूथान्यावासवृक्षोन्मुखर्वाहिणानि।
ययौ मृगाध्यासितशाद्वलानि श्यामायमानानि वनानि पश्यन् ।।
(२।१७)

तुच्छ तालनि ते भजे उठि सकल सूकर जोर।
वास के तरु ताकि तिकके सौंह आवत मोर।।
एन बैठि रहे तहाँ जित हरित हैं तिन गात।
स्याम कानन हेत याँहीं लाखत भो नृप जात।।
(२।१७)[३]

स निर्विश्य यथाकाम तटेष्वालीनचन्दनौ।
स्तनाविव दिशस्तस्याः शैली मलयदर्दुरौ।।
असह्यविक्रमः सह्यं दूरान्मुक्तमुदन्वता।
नितम्बमिव मेदिन्याः स्रस्तांशुकमलंघयत् ।।
(४।५१।५२)

इच्छा भरि करि वास मलयदर्दुर पहार तहँ।
जामि रहे जिन तटनि दिग्ध चंदन दरखत जहँ।।
ताही दिसा उरोज तिन्हें कहि (य) त गिरि दोऊ।
या विधि सों विक्रम असह्य राजा रघु सोऊ।।
त्यज्जियउ दूर जो सिंधु ते अंसुक जाको सिथिल इमि।
लंघियउ सह्य परबत तबहि वसुधा मनहूँ नितंब जिमि।।
(४।५४)

---

१. कबहुंक मृदु तृन नोचि खिलावत। हाँकि माँछि कहूँ तनहि खुजावत।।
जो दिसि चलत चलत सोई राहा। यहि विधि तेहि सेवत नरनाहा।।
२. राजचिह्न यद्यपि सब त्यागे। तऊँ तेजवस नृप सोई लागे।।
छिपे दानरेखा के संगा। होत मनहुं मदमत्त मतंगा।।
३. जल सन उठत वराह-समूहा। चलत रूख दिसि नभचर जूहा।।
हरी घास जहँ बैठ कुरंगा। चल्यो लखन सोई सौरभि संगा।।

निद्रावशेन भवताप्यनवेक्ष्यमाणा
पर्युत्सुकत्वमबला निशि खण्डितेव।
लक्ष्मीविनोदयति येन दिगन्तलम्बी
सोऽपि त्वदाननरुचिं विजहाति चन्द्रः ॥ (५।६७)

नींद के निहारि बस तुम्हैं ओर आपनी,
लख्यो न अनुराग तातें मानि दुख दंद ऊ।
रजनी में खंडिता वधू लौं ह्वै धरीक लक्षि,
जासों जाइ मिली लह्यो आनंद को कंद ऊ।
'रामु कवि' कहैं जो दिगंतनि में लंबित हो,
कोन जाहि वार वार करत पसंद ऊ।
तेज के तुमार एहो रघु के कुमार कांति,
बदन तिहारे की तजत वह चन्द ऊ। (५।७०)

दृष्टापि सा ह्रीविजिता न साक्षाद् वाग्भिः सखीनां प्रियमभ्यनन्दत्।
स्थली नवाम्भः पृषताभिवृष्टा समुद्रकेकाभिरिवाभ्रवृन्दम् ॥
करति बड़ाई नाह की सखी वचन ह्वै बाम।
आपु करि करि सकति नाहिने लाजवती अभिराम ॥
लाजवती अभिराम राम आनंदित जो है।
ज्यों सिंचित बनभूमि नए जल बुंदनि सोहै ॥
ज्यों सिंचित बनभूमि जितै केका सरसाई।
तिनही सो निजनाह मेघ की करत बढ़ाई ॥ (७।७०)

अथ भूमिपति शशाप

हस्तार्पितैर्नयनवारिभिरेव वृद्धः ॥
दिष्टान्तमाप्स्यति भवानपि पुत्रशोका
दन्ते वयस्यहमिवेति तमुक्तवन्तम्।
आक्रान्तपूर्वमिव मुक्तविषं भुजंगम्
प्रोवाच कोशलपतिः प्रथमापराद्धः ॥
शापोऽप्यदृष्टतनयाननपद्मशोभे
सानुग्रहो भगवता मयि पातितोऽयम्।
कृष्यां दहन्नपि खलु क्षित्तिमिन्धनेद्धो
बीजप्ररोहजननीं ज्वलनः करोति ॥
इत्थं गते गतघृणः किमयं विधत्तां
वध्यस्तव ? (९।७९-८१)

···पिता फिरि नैन नीर कर लीनो।
ताही समैं सराप नृपति को या विधि सों कहि दीनो॥
वृद्ध अवस्था में भूपति हो तुमहुँ हमरी नाईं।
भाष्यो पुत्रसोक ते पैहों भाग नास की ताईं॥
दाबै पूंछ, तज्यो है विष को, वृद्ध मनो विषधरु है।
याके अन्त प्रथम अपराधी कहत कोसला वरु है॥

एहो मुनिराज भगवान के सरूप तुम,
दियो मोकों सापु सोई करी कृपा अति है।
देखी है न बालक-वदन-मुख-सोभा तातें,
जानियत ह्वै अब ताकी उतपति है॥
'राम कवि' कहैं यह उचित अरथ आगि,
इंधन समृद्ध खेत जारति जरति है।
पीछे निहचै करि दहन ताही बसुधा में,
बीज की अनंत अधिकाई को करति है॥

ऐसी भाँति आइ ताही मुनि के समीप
बोल्यो भूप दसरथ जाके लाज है नहीं जिये।
बँधुआ हों रावरो अरज याते करत हों
होइ कछु आयसु जो सोई अब कीजिए॥
(१४।८३-८६)

पित्रा दत्तां रुदन् रामः प्राङ्महीं प्रत्यपद्यत।
पश्चाद्वनाय गच्छेति तदाज्ञां मुदितोऽग्रहीत्॥
दधतो मंगलक्षौमे वसानस्य च वल्कले।
ददृशुर्विस्मितास्तस्य मुखरागं समं जनाः॥ (१२।७-८)

दसरत्थ भूमि पहिलें जु दीनि।
करि अस्रु पात सुत राम लीनि॥
फिरि कह्यउ जबहि वनवास जाहु।
उठि सिद्धि भयउ हँसि महाबाहु॥
पहिले जिन मंगल चीर धरे।
फिरि है वन को बकला पहिरे।
तिनको मुखराग समान लखैं।
जन वे विसमै-जुत जासु चखैं॥ (१२।७-८)

तां तामवस्थां प्रतिपद्यमानं स्थित दशव्याप्य दिशो महिम्ना।
विष्णोरिवास्यानवधारणीयमीदृक्तया रूपमियत्तया वा (१३।५)

त्यह त्यह अवस्थ को जु है पत्त (?)
गुन व्यापि दिसन थिरता करत्त।
यह समुद रूप हरि की समान
एतो अरु ऐसो न कछु मान ।। (१३।५)

आनन्दजः शोकजमश्रु वाष्पस्तयोरशीतं शिशिरो बिभेद ।
गंगासरय्वोर्जलमुष्णतप्तं हिमाद्रिनिस्यन्द इवावतीर्णः ।।
ते पुत्रयोर्नैकृतशस्त्रमार्गानार्द्रानिवांगे सदयं स्पृशन्त्यौ ।
अपीप्सितं क्षत्रकुलांगनानां न वीरसूशब्दमकामयेताम् ।।
क्लेशावहा भर्तुरलक्षणाहं सीतेति नाम स्वमुदीरयन्ती ।
स्वर्गप्रतिष्ठस्य गुरोर्महिष्यावभक्तिभेदेन वधूर्ववन्दे ।।
(१४।३-४)

कौसिला सुमित्रा के तपत सोक आँसुन को,
मेट सुख आँसू जिन सीत कह्यो जाहिनें।
गंग सरजू को तातो नीर ताहि भेदत ज्यों,
उतरि के हिमगिरि सोत सुध काहिनें ।।
सुतन के अंग राकसनि कीन्हें घाय मनों,
आले तिन्हें परसे दया से कर दाहिने।
छत्रिन की वधुन को इच्छित जऊ है तऊ,
वीरसू' सबद ए चहति चित नाहिनें ।।

सुरलोकवासी दसरथ तिनकी वै रानी,
कौसिला सुमित्रा बड़े सील सनमान की ।।
तिनहू सो बंदन करत भई बधू उत,
आदर बड़े सो राखि भगति समान की ।।
'राम कवि' कहें तब ऐसी भाँति आपु ही तै,
आपनी सकल जहँ बारता बखान की।
लच्छन न एक अपलच्छन अनेक भर—
ताकी दुख देन हार मोहि जानौ जानकी ।।
(१४।३-४)

उपस्थितां पूर्वमुपास्य लक्ष्मीं वनं मया सार्धमसि प्रपन्नः ।
तदास्पदं प्राप्य तयातिरोषात् सोढास्मि न त्वद्भवने वसन्ती ।।
निशाचरोपप्लुतभर्तृकाणां तपस्विनीनां भवतः प्रसादात् ।
भूत्वा शरणया शरणार्थमन्यं कथं प्रपत्स्ये त्वयि दीप्यमाने ।।
(१४।६२-६४)

फिरि यह कहियो प्रथम तुम, राजलक्षि तजि आसु।
मोहि संग लै दिन घने, कियो जाइ वनवासु।।
सो अब लक्षि तुम्हें मिली, फिरि ताही करि रोषु।
तुव घर ते काढ्यो हमें, न कछु रावरो दोषु।।

फिर यह कहियो रिषि निसाचरनि
पीड़ित जे तिनकी नारि सबै।
उनकी रक्षा में करी सकल विधि
तुव प्रसाद प्रभु पाइ तवै।।
ते वे तुम अबहूँ विद्यमान हो
नै सुरु आनो (?) आपु चितैं।
सो में क्यों करिके आजु
अकेली सरन कौन की जऊँ कितै ? (१४।६४-६५)

तामभ्यगच्छद्रुदितानुसारी कविः कुशेध्माहरणाय यातः।
निषादविद्धाण्डजदर्शमोत्थः श्लोकत्वमापद्यत यस्य श्लोकः।
(१४।७०)

लेन समिध कुस जात रुदन सुनि सीय।
बालमीकि उत आयउ कोमलजीय।।
भील बध्यो खग देखि कियउ जिन सोक।
होत भयउ तिनको वह जगत सलोक।। (१४।७०-७१)

उत्खात लोकत्रयकण्टकेऽपि सत्यप्रतिज्ञेऽप्यविकत्थनेऽपि।
त्वां प्रत्यकस्मात्कलुषप्रवृत्तौ अस्त्येव मन्युर्भरताग्रजे मे।
(१४।७२)

नाक भूमि पताल के निज सकल वैरिन मारि।
हैं जु निन्दारहित वे साँची प्रतिज्ञा धारि।।
तोहि मैं बिन काज को जिन कियो है हित लोपु।
ता बड़े भाई भरत के में हमारो कोपु।।
(१४।७४)

और अधिक अवतरण देने का लोभ संवरण करना चाहिए, क्योंकि लेख बढ़ गया है।

[प्रथम प्रकाशन : सरस्वती : सितम्बर, १९१० ई०]

पृथ्वीराजविजय महाकाव्य

हिन्दुस्तान के सबसे पिछले चक्रवर्ती राजा पृथ्वीराज चौहान के विषय में 'पृथ्वीराज-विजय' नामक महाकाव्य संस्कृत में है। परलोकवासी डाक्टर जार्ज व्यूहलर एक बार कश्मीर में दौरा करने गये थे। तभी वे वहां से इस ग्रन्थ की एक प्राचीन खण्डित प्रति खरीद लाये थे। अब वह पूना के डेकन कालेज के पुस्तकालय में सुरक्षित है।

आजकल मैं, पण्डित गौरीशंकरजी ओझा के साथ, इसी काव्य का सम्पादन कर रहा हूँ। इसके कवि ने अपना नाम नहीं दिया। पहले सर्ग का आरम्भ नहीं है और बारहवें सर्ग का थोड़ा ही सा भाग मिला है। बीच के सब सर्ग हैं, पर उनमें से कई सर्ग बहुत खण्डित हैं। कितने ही पत्र आधे ही रह गए हैं। पूरा काव्य आधा कितना बड़ा था, यह नहीं कहा जा सकता। कवि पृथ्वीराज की सभा में सम्मानित[1] था और पृथ्वीराज को संस्कृत, प्राकृत आदि छः भाषाओं का वेत्ता लिखता है।[2] पृथ्वीराज का राज्य-समय सन् ११७८-११९२ ईसवी है।

इस काव्य पर जोनराज की टीका है। जोनराज के पिता का नाम नोनराज और दादा का नाम लोलराज था। कश्मीर के सुलतान जैन-उल-आबिदीन (पण्डितों के जैनोल्लाभदीन) के समय में (सन् १४१७-१४६७) इसी जोनराज ने दूसरी राज-तरंगिणी बनाई थी। इसने पहले मंखक-कवि[3] कृत श्रीकण्ठचरित की टीका बनाई, फिर किरातार्जुनीय की; फिर पृथ्वीराजविजय[4] की। ऐसे विद्वान् की टीका करने से ही जान सकते हैं कि उस समय इस काव्य का कितना मान था। टीका से जान पड़ता है कि उस समय भी काव्य में पाठान्तर हो गये थे।

---

१. गतस्पृहोऽप्यादिकविः प्रबन्धं बबन्ध रामस्य भविष्योऽपि।
सन्मान्यमानस्तु नरेश्वरेण मादृक्कथं काव्यविधावुदास्ताम्? (प्रथम सर्ग)

२. बाल्येपि लीलाजिततारकाणि गीर्वाणवाहिन्युपकारकाणि।
जयन्ति सोमेश्वरनन्दनस्य षण्णां गिरां शक्तिमतो यशांसि॥ (प्रथम सर्ग)

३. मंखक का समय कश्मीर के राजा सुस्सल के पुत्र राजा जयसिंह का समय (११२७-११४९) है। इसका बड़ा भाई लंकक (अलंकार) जयसिंह के पिता के यहां सन्धि-विग्रह का अधिकारी था, और मंखक जयसिंह का धर्माधिकारी। इसी समय राजतरंगिणीकार कल्हण (कल्याण) भी था।

४. श्रीश्रीकण्ठचरित्रकाव्यविवृतौ विश्वस्य निश्वस्य च
छायाभाजि किरातकाव्यविवृतौ विश्रम्य रम्यश्रियि।
पृथ्वीराजजयाख्यकाव्यविवृतौ संवेशभिच्छाम्यहं
शास्त्रक्षोदजखेदमेदुरमतिर्ज्योत्स्नाकरो लावणिः॥
श्रीलोलराजसुतपण्डितभट्टनोनराजात्मजो विवरणेन स जोनराजः।
सर्गं चकार दशमं सुखमत्र पृथ्वीराजाख्यराजविजयाभिधकाव्यराजे॥
(दशम सर्ग का अंत)

इस काव्य का ऐतिहासिक महत्व मैं किसी और लेख में विस्तार से दिखाऊंगा।

पहले सर्ग में पहले मंगलाचरण और खल तथा कविद्वेषी पण्डितों की निन्दा है; पीछे म्लेच्छों से पुष्कर की रक्षा के लिए ब्रह्मा ने विष्णु से प्रार्थना की है। इस पर विष्णु ने सूर्य की ओर देखा है और वहां से एक धनुर्धर पुरुष निकला है। दूसरे सर्ग में उसके शस्त्र, वस्त्र और प्रताप आदि का वर्णन है और उसका नाम चाहमान बताया गया है। चाहमान ने बहुत विजय किया। उसके वंश में सभी दिशा-विदिशाओं के जीतने वाले राजा हुए। उनमें से एक का नाम वासुदेव था। तीसरे सर्ग में उसकी स्तुति करने के लिए ब्रह्मा आते हैं। ब्रह्मा की स्तुति पूरी नहीं होती है कि सर्ग खण्डित हो जाता है। चौथे सर्ग में वासुदेव अपने भाई के साथ शिकार खेलने जाता है। वहाँ उसे अच्छे शकुन हुए। इससे उसने वहीं पर एक महल बनाया। एक दिन दोपहर को एक विद्याधर उस महल में आकर सो गया। विद्याधर लोग मुँह में एक गुटिका रखकर जहां चाहे वहां उड़ा करते हैं। उसकी गुटिका राजा के हाथ लग गई। परन्तु राजा ने उदारता-पूर्वक उसे विद्याधर को लौटा दिया। विद्याधर ने प्रसन्न होकर राजा से कहा—"मैं शकम्भर नामक विद्याधर का पुत्र हूं। उसने देवी को प्रसन्न किया है। देवी अपने भक्त के लिए शाकम्भरी नाम धारण करके यहां रहती है।[1] आप सायंकाल धरती में भाला मार कर चले जाइएगा और पीछे फिर कर न देखिएगा तो देवी के दर्शन हो जाएंगे। यही गुटिका लौटाने की कृपा के लिए मेरी तुच्छ भेंट है।" राजा ने वैसा ही किया, परन्तु अपने पीछे लहरों की हड़हड़ाहट सुन कर उसने मुड़कर देखा तो लवणसमुद्र भरा हुआ पाया। यही शाकम्भरी (सांभर) की उत्पत्ति है।

पांचवें सर्ग के आरम्भ से जान पड़ता है कि वासुदेव ने सांभर में अपनी राजधानी बनाई। तब से उसके वंशज 'शाकम्भरीश्वर' कहलाये। फिर उसके वंशज सामन्तराज से लेकर अजयदेव तक का वर्णन है। ऐतिहासिक महत्त्व में यह सर्ग बहुत बढ़ा-चढ़ा है। इसी पिछले राजा अजयदेव ने अजमेर (अजयमेरु) बसाया, जिसकी समृद्धि और सुन्दरता के वर्णन में कवि ने सारे अलंकार खर्च कर दिये हैं। अजयदेव के पीछे अर्णोराज गद्दी पर बैठा।

छठे सर्ग से जान पड़ता है कि अर्णोराज के समय में अजमेर पर मुसलमानों का पहला हमला हुआ। राजा ने अजमेर के द्वार पर ही उनको हराकर भगा दिया। सड़क के किनारे पड़ी हुई लाशों को गाँव वालों ने जलाया।[2] राजा ने युद्धभूमि को शुद्ध करने के लिए एक तालाब बनाया, जो[3] 'आनासागर' के नाम से प्रसिद्ध है। फिर उसने

---

१. शाकम्भरीति च पितुर्मम कीर्तिहेतोर्नाम स्वयं वरदया सदयं तयात्तम्।
भांगीरथीति हि पदं सुरनिर्झरिण्याः पुण्यानि शंसति पृथूनि भगीरथस्य॥
(चौथा सर्ग)

२. रुध्वा स्थितान्कांश्चन राजमार्गं ग्राम्याः शवान् गन्धभयेन हुत्वा।
तुरुष्कमासस्य चिराद्रसज्ञं कव्यादमग्निं रचयावभूवः॥ (छठा सर्ग)

३. विशुद्धिहेतोरथ तस्य राजा घ्राणेन्द्रियाकस्मिकौरवस्य।
अकारयत्कीर्ति पटीपिनद्धक्षीरोदनग्नं करणं तटाकम्॥ (छठा सर्ग)

पुष्करारण्य से निकलनेवाली इन्दु (चन्द्रा, वर्त्तमान लूनी) नदी से इस तालाब को[1] भरा। इस राजा ने अपने पिता के नाम पर एक बाणलिंग की प्रतिष्ठा की। मरुदेश की सुधवा नामक रानी से राजा के सत्व, रज, तम इन तीन गुणों की तरह भिन्न स्वभाव वाले तीन पुत्र हुए; और गुजरात की काञ्चनदेवी से सोमेश्वर नामक एक पुत्र। सोमेश्वर को लड़कपन में ही उसका नाना (सिद्धराज जयसिंह सोलंकी) अपने यहां ले गया। जयसिंह को एक ज्योतिषी ने समझाया कि तेरे दौहित्र के पुत्र के रूप में रामचन्द्र अवतार लेंगे। उसने कहा कि लंकाविजय से लौट कर रामचन्द्र ने लक्ष्मण की की हुई सेवा की बहुत प्रशंसा की और कौशल्या से कहा कि मैं जन्मान्तर में लक्ष्मण का छोटा भाई बनकर इसकी सेवा करूंगा, फिर वैराग्य लूंगा।[2] (कृष्णावतार और बुद्धावतार इसी प्रतीक्षा का फल है)। यह सुन कर लक्ष्मण बोले—अच्छी बात है, तो मैं अन्य जन्म में फिर भी आपकी सेवा करूंगा। उस जन्म में कौशल्या इन दोनों की माता कैसे बनेगी, यह समझाने के लिए ज्योतिषी चन्द्रवंश का वर्णन आरम्भ करता है। चन्द्रमा के वर्णन को देखिए, ये दो श्लोक कितने सुन्दर हैं—

मयाष्टधा लोकहिताय चक्रे कृता तनुष्षोडशधा त्वयैव।
इतीव यो मूर्धनि धारणीयः परिश्रमज्ञेन महेश्वरेण॥
पक्षस्थिते दैत्यगुरौ विवादं कृत्वा समं वाक्पतिनान्वयार्थे।
य एव लेभे विजयप्रशस्तिं श्रेयान्हि राज्ञः कविपक्षपातः॥

चन्द्रमा, बुध, पुरूरवा आदि के वर्णन के पीछे कार्तवीर्य का वर्णन है, जिसकी उपाधि 'कलिचुरि' कही गई है। उस वंश में साहसिक नाम का एक राजा हुआ। वह एक दिन सायंकाल त्रिपुरी में पहुंचा। वहां श्मशान में किसी को बलि किये जाते देख उसने उसे वीरता से छुड़ाया। बस, छठे सर्ग से इतनी ही बातों का पता चलता है। इस सर्ग के अधिकांश पत्रों के नीचे का भाग नहीं है। बलिदान वाले विषय के आगे तो कई पत्रे बिलकुल ही नहीं। ज्योतिषी ने आगे शायद यह कहा होगा कि उसी के वंश के राजा अचलराज की पुत्री कर्पूरदेवी ही कौशल्या है।

सातवें सर्ग का आरम्भ नहीं है। इसमें ज्योतिषी ने जयसिंह से कहा है कि आप शिवजी के कुम्भोदर नामक गण हैं; पार्वती के शाप से मनुष्य हुए हैं। शाप का

---

१. पयोभिरीशानकिरीटचन्द्रपेयूषगर्भैः परिपूरितोपि।
क्षारत्वमापत्सगरात्मजानामपुण्यलेषादिव वारिराशिः॥
पुण्यान्तु तस्याजयराजसूनोः को वेदितुं तत्त्वगतीरभिज्ञः।
शाकम्भरीक्षेत्रगतोपि यस्य क्रीडासमुद्रः सचिवः सुधायाः॥ (छठा सर्ग)

२. आशंसनीयं तु मभेदमस्ति यथाग्रजं मामनुजः सिषेवे।
तथाहमस्यानुजतामुपेत्य सेवाविधानात् कृतनिष्क्रयः स्याम्॥
एतस्य सेवां च चिरस्य कृत्वा भावान्विदित्वा क्षणभंगिनोऽमून्।
अनेन जूटस्य भरेण खिन्नः काषायधारी भवितास्मि मुण्डः॥ (छठा सर्ग)

तभी अन्त होगा जब आपको विश्वास हो जाएगा कि कलियुग में रामावतार होगा। राजा को इस बात पर विश्वास हो गया। षडंग-बल से तो वह शत्रुओं को जीतता था, अष्टांग-योग से उसने देह त्याग किया। यह राजा निःसन्तान मरा। उसका अधिकारी कुमारपाल, सोमेश्वर का अभिभावक बन कर, अपने नाम को चरितार्थ करने लगा। उधर अर्णोराज को उसके ज्येष्ठ पुत्र [जगदेव] ने मार डाला[1]। ऐसे समय में कुमारपाल ने सोमेश्वर को अपने पास ही रखना उचित समझा। कुमारपाल की चढ़ाई में सोमेश्वर भी साथ था; कोंकण के राजा [शिल्हारावंशी मल्लिकार्जुन] का सिर अपनी छुरी से काटा। सोमेश्वर का विवाह त्रिपुरी [तेवर, जिला जबलपुर] के राजा अचलराज कलिचुरि की पुत्री कर्पूरदेवी से हुआ। समय से रानी गर्भवती[2] हुई और ज्येष्ठ की द्वादशी को, शुभमुहूर्त में, उसके पुत्र का जन्म हुआ।

आठवें सर्ग का आरम्भ स्वर्ग तथा भूमि में हर्षोत्सवों के वर्णन से होता है। सोमेश्वर के पुत्र का नाम पृथ्वीराज रक्खा गया। उसके चूड़ाकरण के पीछे दूसरा पुत्र माघ शुक्ल तृतीया को उत्पन्न हुआ। इसका नाम हरिराज हुआ। उधर अजमेर में हत्यारे के पीछे गद्दी पर विग्रहराज (बीसलदेव) बैठ गए थे। कविबान्धव-उपाधिधारी वे विग्रहराज भी कुछ समय के उपरान्त मर गये[3]। सर्वगुण सम्पूर्ण, पितृवैरिसुत पृथ्वीभट भी अकाल ही में मर गया। विग्रहराज का पुत्र अपरगांगेय [अबुलफ़ज़ल का अमरगंगू] भी न रहा। अब लक्ष्मी सुधबा के वंश को छोड़कर, जिसमें से पुरुषरूपी मोती धीरे-धीरे गिर रहे थे, सोमेश्वर को चाहने लगी। मन्त्री उसे बुला लाये। इस प्रकार कर्पूरदेवी दान-भोग के सहित लक्ष्मी की तरह, दोनों पुत्रों को लेकर अपने श्वसुर के पिता के नगर में घुसी। सोमेश्वर ने पिता के नाम पर नगर बसाया। वैद्यनाथ का एक बड़ा भारी मन्दिर बनाया, जिसमें पिता की धातु-मूर्ति और अपनी भी, स्थापित की। ब्रह्मा, विष्णु शिव के भी मन्दिर बनाये; गंगानक (गँगवाना) आदि में भी कई मन्दिर बनाकर अमरावती की जनसंख्या घटानी शुरू की। मृत्यु होने पर वह—चाहमान से पृथ्वीभट-पर्यन्त अपने पूर्वजों को स्वर्ग में देखकर और केवल पिता के हत्यारे को वहां न पाकर—कैलास को गया और वहां देखते-ही-देखते शिवरूप हो गया। इस 'देखते-ही-देखते' को कवि ने इस सुन्दरता से वर्णन किया है कि संस्कृत-साहित्य में उसका जोड़ नहीं।

नवम सर्ग से जान पड़ता है कि पृथ्वीराज की नाबालगी में कर्पूरदेवी ने राजकार्य चलाया। उसके नाम से एक शहर भी बसाया गया। कदम्बवास [रासौ का

---

१. प्रथमः सुधवासुतस्दानीं परिचर्यां जनकस्य तामकार्षीत्।
प्रतिपाद्य जलांजलिं घृणायै विदधे यां भृगुनन्दनो जनन्याः॥ (सातवां सर्ग)

२. संस्कृत के कवि गर्भिणी स्त्रियों का मिट्टी खाना नहीं भूलते। देखिए—
अचिरात्तव नन्दनस्य भोज्या निखलाभूरितिश्रृण्वती जनेभ्यः।
यदसेवत मन्दयापि रुच्या मृदमास्वादमिवैक्षत क्षितेस्तत्॥ (सातवां सर्ग)

३. कैलासं जग्मुषो यातं पश्चाद्विग्रहभूभुजः।
कविबान्धव इत्यंकं भूमावशरणं पदम्॥ (आठवां सर्ग)

कयमाश] उसका मन्त्री था। पृथ्वीराज का नाना, माँ का चचा, सुवर्णदानी भुवनैकमल्ल भी वहां आ गया था। कवि ने पृथ्वीराज के रामावतार होने पर बड़ा ज़ोर दिया है। कदम्बवास को उसने हनूमान और भुवनैकमल्ल को गरुड़ का अवतार बताया है। उस समय की समृद्धि, संपत्ति, शान्ति, सुख का भरपूर वर्णन उसने किया है। धीरे-धीरे पृथ्वीराज युवा हो गया। भुवनैकमल्ल की राजधानी में रहने के विषय में सर्ग की समाप्ति के श्लोक से दो श्लोक पहले यह श्लोक है—

मैनाकशैलवदखण्डितपक्षपाते
पित्रन्वयाभरणताजुंषि तत्र वीरे।
देवी व्यराजत कुमारविनायकाभ्यां
कर्पूरदेव्यचलराजसुता सुताभ्याम् ॥

दसवां सर्ग। विग्रहराज के पुत्र नागार्जुन ने गुड़पुर के क़िले में मोर्चाबन्दी करके पृथ्वीराज का सामना किया। राजा अपनी सेना का स्वयं नेता बनकर गया और उसने गुड़पुर घेर लिया। नागार्जुन भाग निकला; उसकी माता और स्त्री को राजा कैद कर लाया। शत्रु की सेना के मुखियों के सिर अजमेर के किले के कंगूरों पर लगा दिये। इधर पश्चिम में गर्जन [गजनी] को जीतने वाला गोरि[1] सारे राजमण्डल के लिए ग्रहण बन कर आया। उसने अपना दूत अजयमेरु गुफा के सिंह के पास भी भेजा। असंख्य गौवों के वध की प्रशस्ति लिखने ही को मानो उस दूत का ललाट विशाल था; सिर गंजा था; दाढ़ी, पलकों और केशों का रंग उसके देश में होने वाले अंगूरों का-सा था; सिर के बालों के साथ उसकी वर्णमाला में से मूर्धन्यवर्ण भी उड़ गये थे। उसकी बोली पक्षियों की-सी थी। अपनी जन्मभूमि हिमालय वाली दिशा से लेकर उसने देह में कुष्ठरोग के समान वह सफ़ेदी धारण कर रक्खी थी जो वस्त्रों के योग्य है। चोग़ा उसका काले रंग का था। इस रोचक वर्णन के मध्य में ही कुछ पृष्ठ उड़ गये हैं। दूत ने न मालूम क्या कहा। इसके आगे दशम सर्ग के अन्तिम पृष्ठ में हम पढ़ते हैं कि गुजरात के नड्वल (नाडौल) स्थान को ग़ोरी ने घेर रक्खा है। इस पर पृथ्वीराज ने बड़ा क्रोध किया।

ग्यारहवें सर्ग में कदम्बवास ने राजा को शान्त किया। वह बोला—"भला ऊँटों के खाने योग्य साँपों पर कहीं गरुड़ क्रुद्ध होता है? जैसे तिलोत्तमा के पीछे सुन्दोपसुन्द कट मरे थे वैसे ही आपके शत्रु आपस में ही नष्ट हो जाएंगे।" इतने ही में गुजरात से एक हलकारा आया। उसने कहा—गुर्जरों ने ग़ोरी को बुरी तरह हरा दिया है। इस पर पृथ्वीभट[2] राजा से मन्त्री की दूरदर्शिता की प्रशंसा करता है। पृथ्वीराज ने इस पर पूछा कि यह तिलोत्तमा कौन है। तब बन्दी पृथ्वीभट ने उसके रूप की प्रशंसा की और कहा कि चित्रमण्डप में जहां आपका पूर्वजन्म का चरित चित्रित है वहां वह

१. कदशनकुशलो गवामरित्वात्समुदितगौरिपदापदेशमुद्रः। (दसवां सर्ग)

२. निशम्य दुर्यशोमात्रसैन्यं हयपतिं गतम्।
विज्ञापयितुमारेभे पार्थिवं पृथिवीभटः॥ (ग्यारहवां सर्ग)

रूप में सीता से भी उत्कृष्ट है। दूत को विदा करके राजा चित्रमण्डप में गया। इस स्थल में सर्ग के अन्त तक रामावतार के इतिहास के चित्र उसी तरह भिन्न-भिन्न छन्दों द्वारा, दिखाये गये हैं जिस तरह कि 'उत्तररामचरित' के पहले अंक में सीता को दिखाये हैं।

बारहवें सर्ग के थोड़े ही से पत्रे मिले हैं। तिलोत्तमा-सम्बन्धी इन वर्णनों ने राजा पर प्रभाव डाला। वह कामवश हो गया। राजा की यह दशा देखकर बन्दी पृथ्वीभट अपनी करनी पर पछताने लगा। राजा को किसी तरह समझा-बुझाकर उसने उससे आह्निक कार्य कराया। चिन्तामग्न अवस्था में पृथ्वीभट ज्योंही महल से निकला त्योंही किसी पण्डित ने यह श्लोक पढ़ा :

सलिलादपि निर्ययौ रसा धरणेरप्युदयादि मैथिली।
दहनादपि याज्ञसेनिका किमलभ्यं पुरुषार्थशालिनाम् ॥

पानी से ज़मीन निकली, ज़मीन से सीता निकली, आग से द्रौपदी निकली—भला पुरुषार्थियों को क्या नहीं मिल सकता ?

इन आशागर्भ वचनों को सुनकर पृथ्वीभट चौंक पड़ा। उसने विग्रहराज के मन्त्री पद्मनाभ को बुला कर पूछा कि इस श्लोक का कर्त्ता और पढ़ने वाला कौन है और यह परदेशी कवि कौन बैठा है जिसकी भारी पगड़ी ने केशों को ढक लिया है ?[1] इन तीनों प्रश्नों का एक ही उत्तर मिला कि "काश्मीरक कवि जयानक।" इसके बाद छः भाषाओं में निपुण, कवि जयानक, अपने देश छोड़ने का कारण कहने लगा।

इस कुस्थान पर यह महाकाव्य खण्डित हो जाता है। महाकवियों की रीति के अनुसार किसी तिलोत्तमा का अवतार मानी गई राजकुमारी से राजा का विवाह कराया जाता। फिर ऋतुवर्णन, सन्ध्यावर्णन, चन्द्रोदयवर्णन, पानगोष्ठीवर्णन, प्रभातवर्णन आदि होते। जिस विजय पर इस काव्य का नाम 'पृथ्वीराजविजय' रक्खा है और जिसके कारण ही पृथ्वीराज को रामावतार सिद्ध किया गया है वह विजय अवश्य ही सन् ११९१ का तिरौरी वाला विजय है। उसी में भारतेश्वर ने शहाबुद्दीन मुहम्मद ग़ोरी को बुरी तरह हराया और क़ैद करके छोड़ दिया था। उसका वर्णन इस काव्य के अन्तिम सर्ग में अवश्य ही होता। वह सब काल के गाल में लीन हो गया।

जो श्लोक स्थान-स्थान पर उद्धृत किए गए हैं उनसे संस्कृतज्ञ पाठकों को इस काव्य के कर्ता, सरस्वती के सच्चे उपासक, के उत्कर्ष का ज्ञान अवश्य ही हो गया होगा। हिन्दी के मासिक पत्र में इससे अधिक अवतरण नहीं दिए जा सकते। इसकी कविता बड़ी अद्भुत, सरस और भावमय है। प्रथम सर्ग में पुष्कर की कुदशा का वर्णन 'रघुवंश' के सत्रहवें सर्ग में अयोध्या के उजड़ने के वर्णन की टक्कर का है। सोमेश्वर के शिवमय होने का वर्णन भी अतुलनीय है। दुःख की बात है कि ऐसे अद्भुत काव्य की इतनी खण्डित और इतनी अशुद्ध एक ही प्रति प्राप्त हो सकी। इसमें स्थान-स्थान पर श्लोक,

---

१. कतमश्च विपश्चिदेष यो निबिड़ोष्णीपदुरीक्ष्यकुन्तलः ? (बारहवां सर्ग)

पंक्तियां, पत्रार्ध पत्र, अक्षर खो गए हैं। टीका भी मल्लिनाथी नहीं है, जिससे नष्ट शब्द अनुमान से रक्खे जा सकें। जोनराज ने बुढ़ापे में इसकी टीका की है। मूल के पुनरुद्धार में उससे बहुत कम सहायता मिलती है।

इसका कर्ता कवि बहुत करके कश्मीरी था। इस पर जोनराज की टीका का होना और इसकी एक ही प्रति कश्मीर में मिलना, इस अनुमान की पुष्टि करते हैं। काव्य की शैली इस बात का आभ्यन्तर प्रमाण है। कहीं-कहीं विल्हण[1] और मंखक[2] के काव्य की छाया भी इसमें है। ऊंटों को कवि बड़ी घृणा की दृष्टि से देखता है[3]। ऊंट राजपूताने की सेना में थे, इसलिए उनका वर्णन उसे करना ही पड़ा था[4]। ग़ोरी के एलची का ऐसा वर्णन पड़ोसी कश्मीरी ही कर सकता था, और प्रान्तों के लोग तो उस समय मुसलमानों

---

१. पृथ्वीराजविजय—

(१) शाकम्भरीप्रदेशे यदुदगुस्तस्य कीर्तयः।
अतो नोद्वेगमाजग्मुः पुलिने लवणोदधेः॥ (पांचवां सर्ग)

(२) तस्य धात्रीकुचाज्जातु कुंकुमं वदनं विशत्।
गाढतां शारदादेशानुरागं हृदयेऽनयत्॥ (आठवां सर्ग)

विक्रमाङ्कदेवचरित—

(१) द्वीपेषु कर्पूरपरागपाण्डुष्वासाद्य लीलापरिवर्तनानि।
भ्रान्त्या तुषाराद्रितटे लुठन्तः शीतेन खिन्नास्तुरगा यदीयाः॥ (१।६७)

(२) सहोदराः कुंकुमकेसराणां भवन्ति नूनं कविताविलासाः।
न शारदादेशमपास्य दृष्टस्तेषां यदन्यत्र मया प्ररोहः॥ (१।२१)

२. पृथ्वीराजविजय—

(१) पराङ्मुखी यत्पृतना प्रपेदे जनंगमानामसुभिर्वियोगम्।
स रौरवाणां सुवसत्वकालो भाग्यानि वा भास्करमण्डलस्य॥ (छठा सर्ग)

(२) प्राणाग्निहोत्रीकृतकालकामपुरत्रयाख्याहुतिपञ्चकस्य॥ (छठा सर्ग)

श्रीकण्ठचरित—

(१) निःसरत्सु दनुजेषु संयते संयतेद्धकवचेषु भूमिषु।
भाविनीं सुवसतिं स्वविष्टपे मन्यते स्म तनयो विवस्वतः॥ (२२।२१)

(२) प्राणाग्निहोत्रक्रममन्वतिष्ठत्॥ (६।५२)

३. नित्यानिमेषनयनत्वमयंविपाकं दुष्कर्मणां करभदर्शनतो विदित्वा।
पाणी पिधानपदवीमुपनीय काश्चिद्द्रष्टुं नरेन्द्रमपिनापुररण्यदेव्यः॥ (चौथा सर्ग)
टीका—उष्ट्रोऽदर्शनीय इति प्रसिद्धिः॥

४. (१) वैवस्वतायुधभुजंगमसह्यमान
निःश्रोत्रतानधिगतोष्ट्रचमूनिनादाः॥ (दूसरा सर्ग)

(२) अतिभरसहनप्रवृद्धकीर्तिद्विषमिव शेषमहीशमेव मत्वा।
अहिकवलनकेलि कोविदं तत्करभकुलं हयसंघ मन्वयासीत्॥ इत्यादि।
(दसवां सर्ग)

से अधिक परिचित न थे। अजमेर के कृष्ण आदि राजपण्डितों ने उस परदेशी को बहुत सताया, केवल विश्वरूप नामक एक पण्डित उसका सहायक था[1]। सूखे पण्डितों पर कवि ने खूब बौछाड़ें की हैं[2]।

इन कारणों से मैं अनुमान करता हूं कि बड़े फेंटे से ढके हुए केशों वाले जिस जयानक कवि ने पृथ्वीभट से बातें की थीं वही इस काव्य का कर्ता हो तो आश्चर्य नहीं। कश्मीरी कवि अपने काव्य में अपने नाम, वंश और इतिहास आदि को गूंथ देते हैं। बिल्हण ने अपनी यात्रा और मंखक ने अपने कुटुम्ब की घटनाओं का गान किया है। यदि यह काव्य पूरा मिलता तो बहुत सम्भव है इसमें भी कवि के परिचय के सिवा देशभक्ति-पूर्ण कश्मीर का वर्णन मिलता। जैसाकि विक्रमांकदेवचरित में है।

इसका कवि ऐसे समय में उत्पन्न हुआ था जब हिन्दू लोग अपने घरों और मन्दिरों की तथा धर्म्म और स्त्रियों की रक्षा के लिए लड़ रहे थे। देश में सर्वत्र वीरता का आवेश हो रहा था। बौद्ध धर्म और उसके उपदेशों से जो अकर्मण्यता, शान्ति और हीनवीर्यता गौणरूप से उत्पन्न हो गई थी वह कवि को बहुत खटकी है। उसने ब्रह्मा के मुंह से विष्णु का उपालम्भ कराया है कि—

त्वयापि नूनं कलिकालरात्रौ निद्राविधेयत्वमुपागतेन।
केशान् घनान् गर्जितभीरुणेव हित्वा स्थितं शान्ततया जिनत्वे॥
उत्तेजितं रामतया कुलं यदुद्वेजितं तद्भवतः जिनत्वे।
इत्यन्वयं स्वं प्रति संदिहानो मन्दप्रभः सूरिरिवाद्य सूर्यः॥ (पहला सर्ग)

यह ध्यान देने योग्य बात है कि कवि अनगिनत जगहों पर चौहानों को सूर्यवंशी कहता है। सारे काव्यभर में वे सूर्यवंशी कहे गए हैं। आजकल, रासो आदि की बदौलत, चौहान अपने आपको अग्निकुलोद्भव—अग्निकुण्ड से उत्पन्न—कहते हैं। कवि पृथ्वीराज की सभा में मान्य था। उनका काव्य राजसभा में पढ़ा और आलोचित किया गया होगा। आजकल यदि कोई अपने को किसी वंश में मानता हो और उसे किसी दूसरे वंश से प्रसूत सिद्ध करने के लिए अखण्डनीय ऐतिहासिक प्रमाण मिल जाते हैं तो त्राहि-त्राहि की ध्वनि मच जाती है; ऐतिहासिकों पर अनुचित उद्देश आरोपित किए जाते हैं और फटे में थेगली लगाने के लिए 'लेखक' खड़े किए जाते हैं। इस दशा में यह

---

१. दृष्ट्वा कविं कृष्णमुखैर्मुधान्यैरसूयया किं विबुधैर्विधेयम्।
यो विश्वरूपो विबुधेषु धुर्यस्स एव हेतुर्हि कविप्रथायाः॥ (पहला सर्ग)
टीका—कृष्णनामा आजयमेरवः पंडितः······आजयमेरवो यः पण्डितो विश्वरूप-नामा···।

२. (१) न पण्डितानां कविरित्यसाध्यः कर्णज्वरोयं यदि शाश्वतः स्यात्।
स्युरेव विद्यामधिकृत्य दूतां तन्मोक्षलक्ष्मीपरिरम्भयोग्यः॥ (पहला सर्ग)
(२) मात्सर्यगर्वोत्कटसूरिसर्पव्याजिह्मताचापलदूषितापि।
कवीन्द्रवाक्चन्दनकन्दलीयं स्वाभाविकं कुञ्चति नाधिवासम्॥ (पहला सर्ग)

कहना अनुचित नहीं कि यदि उस समय राजा-प्रजा सभी लोग चौहानों को सूर्यवंशी न मानते होते तो कवि इस बात को इतने बल से कभी न लिखता। विष्णु के दृष्टिपात की बदौलत सूर्यमण्डल से चाहुमान की उत्पत्ति कराने में उसने उसी स्वतन्त्रता से काम लिया है जिससे कि बिल्हण ने अपने वर्णित वंश के कर्ता को विधाता के 'सन्ध्याम्बु-पूर्णचुलुक' से उत्पन्न कराने में; पर यदि चाहुमान अग्निवंशोत्पन्न होता तो उसे सूर्यवंश का बताने का साहस कवि कभी न करता।[1]

[प्रथम प्रकाशन : **सरस्वती** : जून, १९१३ ई०]

दो प्रश्नों का एक उत्तर

दो प्रश्नों का एक उत्तर वाचोयुक्ति का, छेकोक्ति का, शब्दश्लेष का, वचनभंगी का बड़ा अच्छा प्रमाण माना जाता है। बिना पढ़े-लिखे मनुष्यों का विनोद या उनकी एकीकृत प्रज्ञा ऐसे ही प्रश्नोत्तर में रहती है और पढ़े-गुने भी इस रस से कोरे नहीं होते, जैसे गधा क्यों उदासा और ब्राह्मण क्यों प्यासा ? इन दो प्रश्नों का एक ही उत्तर है—लोटा न था। 'लोटा' में श्लेष है। पान क्यों सड़ा ? घोड़ा क्यों अड़ा ? पढ़ा क्यों भूल गया ? तीनों का एक ही उत्तर है—फेरा नहीं। बड़ का पेड़ क्यों गिर पड़ा ? प्रजा क्यों देश-विदेश भटकती है ? हुण्डी क्यों न सिकरी ? तीनों का उत्तर हुआ—"साख नहीं।" पुरानी पोथियों के कई बंडल टटोलते समय एक पुर्जा लगभग २०० वर्ष पहले का लिखा मिला, उसमें ऐसी कई वाचोयुक्तियां हैं, वे आजकल किताबों के ज्ञान पाने वाले लोगों को विदित नहीं, इसलिए यहां 'सुमरनी' में पिरो दी जाती हैं! भाषा पुरानी ज्यों की त्यों रहने दी है :

१. **दुआर[2] क्यों टूटा ?**
शहर क्यों लूटा ? — **राज नहीं**

२. **दिवाल क्यों विंगी[3] ?**
नार क्यों नंगी ? — **सूत बिन**

३. **पोसती क्यों रोया ?**
राजा क्यों सोया ? — **अमल बिन**

---

१. ग्रन्थ छप रहा है। सम्पादकों में से किसी के पास (अजमेर में) पहले से नाम लिखवा कर ग्राहक बनने वालों से मूल्य ३ रु०, औरों से ४ रु०।—गुलेरी

१. द्वार

३. विंगी=टेढ़ी (संस्कृत—व्यंग्य)

४. कामिनी क्यों न बुलाई ?
कमान क्यों न चढ़ाई ? — गोसा (?) नहीं

५. गोश्त क्यों न खाया ?
राग क्यों न गाया ? — गला नहीं

६. अन्दर क्यों अन्धयारा ?
चाकर क्यों बिगारा ? — दिया नहीं

७. तेल क्यों न लाया ?
खाविंद क्यों रुसाया ? — बणिया[1] नहीं

८. अजार[2] क्यों न सिवाई ?
खीर क्यों न खाई ? — सूई नहीं[3]

९. सूत क्यों न कताग्रा ?
रहट क्यों न चलाया ? — तकुवा नहीं

१०. कोठे पर क्यों चढ़ी ?
कूएँ पर क्यों खड़ी ? — लाज[4] नहीं

[प्रथम प्रकाशन : प्रतिभा : अक्तूबर, १९२० ई०]

---

३. बनिया नहीं, बनी नहीं

४. इजार = पजामा

५. सूई—सीवनी, सूई = प्रसूता = बियाई (विजाता)

६. लाज = लज्जा लाज = रज्जू = लेजू । एक पुरानी पोथी में रस्सी के लिए 'लालन' लिखा मिला है ।

संस्मरण

बाबू अयोध्याप्रसाद के स्मरण

कष्टो जनः कुलधनैरनुरञ्जनीय
स्तन्मे यदुक्तमशिवं नहि तत् क्षमं ते।
नैसर्गिकी सुरभिणः कुसुमस्य सिद्धा
मूर्ध्नि स्थितिर्न रचरणैरवताडनानि॥
(भवभूतेः)

'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' का गृहप्रवेशोत्सव मङ्गलपूर्वक हो चुका था। महामहोपाध्याय पण्डित सुधाकर द्विवेदी जी ने "धनि भाग आज या भवन में नाथ तिहारे पग पड़ैं" कहकर सर डिग्गस लाटूश का स्वागत किया था, और माननीय पण्डित मालवीय ने चमकती अंग्रेजी की छोटी स्पीच में उन्हें "गच्छ गच्छ सुरश्रेष्ठ" कह दिया था। दूसरे दिन प्रातःकाल का समय है। मि० जैन वैद्य और हम, सिद्धेश्वर प्रैस से, कपड़े पहनकर, बाहर निकलने को तैयार हैं। इतने में एक सज्जन "जैन वैद्य जी हैं क्या?" इस प्रश्न के पीछे आ खड़े हुए। हमने देखा, उनके शरीर पर मोटे बनारस सिल्क का चपकन और चोगा है, पजामा है, बादामी बूट है। सिर पर उस ढंग का बंगाली शमला है जिस ढङ्ग का महामहोपाध्याय पदवी पाने वालों को सरकार से खिलत में मिला करता है। पूछने पर उनने परिचय दिया कि—"मैं मुजफ्फरपुर से आता हूं।" इस पर हम अपनी मुस्कुराहट को न रोक सके, क्योंकि काशी में दो दिन से ही "खड़ी बोली वाला आता है, खड़ी बोली वाला आता है" की धूम मच रही थी। जिस मूर्त्ति के लेख, नाम और वर्णन पत्रों में पढ़े जाया करते थे, उसे यों अचानक सामने देखकर एक विलक्षण भाव उत्पन्न हुआ। अस्तु, परस्पर के परिचय के पीछे हम लोग एक गाड़ी पर सवार होकर चले। पहले मैंने प्रश्न किया कि आप कल के उत्सव में आ पहुंचे थे वा नहीं। उनने इसके उत्तर में 'हां' कहकर कहा कि एड्रेस गंवारी बोली में क्यों दिया गया, यदि वह खड़ी बोली में होता तो हम मुसलमानों को भी अनुकूल कर सकते। गवारी बोली यह बाबू अयोध्याप्रसाद का 'ब्रजभाषा' के लिए प्यारा नाम था। एक आध बार उनने उस दिन भी कहा—"जब तक यह गंवारी हमारे सभ्य साहित्य का पल्ला न छोड़ेगी तब तक इसकी उन्नति न होगी।" हमने भी कहा—"आप तलाक दिलाकर मानियेगा!" अस्तु, बाबू साहब को उन कठिनाइयों का ज्ञान न था जो खड़ी बोली में एड्रेस देने पर सभा को पड़तीं, क्योंकि सबके सामने पालिसी में

"सरल भाषा के पक्षपाती" बनने वालों को निखालिस उर्दू शब्द काम में लेना पड़ते और काशी के नाम को कुछ गौरव से रहित करना पड़ता। हमने ध्यान से देखा बाबू अयोध्याप्रसाद के नेत्र बिलकुल श्वेत थे। उनके बाल कहीं-कहीं सफेद थे इसलिए इस अवस्था में भी आँखों में लाल डोरों के अभाव का हम पर असर पड़ा। हम ज्यों-ज्यों ध्यान से उन पथराई हुई "धौली आँख धणी" को देखते थे, त्यों-त्यों उनकी भाव-शून्यता और नीरसता मालूम होती जाती थी, जो मनुष्यों में अधिकांश के साथ विरोध रखने का फल और लक्षण है। वे कुछ ठहर-ठहरकर श्वास लेते थे और चकित होकर इधर-उधर तकते थे, मानो किसी भय में हैं। उनके अधरोष्ठ पर दो दाँत निकले हुए थे और उनके ओष्ठ कुछ खुले हुए ही रहते थे। मालूम होता है यह gape करने की आदत उन्हें अधिक विरोध की शंका से हो गई थी। पं० नारायण पाण्डे के कालनिर्णय की बात चली तो, उनने कहा कि मुझे कलेक्टर साहब ने मुकद्दमे में रजामन्दी करने को बाधित किया था। उनने कहा था This case must be compromised out of court। पीछे जब उन्हें मालूम हुआ कि हम सारस्वत ब्राह्मण हैं तो वे बोले—"हम खत्री हैं, आपके यजमान है, आपको तो हमारा पक्ष लेना चाहिए न कि पं० नारायण पाण्डे का जो आप से भिन्न ब्राह्मण हैं।" हमारे भिन्न ब्राह्मण का अर्थ पूछने पर उनने कहा कि ब्रजभाषा के पक्षपाती हरिश्चन्द्र अगरवाले थे और हम खड़ी बोली के रिफार्मर खत्री हैं इससे भी आपको हमारी ही तरफ होना चाहिए। इस तर्क से हम दंग आ गए। सभा वाले हिन्दी साहित्य का एक इतिहास लिखने वाले हैं, इस प्रसङ्ग में आपने कहा—"चाहे ये लोग कुछ करें इनके ब्रेन नहीं हैं; हमें चार घण्टे किसी लाइब्रेरी में बिठा दीजिए, झटपट इतिहास लिख डालें, ये लोग ऐसा ब्रेन कहां से लावेंगे?" फिर उनके खड़ी बोली आन्दोलन की वर्तमान अवस्था और सभा में उनके प्रस्ताव की सफलता की बात चली। उनने कहा—"प्रभुदयाल पांडे पं० प्रतापनारायण मिश्र का शिष्य था। उसने प्रतापनारायण मिश्र को खड़ी बोली का आदि पक्षपाती लिखा है। इसपर हमने लिखा कि जैसे परशुराम ने जमदग्नि के वास्ते कार्तवीर्य को बलि दे दिया उसी तरह से आप हमें भी अपने गुरु के लिए बलि दे दीजिए। अब हम बनारस में आए हैं, आप लोग सब मिलकर हमें मार डालिए—मार डालिए, हां साहब, मार डालिए।" इतने में चौंकते हुए हम 'चौक' पहुंचे, और वहां माननीय पण्डित मालवीय जी की गाड़ी सामने से आ गई। वहां उनने हमें अपने साथ क्वीन्स कालेज ले जाने का आग्रह किया। लाचार हमें बाबू अयोध्याप्रसाद की मनोरंजक बातों से विदाई लेनी पड़ी। हमने उन्हें अपने साथ जाने को तैयार न पाकर पूछा कि आप कहां ठहरे हैं? उत्तर मिला—"गाय घाट पर, वहां मेरी लड़की का ससुराल है। वे भी बनारसिए हैं, दो-तीन साल से उसे मेरे घर नहीं भेजते। इन बनारसियों के एक समूह ने तो मेरी खड़ी बोली को दुःख दे रक्खा है और दूसरा मेरी पुत्री को मेरे से मिलने के लिए भी नहीं भेजता।" इस पर हमने हँसकर कहा कि बेटियां अपने ही घर शोभा पाती हैं, पिता के घर नहीं। आप दोनों को अच्छी तरह इन्हीं बनारसियों के हवाले कर दीजिए।" इस पर हँसकर हाथ मिलाकर बाबू साहब चले गए।

उस ही दिन सायंकाल की फिर बाबू अयोध्याप्रसाद के दर्शन हुए। सभा के पुस्तकालय में बाबू साहब बैठे थे। वहीं पर उनने हम को पण्डित केशवराम भट्ट का हिन्दी-व्याकरण दिखाया और शिवहर स्कूल के हेडमास्टर रामदास राय का बनाया खड़ी बोली कविता में मिल्टन के 'पैरेडाइज़ लास्ट' की द्वितीय पुस्तक का अनुवाद मिस्टर जैन वैद्य को, और उनके द्वारा हमको, दिया। पीछे उनने अपना वह लेख भी हमें दिखाया, जिसे वे कल की सभा में पढ़ा जाने के लिए लाए थे। इसके पीछे एक ऐसी शोचनीय घटना हुई जिसका उल्लेख हम नहीं करना चाहते, परन्तु बाबू साहब की स्वर्गीय आत्मा के अनुरोध से हमें उसे कहना ही पड़ता है। उस समय सभा के सभी उपस्थित मेम्बरों का फोटो लिया जाने वाला था।

"विमल बी० ए० पास बाबू श्यामसुन्दरदास" हम तो हाथ पकड़ कर तीन-तीन दफ़ा फोटो के लिए ले चले परन्तु बाबू साहब से उनने आँख तक न मिलाई। यही नहीं, यदि हम बाबू साहब को पकड़ कर न ले जाते, तो शायद मेरे पास की कुर्सी पर बैठे रहने और मुझ से बातचीत करते रहने पर भी उन्हें कोई फोटो के लिए न ले जाता। फोटो में भी मि० वैद्य उन्हें अपने साथ लेकर खड़े हुए, नहीं तो बिचारे पांचवीं छठी पङ्क्ति से भी बाहर धकेले गए थे। खैर, फोटो उतरा, मालवीयजी की सभा हुई। दूसरे दिन प्रातःकाल हम गङ्गास्नान से लौट रहे थे। राह में बाबू श्यामसुन्दरदास के मकान में पहुंचे। देखा कि खासी मण्डली जमी है। रेवरेण्ड एडविन ग्रीव्ज हैं जो पूछ रहे हैं कि लोटा मांजने से क्यों पवित्र हो जाता है। बाबू गोपालदास हैं। शायद पण्डित गणपति जानकीराम दुबे भी हैं। और हैं, जमीन छीलते हुए बाबू अयोध्याप्रसाद। प्रायः आध घण्टा हम बैठे रहे, परन्तु बाबू अयोध्याप्रसाद से कोई न बोला। उनकी 'खड़ी-बोली डायरी' के पृष्ठ पण्डित गणपति दुबे के हाथ में थे। आखिर बाबू साहब चले गए। तब बाबू श्यामसुन्दरदास ने कहा कि—"ये मुझ से यह कहने आए थे कि आज की सभा में मेरा प्रस्ताव बिना विरोध पास करा दो तो मैं सभा में आऊं। तुम लोगों ने बिहारी डेलिगेटों के न आने देने के लिए आजकल उत्सव किया है। इसके उत्तर में मैंने कहा कि मैं यह गारन्टी नहीं दे सकता कि आप का प्रस्ताव बिना विरोध के पास हो ही जाएगा।" हम भी चले आए। सायंकाल को सभा में बाबू साहब नहीं आए। बड़े झगड़े के बाद उनका प्रबन्ध पण्डित गणपति जानकीराम दुबे ने पढ़ा। सभा में इसका कोई प्रबल विरोध नहीं हुआ। अवश्य ही सभा "ब्रजभाषा से हिन्दी साहित्य का पिण्ड छुड़ाने" को तैयार न थी परन्तु उसने इस प्रस्ताव के मानने में कोई विशेष आपत्ति नहीं की कि "खड़ी बोली में भी कविता हो और सभा उसके लिए विशेष उत्साह प्रदान करे।" बाबू राधाकृष्णदास के जलपान में भी बाबू अयोध्याप्रसाद नहीं आए थे। दूसरे दिन बाबू राधाकृष्णदास से वे मिले थे। अपनी परम प्रसन्नता और सभा के "सुबह के भूले के शाम को घर लौट आने" पर हर्ष प्रकट करके अपने घर चले गए। वहां जाकर उनने लाल स्याही से अपना खड़ी बोली का विजय घण्टा घोष छापा। बस, यही हमारा उनका साक्षात्कार हुआ। यह फरवरी की बात है। अगली गर्मियों में बाबू साहब ने मिस्टर जैन वैद्य को और हमको लीचियां बहुत खिलाईं—बहुत ही खिलाईं। हम सदा

उन लीचियों और उनके मनोविनोदी दाता को स्मरण करेंगे। इस वर्ष गर्मियां खूब पड़ीं और जब हम आबू में दुर्लभ लीचियों का जिह्वा से प्रत्यक्ष करते तब हमें हठी किन्तु सरलहृदय, तीव्र किन्तु मुग्ध, साहित्यरिफार्मर कहलाने के लोभी परन्तु काम करने वाले, बाबू अयोध्याप्रसाद के स्मरण से हृदय में एक अपूर्व भाव उत्पन्न हो जाता।

काशी के साक्षात्कार के कुछ दिन पहिले बाबू अयोध्याप्रसाद ने एक पन्द्रह सेर का पुलिन्दा मि॰ जैन वैद्य के पास भेजा था। उसमें बाबू अयोध्याप्रसाद का सर्वस्व था। या यों कहिए कि जिस-जिस पत्र में या जिस-जिस मित्र को उनने खड़ीबोली के बारे में जो टिप्पणी या लेख लिखा था, उसकी यह फाइल थी। यह साहित्य का कौतुक, यह शास्त्रार्थों का किब्लेगाह, हमने और मि॰ वैद्य ने बड़े ध्यान से पढ़ा था। वे ही कागज बाबू साहब ने काशी की सभा के मौके पर भेज दिये थे। यही उनका अमोघ शस्त्र था, यह उनका गाण्डीव था। उसमें एक अंगरेज़ी नोट भी हाथ का लिखा रक्खा था। यह लिखा किसी और का है, परन्तु नीचे अंगरेज़ी में Ayodhya Prasad हस्ताक्षर है और २४-१२-०३ तारीख है। इसका अनुवाद हम पाठकों को सुनाना चाहते हैं। साथ-साथ ब्रैकेट में जो टिप्पणियां हैं वे हमारी लिखी हुई हैं—

"हिन्दी कविता की भाषा के सुधार के दो पीरियड हैं।

(१) सन् १८७६ से १८८७ तक। इस पीरियड का आरम्भ मेरे हिन्दी व्याकरण के बनने से हुआ। उसके पीछे बाबू लक्ष्मीप्रसाद ने 'योगी' नामक पण्डित स्टाइल की खड़ीबोली की कविता बनाई (१८७६), उसके पीछे बाबू महेशनारायण ने 'स्वप्न' लिखा। यह मुन्शी स्टाइल में खड़ी बोली का निबन्ध है जो वर्ड्सवर्थ की 'ओड आन इमार्टेलिटी' के छन्द में बना है (१८८१) [हिन्दी साहित्य की दृष्टि में ये दोनों ग्रन्थ मर चुके हैं।]

(२) सन् १८८७ से आजकल तक। मेरी 'खड़ी बोली पद्य' प्रथम भाग मुजफ्फरपुर में १८८७ में छपा। वृन्दावन के पण्डित राधाचरण गोस्वामी ने इसकी तारीख ११-११-८७ के 'हिन्दोस्थान' में समालोचना की। इस पर उसी पत्र में मेरे दल के पंडित श्रीधर पाठक और विरोधी दल के पंडित प्रतापनारायण मिश्र में बड़ा भारी विवाद हुआ। इस बहस ने हिन्दी साहित्य में जो कुछ भी प्रेम रखते थे उनके सामने खड़ी बोली कविता के गुण और दोष रख दिये। उस समय से सभी विद्वानों ने इस विषय पर पूरा ध्यान दिया है और बहुत-सी खड़ी बोली कविताएं लिखी गई हैं।

पूरी तौर से देखा जाय तो फल सन्तोषदायक है जैसा कि चाहा जा सकता है। इस आन्दोलन से जो हिन्दी भाषा उत्पन्न हुई वह मेरी डायरी के पृष्ठ २१ में 'अङ्गरेजी पीरियड की हिन्दी का तीसरा काल' नाम से लिखी गई है। जैसा मैंने ऊपर कहा है पहला साधारण आन्दोलन, मेरी खड़ीबोली पद्य के प्रथम भाग के छपने पर 'हिन्दोस्थान' के द्वारा आरम्भ हुआ था। दूसरा साधारण आन्दोलन सन् १८८८ ई॰ में उसी पुस्तक के लण्डन में छपने पर हुआ और 'हिन्दोस्थान' और, आजकल बन्द, पं॰ भुवनेश्वर मिश्र की सम्पादित, 'चम्पारण चन्द्रिका' ने इसमें भाग लिया। यद्यपि 'हिन्दोस्थान' स्पष्ट विरोधी नहीं था, तो भी उसने खड़ी बोली कविता पर कुटिल आक्षेप किये और

'चम्पारण चन्द्रिका' ने इस पक्ष का समर्थन किया। [उन्हीं दिनों 'चम्पारण चन्द्रिका' में बाबू अयोध्याप्रसाद ने खड़ीबोली रामायण के लिए प्रति पङ्क्ति एक रुपये का विज्ञापन दिया था। खेद है कि इस खड़ीबोली शाहनामे का कोई फिरदौसी नहीं खड़ा हुआ]

आन्दोलन का तीसरा समय जनवरी सन् १९०१ की 'सरस्वती' ने आरम्भ किया। वहां प्रथम लेख भूमिका के सम्पादक ने यद्यपि खड़ी बोली आन्दोलन का मण्डन किया तो भी उसमें मेरे भाग को वह भूल गये। [शायद यही आन्दोलन का उद्देश्य था कि खड़ी बोली के साथ बाबू साहब का भी नाम अवश्य रहे] इस पर पत्र-व्यवहार और आन्दोलन शुरू हुआ। देखो : मेरी डायरी पृष्ठ १। यह भूल मार्च १९०१ की 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' ने भी जारी रक्खी। परन्तु उन सब ने अपनी गलतियां स्वीकार कीं और मेरे हक कुबूल किये। देखो : 'सरस्वती' जून १९०१ ई०।

आन्दोलन के इस समय में सबसे अधिक ध्यान देने योग्य बात 'काशी नागरी प्रचारणी सभा' का मत-परिवर्तन है। सभा में बहुत-से जीवित विद्वान् हैं और वह हिन्दी साहित्य के उस बड़ की प्रतिनिधि है जो भूतपूर्व हरिश्चन्द्र ने कायम किया था। उसने खड़ी बोली के विरुद्ध लिखा था और मेरे आन्दोलन के विरोधी सदा उनकी दुहाई देते थे। अपनी १८१७ की पत्रिका के पृष्ठ ३० में सभा ने आन्दोलन की बुरी समालोचना की थी और मुझे गालियां दी थीं।[1] परन्तु वह अब बिलकुल बदल गई है

---

१. बाबू साहब का इशारा बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' की इस कविता पर है—

पै अब केते भये हाय इमि सत्यानासी
कवि औ जांचक रस अनुभवसों दोऊ उदासी,
शब्द अर्थ को ज्ञान न कछु राखत उर माहीं,
शक्ति निपुनता औ अभ्यास लेसहू नाहीं,
बिन प्रतिभा के लिखत तथा जांचत विवेक बिन,
अहंकार सों भरे फिरत फूले जित निशिदिन,
जोरि बटोरि कोउ साहित्य ग्रन्थ निर्मानै,
अर्थ शून्य कहुं कहूं विरोधी लक्षन ठानै
जानतहूं नहिं कहा अतिव्याप्ति, अव्याप्ति, असंभव,
बनि बैठत साहित्यकार, आचार्य स्वयं भव।
जात खड़ी बोली पै कोउ भयो दिवानो,
कोउ तुकान्त बिन पद्य लिखन में है अरुझानो।
अनुप्रास प्रतिबंध कठिन जिनके उर मांही,
त्यागि पद्यप्रतिबन्धहु लिखत गद्य क्यों नाहीं ?
अनुप्रास कबहूं न सुकवि की शक्ति घटावैं,
वरु सच पूछो तो नव सूझ हियें उपजावैं।
ब्रजभाषा औ अनुप्रास जिन लेखें फीके,
मांगहिं विधना सों ते श्रवन मानुषी नीके।

और खड़ी बोली कविता का पक्ष लेती है। देखो, जनवरी १६०१ की 'सरस्वती' का दूसरा पृष्ठ। यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि उस समय जो बाबू श्यामसुन्दरदास 'सरस्वती' के सम्पादक थे, वे 'नागरीप्रचारिणी सभा' के मन्त्री थे और हैं। 'सरस्वती' के टाइटिल पेज पर "नागरीप्रचारिणी सभा के अनुमोदन से प्रतिष्ठित" भी मिलता है। फिर फरवरी-मार्च, १६०३ ई० की 'सरस्वती' के पृष्ठ १६ में नये सम्पादक पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, जो सभा के मेम्बर हैं, मेरे मत का पूरा समर्थन करते हैं।

इस आन्दोलन का छोटा इतिहास भूमिहार ब्राह्मणपत्रिका, भाग ३, संख्या १ में छपा है—

अयोध्याप्रसाद
२४-१२-०३

मालूम होता है, जैसे भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रजी अपने कालचक्र में "हरिश्चन्द्री हिन्दी नए ढाल में ढली" लिख गए हैं, वैसे ही "पण्डित श्रीधर पाठक, बाबू हरसहायलाल (?) और पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी की हिन्दी" को "अयोध्याप्रसाद के आन्दोलन से सुधरी हिन्दी" कहकर नया तट बांधने का बाबू साहब को बड़ा आग्रह था। इस पर उनने मन-ही-मन अपने शत्रु बना रखे थे। जब मार्च १६०१ की 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका' में खड़ी बोली-कविता को महारानी विक्टोरिया के राज्य काल की एक घटना कहा गया तब बाबू साहब ने पण्डित श्रीधर पाठक को यह पत्र लिखा—"सभा वालों न खड़ी बोली कविता में आपको सम्मानपूर्वक आसन दिया है परन्तु जहां आप हैं वहीं आपका सेवक मैं भी हूँ। परन्तु मेरा नाम नहीं लिखा गया। इसका कारण यह है कि मैन तो "एक अग्रवाले के मत पर एक खत्री की समालोचना" लिखी थी, और आपने हरिश्चन्द्राष्टक की १००० प्रति बांटी थीं।" शब्द हमें ठीक-ठीक स्मरण नहीं पर उस पत्र का आशय यही था। इधर पण्डित भुवनेश्वर मिश्र ने, एक जगह, यों लिखा है—"पहले बाबू अयोध्याप्रशाद किले के नीचे खड़े थे, और शत्रु उन पर किले से हमला करत थ। अब बाबू साहब लकड़ियों और घास के सहारे किले के टीले पर चढ़ गए हैं।" खड़ी बोली कविता का वास्तव में किसी ने विरोध नहीं किया। केवल पण्डित राधाचरण गास्वामी अपन विरोध में दृढ़ रहे। वास्तव में सभी खड़ी बोली के अनुकूल थे। भारतेन्दुजी की दुहाइ दी जाती है, परन्तु जैसा अच्छा उनका 'दशरथविलाप' हुआ है, ऐसी मुशी स्टाइल की खड़ी बोली क्या किसी ने लिखी है? बनारसी गिरि की लावनियां काशी म खड़ीबोली में बनती आई हैं। भारतेन्दुजी के पिता का बनाया रेखते का पद है। काशी को जो ब्रजभाषा के पक्षपातियों और खड़ीबोली के विरोधियों का अड्डा कहा गया है, वह ठीक नहीं। भारतेदुजी ने एक जगह लिखा है कि मुझ से खड़ीबोली कविता अच्छी न हो सकी, परन्तु उसका यह अर्थ नहीं है कि खड़ीबोली कविता करो ही मत। पण्डित प्रतापनारायण मिश्र ने 'हिन्दोस्थान' में खड़ीबोली का विरोध किया था सही, परन्तु 'सङ्गीत शाकुन्तल' में जो बढ़िया खड़ी बोली कविता है वैसी अयोध्याप्रसाद

जी के किस पक्षपाती ने लिखी है? भूषण कवि के भी दो-तीन कवित्त खड़ी बोली के मिलते हैं। इसके विरुद्ध पण्डित श्रीधर पाठक को लीजिए, जिन्हें बाबू अयोध्याप्रसाद अपना परम पक्षपाती मानते हैं। वास्तव में यदि खड़ी बोली में कोई कविता बनी है तो वह पाठक जी का 'एकान्तवासी योगी' है। जिन बिहारियों का नाम बाबू अयोध्याप्रसाद बड़े आदर से लेते हैं, उनके खड़ी बोली-काव्य हिन्दी-काव्य की दृष्टि में मर चुके हैं। परन्तु पाठक जी का **उजाड़ गाम** अच्छा बना है वा **श्रान्त पथिक**? कहां पहले की द्राक्षापाक कविता, और निसर्ग मधुर आनन्द, और कहां दूसरे की क्लिष्टकल्पना और खेंच-खांचकर खड़े शब्दों की जोड़-तोड़? अब भी पाठक जी का 'भ्रमराष्टक' जितना मधुर है, उतना उनका 'एड्विन और अंजलेना' नहीं। आजकल भी जो कुछ वे लिखते हैं ब्रजभाषा में ही उसका अधिक अंश होता है। उनके विरोधियों से इतनी सहायता मिलने पर भी बाबू साहब "खून लगाकर शहीद" बनने को तैयार थे, यदि वास्तव में उनका विरोध होता तो न मालूम वे अपने को सुकरात लगाते वा ईसा मसीह। काशी की सभा ने कभी उनका विरोध नहीं किया। जिस कविता पर उनका दंश था, वह बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' की थी, और सभा सदा से हिन्दी-साहित्य के इस अर्धाङ्ग पर विलाप कर तो आई है। अवश्य ही वह सूरदास और बिहारीदास की भाषा को धकेलकर उसकी जगह बाबू अयोध्याप्रसाद का lions painted by themselves चित्र नहीं रख सकती। वास्तव में खड़ी बोली में अयोध्याप्रसाद और रामदास रायों की जरूरत नहीं है, जरूरत है सूरदासों और तुलसीदासों की। कृष्ण-भक्ति के कारण, प्रचीन वैष्णव ग्रन्थों के कारण, कथाभट्टों, रासधारियों और पुराने पंडितों के कारण ब्रजभाषा की 'ताके घिपे' अभी तक महाराष्ट्र देशों तक गूंजती है। कोई सूरदास का-सा गारुड़ी आवे, जो खड़ी बोली की अकड़ी नसों और हड्डियों में मोहिनी फूंककर देश भर को मस्त कर दे। काल-निर्णय के पीरियडों पर लड़ना, सबको अपना शत्रु मानकर चलना, और बिहारियों को ही हिन्दी का एकमात्र अधिकारी मानना उचित नहीं। पद्य की भाषा गद्य की तरह से सदा अक्खड़ नहीं हो सकती; उसमें एक प्रकार की लोच वा मुड़ने की ताकत सदा चाहिए। अंगरेजी में भी साधारण भाषा में लोच आने से saxon बन्द हुई, कोरे आन्दोलनों से नहीं। यह लोच ब्रजभाषा में ज्यादा है खड़ी बोली में कम। ब्रजभाषा वाले आग को 'आगि' वा 'आगु' करते हैं, खड़ी बोली वालों ने 'आगी' बनाया है। बैंसवारी वाले 'जहां' को 'जहं' करते थे, बिहार वाले 'जहवां तहवां' (ओह!) करते हैं। मोड़ने-तोड़ने में कमी नहीं है। अवश्य पण्डित राधाकृष्ण मिश्र की संस्कृत प्रायः खड़ी बोली बहुत अच्छी खिलती है, परन्तु यह बाबू साहब के प्यारे मुंशी स्टाइल से दूर है। और फिर क्या "फद फद फद फद प्यारी बोले चढ़ी चूल्ह पर दाल—"प्यारी चमगुदड़ी—" अधेले की बूटी मिरच दमड़ी की लय लई—इनसे कभी साहित्य चमका है? जितना जोश और जान, मरी ब्रजभाषा में बाबू राधाकृष्णदास के बनाए भारत बारहमासा और प्रताप विसर्जन में है उसकी एक कला भी क्या इन 'प्यारी चमगुदड़ी' कविताओं—पण्डित श्रीधर पाठक की कविता को हम पृथक् किये देते हैं—में मिल सकती है जिस दिन किसी सुकवि की शक्ति में खड़ी बोली भी सरस हो जायगी उस दिन ब्रजभाषा चुप रह जायगी। दोनों

भाषाओं को कविता के लिए लड़ने दें। जीवन के लिए संग्राम होते-होते Surival of the fittest सत्तम का अवशेष हो जाएगा। डायरियों और आन्दोलनों के छपने और खून लगाकर शहीद बनने से यह काम न होगा, यह होगा, नये कवियों के जन्मने से। ब्रजभाषा से यों पिण्ड नहीं छूट सकता। कोई यह न जानें कि मैं खड़ी बोली की कविता का विरोधी हूं, मैं उसका समर्थक ही नहीं परन्तु लीक पीटने वाले ब्रजभाषा कवियों का निन्दक भी हूं। बाबू अयोध्याप्रसाद के यत्न-उद्योग, परिश्रम, व्यय, अध्यवसाय, और हिन्दी की प्रीति, सहायता की स्तुति करता हुआ भी मैं उन्हें 'त्वमर्कस्त्वं सोमः' नहीं कह सकता, और न बिहारियों का उन्हें 'खून लगाकर शहीद' बनाना देख सकता हूं। मेरा विचार था कि ये सब बातें बाबू अयोध्याप्रसाद से कहूं। परन्तु हा! वह परोपकारी और हिन्दी भाषा के हितचिन्तन का व्रती मनुष्य अब इस लोक में नहीं है। चाहे उनके प्रकारों से लोगों का विरोध रहा हो, परन्तु वर्तमान युग में बिहार में क्या, हिन्दी भाषा के देश भर में, ऐसा तीव्र किंतु सत्समालोचक, और उदार देशसेवक विरला ही मिलेगा। उनने जो कुछ किया उसमें हिन्दी की हितकामना भरी हुई थी। लोगों ने उन्हें गालियां दीं, चिड़ाया, सिड़ी समझा; उनने भी छोटी-छोटी बातों पर नुक्ताचीनी की, बिना काम का द्वेष समझा, अपने को सताया और ईज़ा पहुंचाया गया समझा, परन्तु ऐसी बातें सदा होती आई हैं। आशा है कि उनकी आत्मा अब अपने किये हुए भले कामों के फल में अनन्त शांति भोगती होगी। जिन लोगों ने बेसमझे-बूझे, या अपने स्वार्थ के लिए, उनकी निन्दा वा उनसे विरोध किया होगा, वे अब इस लेख के ऊपर लिखे भवभूति के वाक्य को पढ़ते होंगे।

[प्रथम प्रकाशन : समालोचक : अगस्त, १९०५ ई०]

इंटरव्यू

संगीत की धुन[1]

लाहौर के गांधर्व विद्यालय के अध्यक्ष और संस्थापक पण्डित विष्णु दिगम्बर पुलस्कर आजकल राजपूताने का दौरा अपने कुछ विद्यार्थियों के साथ कर रहे हैं। अजमेर में 'समालोचक' का एक विशेष प्रतिनिध उनसे मिला। उसने देखा कि पुलस्कर महाशय गौर वर्ण, गठीले शरीर के युवा महाराष्ट्र हैं। देह की बनावट और भाषण की मधुरता से पहले उनके बंगाली होने का सन्देह होता है। विष्णुराव स्वभाव से बड़े शांत, मिलनसार और परिश्रमी सज्जन दिखाई देते हैं।

नमस्कार प्रणाम के उत्तर प्रतिनिधि ने पूछा—**महाराष्ट्र, केरल, कर्नाटक, मईसोर प्रभृति में संगीत की मर्यादा है, प्रतिष्ठा है। वहाँ इसे मीरासियों की जायदाद समझकर इसकी घृणा नहीं होती। फिर क्यों आपने पंजाब में इस विद्या के प्रचार का उद्योग किया और इसमें आपको अधिक कठिनाई नहीं पड़ी?**

मि० पुलस्कर : अवश्य पड़ी, परन्तु हमारे गुरुदेव साधु महातमा की यही काम करने की आज्ञा हुई। वेदादि शास्त्र दक्षिण में पंजाब ही से गए थे, इसलिए उनकी यही आज्ञा थी—जिनमें संगीत की थियोरी और उसका योगाभ्यास से सम्बन्ध समझाया कि जड़ को सुधारो, फिर सब सुधर जाएंगे।

प्रतिनिधि : क्षमा कीजिए, पण्डित जी, आप तो बहुत साफ हिंदी बोलते हैं? क्या संगीत आपके यहां वंश-परम्परा से चला आया है?

मि० पुलस्कर : हां, मैं पहले भी युक्तप्रांत में बहुत रहा हूं, और अब व्याख्यान आदि के देने से हिंदी ही बोलनी पड़ती है। महाराष्ट्र में कोई ही ब्राह्मण

---

१. सन् १९०५ ई० में गांधर्व विद्यालय, लाहौर के अध्यक्ष तथा संस्थापक संगीताचार्य पं० विष्णु दिगम्बर पुलस्कर के अजमेर पधारने पर पं० चंद्रधर शर्मा गुलेरी द्वारा 'समाचोचक' के 'प्रतिनिधि' के रूप में उनसे की गई इस भेंट-वार्ता का विशेष महत्त्व इसलिए भी है कि यह हिंदी-साहित्य की प्रतिष्ठित 'इंटरव्यू-विधा' का श्रीगणेश है। हिंदी-साहित्य में 'इंटरव्यू-विधा' का सूत्रपात करने का श्रेय पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी को ही जाता है।—संपादक

ऐसा होगा जिसको वंश-परम्परा से भजन-कीर्तन न आता हो या कुछ न कुछ संगीत न आता हो। हमारे पितामह गदर के दिनों में उत्तर भारत में ही थे और 'आमचे बड़ील' हरिकीर्तन करते थे। मैंने दस वर्ष तक प्रैक्टिस किया, किन्तु वास्तव ज्ञान महात्मा गुरुदेव की कृपा से ही हुआ। उन्हीं की कृपा से मैंने कुछ···

प्रतिनिधि : हां, आपने क्या इस विद्या में नये आविष्कार भी किए हैं? और इसके नोटेशन का जो आपका नया क्रम है, वह आप ही का है?

मि० पुलस्कर : हां, वह मेरा अपना ही है। मैंने प्राचीन ऋषियों के ग्रंथों पर ही चलकर सब कुछ जाना है। द्रुतगत अणुद्रुत, पहले भी था, अणु अणु द्रुत, और अणु अणु अणु द्रुत मेरी समझ है। ऐसे ही इन चिह्नों को देखिए। इनसे सरगम का नया ही रूप हो गया है और पढ़ने-पढ़ाने में बड़ी सुगमता हो गई है। देखिए, इस पुस्तक (संगीत बाल-बोधक) में तिस्र आदि नाम भी हमारे ही निकाले हैं। यह बात आप कहीं न पाइएगा।

प्रतिनिधि : क्या महाराजा शौरीन्द्रमोहन टागोर का क्रम आपने देखा है? उसके विषय में आपका क्या मत है?

मि० पुलस्कर : वह अंग्रेजी नोटेशन का अनुकरण और केवल बीस-पच्चीस रागों पर ही चलता है। उसमें यह बात नहीं कि साठ-साठ पेज एक ही राग का विस्तार चले। हमें इसके लिए नये टाइप भी बनवाना पड़े हैं।

प्रतिनिधि : तो अब पंजाब में आपका काम कैसे चल रहा है?

मि० पुलस्कर : चार वर्ष में जो कुछ हुआ है उससे भविष्यत् की अच्छी आशा होती है। पहले लोग हमें कहा करते थे कि लड़कों को बिगाड़ते हो। धीरे-धीरे सभी सभ्य सज्जन आने और मानने लगे हैं। गुप्तदान भी बहुत कुछ आ जाता है। इतना व्यय किसी-न-किसी तरह चलता ही है। एक मकान के लिए जमीन भी मिल गई है। अपना प्रैस भी खोल लिया है जिसमें **संगीतामृत-प्रवाह** हिंदी मासिक पत्र छपता है। हमारी वर्कशाप में हारमोनियम, तम्बूरी प्रभृति बनाए जाते हैं और उनकी बिक्री से अब सब खर्च निकालकर विद्यालय को १५०/-, २००/- प्रतिवर्ष बच जाता है।

प्रतिनिधि : क्षमा कीजिए, हार्मोनियम बनाने में आप विलायत से क्या-क्या मंगाते हैं और यहाँ कितना बनाते हैं?

मि० पुलस्कर : प्राण विलायती होता है, शरीर यहाँ का बना होता है। प्राण यहां बनावें तो एक पर्दे में २/-, २/- लगते हैं; पूरा पटता नहीं। हां, इन तीन महीनों की छुट्टियों में हम या प्रोफेसर और विद्यार्थी घूमने को निकलते हैं। कोई यों देता है तो कोई यों, नहीं तो गा-बजाकर लेते हैं। हम लोग इसमें से कुछ भी रुपया नहीं लेते, चाहे जहाँ से पावें।

हमने नार्मल वा उपदेशक क्लास खोला है और संगीत-विशारद की उपाधि भी इस वर्ष से देना चाहते हैं। बस, पंजाब में लोग हमें जान गए हैं और काम भी चलता है।

प्रतिनिधि : मैंने सुना था—आप लोग आनरेरी काम करते हैं ?

मि० पुलस्कर : नहीं, हम लोग रईस या जागीरदार तो हैं ही नहीं। अन्न-वस्त्र तो वहीं से लेना पड़ता है। हमारा आनरेरीपना समझो तो यही है कि हम कहीं नौकरी नहीं करेंगे। रजवाड़ों में हमें ३००/-, ४००/- मासिक मिल सकता है। कई प्रोफेसर भी १५०/-, २००/- पा सकते हैं।

प्रतिनिधि : तो आपका मिशन क्या है ? और अभी तक पंजाब में आपको क्या करना है ? क्या आपका संगीत की युनिवर्सिटी खोलने का भी विचार है ?

मि० पुलस्कर : मिशन दो प्रकार के होते हैं। मिसरी का मिशन और कड़वा मिशन। हमारा मिसरी का मिशन है। जो एक दफा जान जाएगा वह अवश्य हाथ बढ़ाएगा। जब वेश्या, म्लेच्छ आदि के साथ मिसरी कुपथ्य थी तभी लोगों ने उसे न छोड़ा, तो यह तो सुपथ्य है। लोग चाहे कुछ कहें पर उनके कान नहीं मानते, वे उन्हें खेंच ही लाते हैं। पंजाब में गाँव-गाँव में हमारे शिष्य हैं और वहां-वहां उनने हमारे क्रम से, हमारी पुस्तक से पढ़ना शुरू किया है। हमारे साथी ही जाकर परीक्षा लेते हैं। जलंधर, होश्यारपुर में इस बात में सफलता हुई है। हमें बड़ी भारी आवश्यकता एक बड़ा मकान बनाने की है। फिर परमेश्वर की कृपा और लोगों की सहायता से स्थान-स्थान में संगीत पाठशाला बनकर हमारे विद्यालय से सम्बद्ध हो जाएं, इसमें क्या कठिनता है ? हमारा उद्देश्य यह है कि ब्राह्मण जाति इस विद्या से घृणा न करे जिससे उसमें इस सुकुमार और मनोहर विद्या का प्रचार हो और भारतवर्ष का पुराना गौरव लौट आवे। सम्भव है कि अभ्यास से 'मल्लार' से मेघ आना और 'दीपक' से दीपक का जलना प्रभृति—

प्रतिनिधि : क्या इनकी इस शक्ति में आपका विश्वास है ?

मि० पुलस्कर : भगवद्भजन में सब शक्ति है। उन शक्तियों के जानने से देश का दुःख दूर हो जाएगा।

प्रतिनिधि : पंजाबियों की संगीत की योग्यता के विषय में आपका क्या मत है ? क्या उनका मस्तिष्क और जातियों की अपेक्षा अधिक अनुकूल है। सुना है—बंगालियों ने अन्तःपुर और बाहर संगीत का अच्छा प्रचार किया है ?

मि० पुलस्कर : पंजाबियों में कई शताब्दियों से संगीत के संस्कार दूर हो गए हैं, तो

भी परिश्रम से वे और जातियों से अच्छे हो जा सकते हैं। बंगदेश में मैं स्वयं कभी गया नहीं, परन्तु यह कह सकता हूं कि हमें बंगालियों ने कभी जेब से सहायता नहीं दी है।

प्रतिनिधि : अच्छा, जाने दीजिए, परन्तु 'भूखे पेट भजन नहिं होई' देश कंगाल है। इसमें शिल्प या राजनैतिक आन्दोलन को ही समय नहीं मिलता और न रुपया। ऐसे समय में विश्राम के कार्य संगीत को इतना ध्यान देना लोगों को रुचता है?

मि० पुलस्कर : जो भक्त हैं, भावुक हैं, सहृदय हैं, वे आटे में नमक और रुपये में पैसा हमें ही देते हैं। जो नहीं हैं, वे या तो रुपया गाड़ छोड़ते हैं या दुर्व्यसनों में डालकर भी देश की दीनता की दुहाई दिया करते हैं। संगीत से प्रसन्न होकर भगवान् सब कुछ दे देंगे। कई दुर्व्यसनी बालक हमारे यहां रह कर उत्तम चरित्र के बन गए हैं। रही राजनीति, सो कभी आजमा देखिए। आपके व्याख्यान का अधिक प्रभाव होता है या हमारे तानारीरी के एक जातीय गीत का। 'सर्वारम्भास्तण्डुलप्रस्थमूलाः।' यदि हमारे विद्यालय की पुस्तकों का एक-एक सैट भी प्रत्येक भद्र पुरुष ले ले तो कल हम स्वयं-भर (Self Supporting) हो जाएं।

प्रतिनिधि : राजपूताना के दौरे में आप दरबारों से मिलकर यह प्रबन्ध क्यों नहीं करते कि उनके गुणीजन खाने या स्तुति पाठकों में आपके उत्तीर्ण परीक्षा-छात्र रहें जिससे निरर्थक और उत्पात की गजलों से तो देश बचे। मंदिरों में भी, 'दिलदार यार प्यारे' की जगह आपके यहां के जातीय गीत और भजन गवाए जायं न?

मि० पुलस्कर : हां, यह बहुत अच्छा होगा। कृष्णगढ़ महाराज ने दो विद्यार्थी मेरे यहां भेजने का वचन दिया है। मीराज और मधोल राज्य ने भी विद्यार्थी भेजे हैं। परन्तु राजपूताना के दरबार इतने दुर्भेद्य हैं कि उन तक मेरी गति ही नहीं होती। अब मैं उदयपुर जाऊंगा और ता० १६ अक्टोबर को विद्यालय खुलेगा। तब तक जो हो जाए, सो हो जाए।

प्रतिनिधि : अब के काशी में राष्ट्रीय महासभा होने वाली है। क्या आप वहां जातीय गीतों में पुरुष और रमणियों से गान का प्रबन्ध नहीं करायंगे?

मि० पुलस्कर : कांग्रेस के कार्यकर्त्ताओं से हम समय और स्थान मांगेंगे और यदि अनुकूल हुआ तो एक या अधिक प्रोफेसर और विद्यार्थी वहाँ भेजेंगे। रमणियों का तो—।

प्रतिनिधि : क्यों? क्या देश की दुर्दशा में पुरुष लगे रहें और गृहलक्ष्मियें दाक्षि-

णात्य और बंगदेश की रमणियों की तरह इस सरस्वती की वीणा को न उठावें ?

मि० पुलस्कर : नहीं, 'जालंधर कन्या महाविद्यालय' में हमारे ही क्रम से शिक्षा दी जाती है । मैं भी यही चाहता हूँ कि गृहलक्ष्मियां इस सुकुमार शिल्प को ले लें । बंगदेश में तो मैं भी कभी गया नहीं, पर इधर अभी यह बात दूर है।

प्रतिनिधि : थियसोफी से आपका क्या सम्बन्ध है ? उसके विषय में आपका क्या मत है ?

मि० पुलस्कर : मुझे अपने काम से फुरसत नहीं मिलती। मैं यही चाहता हूं कि इसी में ४८ वा ७२ घण्टे का अहोरात्र हो जाए। सब बातों में जो अपने अनुकूल अंश हो वह मनुष्य ने ले लेना, और हमें किसी से कुछ वास्ता नहीं । न उनके महात्माओं से हमारा काम है ।

प्रतिनिधि : पंजाब में हिंदू-मुसलमान और हिंदू-सिक्खों के झगड़े का क्या आपके विद्यालय पर कुछ प्रभाव पड़ा है ?

मि० पुलस्कर : नहीं, प्रायः ७५ उच्चकुलों के मुसलमान हमारे यहां से पढ़ गए हैं। परन्तु वे पूरा नहीं सीखते। कुछ कम ही सीखकर चल देते हैं। इसका कारण यह है कि हम गजलें तो सिखाते नहीं और 'गाइए गणपति जगवंदन' घर जाकर बोलने में उन्हें शर्म आती है। परन्तु मैंने कहा न, कान हमारे यहां बिना आए नहीं मानते। सिक्ख भी हमारे यहां पढ़ते हैं परंतु उनका और हिन्दुओं का झगड़ा मिटने वाला नहीं है क्योंकि उसमें राजनैनिक अभिसंधि है। हां, आजकल बंगाल में जो स्वदेशी आन्दोलन चला है शायद इससे कुछ वर्षों में यह मिट जाय ।

प्रतिनिधि : स्वदेशी आन्दोलन ! आपका काम भी स्वदेशी है !

मि० पुलस्कर : हां, हार्मोनियम को लोग सबसे सरल और उपयोगी समझते हैं। परन्तु तुम्बुरु ठीक है। अजी, हम तो शहनाई प्रभृति को मिला-जुलाकर खासा बैण्ड बना दें, पर करें क्या ?

प्रतिनिधि : क्या आपको आशा है, पंजाब में हिंदी चल जायगी ?

मि० पुलस्कर : सरकार कचहरियों में न करै तो दूसरी बात है। नहीं तो साधारण व्यवहार में एक दिन उर्दू को हिंदी निकाल देगी। हमारी हिंदी पुस्तकों का द्वितीय संस्करण होता आया परन्तु उर्दू बिकती नहीं ।

प्रतिनिधि : अच्छा, कोई नया जातीय गीत तो लिखाइए—'सारे जहां से अच्छा हिन्दोस्तां हमारा' तो मैंने सुना है ।

मि० पुलस्कर : वह नहीं, यह नया लीजिए। इसका नोटेशन संगीतामृत-प्रवाह की नवम संख्या में छपा है—

राग खम्माज

भारत हमारा देश है हित उसका निश्चय चाहेंगे।
और उसके हित के वासते, हम कुछ न कुछ कर जायंगे ।।
भारत की दु:खप्रद अवनति पर, क्यों न अश्रु बहायंगे।
और उसके मिटाने के लिए हम कुछ-न-कुछ कर जायंगे ।।
भारत हमारी मातृभूमि उसका ऋण हम पर बहुत।
उसके शोधन के लिए हम कुछ न कुछ कर जायगे ।।
धन-विद्या और धर्म से उन्नति भारत की हो।
इस उन्नति के मार्ग में हम कुछ न कुछ कर जायंगे ।।

[प्रथम प्रकाशन : समालोचक : सितम्बर १९०५]

वैदिक और पौराणिक साहित्य

वेद में पृथिवि की गति

प्राचीन काल में भी भारत के वैदिक आचार्यों को 'पृथिवी चलती है' यह ज्ञात था। इस बात को पण्डित विधुशेखर शास्त्री ने आग्रहायण की 'भारती' में सिद्ध किया है। शास्त्री महाशय के लेख की भूलें सुधार, उसका तात्पर्यानुवाद यहां देकर, हम इस विषय पर कुछ और भी लिखते हैं।

वेद में पृथ्वी के इतने नाम हैं—गो, ग्मा, ज्मा, क्ष्मा, क्षा, क्षमा, क्षोणि, क्षिति, अवनि, रिप, गातु और निर्ऋति। 'ऋग्वेद' ही में ये शब्द कई दफा आए हैं। और भी पृथ्वी के कई नाम हैं, किन्तु इस विषय के अनुकूल वा प्रतिकूल न होने से उन पर विचार नहीं किया जाता। इन सब शब्दों की पर्य्यालोचना करने से जाना जाता है कि 'पृथिवी की गति है' ऐसा मानने ही से ये सब शब्द 'पृथिवी' के वाचक हैं।

'गो' शब्द पृथिवी का नाम कैसे है ? इसके उत्तर में आचार्य यास्क कहते हैं—"गोरिति पृथिव्या नामधेयं भवति, यद् दूरं गता भवति, यच्चास्यां भूतानि गच्छन्ति, गतिर्वोकारो नामकरणः" (निरुक्त २.२.१) 'गो' पृथिवी का नाम है क्योंकि[1] यह दूर जाती है; क्योंकि इसमें सब जीव जाते वा चलते हैं। गाम् वा गा धातु से नाम दिखाने को 'ओ' प्रत्यय किया गया। शाकटायन उणादि मूल में लिखते हैं—'गवेर्डोसु' यास्क कृत प्रथम निर्वचन से (यह दूर पथ में गमन करती है इससे 'गो' कहलाई) स्पष्ट सिद्ध है कि वैदिक आचार्यों को पृथिवी की गति है यह ज्ञान था।[2]

'ग्मा' यह पद भी गम् धातु से बना है। 'गमति' अर्थात् 'गम्' धातु का अर्थ गति है, क्योंकि निरुक्त में लिखा है—"जमति गमति···गति कर्माणः।" (२.१४) अतएव गो पद की ज्यों व्युत्पत्ति है, ग्मा पद की भी वही है।

जो गमन दूर करे, वा जिसमें जीव विचरण करें, वही ग्मा (पृथिवी) हुई। आचार्य माधव ने भी कहा है—"ग्मा गच्छतेः गच्छन्तीहीयम्" ग्मा गम् धातु से बना

१. यस्माद् इयं दूरं अध्वानं प्रति गता भवति इति (टीकाकार दुर्गाचार्य)
२. कुछ लोग यास्क को निघण्टु और निरुक्त दोनों का कर्ता मानते हैं, और अधिक लोग उन्हें बहुत काल से प्रचलित 'निघण्टु' का भाष्यकार मानते हैं। उनका बनाया भाष्य 'निरुक्त' नाम से प्रचलित है। निघण्टु में किस वस्तु का क्या नाम है, किस धातु का क्या अर्थ है, यह दिखाने को शब्दपाठ मात्र ही है। भगवान् यास्क ने उस शब्दपाठ के कठिन-कठिन शब्दों के धातु प्रत्यय बताकर, वेद में उन शब्दों के उस अर्थ के प्रयोग में प्रमाण दिखाकर विस्तार किया है। स्कन्दस्वामी दुर्गाचार्य प्रभृति

(क्रमशः)

है, क्योंकि यह पृथिवी गमनशीला है।[१]

ने यास्कीय भाष्य की व्याख्या की है। देवराज प्रभृति ने निघण्टु में लिखित सभी शब्दों का संक्षेप से विवरण किया है। यह सब यास्क से बहुत ही पीछे हुए हैं। व्याख्या करने बैठकर ये यास्कमत का तो उल्लंघन कर ही नहीं सकते थे, केवल उसे बोलने की ही चेष्टा करते थे। उनकी ऐसी चेष्टा से यास्क का सिद्धान्त कई जगह बिगड़ गया है। इस 'गो' शब्द के निर्वचन में ही इसका प्रमाण पाया जाता है। यास्काचार्य ने तो कहा है—"दूर गमन करती है इससे पृथिवी 'गो' कहलाई।" स्कन्दस्वामी इस बात को स्वीकार करना नहीं चाहते, इससे कहते हैं कि पृथिवी में वस्तुत: गति नहीं है, किन्तु जैसे आत्मा, आकाश प्रभृति दूर देश में भी पाए जाते हैं पृथिवी भी वैसे पाई जाती है, इससे ही आचार्य ने उसमें गति की कल्पना की है (दूरं गता भवति, आत्माकाया द्विवटद्वेप्युपलब्धेर्गतिक्रियाव्यवहार:)

देवराज ने स्कन्दस्वामी की हां में हां मिलाकर इस बात को और भी स्पष्ट किया है, इस बात को दिखाने की आवश्यकता नहीं। किन्तु इसी सम्बन्ध में उसने एक और बात कही है, उसका उल्लेख करना चाहिए। पृथिवी की गति का विचार करके (सम्भव है कि इससे उन्हें सन्तोष न हुआ हो) उनने लिखा है कि गा धातु से ओ प्रत्यय करने से गो पद होता है तो, किन्तु उस गा धातु का अर्थ गति नहीं है, स्तुति है। अतएव पृथिवी का स्तव होता है, अथवा पृथिवी पर बैठकर स्तव होता है, इससे पृथिवी 'गो' कहलाई। गातेर्वास्तुत्यर्थस्य गीयते स्तूयते असो इति गायन्ति वा धर्म्या स्थिता इति गो:) यह व्याख्या कहां तक ठीक है, पाठक विचारें। वेद में गाति या गा धातु का अर्थ गति है। निघण्टु में यह बात स्पष्ट लिखी है—"चतति, अतति, गाति,—द्वाविंशशते गति कर्माण:" (२.१४) उदाहरण भी देख लीजिए "निर्यत्यूतेव स्वधिति: शुचिगात् (ऋक् ८.३.९.) गा, वा, गाति धातु का अर्थ स्तुति वेद में कहीं भी नहीं पाया जाता। "गायति" वा 'गे" में धातु का अर्थ अर्चना पाया जाता है (गायन्ति त्वागायत्रिणा: ऋक् १.१.१.९१ निघण्टु ३.१४) गोपद के निर्वचन में यास्क ने 'गाति' कहा है 'गायाति' नहीं। और आचार्य यास्क यदि जुहोत्यादि गणीयस्तुत्यर्थक 'गा' धातु का (उदा-देवान्-जिगाति सुत्रयु:) उल्लेख करते तो उनका "अथापि पशुनमिह भवति एतस्मादेव" (इस धातु से इस ही अर्थ में बना गो पद पशु का भी वाचक है) यह वाक्य कैसे संगत होता? पशुवाचक गो शब्द गत्यर्थक धातु से बना है। इस बात को तो कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता। वैदिक शब्दों के निर्वचन में यथा सम्भव वैदिक धात्वर्थ ही देना उचित है। देवराज ने बहुत जगह इस नियम का अनुसरण नहीं किया है। और कई शब्दों में भी यही गड़बड़ है। कौतूहली पाठक स्वयं इस बात को देख लेंगे। "गाङ्गतो" से भी 'गो' बनाया जा सकता है।

स्कन्दस्वामि और देवराज की व्याख्या से समझा जा सकता है कि यास्क के समय में पृथिवी चलती है यह स्वीकृत होने पर भी इन दोनों के समय में इस बात पर बड़ी आपत्ति उठ खड़ी हुई थी। ऐसा होता ही आया है। आर्यभट ने पृथिवी का चलना सिद्ध कर दिया था, किन्तु पीछे के सिद्धान्तकारों ने यह बात न मानी। योरोप में भी कलम्बस के समय तक खूब विवाद रहा। यहां तक कि गैलीलियो को "पृथिवी चलती है" यह कहने के प्रायश्चित में अपनी आँखें देनी पड़ीं।

१. यह माधव सायण माधव से प्राचीन है, विवरण ग्रंथकारविदभाष्यकर्ता माधव भट्ट और श्री वेङ्कटाचार्य पुत्र भाष्यटीकाकार माधव, इन दोनों में से कोई है।

ज्मा पद जम वा जमति धातु से बना है। वेद में 'जमति' का अर्थ भी गमन है (निघण्टु ३·१४, निरुक्त ३·१६) व्युत्पत्ति पूर्ववत्। गत्यर्थक धातु होने ही से अर्थ निर्वचन प्रणाली 'गो' पद की ऐसी समझ लेनी चाहिए।[1]

क्ष्मा, क्षा, क्षमा, क्षोणि, क्षिति ये पद गत्यर्थक क्षि धातु से सिद्ध किए जा सकते हैं।[2]

'अवनि' अवति वा अव् धातु से बना है। अव् धातु निघण्टु में गत्यर्थ धातुओं में पठित है।[3]

'रिप' गत्यर्थक रेप्ट धातु से उत्पन्न है।

'गातु' गम् धातु से बना है।

निर्ऋति पद के दो अर्थ हैं, पृथ्वी और कष्टप्राप्ति। आचार्य यास्क ने कहा है—'निर्ऋतिः निरमनात् ऋच्छतेः कष्टप्राप्तिखरा।' सब जीवों को आराम देती है इससे पृथिवी निर्ऋति (नि+रम्+क्तिन्) कहाई। कष्टप्राप्तिवाचक निर्ऋति निर् पूर्वक ऋ धातु से बना है। आचार्य यास्क के निर्वचन से पाया जाता है कि निर्ऋति नि+ॠ धातु से उत्पन्न है। निघण्टु में 'ऋ' धातु गत्यर्थों में पढ़ा है। अतएव पृथिवी के अन्यान्य नामों की तरह निर्ऋति पद की भी 'नि+ॠ+क्तिन्' (कर्तृवाच्य वा अधिकरण-वाच्य) व्युत्पत्ति करने में कोई असङ्गति नहीं कही जा सकती।[4]

इस विषय की आलोचना करने से प्रतीत होता है कि बहुत पहले भी पृथिवी की गति भारतीय आचार्यों को खूब विदित थी, नहीं तो वे एक गति क्रिया से पृथिवी के इतने नाम न करते।

---

१. देवराज ने यहां जमू अदने, जनी प्रादुर्भाते इत्यादि और कई धातुओं से जमा पद सिद्ध करके धात्वनुसार अर्थ किया है।

२. देवराज हिंसार्थक क्षि, क्षयार्थक क्षि और सहनार्थक क्षम प्रभृति धातुओं से इन पदों का साधन करके भी गत्यर्थक क्षि धातु का परित्याग न कर सके।

३. देवराज अव् धातु से अवनी बना है—यह तो मानते हैं किन्तु धातुपाठ प्रभृति के आधार पर अव् धातु के गति, तृप्ति प्रभृति १८ अर्थ कल्पना करके तदनुसार ही अर्थ करते हैं।

४. मालूम होता है, स्कन्दस्वामी पृथिवी की गति मानने वालों के अत्यन्त विरुद्ध थे। इसीसे उनने यास्क के "निर्ऋति निरमनात्" इस वाक्य की व्याख्या करती बेर लिखा है कि "निरमनात् निश्चलत्वेन अवस्थानात् इत्यर्थः।' निरमन का "निश्चल रूप से ठहरना" यह अर्थ क्या कष्टकल्पित नहीं है? देवराज भी स्कन्दस्वामी की हां में हां मिलाते हुए कहते हैं—"निर्निश्चलत्वमाह न अवस्थानम्" (नि उपसर्ग पृथिवी के निश्चलत्व को बताता है, चञ्चलत्व को नहीं)। यहां वैयाकरणों के अर्थ को लेकर देवराज कहते हैं निर्+ऋ+क्तिन=निर्ऋति इसका अर्थ निश्चलवत् अवतिष्ठते निश्चल की तरह ठहरी है। तो क्या इससे यह ध्वनि नहीं निकलती है कि पृथिवी निश्चल की तरह है तो किन्तु वास्तव में निश्चल नहीं है।

आचार्य यास्क के लेख से मालूम होता है कि उनके समय[1] में भी पृथिवी की गति के बारे में कोई विप्रतिपत्ति न थी। उनके पीछे सन्देह की उत्पत्ति हुई। इसीलिए उनके परवर्ती स्कन्दस्वामी को 'यद् दूरं गता भवति' इस (यास्क के) वाक्य पर आस्था न रखकर नाना रूप कष्ट कल्पना करनी पड़ीं। यास्कभाष्य के अन्यतम टीकाकार दुर्गाचार्य ने तो इस वाक्य का यथाश्रुत अर्थ ही किया है। स्कन्दस्वामी प्रभृति व्याख्याकारों ने यास्क के द्वितीय निर्वचन पर ही जोर देकर (यञ्चास्यां भूतानि गच्छन्ति) अन्यान्य नाम निर्वचनों का अर्थ किया है। (सायणाचार्य भी इस ही अर्थ पर चले हैं)। उनने 'अधात्मो अथवा दिवो वहतो' (ऋक् ८.१.१८) इसकी व्याख्या में पृथिवीवाची ज्मा शब्द की व्युत्पत्ति 'जमन्ति गच्छन्ति अस्याम् इति जमा' यों लिखी है। उन्हें 'जमति गच्छतीतिजमा' कहने का साहस न हुआ। यास्क के बहुत पीछे होने पर भी आचार्य माधव ने स्पष्ट ही लिखा है कि पृथिवी चलती है (ग्म गच्छतेर्गच्छन्ती हीयम्)यह पहले दिखा चुके हैं। 'गच्छतीति जगत्' यह जगत् की व्युत्पत्ति बहुत प्रसिद्ध जान पड़ती है।

अर्वाचीन संस्कृत कोशों में पृथिवी के नामों में **अचला** और **स्थिरा** भी मिलते हैं। पृथिवी नहीं चलती है, स्थिर है यही मानकर ये नाम हुए हैं सही, किन्तु वैदिक अभिधान निघण्टु में इन दोनों शब्दों का गन्ध भी नहीं है। इन दोनों शब्दों वाला कोई वैदिक वचन भी अब तक नहीं पाया गया होता तो निघण्टु वा यास्कीय निरुक्त में कहीं तो मिलता। इससे ही बोध होता है कि वेद से बहुत काल पीछे, पृथिवी को स्थिर कहने वालों ने, गो प्रभृति पृथिवी के गतिमत्व के प्रतिपादक नामों के बदले बिल्कुल विपरीत ये दो नाम कल्पित कर लिए।

गो ग्मा, ज्या प्रभृति पृथिवीवाची शब्द जो ऊपर लिखे गए हैं, वे सब ही ऋग्वेद में पाए जाते हैं।[2] आधुनिक प्राच्य और प्रतीच्य दोनों तरह ही विद्वान् ऋग्वेद को पृथिवी में सबसे प्राचीन ग्रंथ मानते हैं। हम ब्राह्मण पण्डितों के मत में तो वेद मात्र ही अनादि हैं। पाठक विवेचना करके देखें, पुराकाल में भारतवर्ष के वैदिक आचार्यों को पृथिवी की गति का ज्ञान था वा नहीं?

केवल यही नहीं, वेद में और भी कई प्रमाण पृथिवी की गति के हैं।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : जनवरी-अप्रैल, १९०५ ई०]

---

१. यास्क पाणिनि से बहुत प्राचीन हैं। आचार्य गोलुष्टुका का अनुसरण करते-करते पंडित सत्यव्रत सामश्रमि ने यास्क को ईसा से पूर्व १४वीं वा १५वीं शताब्दी के अन्धकार में पाया है।

२. मैक्समूलर के संस्कृत ऋग्वेद की शब्दसूची पढ़ने से जान पड़ेगा कि कौन-कौन शब्द कितनी-कितनी बार आया है।

वाजपेय

असुर लोग इसी अभिमान के मारे, कि हम किसके लिए होम करें, अपने मुख में होम करते गए (=अपने इंद्रियों की उपासना में लगे रहे); इसी अभिमान के कारण वे हार गए। देवता आपस में एक दूसरे के लिए होम करते रहे; इसलिए दोनों देवासुरों के पिता प्रजापति ने प्रसन्न होकर उन्हें यज्ञ दिया। इस पर उनमें आपस में "मैं लूं"—"मैं लूं" मची। अंत को उन्होंने सोचा कि "दौड़ दौड़ें, जो जीते वही पावे।" सविता की प्रेरणा से बृहस्पति जीता। उसने सब कुछ पाया। और इंद्र ने भी। इसीलिए यह ब्राह्मण-क्षत्रिय दोनों का यज्ञ है। वाजपेय का शब्दार्थ 'बल का पीना', 'अन्न का पीना' व 'जीत का पीना' है। शरद ऋतु में ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय यह याग कर सकता है।

वस्तुतः राजसूय राजा ही के लिए है, क्योंकि उससे राजा बनता है और ब्राह्मण राज्य के योग्य नहीं। राजसूय नीचा है, क्योंकि उसे करने से राजा होता है; वाजपेय ऊँचा, क्योंकि उसे करने से सम्राट् हो जाता है। अवश्य ही राजा छोटा है क्योंकि राजा सम्राट् होना चाहता है; सम्राट् बड़ा है क्योंकि सम्राट् राजा होना नहीं चाहता। इसलिये कात्यायन कहता है कि जिस राजा ने वाजपेय न किया हो वह राजसूय करे, परन्तु आश्वलायन कहता है कि राजा वाजपेय करके राजसूय करे और ब्राह्मण वाजपेय करके बृहस्पतिसव करे। कृष्ण यजु में वाजपेय को 'सम्राट्सव' और राजसूय को 'वरुणसव' कहा है। लाट्यायन श्रौतसूत्र में लिखा है कि जिसे ब्राह्मण या राजा मिलकर अपना प्रधान (मुख्य) चुनें उसे वाजपेय करना चाहिए।

वाजपेय सोमयाग के सात प्रकारों में एक हैं; बहुत-सी बातें इसमें सोमयाग के समान हैं। पहले कई पक्षों तक सोम, ज्योतिष्टोम, पृष्ट्य आदि यज्ञ होते रहते हैं। उनका यहां वर्णन करना आवश्यक नहीं। विशेष यह है कि जहां पर सोम बेचनेवाले से सोम खरीदा जाता है वहां पर बालोंवाले पुरुष (केशव=षंढ) से परिस्रुत नाम की सुरा भी सीसे के बदले में खरीदी जाती है। अध्वर्यु सत्रह कटोरे सोम के और नेष्टा (एक यज्ञ करानेवाला) सत्रह कटोरे सुरा के प्रजापति देवता के लिए लेता है। पहले उनको छुआते हैं, फिर बिलगाते हैं। यों करने से जैसे मूंज में से तूली पृथक् हो जाती है वैसे यजमान पाप से छूट जाता है।

"यदि वाजपेय से सब कुछ मिल जाता है तो पाने को क्या बाकी रहा; इससे तो यजमान की प्रजा (संतान) दुःखी होगी, क्योंकि उसे कुछ करने को न रहेगा" ऐसा तर्क नहीं करना चाहिए।

वाजपेय के पाँच कटोरे सोम के लिए जाते हैं और उन्हें चढ़ाया जाता है।

नीवार (=मोटे चावल) का पाक बृहस्पति के लिए होता है। उसके होम के पीछे गौ, वस्त्र, बकरी, भेड़ आदि सत्रह-सत्रह देने होते हैं और सत्रह-सत्रह दासियाँ भी, जिनके गले में चार-चार (तोले ?) सोने के गहने (निष्क) हों। हाथी, लादे के पशु, बड़ी गाड़ियां, यहां तक कि जो कुछ दिया जाय सब की संख्या १७।१७ होनी चाहिए।

इसके पीछे मध्याह्न में रथों की दौड़ नामक विचित्र कार्य होता है जो इस यज्ञ का प्रधान काम है।

अध्वर्यु "तू इंद्र का वज्र है, तू धन का जीतनेवाला है, तुझसे यह यजमान धन पावे" यों कह कर रथ को अपनी जगह से उतारता है और जूड़ा पकड़कर प्रदक्षिण घुमाता हुआ उने चात्वाल (खड्डे) के दक्षिण की ओर वेदि के पास यह कहता हुआ रखता है कि "धन पाने में हम बलवती माननीय माता अदिति को वचनों से सराहते हैं जिस पर यह सारा भुवन स्थित है। उसी पर सविता देव हमारे दृढ़ रहने को बढ़ती दे।" पानी पीने जाते हुए या पीकर लौटते हुए घोड़ों को इस मंत्र से छींटता है कि "जल में अमृत है, जल में दवा है, जल की प्रशंसा से ऐ तुम घोड़ो ! वेगवान् और बलवान् बन जाओ। ऐ दिव्य जल, जो तुम्हारी ऊँची शिखरोंवाली, धन देनेवाली, तेजी से आगे बढ़नेवाली लहर है उससे यह (यजमान) धन पावे।" पहले दहनी ओर के घोड़े को यह कहकर रथ में जोड़ता है कि "वायु या मन या सत्ताईस गंधर्व (=नक्षत्र) थे जिनने पहले पहल घोड़े को जोड़ा और उसमें वेग धरा।" बाएं घोड़े को यों जोड़ता है—"घोड़े ! जुड़कर वायु के समान वेगवाला हो जा, इंद्र के दहने घोड़े की तरह अपनी श्री से हो जा, सब कुछ जाननेवाले मरुत् तुझे जोड़ें, त्वष्टा तेरे पैरों में वेग रखे।" दहनी ओर एक अधिक घोड़ा जोड़े—"हे वाजिन् ! जो तेरा वेग गुहा में छिपा रखा है, जो बाज में रखा जाकर वायु में मंडलाता है, हे दौड़नेवाले ! उसी बल से हमारे लिए बलवान् धन जीतनेवाला और युद्ध में (अथवा देवों के इकट्ठे होने में) पार पहुंचानेवाला हो।" पीछे-पीछे एक चौथा घोड़ा बिना जोता हुआ कवि को (लगाम) पल्याण (काठी) आदि आवश्यक चीजें लेकर चलता है। यहां बृहस्पति के लिए एक सत्रह थालियों में नीवार का पाक बनाकर अब अध्वर्यु अश्वों को बृहस्पति के यज्ञ का भाग सुँघाता है—"दौड़ की बाजी जीतने को चलनेवाले, धन जीतनेवाले, दौड़ की राह पर अब चलनेवाले घोड़े ! बृहस्पति का भाग सूंघ ले।"

पीछे, वेदि के बाहर, सोलह चौकड़ी के रथ बिना मंत्र के जोते जाते हैं।

आग्नीध्र के पश्चिम को, वेदि के सहारे, ऊंची खूंटियों पर १७ नगारे रखे जाते हैं।

चात्वाल (खड्डे) और अवकर (कचरे की ढेर) के बीच में उत्तर की ओर राजन्य खैंचकर तीर मारे। जहां वह जाकर पड़े वहाँ से फिर तीर चलावे। यों सत्रह तीरों की फेंक (मार) की दूरी नापकर अंतिम स्थान में उदुंबर की शाखा गाड़ी जाय। यह दौड़ का रास्ता होगा और यह शाखा पहुंचने की जगह (गोल)।

अपनी नाभि तक ऊँची लकड़ी के खंभे पर अटके हुए रथ-चक्र पर ब्रह्मा यह कहकर चढ़ता है कि "सत्य प्रेरणा करनेवाले देव सविता की प्रेरणा से मैं बृहस्पति के सर्वोत्तम स्वर्ग को चढ़ जाऊं।" यदि यजमान क्षत्रिय हो तो इस मंत्र में बृहस्पति के स्थान में 'इंद्र' कहना चाहिए। ब्रह्मा वहीं खड़ा रहता है, क्योंकि उसका काम यह देखने का है कि काम ठीक-ठीक हुआ या नहीं।

यजमान "सच्चे चलानेवाले देव सविता की प्रेरणा से, दौड़ों को जीतनेवाले

बृहस्पति की बाजी को मैं जीतूं" यह कहकर रथ पर चढ़े। उसी रथ पर, जिसके घोड़े मंत्र पढ़ कर जोते गए थे, चुपचाप अध्वर्यु का ब्रह्मचारी वा विद्यार्थी भी पीछे मंत्र बँचवाने के लिए चढ़ जाय। एक रथ में राजन्य वा वैश्य सुरा का पात्र पकड़े रहने को बैठ जाय। बाकी रथों में और लोग बिना मंत्र बैठ जायँ। अब सब रथ होड़ाहोड़ी से बहुत तेज लक्ष्य की ओर चलते हैं। इस समय यजमान कहता है—"बाजी जीतनेवाले, धन जीतनेवाले, मार्गों को व्याप्त करनेवाले और पड़ावों को नापने (बाँटने) वाले घोड़ो! जीतने के स्थान (काष्ठा) की ओर चलो।"

अब रथ-चक्र घुमाया जाता है और ऊपर बैठे-बैठे ब्रह्मा वाजि-साम गाता है कि "अग्निमय घोड़ों ने सवितादेव की प्रेरणा पाकर तेज पाया है। दौड़नेवालो, तुम स्वर्ग को जीतो।"

रखे हुए नगारों में से एक को "बृहस्पते! बाजी जीतो, बृहस्पति के लिए अपने शब्द उठाओ, बृहस्पति को बाजी जिताओ" कह कर बजाया जाता है। बाकी बिना मंत्र बजाए जाते हैं। यदि यजमान क्षत्रिय हो तो 'बृहस्पति' के स्थान में 'इंद्र' कहना चाहिए।

जब दौड़ हो रही हो तब इन पांच मंत्रों से होम करे या घोड़ों को संबोधन करे—

"गले में, बगलों में, और मुँह में बँधा हुआ भी यह वेगवान् घोड़ा चाबुक पर नई तेजी दिखाता है; सामर्थ्य के अनुसार खेंच कर दधिक्रा जीते! रास्ते के चक्करों में बढ़ा जा रहा है। स्वाहा!" ॥१॥

"अपने लक्ष्य की ओर उड़ जानेवाले पक्षी की तरह इस तेज चलनेवाले, दौड़नेवाले, हवा में झपटते हुए बाज के समान दधिक्रा की बगलें, जैसे कि वह बल के साथ चढ़ता जाता है, पंखा झलती हैं। स्वाहा!" ॥२॥

"हमारे यज्ञ में बुलाने पर, मधुरी-मधुरी चाल चलनेवाले, अच्छे स्वरवाले अश्व हमें देवसभा में शुभकारक हों। साँप, भेड़ियों और राक्षसों को निगल जाते हुए हमारे सब दुःखों को निकाल बाहर करें।" ॥३॥

"बलवान्, प्रार्थना सुननेवाले, वेगवान्, तुली हुई चाल से चलनेवाले वे सब अश्व हमारी प्रार्थना सुनें—वे सहस्रों जीतनेवाले, जहां यज्ञ-भाग मिले वहां जीतने के उत्सुक, जिनने दौड़ों में बहुत धन पाया है" ॥४॥

"ऋत (सत्यधर्म) को खूब जाननेवाले, पंडित, अमर अश्वो! प्रत्येक धन लानेवाली बाजी में हमें रक्षा (सहायता) करो। इस मधु को पिओ, तृप्त हो, प्रसन्न हो; तृप्त होकर देवताओं के जाने के मार्गों से जाओ" ॥५॥

इस दौड़ में याग करनेवाला ही सबसे आगे बढ़कर रहता है, मानो इस दौड़ में जीतना—तीन घोड़ों के रथ से चौकड़ीवालों का हारना—ही उसे आगे के कर्मों के योग्य बनाता है। अवश्य ही पुराने समय में यह 'सम्राट्' का पद चाहनेवाले की जांच होगी। पीछे तो यह नियम हो गया होगा कि और सब लोग जान-बूझकर पीछे रह जायँ। इंगलैंड के राज्याभिषेक में कार्लाइल एक ऐसी ही घटना का उल्लेख करता है। वहां

कवच से सज-सजाकर एक मनुष्य घोड़े पर चढ़ा हुआ आकर अपना दस्ताना फेंककर सबको चुनौती देता है कि—"कोई इस राजा को राजा बनाने का विरोधी हो तो मुझसे लड़ ले।" अवश्य ही कोई उस दस्ताने को नहीं उठाता और उठा भी ले तो कौन-सा वह हिमायती लड़ सकता है, क्योंकि उस पर कवच का भार इतना होता है कि वह घोड़े पर उठाया जाकर लादा जाता है ! परंतु पुराने काल में प्रत्येक राजा को अपने शत्रुओं को यों हांक मार कर उनसे लड़े बिना सिंहासन पर बैठने का अवसर नहीं मिलता होगा।

पहले रोपी हुई औदुंबरी शाखा की प्रदक्षिणा करके सब लौटते हैं। उन सबके आ जाने पर ब्रह्मा रथ-चक्र से यह कहता हुआ उतरता है कि—"सच्चे प्रेरणा करने-वाले देव सविता की प्रेरणा से मैं बृहस्पति के सर्वोच्च स्वर्ग को चढ़ गया हूं।" यदि यजमान क्षत्रिय हो तो 'बृहस्पति' की जगह 'इंद्र'।

जिस नगारे को मंत्र से बजाया था उसे तो नीचे लिखे मंत्र से उतारे, बाकी को पीछे चुपचाप। "आपका एक साथ मिलकर बोलना सत्य हुआ, जिससे आपने बृहस्पति को बाजी जिता दी, बृहस्पति को आपने बाजी जिता दी। वन के पतियो, अब छूट जाओ।" यदि यजमान क्षत्रिय हो तो 'बृहस्पति' के स्थान में 'इंद्र'।

यजमान रथ से उतरकर नीवार की खीर के भाँडे को यह कह कर छुए—"मुझे धन का पूरा प्रसव आवे, नाना रूपोंवाले पृथिवी और आकाश मेरे पास आवें। माता-पिता मेरे पास आवें, सोम मेरे पास अमृतत्व के साथ आवें।" मंत्र से जोड़े हुए रथ के घोड़ों को वही खीर सुँघाता है कि—"वेगवाले अश्वो ! बाजी जीत लेनेवालो, दौड़ पूरी करके शुद्ध होकर भीतर ले जाते हुए बृहस्पति के भाग को सूँघो।" अब उस रथ में चौथा घोड़ा जोता जाता है और वह रथ अध्वर्यु को दे दिया जाता है। दूसरे रथ और ऋत्विजों को।

दौड़नेवाले रथों में से एक में जो राजन्य या वैश्य बैठा था, और जो अब वेदि के उत्तर भाग में होगा, उसे अध्वर्यु और यजमान प्रधान द्वार से जाकर मधु का पात्र हाथ में देते हैं। नेष्ठा पीछे के द्वार से सुरा के कटोरे ले जाकर उससे उनके बदले में यह कहकर मधुपात्र लेता है कि—"इसके बदले तुझसे वह (सोम) मोल लेता हूं", क्योंकि सोम तो सत्य, समृद्धि और प्रकाश है और सुरा मिथ्या, दुःख और अंधकार है। वह मधुग्रह पात्र सहित ब्रह्मा को दिया जाता है, वह उसको जो चाहे सो करे, खाय, रख दे या फेंक दे।

यहां पर स्रुव से घी लेकर मंत्रों के पाठ के साथ होम होता है। ये मंत्र 'आप्ति' कहाते हैं—

मित्र के लिए स्वाहा ॥१॥
बड़े अच्छे मित्र के लिये स्वाहा ॥२॥
पीछे उत्पन्न हुए के लिये स्वाहा ॥३॥
ऋतु (कर्म के दृढ़ उद्देश्य) के लिये स्वाहा ॥४॥

वसु के लिये स्वाहा ॥५॥
दिनों के स्वामी के लिये स्वाहा ॥६॥
मुग्ध दिन (छिपे, घटते हुए) के लिये स्वाहा ॥७॥
विनाश होने वाले से उत्पन्न मुग्ध के लिये स्वाहा ॥८॥
अंत से उत्पन्न होने वाले विनाशी के लिये स्वाहा ॥६।
भुवन से उत्पन्न अन्न के लिये स्वाहा ॥१०॥
भुवन के स्वामी के लिये स्वाहा ॥११॥
सबके अधिपति के लिये स्वाहा ॥१२॥

इसके पीछे छः क्लृप्ति (संपन्न, कल्पित होना) होम होते हैं—

आयु यज्ञ से सफल (संपन्न) हो ॥१॥
प्राण यज्ञ से सफल हो ॥२॥
आँख यज्ञ से सफल हो ॥३॥
कान यज्ञ से सफल हो ॥४॥
पृष्ठ यज्ञ से सफल हो ॥५॥
यज्ञ यज्ञ से सफल हो ॥६॥

यजमान का स्वर् चढ़ना

नेष्टा यजमान की पत्नी को दीक्षा के वस्त्रों के ऊपर कुश का या रेशम का बना हुआ जांघ तक का लहँगा (चंडातक, दहर) पहना कर, अर्थात् शरीर के अपवित्र भाग को पवित्र वस्तु से ढक कर, लाता है। यजमान की बैठक के पास ही उत्तर या दक्षिण को अठपहलू, पोला, सत्रह हाथ ऊँचा यूप खड़ा किया रहता है। वह सत्रह कपड़ों से लपेटा जाता है। उसके ऊपर ही ऊपर गेहूं के आटे की एक ढँकनी रखी जाती है। पहले मनुष्य के भी बहुत बालोंवाली खाल थी, देवताओं ने उसकी खाल निकाल कर गौ पर चढ़ा दी। अतएव मनुष्य प्रजापति के समान हो गया। जैसे पशुओं में सबसे मुलायम (बिना बालों का) चमड़ा मनुष्य का है वैसे अन्नों में गेहूँ के भी मोटा तुष या छिलका नहीं होता। अतएव गेहूँ के आटे की ढँकनी मनुष्यों के राज्य की सीमा बताने को वहां लगाई जाती है। यूप के सहारे एक सीढ़ी रखी रहती है। उस पर चढ़ने के समय यजमान स्त्री को कहता है—"जाये !आ, आकाश को चढ़ें।" वह उत्तर देती—"चढ़ें"। दोनों चढ़ते हैं। जाया अपना अध है, जब तक मनुष्य उसे नहीं पाता तब तक फिर नहीं उपज सकता, अधूरा रहता है, उसे पाकर पूरा हो जाता है, फिर उत्पन्न हो सकता है। इससे यजमान चाहता है कि मैं पूरा पहुंचूं। चढ़ते समय यजमान और उसकी पत्नी कहते हैं कि—"हम प्रजापति की संतान हो गए।" ऊपर जाकर यजमान गेहूँ के आटे की ढँकनी को हाथ लगाता है कि—"हे देवो ! हमारा प्रकाश (स्वर्) को आ पहुंचे।" उससे भी अपना सिर ऊंचा उठाता है कि—"अमृत हो गए।" वहीं से चारों दिशाओं और विदिशाओं को फिर-फिरकर देखता है और कहता जाता है कि—"तुम्हारा इंद्रियबल और मनुष्यत्व हमारे में हो, तुम्हारी बुद्धि हम में हो, तुम्हारी शक्तियां हम में हों।"

अब उसकी प्रजाएँ पीपल के दोनों में ऊसर की मट्टी (खार) भर कर उसे देती हैं और वह उन्हें लेकर पृथ्वी की ओर देखकर कहता है कि—"माता धरती को प्रणाम, माता धरती को प्रणाम।" अब वह अध्वर्यु के बिछाए हुए साँड बकरे के चमड़े पर, जिस पर सोने का टुकड़ा रखा हो, या सोने की सँवारी भूमि पर, उतरता है। पहले वाजपेय-याजी कोई नहीं उतरता था, सीधा स्वर्ग को चढ़ जाता था। सबसे पहले 'औपावि जानश्रुतेय' उतरा था, तब से उतरने की चाल चली। उत्तर वेदि के पश्चिम को, आहवनीय अग्नि के पीछे, उदुंबर की लकड़ी की चौकी पर अध्वर्यु सांड बकरे का चमड़ा बिछाता है कि—"यह तेरा राज्य है।" वही यजमान का हाथ पकड़कर उस पर बिठाता है कि—"तू शासक है, तू वश में करनेवाला है, तू दृढ़ तथा स्थिर है, तुझे कृषि के लिये, तुझे शांति और सुख के लिये, तुझे धन के लिये, तुझे हमारी पुष्टि के लिये।"

यहां पर नीवार के चरु का होम होता है। उदुंबर के पात्र में पानी, दूध और सत्रह प्रकार के अन्न मिलाते हैं, या जितने अन्न याद आवें उतने। उनमें से एक निकाल कर अलग करे। यजमान उस छोड़े हुए अन्न को जब तक श्वास रहे तब तक न खाय। मनुष्य कौन है कि सब अन्न अपने लिए ले ले? प्रजापति का सब अन्न थोड़ा ही काम में आता है। इस मिले हुए पदार्थ से स्रुव से सात आहुति दे—

वाजप्रसवीय : प्राचीन काल में बल के फैलाव ने इस सोम राजा को ओषधियों और जल में आगे बढ़ाया था, हमारे लिए वे मधु से भरे हुए हों; हम राष्ट्र में अगुआ (पुरोहित) होकर जागते हुए रहें; स्वाहा ॥१॥

सम्राट् बनकर बल के फैलाव ने इस स्वर्ग और सब लोकों पर विस्तार पाया; वह जाननेवाला देना न चाहनेवाले से दिलवा देता है, वह हमें बहुत वीरों की पूरी संख्या के सहित धन दे; स्वाहा ॥२॥

अवश्य ही बल का फैलाव इन सब वर्तमान लोकों में सब ओर व्याप्त था; प्राचीन काल से राजा बल चहुं ओर घूमता है जानता हुआ, प्रजा को और हमारी पुष्टि को बढ़ाता हुआ; स्वाहा ॥३॥

रक्षा के लिए प्रार्थना के लिए सोम राजा को, अग्नि को, आदित्यों को, विष्णु को, सूर्य को, ब्रह्मा को और बृहस्पति को ग्रहण करते हैं (सहारा लेते हैं); स्वाहा ॥४॥

अर्यमा, बृहस्पति और इंद्र को दान के लिये प्रेरणा कर; वाक्, विष्णु, सरस्वती और वेगवान् सविता को; स्वाहा ॥५॥

अग्नि! हमसे यहां प्रसन्न होकर बोल, हमारी ओर अच्छे मनवाला (सुमना) हो; सहस्रों जीतनेवाले वर हमें दें, तू तो धन देनेवाला है! ॥६॥

हमें अर्यमा, पूषा, बृहस्पति धन दें; देवी वाक् भी दे; स्वाहा ॥७॥

इससे यजमान उन देवताओं को प्रसन्न करता है जिनका अभिषेक हुआ है, क्योंकि राजा वही होता है जिसे और राजा मानें, न कि वह जिसे वे न मानें।

होम करने से जो बाकी बचे उससे अध्वर्यु यजमान का अभिषेक करता है—

"प्रकाशमान सविता की प्रेरणा से अश्विनों की बांह और पूषा के हाथों से, सरस्वती वाक्

की (या सब देवताओं की) नियम करनेवाली सम्हाल में, अगुआपन में, मैं नियम के लिये तुझे सौंपता हूं। मैं बृहस्पति के साम्राज्य से तुझे, हे अमुक शर्मन् या अमुक वर्मन्, अभिषेक करता हूं।" अध्वर्यु तीन बार उच्च स्वर से कहे—"सम्राट् है यह अमुक शर्म्मा या अमुक वर्म्मा।" अभिषेक सिर के ऊपर सब ओर किया जाता है।

यहां पर सम्राट् नीचे लिखे मंत्रों का पाठ या उनसे उज्जिति (=बड़ी जीत) होम करता है—

अग्नि ने एकाक्षर (मंत्र) से प्राण जीता; मैं उसे जीतूं ॥१॥
अश्विनों ने द्वयक्षर (मंत्र) से दुपगे मनुष्य जीते; मैं उन्हें जीतूं ॥२॥
विष्णु ने तीन अक्षरवाले से तीनों लोक जीते०-०॥३॥
सोम ने चार अक्षरवाले से चार पैर वाले पशु जीते०-०॥४॥
पूषन् ने पंचाक्षर से पांच दिशाएं जीतीं०-०॥५॥
सविता ने छः अक्षरवाले से छः ऋतु जीते०-०॥६॥
मरुतों ने सप्ताक्षर से सात गँवई पशु (बैल, घोड़ा, भेड़ा, बकरा, खच्चर, गधा और मनुष्य) जीते०-०॥७॥
अष्टाक्षर से बृहस्पति ने गायत्री छंद जीता०-०॥८॥
नवाक्षर से मित्र ने त्रिवृत् स्तोम (ऋग्वेद ९।११) जीता०-०॥९॥
वरुण ने दशाक्षर से विराज जीता०-०॥१०॥
इंद्र ने एकादशाक्षर से त्रिष्टुभ् जीता०-०॥११॥
द्वादशाक्षर से सब देवों ने जगती०-०॥१२॥
वसुओं ने तेरह अक्षरोंवाले से तेरह गुना स्तोम जीता०-०॥१३॥
रुद्र ने चौदह अक्षरवाले से चौदह गुना स्तोम०-०॥१४॥
आदित्यों ने पन्द्रह अक्षरवाले से पन्द्रह गुना स्तोम०-०॥१५॥
अदिति ने सोलह अक्षरवाने से सोलह गुना स्तोम०-०॥१६॥
प्रजापति ने सत्रह अक्षरवाले से सत्रह गुने स्तोम को जीता; उसे मैं जीतूं ॥१७॥

होम का शेष अन्न जब यजमान और ऋत्विज् खा लें उसके (इड़ा) पीछे यजमान अपनी चौकसी से उतरे। यूप के लपेटे हुए वस्त्र अध्वर्यु को दे दे। यजमान उसकी पत्नी और ऋत्विज् इस यज्ञ में गले में यजमान की दी हुई सोने की मालाएं पहनते हैं। वह माला जिसने पहनी हो उसी के पास रह जाती है।

इसके अतिरिक्त इस वाजपेय यज्ञ के आदि, मध्य और अन्त में कई यज्ञ-सम्बन्धी काम, कुछ सोमयाग के-से और कुछ विशेष हैं। वे केवल याज्ञिकों ही को रोचक हो सकते हैं इसलिये यहां पर नहीं लिखे गए।

[प्रथम प्रकाशन : **मर्यादा** : दिसम्बर-जनवरी, १९११-१२ ई०]

राजसूय

यह यज्ञ केवल क्षत्रिय (राजन्य) के करने का है; वह भी ऐसा हो जिसने वाजपेय न किया हो। वाजपेय और राजसूय का सम्बन्ध पहले दिखा चुके हैं।

पहले सहस्रदक्षिण, चार दीक्षावाला 'पवित्र' नामक सोमयाग करना होता है, जिसकी दीक्षा माघ शुक्ल पूर्णिमा के पीछे के यज्ञदिन अर्थात् फाल्गुन शुक्ल १ को होती है। नवमी को उसकी पूर्णाहुति होती है।

दशमी के दिन 'अनुमति' (=देवताओं की सम्मति या एकवाक्यता) के लिए आठ कपालों (ठिकरों या मिट्टी के तवों) पर पका हुआ पुरोडाश (रोट) चढ़ाया जाता है। जब उसके लिये चावल पीसे जा रहे हों तब 'शम्या' (रथ का जूडा) के पीछे पीसने की शिला के नीचे बिछाए हुए कृष्णाजिन पर जो कुछ टपके उसे स्रुव (होम के चमचे) में ले लिया जाय। दक्षिणाग्नि से एक आग का पलीता लेकर दक्षिण की ओर चले और जहां स्वयं फटी भूमि या ऊसर मिले वहीं वह अग्नि रखकर उसमें अध्वर्यु उन टपके हुए चावलों का होम करे—"हे निर्ऋति (=मृत्यु)! यह तेरा भाग है, इसे प्रसन्न होकर ले; स्वाहा।" पीछे लौट आवे, मुड़कर न देखे। अब अनुमति का यज्ञ मामूली इष्टि की तरह होता है, उसकी दक्षिणा वस्त्र है। मैत्रायणी संहिता में निर्ऋति के यज्ञ की दक्षिणा कोने पर फटा हुआ काला कपड़ा और अनुमति की दूध देनेवाली गौ लिखी है।

एकादशी को अग्नि और विष्णु के लिये याग होता है, दक्षिणा स्वर्ण; द्वादशी को अग्नि और सोम के लिये, दक्षिणा छोड़ा हुआ बैल; त्रयोदशी को इंद्र और अग्नि के लिये; दक्षिणा रथ खेंचने वाला सांड; चतुर्दशी को नये धान का यज्ञ; दक्षिणा गौ।

फाल्गुन की पूर्णिमा को 'चातुर्मास्य' याग शुरू होते हैं। उस दिन 'वैश्वदेव', आषाढ़ की पूर्णिमा को 'वरुणप्रघास', कार्त्तिकी पूर्णिमा को 'साकमेधीय' होता है। चार-चार महीने के नियम से दूसरी फाल्गुन शुक्ल पूर्णिमा को 'शुनासीरीय' होना चाहिए, परन्तु यहां फाल्गुन शुक्ल १ को ही कर दिया जाता है।

उसी दिन पंचवातीय नामक याग होता है। आहवनीय अग्नि को बखेर कर उसके पांच ढेर लगाए जाते हैं। जिस जिस दिशा में वह ढेर हो उस उसके मंत्र से उसमें होम होता है—

अग्नि जिनका नेता है उन पूर्व में बैठे देवताओं के लिये स्वाहा।
यम जिनका नेता है उन दक्षिण में बैठे देवताओं के लिये स्वाहा।
विश्वदेव जिनके नेता हैं उन पश्चिम में बैठे देवताओं के लिए स्वाहा।
मित्रावरुण या मरुत् जिनके नेता हैं उन उत्तर में बैठे देवताओं के लिये स्वाहा।
सोम जिसका नेता है उन पूजनीय ऊपर बैठे हुए देवताओं के लिये स्वाहा।

फिर अग्नि समेट दी जाती है और उसमें पांच होम किए जाते हैं जिनके मंत्रों का अर्थ वही है, पर शब्दक्रम भिन्न है; जैसे "जो देव अग्निनेत्र पूर्व बैठे हैं उनके लिये

स्वाहा" इत्यादि। इसकी दक्षिणा तीन घोड़े वाला रथ होता है।

माध्यंदिनों के उसी दिन और काण्वों के यहां द्वितीया को **इंद्रतुरीय** यज्ञ होता है। उसमें अग्नि के लिये आठ ठिकरोंवाला यव का (रोट), वरुण के लिये यव की खीर, रुद्र के लिये गवेधुक की खीर, और चौथे (इसी से यज्ञ का यह नाम पड़ा) इंद्र के लिये बोझा ढोनेवाली गौ का दधि लिया जाता है। यज्ञ में जहां 'खीर' का उल्लेख हो वहां 'चरु' अर्थात् लपसी समझनी चाहिए। वही बोझा ढोनेवाली गौ ही इसमें दक्षिणा होती है।

द्वितीया के दिन 'पाप या शत्रु को सोंत बुहार कर दूर फेंकने का' यज्ञ—**अपामार्ग होम** होता है। अध्वर्यु पलाश या विकंकत की लकड़ी के स्रुव में अपामार्ग (आंधीझाड़ा) के चावल ले और अन्वाहार्यपचन (=दक्षिणाग्नि) से यह कहकर पलीता उठावे कि—"अग्ने! विरोध करनेवाली सेनाओं को दबा, बुरा चाहनेवालों को दूर फेंक; हे अजेय! अधर्मी शत्रुओं को जीत और यज्ञ करनेवालों में तेज धर।" उत्तर या पूर्व चलकर उसी अग्नि में होम करे कि "देव सविता की प्रेरणा में अश्विनी की बाँहों, पूषा के हाथों से और उपांशु (सोम का एक प्याला) के वीर्य से होम करता हूं।" जिधर होम किया है उधर ही "राक्षस मारा गया, तुझे राक्षसों के वध के लिए" कहकर स्रुव को फेंक दे। "राक्षस को मार दिया है" कहकर बिना पीछे देखे लौट आवे।

यहां मैत्रायणों और तैत्तिरीयों की अनुमति, राका (=पूर्णिमा) सिनीवाली (—अमावास्या का वह भाग जब चाँद दीखे) (=अमावस्या का शेष जब चाँद बिल्कुल न हो) के लिये चरु और धाता के लिये बारह ठिकरोंवाला होता है।

उसी दिन 'तीन तीन देवता के मिले हुए होम' अर्थात् **त्रिषंयुक्त** होते हैं। पहले में अग्नि-विष्णु के लिए ग्यारह ठिकरों का, इंद्र-विष्णु के लिये चरु और विष्णु के लिये चरु होता है। इसकी दक्षिणा बौना बैल। दूसरे में, अग्नि-पूषा के लिये कपालवाला, इंद्र-पूषा के लिये चरु, और पूषा के लिये चरु होता है; दक्षिणा श्याम-श्वेत बैल। तीसरे में अग्निसोम के लिये ग्यारह कपाल का, इंद्रसोम के लिये चरु और सोम के लिये चरु होता है। इसकी दक्षिणा बभ्रु रंग का बैल।

तृतीया के दिन वैश्वानर के लिये बारह कपाल वाला होता है, जिसकी दक्षिणा बैल है और वरुण के लिये यव की लपसी जिसकी दक्षिणा काला कपड़ा है। उसी दिन से राजसूय का विशेष और चमत्कारी एक काम **रत्नहोम** आरंभ होता है। राष्ट्र में प्रधान ग्यारह पद (राजा के अंग) होते हैं, जो जो उन पदों पर हैं वे नए राजा से आदर पाने योग्य होते हैं। अतएव एक एक करके उनके घर पर प्रतिदिन खास देवता के लिए खास द्रव्य से होम होता है और उसकी दक्षिणा भी खास उसी पद के उपयुक्त है। यजमान भी अध्वर्यु के साथ अपने इन 'रत्नों' के घर जाता है। यों करने से राजा, जिसका अभिषेक होगा, उन रत्नों का 'प्रसूत' हो जाता है और उनको अपने से 'न हटने वाले' बनाता है।

(१) पहले दिन 'सेनापति' के घर में 'अग्नि अनीकवान् (=सेनावाला)' के लिये आठ कपालोंवाला होता है जिसकी दक्षिणा सोना है।

(२) दूसरे दिन 'पुरोहित (=अग्रणी ब्राह्मण) के घर में बृहस्पति (=देवों का पुरोहित)' के लिये चरु; दक्षिणा, कृष्णपृष्ठ या श्वेतपृष्ठ बैल।

(३) स्वयं 'यजमान' के घर में इंद्र (क्षत्र का दैव रूप) के लिए ग्यारह कपालोंवाला; दक्षिणा बलिष्ठ बैल।

(४) चौथे दिन 'यजमान की महिषी' (पहले ब्याही हुई बड़ी रानी) के यहां अदिति (=पृथ्वी, देवों की पत्नी) के लिये चरु; दक्षिणा, दुधार गौ।

(५) पांचवें दिन 'सूत' (=अश्वपोषक) चारण (पुराने आख्यानों को रखनेवाला) के यहां वरुण (वेग-प्रेरक) के लिए यव का चरु; दक्षिणा, अश्व।

(६) छठे दिन 'ग्रामणी' के (पटेल, वैश्यों का मुखिया महत्तर = मेहता) के यहां मरुत् (दैव प्रजा या विश्) के लिये सात कपालोंवाला; दक्षिणा, चित्र वर्ण का बैल।

(७) सातवें दिन 'क्षत्ता' (प्रतीहार, दूत, जनाने का प्रबंधकर्ता) के घर पर सविता (प्रेरक) के लिए आठ या बारह कपालोंवाला बनाया जाता है। श्वेत-रक्त भारवाहक बैल इसकी दक्षिणा है।

(८) आठवें दिन 'संग्रहीता सारथि' के यहां याग होता है। 'संग्रहीता' का अर्थ कोई कोई आचार्य 'कर वसूल करने वाला' करते हैं। या तो संग्रहीता घोड़े जोड़नेवाला है और सारथि हाँकनेवाला—रथ के चलते समय दोनों 'बंधुर' (कोच बक्स) पर दहने बाएँ खड़े रह जाते होंगे—अथवा 'सव्येष्ठ्रि=बाएँ बैठनेवाला'। यह स्वयं रथस्वामी का नाम है, क्योंकि जिस रथ में केवल 'बंधुर' पर दो की ही बैठक होती होगी वहां हाँकने के सुभीते के लिए सारथि दहने बैठता होगा और सरदार बाएं। संग्रहीता और सव्येष्ठ्रि प्रायः एक ही अर्थ में मिलते हैं। अथवा दो सारथि होते होंगे, एक चलानेवाला और एक बाग खेंचने (उन्हें हाथ में संग्रह करने) वाला। दो रथ में बैठनेवाले के दहने बाएँ खड़े रहते हैं। उनके घर में अश्विन् (दो जोड़ले देव) के लिए दो कपालोंवाला पुरोडाश बनता है और दक्षिणा भी दो जोड़ले बैल या (वैसे न मिलें तो) एक दूसरे के पीछे जने हुए बैल होती है।

(९) नवें दिन 'भागदुघ' (=खिलाने वाला, प्रजाओं से भाग दुहकर राजा को देनेवाला) के घर पूषन् के लिए चरु होता है; दक्षिणा श्वेतकृष्ण बालोंवाला बैल।

(१०) दसवें दिन रत्नहवि रत्न के घर जाकर नहीं होता। 'अक्षावाप' और 'गोविकर्त' के घरों में गवेधुक अन्न लाकर यजमान के यहां पर ही रुद्र के लिये चरु पकाया जाता है। 'अक्षावाप' जुए (द्यूत) का अफसर है जो जुए में पासे फेंकता है। 'गोविकर्त' का अर्थ किसान भी होता है और कसाई और व्याध भी। पिछले अर्थ ही होंगे नहीं तो राजा ही उसके घर न चला जाता। रुद्र के लिये, इसलिये कि रुद्र उस गौ को चाहता है जो जूए में 'हारी' जाती है। रुद्र भी अग्नि है और जूआ भी अग्नि है जिसमें पासे अंगारे हैं। इन दोनों की दक्षिणाएं श्वेतबाहु या श्वेतपुच्छ बैल, नख की-सी टेढ़ी तलवार और बालों की रस्सी से बंधी पासे फेंकने की डिब्बी या चौपड़ होती हैं। सम्भव है कि ये दोनों हीन कर्म एक ही जाति के भाइयों के होते हों।

(११) ग्यारहवें दिन 'दूत' (पालागल, प्यादा जो हरकारे की भांति दौड़ाया जाता है) के घर में चार चमचों में लिये घी से अध्वा (=रास्ते) के लिये होम होता है और दक्षिणा में स्नायु या अजगर-चर्म से लिपटा धनु, या मयूरपिच्छ और चमड़े की भांति बाणों से भरी हुई लाल पगड़ी मिलती है।

(१२) बारहवें दिन अर्थात् चतुर्दशी को राजा 'परिवित्ति' अर्थात् पति की छोड़ी अपुत्रा स्त्री के घर जाकर निर्ऋति (=अभाग्य, मृत्यु) के लिये काले धानों को नखों से छिलका उतार कर उनके चरु का कड़छी से होम करता है कि "निर्ऋते, यह तेरा भाग है कृपा करके इसे ले।" दक्षिणा—काली, रोगिणी बुड्ढी गौ। उस स्त्री को कहता है कि (तुझ जैसी अभागी) मेरे राज्य में मत रह। वह किसी ब्राह्मण के घर चली जाती है जहां पर कि राजा का अधिकार नहीं चलता।

ये दक्षिणाएं उन उन रत्नों को दी जाती हैं, मानो उन्हें नये राजा की ओर से तोहफे और अपने अपने काम में लगे रहने के लिए खिलते हैं।

उसी दिन सोम और रुद्र के लिए श्वेतावत्सा श्वेता गौ के दूध से चरु बनता है और वही गौ उसकी दक्षिणा है।

पूर्णिमा के दिन मित्र-बृहस्पति के लिये एक चरु होता है। अश्वत्थ की पूर्व या उत्तर की अपने आप टूटी हुई शाखा के पात्र से ढके पात्र में मोटे चावल बृहस्पति के लिये पकाए जाते हैं और उनकी भाफ से ऊपर के पात्र में उन्हीं में से बीने हुए बारीक और टूटे चावल मित्र के लिये बनते हैं। रथ के पिछवाड़े मशक में दूध भर के बांधा जाए और रथ चलाया जाए तो रथ की हलचल से स्वयं जो घी बन जाता है वह मित्र के चरु में डाला जाता है।

इसके पीछे पंद्रह दिन खाली ही बीतते हैं।

चैत्र शुक्ल प्रतिपदा को 'अभिषेचनीय' अर्थात् अभिषेक-संबंधी सोमयाग आरंभ होता है जो पांच दिन रहता है। पहले दिन दीक्षा, तीन उपसद और एक सुत्या जिसमें उक्थ्य की तरह सोम निकाला जाता है। पहले दिन कुछ अग्नि और सोम के पशु-याग का अंश करके **देवसू** अर्थात् तेज उत्पन्न करनेवाले या चेतानेवाले होम होते हैं—

(१) सविता सत्यप्रसव के लिए प्लाशुक अर्थात् काटे जाकर फिर उग आने वाले धानों का द्वादश कपाल या अष्टाकपाल।

(२) अग्नि गृहपति के लिये आशु अर्थात् तीन पक्ष में पकने वाले धानों का अष्टाकपाल।

(३) सोम वनों के पति के लिये श्यामाक या बिना कांटे के कण (सौंका) का चरु।

(४) बृहस्पति वाक् (पति) के लिये नीवार अर्थात् जंगली धान का चरु।

(५) इंद्र ज्येष्ठ के लिये वर्ष भर में पकनेवाले लाल चावल, या अति ऊंचे उठकर पानी छोड़ने वाले (=हायन) धान का चरु।

(६) रुद्र पशुपति के लिये गवेधुक का चरु।

(७) मित्र सत्य के लिये नांब (अपने आप उगनेवाले) धान का चरु।

(८) वरुण धर्मपति के लिये यव का चरु।

अब अध्वर्यु यजमान का दहना हाथ पकड़कर कहता है—"सविता तुझे सब उत्पत्तियों (या शासकों) पर राज्य के लिये उत्तेजित करे, अग्नि गृहस्थों पर; बृहस्पति वाणी के लिये, इंद्र बड़प्पन के लिये, रुद्र पशुओं के लिये, मित्र सत्य के लिये, वरुण धर्म-पतियों (पर राज्य करने) के लिये।" और भी जोर से कहता है—

"हे देवो, इसे उत्तेजित करो इस रीति से कि कोई इसका सपत्न (रकीब) न हो, बड़े क्षेत्र के लिये, बड़े बड़प्पन के लिये, बड़े मनुष्यों पर राज्य के लिये, इंद्र के इंद्रिय (बल) के लिये। इसे (यहां राजा का नाम ले) अमुक (यहां पिता का नाम ले) के पिता को, अमुक (यहां माता का नाम ले) के पुत्र को, इस (यहां जाति का नाम ले) प्रजा के लिये। हे अमुक जातिवालो! यह तुम्हारा राजा है। हम ब्राह्मणों का राजा सोम है।" यहां 'हे अमुक जातिवालो' की जगह भी जाति का नाम डालना होता है जैसे हे कुरुओ, हे पांचालो! तैत्तिरीय संहिता में अमुक की जगह पक्का पाठ ही है कि 'हे भरतो' और मैत्रायणी में पक्का पाठ है कि 'हे जनसमूह'।

यों करने से अध्वर्यु सारी प्रजा को 'राजा का अन्न' बना देता है, ब्राह्मणों को छोड़कर, जो राजा का अन्न नहीं है।

अभिषेक के लिये जलों का लेना

अभिषेक के लिये सत्रह तरह के जल (द्रव पदार्थ) और एक सूर्य की किरणों का जल (=जल की भाफ) ये अट्ठारह जल लिए जाते हैं। इनमें से जो किसी विशेष समय पर ही मिल सकते हैं उन्हें अध्वर्यु पहिले से ही लाकर यूप के उत्तर को रख लेता है, दूसरों को अभी जाकर लाता है। सब जल न्यारे न्यारे उदुंबर या पलाश के पात्रों में लिए जाते हैं।

पहिले सरस्वती नदी का जल यों कहकर लिया जाता है कि "मधु से भरा हुआ, रस से भरा, चेतना वाला, राजा बनाने वाला जल देवताओं ने लिया था जिससे उनने मित्र और वरुण का अभिषेक किया, जिससे उनने इंद्र को शत्रुओं से आगे बढ़ा दिया।"

अब अध्वर्यु चार चमचों में घी लेकर स्वयं पानी में जाता है। उसके जाते ही सामने जो लहर उठती है उसमें यह कहकर होम करे कि—

"बलवान् की लहरें हों राष्ट्र देनेवाली, राष्ट्र मुझे दो; स्वाहा।" फिर नीचे लिखे मंत्र से उसके जल को उठा लाता है—

बलवान् की लहरें हों, राष्ट्र देनेवाली, राष्ट्र अमुक को दो स्वाहा। अमुक की जगह जिसका अभिषेक करना है उसका नाम लेवे। जो लहर उसके पानी में जाते ही पीछे को गई है उसमें यह कहकर चार चमचों का होम करे—

"बलवानों की सेना के स्वामी हो, राष्ट्र देनेवाले, राष्ट्र मुझे दो; स्वाहा"।

और यह कहकर उसके जल को उठाता है—

"बलवानों की सेना के स्वामी हो, राष्ट्र देनेवाले, राष्ट्र अमुक को दो; स्वाहा"।

यों ही प्रत्येक प्रकार के जल में पहले मंत्र से चार आहुतियां दे और दूसरे से उठा ले। दूसरे मंत्र में 'अमुक' की जगह यजमान का नाम ले। इन मंत्रों में "राष्ट्र देनेवाले, राष्ट्र मुझे दो; स्वाहा", 'राष्ट्र देनेवाले राष्ट्र अमुक को दो; स्वाहा" सबमें साधारण है। केवल जल की प्रशंसा न्यारी-न्यारी है जो दोनों मंत्रों में पहले जोड़ी जाती है। संक्षेप के लिये जलों के नाम और मंत्रों के पहले विशेषण-भाग ही लिखे जाते हैं—

नदी का बहता हुआ जल, 'अर्थ को पहुंचानेवाले हो'।

बहाव से उलटा (प्रतिलोम) बहता हुआ जल, 'ओजवाले हो'।

बहाव से ऊपर निकलकर मार्गांतर से फिर उसमें मिलनेवाला जल, 'ऊपर से बहनेवाले हो'।

समुद्र की अच्छे उठानवाली लहर, 'जल के पति हो'।

भँवर का जल जो लक्कड़ों को उठाकर बहा ले, 'जल के गर्भ हो'।

बहते पानी में स्थिर पानी जिस पर धूप पड़ रही हो, 'सूर्य की सी चमड़ीवाले हो'।

धूप निकले हुए में बरसता पानी अधर में रोककर, 'सूर्य के से वर्चस्वाले हो'।

तलाब का जल, 'मोद देनेवाले हो'।

कुएँ का जल, 'गहरे ढकने में रहनेवाले हो'।

ओस (ठार) का जल, 'चाहने योग्य हो'।

मधु, 'सबसे बलवान् हो'।

गौ के प्रसव के समय उल्ब के साथ निकलनेवाला जल, 'शक्तिवाले हो'।

दूध, 'मनुष्यों के पालनेवाले हो'।

घी, 'सब को पालनेवाले हो'।

सूर्य की किरणों से भाफ बनकर जो जल के परमाणु उठते हैं उन्हें अंजलि से ले-लेकर इन सत्रह तरह के जलों में मिलावे—

"जल हो, स्वराज् हो, राष्ट्र देनेवाले, राष्ट्र मुझे दो; स्वाहा।

जल हो, स्वराज् हो, राष्ट्र देनेवाले, राष्ट्र अमुक को दो; स्वाहा।"

सरस्वतीजल (पहले) और मरीचिजल (अठारहवें) में होम नहीं किया जाता। इन सब चित्रजलों की महिमा कही गई है; जैसे अठारहवें में जलकण किसी के अधीन नहीं हैं इसलिए जिसका उनसे अभिषेक होता है वह स्वराट् हो जाता है; आठवें में, भँवर जल का गर्भ है इसलिये उनसे अभिषिक्त यजमान अपनी प्रजा का गर्भ हो जाता है।

इन सब को प्रत्येक के लिए मंत्र पढ़कर, उदुंबर के पात्र में मिलावे कि— "मधुवाली मधुवालियों से मिलें, क्षत्रिय के लिये बड़ा क्षत्र उत्पन्न करती हुई।" उस पात्र को मैत्रावरुण के आसन के पास रखे—"अपने स्थान में बिना आक्रमण के, बल के साथ, बैठे रहो; क्षत्रिय के लिये बड़ा तेज धारण करते हुए।" पास ही अभिषेक के लिये पलाश, उदुंबर, बड़ की दाढ़ी और अश्वत्थ के पात्र बिना मंत्र पढ़े रखे जाते हैं।

दुपहर के सोमपान के समय, महेंद्र के लिये सोम खेंचने के पहले, अध्वर्यु इन

पात्रों के पूर्व व्याघ्रचर्म बिछाता है, "सोम की चमक (सुंदरता) तू है, तेरी-सी मेरी चमक हो।" सोम पीने से इंद्र व्याघ्र के समान हो गया था इससे व्याघ्रचर्म की चमक को सोम की चमक कहा गया। चर्म के पीछे सीसे का टुकड़ा रखा जाता है।

मनुष्यों में सबसे पहले 'वेन का पुत्र पृथु' ही अभिषिक्त हुआ। उसने चाहा कि सब अन्न मेरे हो जायँ तो वैसा ही हुआ। यहाँ तक कि जंगल के पशुओं को भी उसके लिये बुला लिया करते थे कि 'अमुक पशु यहां आ जा, राजा तुझे पकाना चाहता है।' उस राजा के लिये ये बारह **पार्थहोम** किए गए थे, और जिस जानकार के यहां जानकार लोग ये होम करते हैं उसके भी सब अन्नाद्य आ जाता है। उनमें से छः यहां किए जाते हैं। छः अभिषेक के पीछे—

अग्नि के लिये स्वाहा।
सोम के लिये स्वाहा।
सविता के लिये स्वाहा।
सरस्वती के लिये स्वाहा।
पूषा के लिये स्वाहा।
बृहस्पति के लिये स्वाहा।

सोमयाग की विधि से कुशा के दो पवित्र या छानने बनाए जाते हैं और उनमें सोना बुना जाता है, "तुम दोनों छानने के पवित्र हो, विष्णु के।" उनमें होकर अभिषेक जल को छानता है, "सविता की प्रेरणा से मैं तुम्हें छानता हूं अच्छिद्र (निर्दोष) पवित्र से, सूर्य के किरणों से; हे जल! वाणी के बंधु, गर्मी से उत्पन्न, नहीं दबाया गया है तू, सोम का हिस्सा है; स्वाहा, राजा को उत्पन करनेवाला।"

छानकर जल को चारों अभिषेक-पात्रों में डालता है—"ये महिमावाले जल सुख में भागी हैं साथ खेलनेवाले; नहीं धर्षण के योग्य, श्रमी, ढँकनेवाले। इन निवासों में वरुण ने अपना घर किया है, उस जल के पुत्र ने इन सर्वोत्तम माताओं के अन्दर।"

वस्त्रधारण और शस्त्रधारण

यजमान को 'क्षौम' या 'ताप्यं' (क्षुमा या तृपा घास का बुना हुआ रेशमी या सणिया वस्त्र, या बुनते समय तीन बार जल या घी पिलाया हुआ वस्त्र, या वल्कल, या तीन बार घी में भिगोया हुआ वस्त्र) पहनाता है कि "तू क्षत्र का उल्ब है।" उस पर यज्ञपात्रों के चित्र सुई से काढ़े होते हैं। उस पर बिना रंगी ऊन का 'पांडव कंबल' पहनाता है, "तू क्षत्र का जरायु है।" उस पर सब ढकनेवाला 'लंबा चोगा' पहनाता है, "तू क्षत्र की योनि है।" अब एक पगड़ी सिर पर लपेट कर उसके दोनों छोर कमर की मोरी में अथवा नाभि के पास ही खोंसता है कि "क्षत्र की नाभि है।" गर्भ में भी इसी भांति उल्ब, जरायु, योनि और नाभि के वेष्टन होते हैं; मानो क्षत्रिय अपने क्षत्र तेज का गर्भधारण कर रहा।

अध्वर्यु धनुष को यह कह कर चढ़ाता है कि "यह इंद्र का वृत्र मारनेवाला भुज है।" धनुष की एक छोर को छूता है कि "तू मित्र का है" और दूसरी को, "तू वरुण का

है।" फिर यजमान के हाथ में दे देता है, "तुझसे यह वृत्र को मारे।" अध्वर्यु तीन बाण उठाता है—एक को 'तू चीरनेवाला है', दूसरे को 'तू फाड़नेवाला है', तीसरे को 'तू शत्रु को कँपानेवाला (या चूकनेवाला) है' और यजमान के हाथ में उन्हें यह कह कर देता है कि "इसे सामने चलते हुए बचाओ, इसे पीछे चलते हुए बचाओ, इसे टेढ़े चलते हुए बचाओ, इसे सब दिशाओं से बचाओ।"

मालूम करना

अध्वर्यु स्वयं पढ़ता और यजमान से कहलाता है, "मनुष्यो, यह तुमको विदित हो रहा है, अग्नि गृहपति को विदित है, बड़े यशवाले इंद्र को विदित कर दिया गया है, व्रत धारण करनेवाले मित्रावरुणों को विदित कर दिया गया है, सब पदार्थों के स्वामी पूषा को विदित कर दिया गया है, सबको शुभ देनेवाले द्यौ और पृथिवी को विदित कर दिया गया है, चौड़ा शरण देने वाली अदिति को विदित कर दिया गया है।"

सदस् में बैठे केशव (हींजड़ा—न पुरुष न स्त्री, मैत्रायणों के नाई) के मुँह में ताँबा (=लाल लोहा, न सोना न लोहा) डाल कर कहता है कि "काटनेवाले जीव शान्त कर दिए गए।"

दिग्विजय

यजमान की बाँह पकड़ कर अध्वर्यु उसे चारों ओर घुमाता है और प्रति दिशा में कुछ पेंड़ चला चलाकर कहता है—

"प्राची को चढ़। गायत्री छंद, रथंतर, साम, त्रिवृत् स्तोम, वसंत ऋतु और ब्रह्मरूपी धन तुझे रक्षा करें।

दक्षिण को चढ़। त्रिष्टुप् छंद, बृहत् साम, पंचदश स्तोम, ग्रीष्म ऋतु और छत्र-रूपी धन तुझे बचावें।

पश्चिम को चढ़। जगती छंद, वैरूप साम, सप्तदश स्तोम, वर्षा ऋतु और विश् रूपी धन तुझे बचावें।

उत्तर को चढ़। अनुष्टुप् छंद, वैराज साम, एकविंश स्तोम, शरद् ऋतु और फलरूपी धन तुझे बचावें।

ऊपर को चढ़। पंक्ति छंद, शाक्वर रैवत साम, सत्ताईस और तेतीस स्तोम, हेमंत-शिशिर ऋतु और वर्चस् रूपी धन तुझे बचावें।"

व्याघ्रचर्म के नीचे जो सीसा रखा है उसे पैर से यजमान ठुकराता है—"नमुचि का शिर दूर फेंका गया।" नमुचि को इंद्र ने मारा था।

अध्वर्यु इसके पीछे यजमान को व्याघ्रचर्म पर बिठाता है—"सोम के समान प्रकाशवाला तू है।" यजमान कहता है, "मेरा प्रकाश तेरे जैसा हो।"

सोने का एक चाँद यजमान के पैरों के नीचे रखता है—"मृत्यु से बचा।"

यजमान सिर पर नौ छेदवाला या सौ छेदवाला सोने का भूषण पहन कर कहता है, "तू ओज है, तू जीत है, तू अमृत है।"

राजा बांहें उठाकर पढ़ता है, "सोने के से रूपवाले ! तुम दोनों बलवान् ऊषा के उगने पर उठते हो सूर्य की तरह; हे मित्र वरुण ! अपने रथ पर चढ़ो और वहां से दिति और अदिति (सांत और अनन्त, सीमाबद्ध और असीम) को देखो", "तू मित्र है, तू वरुण है।"

अभिषेक

मनुष्य के दोनों हाथ मित्र और वरुण हैं और मनुष्य उनका रथ है। हाथ ऊँचे करके अभिषेक इसलिये कराया जाता है कि कहीं हाथों का क्षत्र तेज अभिषेक जल के सम्मिलित तेज से दब न जाय।

यजमान पूर्व की ओर मुँह किए खड़ा रहता है। अध्वर्यु या पुरोहित (ब्राह्मण) उसे पलाश के पात्र में रखे हुए जल से अभिषिक्त करता है—"तुझे सोम के तेज से अभिषिक्त करता हूं, क्षत्रों का क्षत्रपति बढ़ता जा।"

उसके पीछे-पीछे उदुंबर पात्र के जल से राजा का भाई उसका अभिषेक करता है—"तुझे अग्नि के तेज से अभिषिक्त करता हूं, क्षत्रों का क्षत्रपति बढ़ता जा।"

पीछे न्यग्रोध (बड़ की दाढ़ी) के पात्र से और राजवंशीय जो उसका मित्र होकर आया है राजा का अभिषेक करता है—"तुझे सूर्य के वर्चस् से अभिषिक्त करता हूं, क्षत्रों का क्षत्रपति बढ़ता जा।" इसके बाद अश्वत्थ के पात्र से वैश्य उसका अभिषेक करता है—"तुझे इंद्र के इंद्रिय से अभिषिक्त करता हूं, क्षत्रों का क्षत्रपति बढ़ता जा।"

फिर सब मिलकर कहते हैं, "प्रकाशमान बाणों से इसकी रक्षा कर।"

अध्वर्यु उच्च स्वर से कहता है, "हे देवो ! इसे उत्तेजित करो इस रीति से कि कोई इसका सपत्न (रकीब) न हो, बड़े क्षत्र के लिये, बड़े बड़प्पन के लिये, बड़े मनुष्यों पर राज्य के लिये, इंद्र के इंद्रिय के लिये, इसे (यहां राजा का नाम ले) अमुक (यहां पिता का नाम ले) के पुत्र को, अमुक (यहां माता का नाम ले) के पुत्र को, इस (यहां जाति का नाम ले) प्रजा के लिये। हे अमुक (यहां जाति का नाम ले) जातिवालो, यह तुम्हारा राजा है, हम ब्राह्मणों का राजा सोम है।"

फिर अब बाकी के छः 'पार्थ होम' किए जाते हैं—

इंद्र के लिये स्वाहा।

कोलाहल के लिये स्वाहा।

यश के लिये स्वाहा।

अंश के लिये स्वाहा।

भग के लिये स्वाहा।

अर्यमा के लिये स्वाहा।

या तो इस जगह पर, या द्यूत के पीछे अध्वर्यु होता को कहता है कि "शुनःशेप की कथा कहो।" यह कथा पृथक् लेख में दी गई है।[1]

---

१. देखिए : प्रस्तुत ग्रंथ में 'शुनःशेप की कहानी', पृ० २७९।

दीक्षित लोग सदा काले हरिण के सींग से खुजाते हैं। राजसूय-याजी भी दीक्षित होता है इसलिये अपने पास की खुजालनी उठाकर सिर पर से टपकते हुए अभिषेक-जल को पीठ पर लीपता हुआ पढ़ता है—

"बलवान् वृषभ पहाड़ की पीठ से नौकाएं स्वयं चलती बढ़ी आ रही हैं, वे ऊपर की ओर मुखवाली को जाकर पीछे नीचे की ओर मुड़ती हैं और अहिर्बुध्न्य (गहरे का साँप) के पीछे चली जाती हैं।"

अब यजमान व्याघ्रचर्म पर तीन डग भरता है और कहता है कि—"विष्णु का बाहरी पैंड भरना है, विष्णु का बाहरी पैंड है, विष्णु का पैंड है।"

जो जल अभिषेक से बचा है वह पलाश-पात्र में रखकर यजमान अपने प्रियतम पुत्र को देता है कि—"यह मेरा काम, मेरा वीर्य, मेरे पीछे मेरा पुत्र चलता हुआ रखे।" पुत्र पीछे से यजमान को छूता है और यजमान घर की आग में होम करता है, "प्रजापते ! तुझे छोड़कर कोई नहीं दूसरा इन सृष्टि के विश्वरूपों के चहुंओर व्याप्त है। जिस कामना से हम तुझे बुलाते हैं वह हमें प्राप्त हो। यह अमुक का पिता है। अमुक इसका पिता है। हम धनों के स्वामी हों; स्वाहा।" 'यह' और 'इस' की जगह पिता का नाम कहना चाहिए। जैसे दशरथ के अभिषेक के समय पहला वाक्य "राम दशरथ का पिता है" और दूसरा "दशरथ राम का पिता है" इस प्रकार कहा गया है।

बाकी जल को पलाश-पात्र से आग्नीध्र अग्नि में होमता है—"हे रुद्र ! जो तेरा कर्मशील सबसे बड़ा नाम है, उसी में तू होमा जाता है। तू घर में होमा जाता है। स्वाहा।"

गौओं की जीत

राजा को शस्त्र पहना कर सबको मालूम करना, उसे चारों ओर घुमाकर दिशाओं को चढ़ाना, और पीछे अभिषेक करना यही क्रम अब तक इंगलैंड की गद्दी पर बैठाने का है। अभिषेक के पीछे राजा ने विष्णु के डग भर कर धर्म की चाल चलने की प्रतिज्ञा कर ली है और अपने पीछे पुत्र के लिये जयकामना कर ली है। अब उसे अपने बल का प्रमाण देना चाहिए। उस समय के मनुष्य कागजी घोषणा-पत्रों को थोड़ा ही समझते थे। सम्भव है कि राजा में वीर्य कुछ भी न हो, तो उस समय के नित्य झगड़ालू समय में उसकी क्या चलती ? वरुण का वीर्य अभिषेक होते ही नष्ट हो गया था, उसने उसे गौओं में पाया। ऐसे ही राजा भी शत्रु की गौएं जीत लाकर प्रजा को सिद्ध करता है कि मैं असमर्थ नहीं हूं, तुम्हारा उपकारक हूं। उस समय धन की जाँच गौओं से ही होती थी। जो अर्थ आजकल लखपति और करोड़पति का है वह उन दिनों सहस्रगु आदि शब्दों का था। सभ्य समाज के सबसे पहले धन पालतू पशु ही थे। अति प्राचीन काल में यह गौओं की लड़ाई और जीत सचमुच ही होती होगी, पीछे वाजपेय की दौड़ और इंगलैंड के कवचधारी हिमायती की तरह, आजकल के जनेऊ की काशी-यात्रा की तरह, केवल रीति रह गई।

आहवनीय के उत्तर को किसी सजाति की सौ या अधिक गौ रखी जाती हैं।

पास ही वह गाड़ा रहता है जिस पर होम का अग्नि रखा जाता है। यजमान वाजपेय की तरह रथ उतारे—"तू इंद्र का वज्र है।" धुरा पकड़ कर उसे घुमावे और वेदि के दक्षिण भाग में लाकर उसे जोड़े—"शासन करनेवाले मित्र-वरुण के निदेश से मैं जोड़ता हूं।" "दृढ़ता के लिये, न डिगने के लिये, बल के लिये, मैं, न क्षय पानेवाला अर्जुन (=इंद्र) तुझ पर चढ़ता हूं" यह कर रथ पर चढ़ता है। चार घोड़ों में से दहने को हाँकता है—"मरुतों के वेग से, जीवित करने से तू जीत।"

कृष्णयजु के कल्पसूत्र से जान पड़ता है कि एक दूसरा राजन्य धनुष-बाण लेकर गौओं में खड़ा रहता है, मानो वह गौओं का स्वामी है और उन्हें बचाने को आया है। राजसूययाजी उस पर बाण छोड़ता है कि—"मन को जीता" और प्रदक्षिण रथ घुमा-कर कहता है कि—"मुझमें बल और ऊर्ज।"

गौओं के बीच में जाकर रथ को रोकता है, "मन से हम पावें।" धनुष की एक छोर से एक गौ को छूता है—"बल से मिलकर हम जीते हैं, इन्हें मैंने जीता, इन्हें मैंने अपना किया।" फिर जितनी गौएँ जीती हैं उतनी या उससे अधिक उनके स्वामी को देकर अपनी क्रूरता को धोता है, क्योंकि आर्य राजा जीतकर फिर उसी मनुष्य को अपने स्थान पर अपने नीचे दृढ़ कर दिया करते थे।

यूप के सामने होकर निकलता है—"हे बलवानों के जीतनेवाले इंद्र ! हम ब्रह्म के न होने से तुझे पाने के अयोग्य न हो जायँ। हे वज्रहस्त ! तू रथ पर चढ़, जिसे तू वश करता है और जिसकी प्रशस्त घोड़ोंवाली बागों को।" लौट कर सदस् के पास रथ रोकता है। अब रथ खोलता है और रथ का जो जो भाग जिस देवता का है उसे उसके लिये होम करता है—

गृह के पति अग्नि के लिये स्वाहा (बम और जूड़ा)।
वन के पति सोम के लिये स्वाहा (चक्र और लकड़ी का सामान)।
मरुतों के तेज के लिये स्वाहा (घोड़े और सव्येष्ठा और सारथि)।
इंद्र के प्रशस्त बल के लिये स्वाहा (स्वामी)।
ये 'रथविमोचनीय' होम कहलाते हैं।

"पशुओं का रस है" यों कहकर सूअर के चमड़े के जूते पहनता है और गहने भी। फिर पृथ्वी को संबोधन करके कहता है, "माता धरती, तू मुझे न हिंसा कर, मैं तुझे न हिंसा करूं।" यों कहने से उसके और पृथ्वी के बीच में पुत्र और माता का संबंध स्थापित हो जाता है जिससे कोई भी दूसरे का अपकार न करे। अब रथ से उतरता है—"जल से, गौओं से, सत्य से और पर्वत से उत्पन्न हंस, प्रकाश में बैठा हुआ, वसु अंतरिक्ष में बैठा हुआ, होता वेदि में बैठा हुआ, अच्छे स्थानों में बैठा, मनुष्यों में बैठा, सत्य में बैठा, वही परम सत्य है।"

सारथि साथ न उतरे, रथ अपने स्थान पर टांग दिया जाय, वहां से वह कूद पड़े।

मैत्रायणीयों के यहां यजमान अपना धनुष यह कह कर पत्नी को देता है कि "यह वज्र सबसे बड़ा बल देनेवाला है, इससे हमारा पुत्र वाज (बाजी) को जीते।"

यजमान रथ खड़ा रखने के आधार पर उतके पिछले दहिने पहिए से सौ-सौ रत्ती के सोने के दो चाँद बाँधता है और पहिए की लीक में उदुंबर की शाख रखता है। पहले चाँद को छूता है—"इतना है तू, तू आयु है, मुझे आयु दे"; दूसरे को "तू जोड़ा है, तू वर्चस् है, मुझमें वर्चस् रख।" उन्हें ब्रह्मा को देता है और उदुंवर शाखा को छूता है—"तू ऊर्ज है, मुझमें ऊर्ज रख।"

अध्वर्यु यजमान के दोनों हाथों को व्याघ्रचर्म पर रखी हुई दही की कूंड़ी में डुबोता है—"इंद्र के तुम दोनों वीर्य करनेवाले हाथों को मैं नीचे खेंचता हूं।" फिर उसे धनुष-बाण सौंप देता है। उस दही को होम में कार्य में लाते हैं। बीच ही में सिंहासन पर विराजना होता है। व्याघ्रचर्म पर खदिर की चौकी (पीढ़ी) रस्सियों से बिरली बुनी हुई या चमड़े की बंधड़ी (तसमों) से बुनी हुई, (भारतों के यहां) रखी जाती है—"तू अच्छी बैठक है, सुख से बैठने की है।" उस पर बिछावन की जाती है—"छत्र की योनि है।" अध्वर्यु यजमान को बिठाता है—"अच्छी बैठक पर बैठ, सुख से बैठने की पर बैठ, क्षत्र की योनि पर बैठ।"

ढिंढोरा

यजमान के हृदय पर हाथ रखकर अध्वर्यु कहता है—

"बैठ गया है व्रत धारण करनेवाला वरुण प्रजा के निवासों में।"

"साम्राज्य के लिये सुकर्मा।"

इसमें 'व्रत धारण करनेवाला' यों कहा गया है कि राजा जो चाहे सो बोल नहीं सकता और जो चाहे वह कर नहीं सकता, जैसे अप्रामाणिक आदमी या अव्रत राजा कर सकता है। वह वही बोले जो ठीक है, वही करे जो ठीक है। इससे श्रोत्रिय और राजा धृतव्रत कहे जाते हैं।

द्यूत वा जूआ

अध्वर्यु पांच पासे हाथ में लेकर राजा के हाथ में देता है कि—"तू सबके ऊपर स्वामी है, ये पाँच दिशाएं तेरे अधीन हों।" मैत्रायणी के अनुसार सौ पासे राजा को सौंप दिए जाते हैं क्योंकि पुरुष की आयु सौ वर्ष की होती है। और चार सौ राजा के सामने फेंके जाते हैं कि "खुला राजा का।" फिर उनमें से पाँच उसे दिए जाते हैं। तैत्तिरीयों के यहां हजार सोने के पासे फेंक कर उनमें से पाँच दिशाओं के प्रतिनिधि पांच देने की चाल है। ये पासे या तो विभीतक (बहेड़ा) के फल होते थे या सोने के वैसे ही बनते थे और उन पर अंक लिखे होते थे।

अध्वर्यु अब चुपचाप यज्ञकाष्ठों से राजा को पीटते हैं जिससे वह फिर कभी 'मार न खाय' क्योंकि राजा अदंड्य होता है।

अब 'रत्न' राजा को घेरकर बैठ जाते हैं और राजा के और अध्वर्यु के यह बातचीत होती है जिससे राजा अपना स्वरूप जान लेता है—

राजा—ब्रह्मन्!

अध्वर्यु—तू ब्रह्मा है, तू सत्य प्रेरणा करनेवाला सविता है।

राजा—ब्रह्मन् !

अध्वर्यु—तू ब्रह्मा है, तू सत्य बलवाला वरुण है।

राजा—ब्रह्मन् !

अध्वर्यु—तू ब्रह्मा है, तू प्रजाओं के बलवाला इंद्र है।

राजा—ब्रह्मन् !

अध्वर्यु—तू ब्रह्मा है, तू अच्छा कृपालु रुद्र है।

राजा—ब्रह्मन् !

अध्वर्यु—तू ब्रह्मा है।

अब राजा अपनी प्रजाओं को कहता है, "हे बहुत करनेवाले, हे अधिक भला करनेवाले, हे फिर फिर करनेवाले !"

पुरोहित वा अध्वर्यु यजमान को लकड़ी की तलवार 'स्फ्य' देता है—"तू इंद्र का वज्र है, उससे अब मेरी आराधना कर।" राजा यही कहकर अपने भाई को दे देता है। वह इसी मंत्र से सूत को या गाँव के मुखिया (थवई—स्थपति) को। वह वैसे ही कहकर वैश्यों के महतर (महताजी या पटेल) को। वह भी उसे भायेत (सजात, जमींदार = कृषक) को। यों सब अपने अपने अधिकार के नियम को समझ जाते हैं।

उसी खड्ग से पूर्वाग्नि के पास द्यूतभूमि मंत्रों से बनाई जाती है और उसमें एक चँदुआ (= विमित) खड़ा किया जाता है। जुए के मैदान में सोना रखकर चार चमचों के घी से अध्वर्यु होमता है—

"अग्नि बड़ा, धर्म का पति, प्रसन्न
अग्नि बड़ा, धर्म का पति, घी को स्वीकार करे; स्वाहा !"

यह कहकर पासे फेंके जाते हैं कि "स्वाहा से पवित्र किए गए हो, तुम सूर्य की किरणों के साथ अपने भाइयों में सबसे श्रेष्ठ स्थान पाने के लिये यत्न करो", क्योंकि जिसका दाँव आवेगा वही सब में श्रेष्ठ होगा।

अध्वर्यु कहता है कि "गौ (की बाजी लगाकर उस) का जुआ करो।" यह जुआ यजमान के भाग्य की परीक्षा के लिये है। अतएव पासे यों फेंके जाते हैं कि सबसे अच्छा दाव राजा का आवे और 'सुन्न' बिचारे सजात का आवे जिसकी गौ है।

ऋग्वेद में एक तिरेपन पासों के खेल का वर्णन है। छांदोग्य उपनिषद् में रैक्व के बड़भागी होने की यों उपमा दी है कि जैसे 'कृत की जीत में सब हार जाते हैं वैसे सब उसका भला ही भला होता है।' जिस विभीतक पर '१' लिखा होता था वह 'कलि' कहलाता था और २, ३, ४ अंकवाले पासे क्रमशः 'द्वापर', 'त्रेता' और 'कृत' कहलाते थे। यदि और सब पासे एक-से पड़ते (चित या पट) और कलि उनसे विपरीत होता तो कलि जीतता, परन्तु यदि औरों की तरह ही पड़ता तो कृत (सबसे बड़ा अंक) जीतता। 'शुनःशेप की कथा' में एक श्लोक पर ध्यान दीजिए। अनुमान होता है कि खेल ऐसा ही होता होगा। यही नाम पीछे चलकर युगों के पड़ गये हैं। यहां राजा को जिताना ठहरा इससे उसके कृत आता और सजात के कलि। अब सजात की गौ जीती जाने से

'मारी गई' और वह सभासदों को दी जाती है। (महाभाष्य पातंजल २।३।६०—"गामस्य तदहः सभायां दीव्येयुः" और कापिष्ठल संहिता—"गां घ्नंति = गां विदीव्यंति = गां सभासद्भ्य उपहरंति।")

कुछ याज्ञिक काम होकर अध्वर्यु के यह कहने पर कि "स्तोम (प्रार्थना) को जाओ" यजमान आसानी से उठकर चला जाता है।

दाशपेय

अभिषेक के दसवें दिन सोम के दस प्याले होते हैं जिनके लिये सोम अभिषेक के सोम के साथ ही खरीद लिया गया था। यजमान और नौ ऋत्विक्, ये दस, एक एक प्याले की ओर एक-एक कमर झुकाकर रेंगते हैं। परन्तु रेंगने के समय उन्हें अपने दादा से लेकर पहले, पीछे की ओर, दस ऐसे पुरखाओं का नाम लेना पड़ता है जो सोमयाजी रहे हों। ऐसे बड़भागी विरले होते हैं, जिनके दस-दस पूर्वज सोमपीथी हुए हों। रेंगने का मंत्र यह है—

"सविता प्रेरणा करनेवाले से, सरस्वती वाणी से, त्वष्टा बनाए हुए रूपों से, पूषा पशुओं से, इस (यजमान) इंद्र से, बृहस्पति ब्रह्म से, वरुण ओज से, अग्नि तेज से, सोम राजा से, विष्णु दसवीं देवता से प्रेरित होकर मैं रेंगता हूं।"

वहां एक एक प्याले में दस दस पीनेवाले होते हैं—एक ऋत्विक् और नौ और। यों सौ जने पीते हैं। यजमान के पात्र में साथ पीनेवाले चाहे क्षत्रिय हों चाहे ब्राह्मण। यजमान सबको कमल या सोने के कमलों की माला पहनाता है।

दक्षिणाएं

ब्रह्मा को बारह गर्भिणी गौ, उद्गाता को सोने की माला, होता को सोने का चाँद, अध्वर्यु को सोने के दो दर्पण, प्रस्तोता को घोड़ा, मैत्रावरुण को बाँझ गौ, ब्राह्मणाच्छंशी को भार-वाहक बैल, नेष्टा पोता को दो वस्त्र, अच्छावाक् को यव से भरी हुई एक बैल की गाड़ी और आग्नीध्र को बैल।

प्रयुग्हवि

राजसूय-याजी वर्ष भर तक प्रति मास 'जोड़े के हवि' से होम करता रहे। छह महीने का साथ भी कर लेते हैं, जैसे 'कुरुपंचाल के राजा शिशिर ऋतु के पीछे रथ जोड़कर पूर्व के उपजाऊ देशों पर चढ़ जाते और वर्षा के पहले घर लौट आते।' अतएव वे कहा करते, "ऋतु जूड़े में जुड़े हुए हमें वहते हैं और जुड़ी हुई ऋतुओं के पीछे पीछे हम चलते हैं।"

केशवपनीय

राजसूय-याजी वर्ष भर तक बाल न कटवावे। उसके पीछे केशवपनीय इष्टि करके, फिर बाल [illegible] किया करे, मुँड़वावे नहीं। न कभी उसे पृथ्वी पर नंगे पैर

चलना उचित है। वह सदा जूते पहने रहे ताकि सब लोगों से ऊँचा रहे।

(शुक्ल यजुर्वेदसंहिता अध्याय ९।१०; मैत्रायणी संहिता २।६, ४।३; शतपथ-ब्राह्मण ५।२-५; कात्यायन श्रौतसूत्र १५ प्रभृति।)

[प्रथम प्रकाशन : **मर्यादा** : दिसम्बर-जनवरी, १९११-१२ ई०]

अश्वमेध

अश्वमेध बड़ा भारी यज्ञ है। इसे केवल चक्रवर्ती ही कर सकता है। इसमें सहस्रों की दक्षिणा है और सैकड़ों पशुओं का याग है। कितनी बातें तो ऐसी हैं कि जिन्हें सर्व-साधारण रीति पर लिखने से कई कल्पनाएं उत्पन्न हो सकती हैं। आज उस यज्ञ की केवल दो बातें लिखी जाएँगी, यजमान का यशगान और घोड़े की रक्षा का प्रबन्ध और पारिप्लव उपाख्यान।

इसमें वर्ष भर तक यजमान का यश गाने के लिये दो वीणा बजानेवाले रखे जाते हैं क्योंकि वीणा श्री का रूप है। जब श्री आती है तभी तो वह खड़काई जाती है। एक ब्राह्मण होता है जो दिन को गाता है और दूसरा क्षत्रिय जो रात्रि को। ब्राह्मण यह गाता है कि "इसने यह यज्ञ किया, यह दान दिया" और क्षत्रिय यह गाता है कि "यह लड़ाई लड़ी या यह संग्राम जीता।"

घोड़ा वेगवान्, हजार गौ के मूल्यवाला, युवा होना चाहिए जिससे अच्छा जूड़े की दहनी ओर कभी न लगा हो। उसका अगला भाग काला, पिछला श्वेत और सामने ललाट पर कृत्तिका नक्षत्र के गाड़े के-से छींटे हों। जब घोड़े को निल्हाते हैं तो एक चार आँखोंवाला कुत्ता (जिसकी आँखों पर दो पीली-पीली टिकलियां होती हैं) सिध्रक के मूसल से मारकर उसके नीचे तराते हैं। जब तक घोड़े के बदन से पानी चूता रहे तब तक होम करते हैं। जब 'प्रयाज' नामक यज्ञ होते रहते हैं तब ब्राह्मण वीणागाथी उत्तर-मंद्र सुर छेड़कर उसके यजमान के यश की तीन अपनी बनाई गाथा गाता और बजाता है कि "यह दिया, यह यजा" और रात को 'धृति' नाम यज्ञों के समय राजन्य भी वीणा पर उत्तर-मंद्रा में तीन अपनी बनाई गाथाएं गाता है कि "यह लड़ा, यह जीता।"

घोड़े के रखवाले सौ राजपुत्र कवचधारारी, सौ राजन्यों के पुत्र खड्गधारी, सौ सूत और ग्रामणियों के पुत्र बाणों के तरकस लिए हुए और सौ क्षत्ता और संग्रहीताओं के पुत्र लट्ठ लिए हुए और सौ थके बुड्ढे घोड़े होते हैं जिनके साथ से घोड़ा बहुत दूर न चला जाय। यजमान उन्हें कहता है कि "हे दिशाओं के रक्षको, इसे सम्हालो। यदि तुम यज्ञ को पूर्ण करा दोगे तो तुम्हें राजभाग, राष्ट्र मिलेगा, तुम राजा होओगे, तुम

अभिषेक-योग्य होओगे; यदि नहीं तो राजभाग से रहित राज्य के अनधिकारी, राजन्य या वैश्य, अभिषेक के अयोग्य, बन जाओगे। इसलिए प्रमाद न करो। स्नान के पानी से इसे बचाओ, घोड़ियों से बचाओ। जो तुम्हें ब्राह्मण मिले उससे पूछो—कि "तुम अश्वमेध का कितना भाग जानते हो। यदि न जानता हो तो उसे लूट लो। क्योंकि अश्वमेध सब कुछ है, जो उसे नहीं जानता वह लूट लेने योग्य है। घोड़े को पानी पिलाओ, चारा चराओ। जो कुछ राज्य में पका-पकाया होगा वह तुम्हें मिलेगा। गाँव-गाँव में रथकार के घर में रहना, क्योंकि वही तुम्हारा विश्रामस्थल है।"

घोड़ा छोड़कर वेदि के दक्षिण को अध्वर्यु एक सुनहरी (जरी के काम की?) गद्दी (कशिपु) बिछाता है। उस पर होता बैठता है। उसके दहने सोने की एक कुर्सी (=कूर्च, पौवेदार आसनी) या सोने के पट्टे (=फलक) पर यजमान बैठ जाता है। उसके पुत्र, मंत्री सब दरबार लगाए उसके पास बैठे रहते हैं। उसके दाहिने ब्रह्मा और उद्गाता सुनहली गद्दियों पर और उनके सामने पश्चिमाभिमुख अध्वर्यु सोने की कुर्सी या पट्टे पर बैठ जाता है।

अध्वर्यु होता को कहता है, "होतः! सब भूतों (जीवधारियों) का उपाख्यान कर, इस यजमान को सब भूतों से ऊपर उठा।" अब होता जो आख्यान आरम्भ करता है वह दस दिन तक चलता है। प्रतिदिन एक जीवधारियों के समूह की व्याख्या की जाती है। यों दस दिन पीछे फिर वही उपाख्यान आरम्भ से चलाया जाता है। वर्ष भर में ३६ बार (१०×३६=३६०) यह उपाख्यान कहा जाता है। यह अवसर मानो घोड़े के घूमने का और उसकी प्रतीक्षा का है। उपाख्यान का नाम 'पारिप्लव' या फिर-फिर पलट कहानी है। सारी प्रजा, स्त्री और पुरुष, युवा और वृद्ध, ऊँच और नीच आ इकट्ठे होते हैं। वीणा बजानेवालों के झुंडों के झुंड आ जुटते हैं। कोई तूंबी की, कोई तीन ताँत की, कोई सात और कोई सौ ताँत की वीणा लिए होते हैं।

पहले दिन होता आरम्भ करता है—"अध्वर्यो!" वह उत्तर देता है—"ह वै होतः (=हाँ भाई होता।" और उपाख्यान के बीच में "ओं होतः!", "तथा होतः", "होयि होतः" यों कहकर हुँकारा देता जाता है। "विवस्वत् का पुत्र मनु राजा, उसकी प्रजा मनुष्य हैं, वे ये बैठे हुए हैं" यों कहकर उनकी ओर इशारा करता है जो गृहस्थ वहां इकट्ठे हैं, नित्य यज्ञ आदि करते हैं, परन्तु वेद पढ़े हुए (क्षोत्रिय) नहीं हैं। "ऋग्वेद इनका विज्ञान है, सो यह है" यों कहकर ऋक् के सूक्त की व्याख्या करता हुआ सा दौड़े। अर्थात्, मनु वैवस्वत का इतिहास सुनावे और ऋग्वेद के सूक्त नियम से पढ़े। जो वीणावालों के जत्थे इकट्ठे होते हैं उन्हें अध्वर्यु कहता है, "वीणागणगिओ! इस यजमान को पुराने साधुकर्ता राजाओं के साथ गाकर मिलाओ।" वे वैसे ही पुराने राजाओं के यश के साथ उसका यश गाकर उसे उनका सलोक कर देते हैं। यों उन्हें कहकर अध्वर्यु घोड़े के सुम की खोज में 'प्रक्रम' (=आगे बढ़ने के) होम करता है। सायंकाल 'धृति' (=दृढ़ता, घोड़े की रक्षा के होम) के समय राजन्य वीणागायी वेदि के दक्षिण को उत्तर मंद्र स्वर में तीन स्वयं बनाई गई गाथाएं गाता है कि "यों लड़ा यों अमुक संग्राम को जीता"

दूसरे दिन सावित्री इष्टि के पीछे वैसे ही काम होता है। होता कहता है, "अध्वर्यो!" उत्तर मिलता है, "ह वै होतः!" होता कहता है, "विवस्वत् का पुत्र यम राजा, उसकी प्रजा पितर् हैं, वे ये बैठे हुए हैं" यों कहकर जो बुड्ढे वहां इकट्ठे हैं उन्हें दिखाता है। "यजु इनका वेद है, सो यह है" यों कहकर यजु के एक अनुवाक को कहता हुआ-सा दौड़े। वीणावालों को पहले की तरह कहे। परंतु 'प्रक्रम' होम न करे (क्योंकि घोड़ा दूर निकल गया अब उसकी खोज कहां)। ये होम या तो आहवनीय अग्नि में किए जाते हैं या बारहवें महीने में जब घोड़ा लौट आता है और अश्वत्थ की बनी घुड़साल में रखा जाता है तब वहीं होम किया जाता है या रथकार के घर में।

तीसरे दिन उसी तरह संबोधनों के पीछे "अदिति का पुत्र वरुण राजा, उसकी प्रजा गंधर्व हैं, वे ये बैठे हैं" यों कहकर जो सुंदर युवा वहां इकट्ठे होते हैं उनकी ओर इंगित करता है। "अथर्वन् (इनका) वेद है, सो यह है" यों कहकर अथर्व के एक पर्व को कह जाय। अथवा शांखायन और आश्वलायन के मत से चिकित्सा-शास्त्र या कोई जाँची हुई ओषधि का उपदेश करे।

चौथे दिन उसी तरह "विष्णु का पुत्र सोम राजा, उसकी प्रजा अप्सराएं, वे ये बैठी हैं" यों कहकर जो सुंदर युवतियां वहां इकट्ठी हैं उन्हें दिखाता है। "अंगिरस् वेद है, वह यह है" यों कहकर अंगिरस् का एक पर्व अथवा घोर (जादू टोटका) सुना दे। [अथर्ववेद के दो भाग हैं, अथर्व ऋषि का 'अथर्व' जिसमें चिकित्सा है और अंगिरस् ऋषि का 'घोर' या अभिचारादि क्रूर कर्म, जैसे कृत्या, सौतों के ऊपर टोने चलाना इत्यादि। पुराने ग्रंथों में 'अथर्वांगिरस' नाम से चौथा वेद कहा जाता है और उसकी अधिक प्रतिष्ठा भी नहीं है।]

पांचवें दिन उसी तरह "कद्रु का पुत्र अर्बुद राजा, उसकी प्रजा साँप हैं, वे ये बैठे हैं" यों कहकर साँप और साँपों को जाननेवाले (काश्यप के बनाए या और किसी विषतंत्र को जानने वाले) बैठे होते हैं, उन्हें दिखाता है। "सर्पविद्या (इनका) विज्ञान है, वह यह है" यों कहकर सर्पविद्या का एक पर्व (गरुड़ या कंकत की बनाई सर्पविद्या या विषविद्या) कहता हुआ चला जाय।

छठे दिन उसी तरह "विश्रवण का पुत्र कुबेर राजा, उसकी प्रजा राक्षस हैं, वे ये बैठें हैं" यों कहकर वहां पर बैठे हुए सेलग, पापकर्ता (निषाद, सैन्यगायन ? म्लेच्छ ? मारवाड़ के सरगड़े=चिड़ीमार ?) लोगों को दिखाता है। "देवगण-विद्या (राक्षस-विद्या, कुहुकरूप-विद्या ?—पिशाचों का जादू) इनका वेद है, वह यह है" यों कहकर वेताल-पिशाचों की विद्या का एक पर्व कहता हुआ चला जाय।

सातवें दिन उसी तरह "असित धान्वन राजा, उसकी प्रजा असुर, वे ये बैठे हैं" यों कहकर (सूदखोरों ?) गुफाओं में या खड्डों में रहनेवालों को जो वहां आए हुए हैं दिखाता है। "मायाविद्या इनका वेद है, वह यह है" यों कहकर मायावेद (असुर-विद्या, अंगुलिन्यास, इंद्रजाल) का एक पर्व सुनाता हुआ चला जाय।

आठवें दिन उसी तरह "मत्स्य साम्मद राजा, उसकी प्रजा जल में रहनेवाले, वे ये यहां बैठे हैं" यों कहकर जो वहां मच्छियों को जाननेवाले या मच्छियाँ मारनेवाले

बैठे हैं उन्हें दिखाता है। "इतिहास (इनका) वेद है, सो यह है" यों कहकर कुछ इतिहास प्राचीन सृष्टि का हाल) कहे।

नवें दिन उसी तरह से "तार्क्ष्य वैपश्यत (या वैपक्षित) राजा है, उसकी प्रजा (वयस्) पक्षी हैं, यहां बैठे हैं" यों कहकर वहां पर उपस्थित पक्षिविद्या जानने वाले (सूत्रों में लिखा है ब्रह्मचारी!) और पक्षियों को दिखाता है। "पुराण ही विज्ञान है, वह यह है" यों कहकर कुछ कहे। [यहां आठवें में मत्स्यपुराण और नवें में वायुपुराण के सबसे पुराने रूपों का तो कहीं उल्लेख नहीं है ?]

दसवें दिन जब उसी तरह से वे तीनों इष्टि की जा चुकती हैं तो वही आवृत्ति होती है। "अध्वर्यो!" "ह वै होत.!" धर्म इंद्र राजा, उसकी प्रजा देवता, वे ये बैठे हुए हैं" यों कहकर वेद पढ़े हुए, दान प्रतिग्रह न करने वाले विद्वानों की ओर इंगित करता है, जो वहां उपस्थित होते हैं। "सामवेद है, वह यह है" यों कहकर दश साम बोले। प्रतिदिन (और आज भी) अध्वर्यु ने बीणावालों के जत्थे को तो वैसे ही हाँक दी है, परंतु 'प्रक्रम' होम नहीं किए।

यों इस 'पारिप्लव उपाख्यान' के कहने से सारे राज्य, सारी प्रजाएं, सारे वेद, सारे देव, सारे भूत कहे जाते हैं। जिसके यहां जानकार होता यों पारिप्लव उपाख्यान कहता है या जो इसे समझता है उसे सब राज्यों की समानता, सलोकता, सब प्रजाओं का ऐश्वर्य, आधिपत्य मिलता है, वह सब वेदों को रोकता (अपनाता) है, सब देवों को प्रसन्न करके सब भूतों में प्रतिष्ठित होता है। वर्ष भर तक दस-दस दिन करके छत्तीस दफा यह कहानी कही जाती है जब तक कि घोड़ा लौट आता है।

इस कथा से यह सिद्ध होता है कि सारी प्रजा यज्ञ में सम्मिलित होती थी, राजा को सबमें अपनापन की बुद्धि होती थी। जो लोग अंत्यजों को वैदिक धर्म से दूर समझते हों, वे इस आख्यान को ध्यान से पढ़ें।

(आश्वलायन अं० १०; शांखायन १६; शतपथ ब्राह्मण १३/४; कात्यायन श्रौतसूत्र २० प्रभृति)

[प्रथम प्रकाशन : **मर्यादा** : दिसम्बर-जनवरी, १९११-१२ ई०]

सौत्रामणी का अभिषेक

सौत्रामणी अथवा सुत्रामा (अच्छा बचानेवाला = इंद्र) का यज्ञ राजसूय के पीछे ही किया जाता है। गौरीवीति शाक्य और श्विन्को के राजा ऋषभ याज्ञतुर ने इसके अभिषेक की बहुत प्रशंसा की है। उदुंबर की बनी हुई घुटनों भर ऊँची एक आसन्दी बिछाई जाती है—"तू क्षत्र की योनि है, तू क्षत्र की नाभि है।" यह बेंत की बुनी होती है और इसके दो

पौए उत्तर वेदि में और दो दक्षिण वेदि में रखे जाते हैं। उस पर काले मृग का चर्म बिछाया जाता है जिसके बाल ऊपर को हों—"यह तुझको हानि न पहुंचाए, यह मुझको हानि न पहुंचाए।" उस पर यजमान बैठता है—

"बैठा धृतव्रत होके वरुण प्रजा निवासों में।
साम्राज्य के लिए सुकर्मा ।।"

अपने बाएँ पैर के नीचे चाँदी का चाँद रखता है—"मुझे मौत से बचा।" सिर पर या दहने पाँव के नीचे सोने का चाँद रखता है—"मुझे बिजली से बचा।"

३३ खुरों के प्यालों से वसा का होम किया जाता है—"प्राज्ञों ने ऊन, सीसे और तागे तथा मन से कवियों ने यज्ञरूपी जाला बुना; अश्विन्, सविता, सरस्वती और वरुण ने इंद्र के रूप की चिकित्सा की।" बाकी बची वसा को बेंत के बुने हुए प्याले में लेते हैं। यजमान के सारे शरीर पर सब सुगंधित वस्तुओं का उबटन करते हैं। चौतरफ घूमकर अभिषेक यों किया जाता है कि वसा मुँह तक बहकर आ जावे—

"तुझे देव सविता की प्रेरणा से, अश्विनों की बाँह से, पूषा के हाथ से, अश्विनों की चिकित्सा से तेज और ब्रह्मवर्चस् के लिए अभिषिक्त करता हूं। ० सरस्वती की चिकित्सा से वीर्य और अन्न के लिए ०। ० इंद्र के इंद्रिय से बल और श्री के लिए अभिषेक करता हूं।"

अध्वर्यु यजमान को छूता है—"तू क (प्रजापति) है, सब से अच्छा क है, तुझ क को क (ऐश्वर्य) के लिए।" यजमान अपनी प्रजा को संबोधन करता है—"हे अच्छे यशवाले ! हे सुमंगल ! हे सत्य राजावाले !"

यजमान अपने प्रत्येक अंग को हाथ लगा-लगाकर कहता है—"मेरा सिर श्री हो, मुख यश हो, केश और मूंछ प्रकाशमान हों। मेरा प्राण राजा और अमृत हो, आँख सम्राट् और कान विराट् हों। जीभ मेरा मंगल हो, शब्द महिमा हो, मन क्रोध हो, मेरा गुस्सा स्वतंत्र हो, अँगुली मोद हों, अंग प्रमोद हों, पराक्रम मेरा मित्र हो, बाहु मेरे बल हों, इंद्र के सदृश मेरे हाथ वीर्यकर्म हों, मेरी आत्मा और छाती क्षत्रिय तेज हों। मेरी पसलियां, पेट, कंधे राष्ट्र हों, गरदन, पुट्ठे, जाँघ, कवजे, घुटने और सब ही अंग मेरी प्रजा हों, सब तरफ। नाभि मेरा चित्त हो, बैठक मेरी विज्ञान हो। इंद्रिय मेरा आनंद और सौभाग्य हो। जाँघों से और पैरों से मैं धर्म हूं, प्रजा में राजा प्रतिष्ठित।"

नौकर यजमान की आसनी को पहले घुटनों तक उठाते हैं, फिर नाभि तक और फिर मुंह तक, फिर उसे नीचे रख देते हैं।

यजमान उतरकर पढ़ता है, "मैं क्षत्र में प्रतिष्ठित होता हूं और राष्ट्र में, मैं अश्वों में प्रतिष्ठित होता हूं और गौओं में, अंगों में प्रतिष्ठित होता हूं और आत्मा में, प्राणों में, द्यावा पृथिवी में और यज्ञ में प्रतिष्ठित होता हूं।"

(शुक्ल यजुर्वेद संहिता अध्याय २०; शतपथ ब्राह्मण १२।८; कात्यायन श्रौतसूत्र १९।४ प्रभृति।)

[प्रथम प्रकाशन : मर्यादा : दिसम्बर-जनवरी १९११-१२ ई०]

शुनःशेप की कहानी

इक्ष्वाकु वंश का राजा हरिश्चन्द्र, वेधस् का पुत्र, अपुत्र था। उसके सौ स्त्रियां थीं। उनके कोई पुत्र न हुआ। उसके घर में पर्वत और नारद ऋषि आकर रहे। राजा ने नारद से पूछा—

जो जानें जो नहिं जानें, पुत्र को सब चाहते।
कहिए नारद मुझे पुत्र से फल क्या मिले?

एक गाथा कहकर उससे पूछा गया था, उसने दस में उत्तर दिया—

ऋण को उस्में धरता, औ पाता अमृतत्व को।
पिता जो अपने जाए पुत्र का मुख देख ले॥
जितने भोग पृथ्वी में, अग्नि में जल में तथा।
जीवों को, उनसे बढ़के पिता को पुत्र में मिले॥
तरा घोर अँधेरे को पुत्र से नित्य बाप ने।
आत्मा से जन्मता आत्मा, यह नौका तरावनी॥
"क्यों मैले रहते? विप्रो! चर्म क्यों? केश क्यों बढ़े?
तप क्यों? सुत ही चाहो"—यों हैं लोग बखानते॥
अन्न जिलावे, वस्त्र ढके तन, रूप स्वर्ण दे, भार वहें पशु।
दयापात्र बेटी, स्त्री साथी, पुत्र ज्योति है लोक परम में॥
जाया में पति पैठे है गर्भ हो, मा करे उसे।
उसी में फिर नया हो के दसवें मास जन्मता॥
जाया जाया कहाती है कि उसमें फ़िर जन्म हो।
बढ़ती महिमा की है, बढ़ाती धृतवीर्य को॥
ऋषियों देवताओं ने महातेज दिया उसे।
देव बोले मनुष्यों से "जनेगी फिर तुम्हें यही"॥
अपुत्र का ठिकाना न पशु सब जानते यही।
सुत जोड़ा करे उनमें मा बहन से इसी लिये॥
मार्ग बड़ा बहुतों का गाया जिस पर सुतयुत चलें अशोक।
इसको पशु पक्षी भी जानें तो ही वे करते जननी योग।

यों कहकर उसे कहा कि—"वरुण राजा से प्रार्थना कर कि मेरे पुत्र हो तो उसे तुझे चढ़ाऊं।" "अच्छा।" यह वरुण राजा के पास गया और यह विनती की कि—"मेरे पुत्र हो जाय, उससे तेरा याग करूं।" उसके रोहित नाम का पुत्र हुआ। वरुण ने राजा से कहा—"तेरे पुत्र जन्मा उससे मेरा याग कर।" राजा ने कहा कि—"जब पशु दश

१. ऐतरेय ब्राह्मण से उद्धृत। (ऐ० ब्रा०, ७वीं पंचिका, ३रा अध्याय—संपादक)

दिन से बढ़ जाता है तब वह यज्ञ के योग्य होता है, दश दिन लांघने दो तब तुझे यजूं।" "ठीक है।" वह दश दिन का हो गया। वरुण ने राजा से कहा—"दश दिन को लांघ गया, अब मुझे इससे यज।" राजा बोला—"जब पशु के दाँत निकल आते हैं तब वह यज्ञ के योग्य होता है, दाँत इसके हो जायं तब तुझे यजूँ।" "ठीक है।" उसके दाँत हो गए। वरुण ने राजा से कहा—"इसके दाँत हो गए हैं, अब मुझे इससे यज।" राजा बोला—"जब पशु के दाँत गिर जाते हैं तब वह मेध के योग्य होता है, दाँत इसके गिर जायं तब तुझको इससे यजूं।" "ठीक है।" उसके दाँत भी गिर गए। वरुण ने राजा से कहा—"इसके दाँत गिर गए हैं, अब मुझे इससे यज।" राजा बोला—"जब पशु के दाँत फिर उग आते हैं तब वह मेध्य होता है, दाँत इसके फिर हो जायं तब तुमको इससे यजूं।" "अच्छा।" उसके दाँत फिर निकल आए। वरुण ने राजा से कहा—"फिर इसके दाँत निकल आए हैं, अब मुझे इससे यज।" वह बोला—"जब क्षत्रिय कवचधारी होता है तब वह मेध्य होता है, कवच पाने का उठान इसे पाने दो तब तुझको इससे यजूं।" "अच्छा।" वह कवच पा गया। वरुण बोला—"अब यह कवच पा गया है, इससे मुझे यज।" यों कहते ही उसने बेटे को बुलाया और कहा—"लाल, तुझको मुझे इसने दिया है, तुझसे मैं अब इसे यजूंगा।" वह 'नहीं' कहकर धनुष तानकर वन में चला गया। वहां वह वर्ष भर घूमता फिरा। इधर इक्ष्वाकुवंशी राजा को वरुण ने धर लिया और उसे जलोदर हो गया। यह रोहित ने सुना। वह जंगल से बस्ती में आया। उसके पास इंद्र पुरुष के रूप से आकर बोला—

"श्रमी को रोहित ! सुना लक्ष्मी बहुविधा मिले।
बैठा निगोड़ा पापी है, फिर्ते का मित्र इंद्र है॥

तू घूमता रह"। 'मुझे ब्राह्मण ने कहा है कि घूमता रह' इसलिये वह दूसरे वर्ष भी वन में रहा। फिर जब वह वन से बस्ती में आया तो इंद्र पुरुष-रूप से सामने आकर बोला—

"घूमते की जांघ फूले, बढ़े आत्मा, मिले फल।
सो जाते पाप सब उसके श्रम से मार्ग में हने॥

तू घूमता रह।" 'मुझे ब्राह्मण ने कहा है कि विचरता रह' इसलिये वह तीसरे वर्ष भी वन में रहा। वह जब पुनः वन से बस्ती को आया तो इंद्र ने पुरुष-रूप से आकर उसे कहा—

"बैठे का भाग्य बैठा है, खड़े का भाग्य हो खड़ा।
पड़े का भाग्य सोता औ चलते का बढ़ा करे॥

तू घूमता ही रह।" 'मुझे ब्राह्मण ने कहा है विचरता रह' इसलिये वह चौथे वर्ष भी वन में रहा। फिर जब वह वन से बस्ती को आया तो उससे इंद्र पुरुष-रूप से आकर बोला—

"सोता कलि कहाता है द्वापर स्थान छोड़ता।
त्रेता वह खड़ा जो हो, चलता कृत ही बने॥

अथवा

(राजसूय में जो पासों के नाम और अर्थ कहे हैं उनके अनुसार—)

'कलि' सोया 'द्वापर' चला, 'त्रेता' तो है अभी खड़ा।
'कृत' बढ़ता चला आता, जीत की आस पूर्ण है ॥

घूमता ही रह।" 'तू घूमता ही रह' यह मुझे ब्राह्मण ने कहा है, ऐसा सोच कर वह पांचवें वर्ष भी वन में फिरा। वह अरण्य से वस्ती को आया तो इंद्र ने पुरुष रूप से आकर कहा—

"विचरे मधु को पावे, पीठे फल उदुम्बर।
सूर्य की महिमा देखो घूमता ऊँघता नहीं ॥

घूमता ही रह।" मुझे ब्राह्मण ने कहा है कि 'घूमता ही रह' यह सोचकर वह छठे वर्ष जंगल में फिरा। वहां जंगल में उसे भूख से मरता हुआ सुयवस का पुत्र अजीगर्त ऋषि मिला। उसके तीन पुत्र थे। रोहित ने उसे कहा—"ऋषे, मैं तुझे सौ (गौएं) दूंगा, इनमें से एक के बदले अपने को वेंच बचाऊंगा।" वह बड़े पुत्र को पकड़कर बोला—"इसे तो नहीं" और छोटे को "इसे भी नहीं" यों माता बोली। वे दोनों बिचले शुनःशेप पर राजी हो गए। उसको सौ देकर, उसको लेकर, वह वन से ग्राम को आया। आकर वह पिता से बोला—"तात, मैं इससे अपने को बदल वेचता हूं।" वह उसी को ले वरुण राजा के पास पहुंचा कि—"इससे तुझे यजूं।" वरुण ने कहा—"अच्छा, क्षत्रिय से ब्राह्मण बढ़कर है" और राजा को राजसूय यज्ञ समझाया। राजा ने उस अभिषेचनीय (अभिषेक) के यज्ञ में पशु की जगह उस पुरुष को पकड़ा (बलि के लिये)।

राजा के यज्ञ में विश्वामित्र होम करनेवाला, जमदग्नि यज्ञ का प्रबंध करनेवाला, वशिष्ठ भला-बुरा देखनेवाला और अयास्य साम गानेवाला था। जब उस शुनःशेप को मंत्रित किया गया तो उसे खूंटे से बाँधनेवाला कोई न मिला। सुयवस का पुत्र अजीगर्त बोला—"मुझे और सौ दो, में इसको बाँध दूंगा।" उसे और सौ (गौएं) दीं, उसने बाँध दिया। जब उसे मंत्रित कर दिया, बाँध दिया, आप्री मंत्र पढ़ दिए गए और उसके चारों ओर आग घुमा दी गई तो कोई उसे मारनेवाला न मिला। सुयवस का पुत्र अजीगर्त बोला—"मुझे और सौ दो, मैं इसे काट दूंगा।" उसे और सौ दिए। वह खड्ग पर धार देता हुआ आया। अब शुनःशेप ने सोचा—"नहीं मनुष्य (=पशु) की तरह ही ये मुझे काटना चाहते हैं, भला मैं देवताओं को तो पुकारूं।" वह पहले देवताओं में प्रथम प्रजापति के पास पहुँचा (=स्तुति की) इस मंत्र से—

अमृतों में किस देव कौनसे का हम ध्यावें सुन्दर नाम ?
कौन मुझे फिर देय अदिति को, मात-पिता को देखूं जाय ॥

(ऋग्वेद १।२४।१)

उसे प्रजापति ने कहा—"अग्नि देवताओं में से सब से पास है, उससे प्रार्थना

कर।" उसने इस मंत्र (ऋग्वेद १।२४।२) से अग्नि की प्रार्थना की—

अमृतों में से प्रथम अग्नि का हम ध्याते हैं सुन्दर नाम।
वही मुझे फिर देय अदिति को, मात-पिता को देखूं जाय।।

अग्नि ने उसे उत्तर दिया—"सविता सब जन्मवालों का स्वामी है उसी के पास जा।" उसने "अभि त्वा देव सवितः" इन तीनों मंत्रों से सविता की प्रार्थना की (ऋग्वेद १।२४।३-५)। सविता ने उसे उत्तर दिया—"राजा वरुण के लिये बाँधा गया है, उसी के पास जा।" उसने इसके आगे के इकतीस मंत्रों (ऋ० १।२४।६।—१।२५।२१) से राजा वरुण की स्तुति की। उसे वरुण ने कहा—"अग्नि देवताओं का मुख है, सबसे सहृदय है; उसकी स्तुति कर फिर तुझे छोड़ देंगे।" उसने उसके आगे के बाईस मंत्रों से अग्नि की स्तुति की (ऋग्वेद १।२६।१—१।२७।१२)। उससे अग्नि ने कहा—"विश्वदेवों की स्तुति कर फिर तुझे छोड़ देंगे।" उसने विश्वदेवों की स्तुति की "नमः बड़ों को नमः छोटों को" इस ऋक् से (१।२७।१३)। उसे विश्वदेवों ने कहा—"इंद्र सब देवों में सबसे बलवान्, तेजवाला, सहनेवाला, सच्चा और पार पहुंचानेवाला है; उसकी स्तुति कर फिर तुझे छोड़ देंगे।" उसने इंद्र की स्तुति ऋग्वेद १।२९ से १३० के पंद्रह मंत्रों से की। इंद्र ने उसकी स्तुति से प्रसन्न होकर उसे सोने का रथ दिया। इस वर को उसने ऋग्वेद ३।३०।१६ से स्वीकार किया। उसे इंद्र ने कहा—"अश्विनों की स्तुति कर, फिर तुझे छोड़ देंगे। उसने इसके आगे के तीन मंत्रों (ऋग्वेद १।३०।१७—१९) से अश्विनों की स्तुति की। अश्विनों ने उत्तर दिया—"उषा की स्तुति कर फिर तुझे छोड़ देंगे।" उसने इसके आगे के तीन मंत्रों (ऋग्वेद १।३०।२०—२२) से उषा की स्तुति की। उसकी एक ऋक् कहते ही पाश ढीले पड़ गए और वह खुल गया और राजा इक्ष्वाकुवंशी का पेट हलका होने लग गया। और अंतिम ऋक् के कहते ही पाशों से छूट गया और ऐक्ष्वाकु नीरोग हो गया।

ऋत्विजों ने अब शुनःशेप से कहा—"तुम ही हमारी आज इस दिन की संस्था (प्रधानता) को लो।" तब शुनःशेप ने जल्दी सोमरस निकालने की चाल निकाली और ऋग्वेद १।२८।५-८ इन चार ऋचाओं से सोम को कूट निचोड़ा और फिर ऋग्वेद १।२८।९ से उस सोम को द्रोणकलश में डाला। जब राजा हरिश्चन्द्र ने उसे छू लिया तब उसने 'स्वाहा' कहकर ऋग्वेद १।२८।१-४ इन चार मंत्रों से उस सोम को होमा। तब राजा को ऋग्वेद ४।१।४-५ इन दो मंत्रों से अवभृथ स्नान कराया और फिर "शुनश्चिच्छेपं निदितं सहस्रात्" इस मंत्र (ऋ० ५।२।७) से आहवनीय अग्नि के पास पहुँचाया।

अब शुनःशेप विश्वामित्र की गोद में जा बैठा। सुयवस का पुत्र अजीगर्त बोला, "ऋषे, मेरे पुत्र को लौटा दो।" विश्वामित्र ने कहा—"नहीं, देवताओं ने मुझे यह दिया है।" वह विश्वामित्र का पुत्र देवरात हुआ जिसके वंश में ये कापिलेय और बाभ्रव हैं। सुयवस से पुत्र अजीगर्त ने फिर कहा कि—"आ जा, हम दोनों तुझे बुलाते हैं।" और फिर उसने कहा—

जन्म से अंगिरागोत्री मेरा पुत्र प्रसिद्ध तू।
ऋषे, कवे, लौट; मत जा दादा की तंतु से परे ॥

शुनःशेप ने कहा—

देखा तुझे खंग लिए, शूद्रों में भी न ये मिले।
अंगिरः! तीन सौ गौएं मुझसे श्रेष्ठ मान लीं!!

अजीगर्त सौयवसि बोला—

लाला! मुझे जलाता है पाप कर्म किया हुआ।
मिटाना चाहता दोष वह सौ गौ तुम्हें मिलें॥

शुनःशेप ने उत्तर दिया—

एक जो पाप कर ले दूसरा वह फिर करे।
न हटा शूद्र-अन्याय से तू संधि न हो सके॥

"अवश्य यह काम संधि के योग्य नहीं है" यह विश्वामित्र ने भी कहा। और कहा—

अजीगर्त महाभीम खड्ग ले काटने खड़ा।
दीखे था, पुत्र इसका हो मत, मेरा बनो सुत॥

शुनःशेप बोला—

राजपुत्र मुझे आप समझा कह दीजिए।
न खोऊँ अंगिरा गोत्र, हो जाऊँ पुत्र आपका॥

विश्वामित्र ने कहा—

तू जेठा पुत्र मेरों में, तेरी संतान श्रेष्ठ हो।
दैवी संपत्ति मेरी ले, हो उससे अभिमंत्रित॥

शुनःशेप ने कहा—

मान लें पुत्र तेरे जो तो मुझे श्री प्रसाद हो।
कह दो भरतश्रेष्ठ उन्हें क्योंकर बना सुत॥

अब विश्वामित्र ने पुत्रों को सम्बोधन किया—

मधुच्छंदा सुनो बात रेणु ऋषभ अष्टक।
जितने तुम भाई हो इससे ज्येष्ठ ना बनो॥

ऋषि विश्वामित्र के सौ पुत्र थे—पचास मधुच्छंदस् से बड़े, पचास छोटे। जो बड़े थे उन्होंने यह भला न माना। विश्वामित्र ने उन्हें शाप दिया कि "तुम्हारी संतान अंत्य (जाति) को भोगेगी।" वे ये अंध्र, पुंड्र, शबर, पुलिंद, मूतिब, चोरों से भरे हुए

बहुत अंत्य (अंत जाति या अंत देशवाले) विश्वामित्र के वंश के हैं। मधुच्छंदस् पचास छोटों के साथ बोला—

जो हमारा पिता माने उस पर हम हैं खड़े।
आगे करें आपको औ पीछे हैं हम आपके ।।

विश्वामित्र ने प्रसन्न होकर अपने पुत्रों की स्तुति की—

"पुत्रो तुम पशुओंवाले पुत्रोंवाले सदा रहो।
क्योंकि मेरी बात मानी वीरवाला मुझे किया ।।
गाथिपुत्रो ! देवरात अग्रणी से समृद्ध हो।
रहोगे, सुतवालो ! यह ले जावे सत्यमार्ग में ।।
वीर तुम में देवरात कुशिको ! इस पर चलो।
पाए ये तुमको, मेरे दाय को, सब ज्ञान को ।।"
सीधे विश्वामित्र-पुत्र श्रेष्ठ गिन देवरात को।
गाथिपौत्र धनी साथ कीर्ति सम्पतिवान् हुए ।।
ऋषि दोनों बपौती का कहाता देवरात यों।
जह्नु गोत्री राजपति और विद्यापतिगाथि का ।।

यह सौ ऋचाओं से ऊपर गाथाओं वाला शुनःशेप का उपाख्यान है जिसे होता अभिषेक किए पीछे राजा को सुनावे। सोना मढ़ी हुई गद्दी पर बैठकर होता इसे कहता है और सोना मढ़ी हुई गद्दी पर बैठकर ही अध्वर्यु इसके उत्तर देता है। होता ऋक् सुनावे तो अध्वर्यु 'ओम्' कहे और गाथा पढ़े तो 'यों ही, वैसे ही' कहकर हुँकार भरे। राजा जब जीते, चाहे वह यज्ञ न करे तो भी, यह शुनःशेप की कथा कहलावे, उसमें तनिक भी पाप नहीं बच रहता। कहनेवाले को सहस्र गौएं दे और उत्तर में 'हाँ' 'हूँ' कहनेवाले को सौ। वे दोनों आसन उन्हें प्रत्येक को दे दे और चाँदी से मढ़ा हुआ एक खच्चरों का रथ होता को। पुत्र चाहनेवाले भी इस कथा को कहलावें तो वे पुत्रों क पाते हैं।

इस कथा को पढ़कर यह अनुमान करना भूल है कि मनुष्यबलि प्रायः होती थी। प्रत्युत काटनेवाले का न मिलना आदि बातें इस घटना का निरालापन दिखाती हैं। यह कहानी दिखाती है कि दीनता और भूख मनुष्य को किस नीच कर्म करने तक पहुँचा देती है, कैसे परिश्रम से खोजनेवाले को सब कुछ मिलता है, कैसे दृढ़ मनुष्य देवताओं को प्रसन्न कर लेता है और कैसे अपने पिता के हाथ से मारे जाने से बच कर अपनी विद्या के बल से संस्थापित और दो कुलों का स्वामी हो सकता है। राजा को अभिषेक के पीछे इस कथा को सुनाने का तात्पर्य यह है कि वह हरिश्चन्द्र की-सी भयंकर प्रतिज्ञा कभी न करे, आपत्ति आने पर भी निराश न हो, रोहित की तरह घूमता रहे और अपने सुराज्य से ऐसा अवसर न दे कि लोग भूख के मारे अजीगर्त के-से नर-पिशाच बन जायँ।

[प्रथम प्रकाशन : मर्यादा : दिसम्बर-जनवरी, १९११-१२ ई०]

पुराने राजाओं की गाथाएं

यों तो ऋग्वेद में बहुत से राजाओं की 'दानस्तुति' है, परन्तु यहां पर उन्हीं राजाओं का उल्लेख किया जाता है जिनके विषय की गाथाएं ऐतरेय ब्राह्मण में ,ऐंद्र महाभिषेक के प्रसंग में और शतपथ ब्राह्मण में अश्वमेध के प्रसंग में दी हैं। संभव है कि अध्वर्यु के इस कहने पर कि—"इस यजमान के पुराने साधुकर्ता राजाओं के साथ गाओ" वीणा वालों के झुंड इन्हीं को गाते हों। क्या ही अच्छा होता यदि पारिप्लव उपाख्यान के प्रतीक मात्र न रहकर पूरी कथाएं रहतीं और उन ब्राह्मण और राजन्य वीणा-गाथियों की 'अपने आप भरी हुई' गाथाओं के कुछ नमूने भी बचते। गाथाएं बहुत पुरानी हैं। ब्राह्मण-काल के पहले से ही 'अभियज्ञ गाथाएं' चली आती हैं। ये पुराणों की बीज हैं और ऋग्वेद के मंत्र और जंदावस्था की गाथाओं से उस तरफ और बौद्ध-गाथाओं से इस तरफ बहुत संबंध रखती हैं।

जनमेजय, परीक्षित का पुत्र

तुर कावषेय ने उसका ऐंद्र महाभिषेक किया और इंद्रात दैवाप शौनक ने उसे अश्वमेध कराया। गाथा—

आसंदी वाले देश में, धान खानेवाला, सोने के चाँद और कंठे पहननेवाला।
चितकबरा घोड़ा बाँधा देवताओं के लिए जनमेजय ने॥

भीमसेन, उग्रसेन श्रुतसेन, परीक्षित के पोते

इनने क्रमः ज्योति-अतिरात्र, गौ अतिरात्र और आयु-अतिरात्र यज्ञ किए। गाथा—

परीक्षित के पोते, यजमान अश्वमेध से, एक के पीछे एक।
पुण्यात्माओं ने छोड़ा पाप कर्म को पुण्य कर्म करके॥

भरत दौष्यंति

ममता के पुत्र दीर्घतमा ऋषि ने इसका ऐंद्र महाभिषेक किया और इसने विष्णुक्रांत अश्वमेध किया। तब इसने यह व्याप्त राज्य पाया जो भरतों का है। गाथाएं—

सोने से ढके हुए काले श्वेत दाँतों वाले मृगों (हाथियों) के। एक सौ सात बद्व (टोले) भरत ने मष्णार (देश) में दिए॥

दुष्यंत के पुत्र भरत ने यह अग्नि साचिगुण देश में (वेदि पर) चिना। जहां सहस्रों ब्राह्मणों ने टोले-टोले गौएं बांटीं (आपस में)॥

अठत्तर भरत दुष्यंत के पुत्र ने यमुना तट पर। और गंगा पर पचपन घोड़े वृत्र के मारनेवाले (इंद्र) के लिए बाँधे॥

राजा एक सौ तेंतीस यज्ञीय घोड़ों को बाँधकर। दुष्यंत का पुत्र (सुद्युम्न का वंशधर) और मायावी राजाओं को अपनी अधिक माया से जीता।।

अप्सरा शकुंतला ने नाडपित् (कण्व के आश्रम?) में भरत को (गर्भ में) धारण किया।।

जिसने सारी पृथ्वी को जीतकर इंद्र के लिए यज्ञ के योग्य हजार से ऊपर घोड़े लाए।।

बड़ा कर्म भरत का न तो पहले न पिछले जने। मर्त्य, जैसे आकाश को हाथों से न पा सके और न पाँचों मनुष्य।।

पाँचों मनुष्यों से अभिप्राय ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषादों से है।

मरुत्त आविक्षित

संवर्त आंगिरस ने इसका ऐंद्र महाभिषक किया और इसने महाव्रत अतिरात्र अश्वमेध यज्ञ किया। यह जाति का आयोगव था। गाथा—

मरुत परोसने वाले मरुत के घर में रहे। अविक्षित के पुत्र, काम-पूरक के यहां, अग्नि द्वाररक्षक और विश्वेदेव सभासद।।

शतानीक सात्राजित

सोमशुष्मा वाजरत्नायन ने इसका ऐंद्र महाभिषेक किया। इसने काश्य (काशी के) राजा के घोड़े को हर के गोविनत नाम अश्वमेध किया। तब से काशि लोग अग्नि ही नहीं रखते कि 'हमारा सोमपान हरा गया'। गाथाएं—

शतानीक सत्राजित के पुत्र ने पड़ोस में काशियों के यज्ञरूपी।
पवित्र घोड़े को हर लिया जैसे भरत ने सत्वतों के (घोड़े को)।।
राज्य के पड़ोस में दशम मास में स्वच्छंद चरते हुए धृतराष्ट्र के यज्ञीय।
श्वेत घोड़े को लेकर शतानीक ने गोविनत से यज्ञ किया।।
आज तक भरतवंशियों की बड़ाई को न पहले के और के पीछे के न जने पा सके।
न सातों (जाति के) मनुष्य, जैसे मर्त्य आकाश को बगलों से।।

शार्यात मानव

च्यवन भार्गव ने इसका ऐंद्र महाभिषेक किया था। यह देवताओं के सत्र में भी गृहपति बनाया गया था। विशेष मेरी लिखी 'सुकन्या की वैदिक कहानी'[1] में देखिए।

आंबाष्ठ्य

इसका ऐंद्र महाभिषेक पर्वत और नारद ऋषियों ने किया था। (क्या यह अंबष्ठ जाति का था?)

---

१. देखें: इस ग्रंथ का पृष्ठ २६५।—सम्पादक

युधांश्रोष्ठि, उग्रसेन का पुत्र

इसका ऐंद्र महाभिषेक पर्वत और नारद ने किया था।

विश्वकर्मा भौवन

कश्यप ने इसका ऐंद्र महाभिषेक किया। भूमि ने यह गाथा गाई थी—

न मुझे कोई मनुष्य दे सकता है (सारी को) भुवन के पुत्र विश्वकर्मन्, तूने मुझे दे डाला! मैं समुद्र के जल में डूब जाऊंगी, कश्यप को की हुई तेरी प्रतिज्ञा (सारी पृथ्वी देने की) व्यर्थ है॥

सुदास पैजवन

इसका ऐंद्र महाभिषेक वसिष्ठ ने किया था। 'ऋग्वेद' में इसकी दानस्तुतियों का वर्णन है।

अंग

इसका दूसरा नाम अलोपांग था, क्योंकि सारे शरीर के अंग इसके सुंदर और नीरोग थे। इसका ऐंद्र महाभिषेक उदमय आत्रेय ने किया। राजा ने यह गाथा कही थी—

दस हजार हाथी और दस हजार दासियां।
तुझे मैं देता हूँ हे ब्राह्मण! मुझे इस यज्ञ में बुला॥

क्योंकि प्रियमेधस् (ऋषि) लोग उस समय उदमय आत्रेय को यज्ञ करा रहे थे। उसकी ये गाथाएं हैं—

जिन गौओं से प्रियमेधस् के पुत्रों ने उदमय को यज्ञ कराया।
अत्रि के पुत्र उसने (प्रति गौ के लिये) दो हजार टोले बीच में रखे॥
अट्ठासी हजार श्वेत घोड़े विरोचन के पुत्र ने।
यज्ञ करते हुए अपने पुरोहित को (उदमय को) अच्छे रथ खैंचनेवाले खोलकर दिए॥
देश देश से लाई हुई सब धनाढ्य कन्याएं।
दस हजार दीं आत्रेय ने सोने के कंठे (निष्क) पहनने वालीं॥
अत्रि का पुत्र अवचत्नुक देश में दस हजार हाथी देकर।
ब्राह्मण थक गया और अपने पड़ोसियों को अंग का दान लेने के लिये बोला॥
"तुझे सौ" "तुझे सौ" यों कहते कहते थक गया।
"तुझे हजार" "तुझे हजार" यों कहकर साँस लेने लगा॥

दुर्मुख पांचाल

बृहदुक्थ ऋषि ने इसे ऐंद्र महाभिषेक सुनाया, जिससे यह राजा न होकर भी (=जन्म से क्षत्रिय न होकर भी?) दिग्विजयी हुआ। इसे छोड़ और ऊपर के सबने अश्वमेध भी किए थे।

शोण सात्रासाह पांचाल

इसने त्रयस्त्रिंश स्तोम अश्वमेध किया। गाथाएं—

सात्रासाह का पुत्र जब अश्वमेध कर रहा था।
तब तुर्वश देश के तेंतीस घोड़े निकले और छः हजार कवचधारी ।।
छः छः करके, छः हजार तुझ कोक के पिता के।
यज्ञ में तेतीस (स्तोम ?) निकले और छः हजार कवचधारी ।।
पांचाल राजा सात्रासाह जब अच्छी मालाएँ पहन कर यज्ञ कर रहा था।
इंद्र सोम से मस्त हुआ और ब्राह्मण धनों से तृप्त हुए ।।

क्रैव्य पांचाल

'क्रिवि' यह पहले पांचालों (देश और जाति) का नाम था। वहां के इस राजा ने आप्तोर्याम अतिरात्र अश्वमेध किया।

क्रिवियों में सबके सिरमौर (अतिपुरुष) ने यथार्थ अश्व को पकड़ा।
पांचाल ने परिवक्रा में, सौ हजार (गौएँ) जिसकी दक्षिणा थी ।।
हजार अयुत (दस हजार या अनगिनत ?) थे और पच्चीस सौ थीं।
(दक्षिणाएँ) जिन्हें दिशा दिशा से आकर पांचालों के ब्राह्मणों ने बाँटा ।।

पर आट्णार, कोशल का राजा

अभिजित् अतिरात्र अश्वमेध से यज्ञ करने वाले इस राजा के विषय में यह गाथा है—

अट्णार के पुत्र ने यज्ञ के योग्य अश्व को बांधा। सोने की मेखला पहननेवाले कौशल्य ने, और पूरी दिशाएं दान में दीं ।।

पुरुकुत्स, इक्ष्वाकु वंश का

इसने विश्वजित् अतिरात्र नामक अश्वमेध दौर्गह अश्व से किया। इसी को लक्ष्य करके ऋग्वेद के चौथे मंडल ४२ सूत्र में[1] पुरुकुत्स का पुत्र त्रसदस्यु कहता है कि—

वे हमारे पुरखा सात ऋषि यहां थे दौर्गह के बाँधे जाने के समय। उनने त्रसदस्यु, इंद्र के समान वृत्रहंता को इस पृथ्वी का अर्धदेव यज्ञ से बनाया ।।

ध्वसन् द्वैतवन

इस मत्स्य (देश और जाति) के राजा ने अनुष्टुप्-संपन्न अश्वमेध किया। गाथा—

१. ८वें मंत्र में।—सम्पादक

संग्रामों में जीतनेवाले द्वैतवन राजा ने चौदह घोड़े। वृत्रहा इंद्र के लिये बांधे इससे द्वैतवन सरोवर (का नाम पड़ा)।।

ऋषभ याज्ञतुर

श्विन्कों के इस राजा ने एक विंशस्तोम अश्वमेध किया जैसा कि गाथा में कहा है—

ऋषभ याज्ञतुर राजा के यज्ञ करने पर ब्राह्मण।
अश्वमेध में धन पाकर दक्षिणाएँ बाँटते थे।।

अत्यराति जानंतपि

वसिष्ठ-गोत्री सत्यहव्य के पुत्र ऋषि ने जनंतपि के पुत्र अत्यराति को ऐंद्र महाभिषेक सिखाया जिससे वह राजा न होकर भी अपनी विद्या से सब पृथ्वी को जीतता गया। तब सात्यहव्य वसिष्ठ ने उसे कहा—"तैंने पृथ्वी (समुद्र-)तीर तक जीत ली, अब मुझे बड़प्पन को पहुंचा।" अत्यराति ने उत्तर दिया—"ब्राह्मण, जब मैं उत्तरकुरु (तिब्बत?) जीत लूं तो तू ही राजा पृथ्वी का बन जाना। मैं तेरा सेनापति ही रहूँगा।" उत्तर मिला—"वह तो देवक्षेत्र है, उसे मर्त्य कभी जीत नहीं सका; तैंने मेरे से द्रोह किया है, तो मैं (तेरा सारा विजय) तुझसे ले लेता हूं।" यों वीर्य-रहित निस्तेज हो जाने पर जानंतपि को अमित्रतपन शुष्मिण शिव्य के पुत्र राजा ने मार डाला।

महाभारत के षोडशराजकीय उपाख्यान (द्रोण पर्व और शांति पर्व) में इन गाथाओं के टुकड़े कई जगह इन तथा और राजाओं के वर्णन में भी आए हैं।

[प्रथम प्रकाशन : मर्यादा : दिसम्बर-जनवरी, १९११-१२ ई०]

मनु वैवस्वत

मात्स्यन्यायाभिभूताः प्रजा वैवस्वतं मनं राजानं चक्रिरे।
[कौटिल्य (चाणक्य) अर्थशास्त्र]

विवस्वत् का पुत्र मनु सबसे प्रथम मनुष्य था। उसकी स्त्री का नाम मनु, मनायी अथवा मनावी मिलता है। उसी के पीछे मनुष्य और मानव कहलाते हैं। परंतु मनु वैवस्वत पहला राजा भी हुआ है, मर्त्य उसके पहले भी थे। उसकी चुनावट और राज्य-प्राप्ति का वर्णन महाभारत-शांतिपर्व के ६६वें अध्याय में है।

अराजकता के दोष

भीष्म युधिष्ठिर को समझा रहे हैं कि राष्ट्र का सबसे बड़ा काम राजा का अभिषेक करना है, जिस राष्ट्र में इन्द्र नहीं होता उसे दस्यु हरा डालते हैं, वहाँ धर्म नहीं ठहर सकता, प्रजाएँ आपस में एक दूसरे को खाती हैं, अराजकता को धिक्कार है ! श्रुति कहती है कि—"जब राजा को प्रणाम करता है (या एक पाठांतर के अनुसार चुनता है) तब इन्द्र को ही प्रणाम करता (या चुनता) है" और "अराजक राष्ट्र में बसना नहीं चाहिए," वहां अग्नि देवताओं तक हव्य ही नहीं पहुंचाता ! जिन राष्ट्रों में राजा न हो, या जिनके वीर मर चुके हैं उनमें यदि कोई बलवान् राज्यार्थी आए तो उनके लिये सुमंत्रित यही है कि सामने उठ कर उसकी पूजा करें क्योंकि अराजक राज्य से कोई बात पापतर नहीं है। जो गौ दुःख से दूध देती है उसे सताते हैं, जो सुख से दुहा जाती है उसे कोई नहीं छेड़ता।

यदतप्तं प्रणमते न तत्संतापयन्त्युत ।
यत्स्वयं नमते दारु न तत् संनामयन्त्यपि ।।

जो लकड़ी बिना तपाए नव जाती है उसे तपाते नहीं और जो आप नव जाती है उसे नवाते भी नहीं। इसी उपमा के अनुसार धीर बलवान् को नव जाय। जो बलवान् को प्रणाम करता है वह इन्द्र को प्रणाम करता है। भूति चाहनेवाले राजा बनाएँ ही; जो अराजक हैं उनके न धन सुरक्षित हैं, न स्त्रियाँ। पापी मनुष्य अराजकता में औरों का धन चुराता हुआ प्रसन्न होता है, परंतु जब उसका दूसरे हरते हैं तो राजा को चाहता है। और यह भी न समझना कि अराजकता में पापी सुख पाते हैं। जी नहीं, एक का धन दो मिल कर हर लेते हैं और दो का बहुत से और अदास दास बनाए जाते हैं, बलात्कार से स्त्रियाँ हरी जाती हैं !

राजा न चेद् भवेल्लोके पृथिव्या दण्डधारकः ।
जले मत्स्यानिवाभक्ष्ययन् दुर्बलं बलवत्तराः ।।

यदि पृथ्वी में दंडधारक राजा न होता तो पानी की मछलियों की तरह दुर्बल को अधिक बलवान् खा जाते।

पुराकाल में प्रजाएं अराजक होने से पानी में मत्स्यों की तरह (अपने से) दुर्बलों को खाती हुई नष्ट हो चली थीं ऐसा हमने सुना है। इस सोशियलिस्टों के आदर्श समाज ने **आपस में मिलकर प्रतिज्ञाएँ** कीं, ऐसा भीष्म ने सुना था। "जो हम लोगों में जबान में तेज हो, दंड में क्रूर हो, या परदारा-गमन करनेवाला हो, या जो हमारी प्रतिज्ञाओं को तोड़े वैसों को हम छोड़ देंगे।" आपस में विश्वास के लिये, सब वर्णों में एक भाव से प्रतिज्ञा करके वे रहते थे। तथापि कुछ काल में असुखी होकर वे पितामह (ब्रह्मा) के पास गए और उनसे कहा कि—"विना ईश्वर के हम नष्ट हुए जाते हैं, भगवन् ईश्वर दिखा जिसे हम मिल कर पूजा करें और जो बदले में हमें पाले।" पितामह ने उन्हें 'मनु' को दिखाया। मनु ने उनका कहना स्वीकार नहीं किया।

मनु ने कहा कि—"इस पापकर्म से मैं डरता हूं, राज्य बहुत ही कठिन है,

विशेष कर सदा के मिथ्यावृत मनुष्यों में।" प्रजाओं ने कहा कि—"डरो मत, तुम्हारे लिए हम धन का हिस्सा देंगे। पशुओं में से पांचवां हिस्सा, जो कुछ खान में से निकलेगा उसका पाँचवाँ हिस्सा, धान का दसवाँ हिस्सा देंगे जो तुम्हारे कोष को बढ़ाएगा। सुरूप विवाह योग्य कन्याओं में से सर्वोत्तम कन्या देंगे। प्रधान प्रधान मनुष्य अच्छे शस्त्र और वाहन लेकर तुम्हारे पीछे चलेंगे। इस तरह से बलवान् होकर प्रतापी और दुर्धर्ष तुम हम सबको सुख में रखोगे। और जो तुम्हारी रखवाली में प्रजा धर्म करेगी, हमारी तरफ से उसका चतुर्थ भाग तुम्हारे में स्थित होगा। राजन्, उस बड़े धर्म से, जो तुम्हें सुख से बिना परिश्रम मिलेगा, भावित होकर हमें सब तरह से रक्षा करो जैसे देवताओं को इंद्र।

विजयाय हि निर्याहि प्रतपन् रश्मिवानिव।
मानं विधम शत्रूणां धर्मं जनय नः सदा॥

सूर्य की तरह तपते हुए विजय के लिए निकलो, शत्रुओं का मान धमका कर निकालो, हमारे धर्म को सदा उत्पन्न करो।"

ऐसा कहने पर वह बड़े बल से घिरा हुआ, तेज से चमकता हुआ चला। उसके महत्त्व को देखकर सब वर्णों के, आश्रमों के लोग म्लेच्छ और दस्यु तक डर गए और सब ने अपने धर्म में मन लगाया। तब बरसते हुए मेघ की तरह पापात्माओं को सब ओर शांत करता हुआ और स्वकर्म में लगता हुआ वह सारी पृथ्वी पर घूमा।

यह उपाख्यान कह कर भीष्म बाबा कहते हैं कि यों ही पृथ्वी में जो मनुष्य भूति चाहते हैं वे प्रजा के अनुग्रह के लिये पहले राजा करें। जैसे शिष्य गुरु को, और जैसे देवता इंद्र को प्रणाम करते हैं वैसे राजा को भक्ति से प्रणाम करें। जिसका स्वजन सत्कार करते हैं उसे पराए भी बहुत मानते हैं, और जिसे घर के ही अवज्ञा करते हैं उसका दूसरे भी तिरस्कार करते हैं। इसीलिये राजा को छत्र, वाहन, वस्त्र, गहने, खाना, पीना, घर, आसन, शय्या, और सब उपकरण दे क्योंकि दूसरों से उसका अपमान होना सब को दुःख देनेवाला होता है। और राजा, राष्ट्र का गोप, दुःख से जीतने योग्य, मुसकाकर बोलनेवाला हो और बात करने पर मनुष्यों को मीठा उत्तर दे; कृतज्ञ हो, दृढ़-भक्ति हो, बराबर भाग बाँटनेवाला हो, जितेंद्रिय हो और सब प्रजा उसकी ओर देखे तो वह मृदु भाव से और सीधा देखे।

कृतज्ञो दृढभक्तिः स्यात्संविभागी जितेन्द्रियः।
ईक्षितः प्रतिवीक्षेत मृदु वल्गु च चर्जु च॥

इससे अगले अध्याय में बृहस्पति का और राजा वसुमनस् का संवाद दिया है जिसमें राजा-प्रजा का संबंध यों कहा गया है—

राजा प्रजानां प्रथमं शरीरं
प्रजाश्च राज्ञोऽप्रतिमं शरीरम्।
राज्ञा विहीना न भवन्ति देशा
देशैर्विहीना न नृपा भवन्ति॥

[प्रथम प्रकाशन : मर्यादा : जनवरी-फरवरी, १९११-१२ ई०]

पृथु वैन्य का अभिषेक

पृथुर्ह वै वैन्यो मनुष्याणां प्रथमोऽभिषिषिचे। (शतपथ ब्राह्मण)

वेन का पुत्र पृथु (जिसके पीछ आज तक पृथिवी या पृथ्वी कहलाती है) ऊपर लिखी हुई श्रुति के अनुसार मनुष्यों में पहले-पहल ही अभिषिक्त हुआ। उस समय की प्राचीनता का अनुमान महाभारत के इस वर्णन से हो सकता है कि उस **प्राचीन समय, कृतयुग** में धरती सब विषम थी, जैसी मन्वंतरों में सृष्टि के पीछे हुआ करती है। पृथिवी बिना खेती किए पकनेवाले पदार्थ दिया करती थी, पेड़ों के खोते खोते में मधु (शहद) मिलता था और गौएं जितना चाहते उतना दूध दिया करतीं। सुखस्पर्श, सुखदायक वृक्ष थे जिनके वस्त्रों (वल्कलों और पत्तों) को पहन कर प्रजा उनमें ही सो रहती। अमृत से मीठे फल और मधु यही उसका आहार था और वह कभी भूखी नहीं रहती। मनुष्य नीरोग, सर्वसिद्धार्थ, किसी से भी न डरते, यथेच्छ वृक्षों में और गुफाओं में रहा करते। न राष्ट्र बँटे हुए थे न पुर; प्रजा भी उस समय मौज के अनुसार प्रसन्न थी। उस पूर्व निसर्ग में विषम भूतल में पुरों और ग्रामों का विभाग न था; न खेती होती थी न गोरक्षा, न व्यापार न लेन-देन। इन सब बातों का आरंभ वेन के पुत्र से लेकर है। न राज्य था न राजा, न दंड न दंड देनेवाला, सब लोग आपस में एक दूसरे की धर्म से ही रक्षा करते। यों करते-करते उनमें 'दीनता' आई, उससे उनमें 'मोह' आ घुसा, उससे 'बुद्धि' मारी गई, और उनका 'धर्म' नष्ट हो गया, तब वे 'लोभ' के वश हुए और जब अप्राप्त चीजों को लेने लगे तब उनमें 'काम' आ पहुंचा। जब वे कामवश हो गए तब 'राग' ने धर दबाया। इससे वे कार्य-अकार्य पहचानना भूल गए। यों जब नरलोक में विप्लव मच गया तब देवता भी यज्ञभाग न पाने से क्लेशित हुए और उनकी प्रार्थना पर 'ब्रह्मा' ने अपनी बुद्धि से **सौ हजार अध्यायों में से एक नीतिशास्त्र** बनाया जिसमें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष सब का पूरा वर्णन है। यह उनने 'शंकर' को सिखाया, उनने उसका संक्षेप कर के 'वैशालाक्ष' शास्त्र बनाया। उस दस हजार अध्यायों के शास्त्र को 'इंद्र' ने सीख कर पांच हजार अध्यायों का 'बाहुदंतक' शास्त्र चलाया। उसका संक्षेप करके 'बृहस्पति' ने तीन हजार अध्यायों का 'बार्हस्पत्य' और 'काव्य' (शुक्र) ने उसे हजार ही अध्यायों का बना दिया।

जब यों नियम और धर्म नियत हो गए तब उनको चलाने के लिए देवताओं ने 'विष्णु' से पूछा कि—"मर्त्यों में एक जो श्रेष्ठतम होने योग्य है उसे बनाइए"। वहां से 'तैजस विरजा' मन से ही उत्पन्न किया गया, किंतु उसने राज्य करना नहीं चाहा, उसकी इच्छा संन्यास में रही। उसका पुत्र 'कीर्तिमान्', और उसका 'कर्दम' ये भी मनुष्यों से बढ़ कर तपस्वी हुए। उसके पुत्र 'अनंग' ने दंडनीति जान कर प्रजापालन किया किंतु उसका पुत्र नीतिमान् 'अतिबल' महाराज्य पाकर इंद्रियवश हो गया। उसकी स्त्री 'सुनीथा' थी जिससे 'वेन' उत्पन्न हुआ।

यं प्रजासु विधर्माणं रागद्वेषवशानुगम् ।
मन्त्रपूतैः कुशैर्जघ्नुॠषयो ब्रह्मवादिनः ।।

मनुस्मृति कहती है कि उसने वर्णसंकरता चलाई। भागवत कहता है कि उसने ब्राह्मणों से कहा कि मैं ही ईश्वर हूं, मेरे लिये यज्ञ करो, जैसा मैं कहूं वैसा ही पुण्य पाप है। जो हो, प्रजा में विधर्मा, रागद्वेष के वश उस राजा को ब्रह्मवादी ऋषियों ने कुशों से मार-मार कर मार डाला।

अब ऋषियों ने उसकी जांघ को मथा। उसमें से एक विकृत, अशुद्ध, ठिगना, जले हुए कुंदे का-सा, लाल आँखों और काले केशोंवाला पुरुष निकला जिसे ऋषियों ने कहा कि—"निषीद = बैठ जा"। उससे ये निषाद भील म्लेच्छ वनचारी उत्पन्न हुए हैं। यों गर्हित नीचे के भाग को छांट निकाल ऋषियों ने उस मरे हुए राजा के दहने हाथ को मंथन किया। अब हम यह नहीं कह सकते कि पुराणों में यह रूपक है वा सच्चा वर्णन। यदि रूपक है तो इसका अर्थ आजकल की भाषा में यह है कि ऋषियों ने नीच प्रवृत्ति के लोगों को निकाल बाहर किया और मृत राजा की बाँह अर्थात् बराबर के मनुष्यों में से मंथन (छानबीन, चुनाव) करके एक इंद्र के समान रूपवान् पुरुष निकाला। कवच पहने, तलवार बांधे, धनुष-बाण धारे, वेद-वेदांग धनुर्वेद का पारगामी वह नरोत्तम था। सारी दंडनीति उसमें आश्रित थी। वह **वैन्य = वेन का पुत्र** महर्षियों को हाथ जोड़ कर बोला—"(आपके मंथन से) मेरे में धर्म-अर्थ को देखनेवाली सूक्ष्म बुद्धि उत्पन्न हुई है, इससे मैं क्या करूं, यह मुझे तत्त्व से समझाइए। जो अर्थ समेत (निष्प्रयोजन नहीं) कार्य आप मुझे कहेंगे वह करूंगा। इसमें कोई विचार मत कीजिए।" तब उसे देव और ऋषियों ने कहा कि—

"नियतो यत्र धर्मो वै तमशंकः समाचर ।"

"जहां धर्म नियत है वह काम निःशंक होकर कीजिए। प्रिय अप्रिय का विचार छोड़कर सब जंतुओं में समान होकर काम, क्रोध, लोभ और मान को दूर बहाकर, लोक में जो कोई मनुष्य धर्म से विचलित हो धर्म को सदा विचारते हुए आपको उसे अपने हाथों से पकड़ना चाहिए।"

प्रतिज्ञा

"प्रतिज्ञां चाधिरोहस्व मनसा कर्मणा गिरा।
पालयिष्याम्यहं भौमं ब्रह्म इत्येव चासकृत् ।।
यश्चात्र धर्म इत्युक्तो दण्डनीतिव्यपाश्रयः।
तमशंकः करिष्यामि स्ववशो न कदाचन।।
लोकं च संकरात्कृत्स्नं त्रातास्मीति परंतप ।।"

"मन, कर्म और वाणी से इस प्रतिज्ञा को बार-बार स्वीकार कीजिए (शब्दार्थ—आरूढ़ होइए) कि भूमि और ब्रह्म को मैं पालन करूंगा। इस (धर्मनीति ग्रंथ में) दंड-नीति के आश्रित जो धर्म इस नाम से कहा गया है उसे निःशंक करूंगा, कभी अपने वश

होकर काम नहीं करूंगा और समस्त लोक को वर्णसंकरता से बचाऊंगा।" इसके उत्तर में वैन्य ने कहा कि—"यदि ब्राह्मण मेरे सहायक हों तो ऐसा ही हो।" इस पर ऋषियों ने प्रसन्न होकर उसका अभिषेक किया। यों विष्णु से आठवें उस राजा के सारस्वत ऋषि प्रभृति पुरोहित हुए और सूत और मागधों ने उसकी प्रशंसा की। उसके अभिषेक करनेवालों ने सोचा था कि—"यह हम सबको फैलाएगा" इससे उसका नाम फैलानेवाला = 'पृथु' हुआ, "यह हम सब को क्षतों से बचाएगा" इससे 'क्षत्रिय' हुआ। उस पृथु वैन्य को देखकर प्रजागण बोल उठे कि "हम रँज् गए, रीझ गए" इसी अनुराग से उसका नाम 'राजा' हुआ।

पृथिवी को समतल करना और दुहना

अब सबने उससे कहा कि "आप सम्राट् हैं, क्षत्रिय हैं, राजा हैं, हमारे पिता हैं, रक्षक हैं, महाराज ! आप प्रभु हुए; हमें ईप्सित वर दीजिए जिससे हम सदा तृप्त होकर सुखपूर्वक बरतते रहें।" पृथु ने धरती को धनुष-बाण लेकर धर दबाया। वह गौरूप धारण करके कहीं शरण न पाकर उसी की शरण आई और बोली कि—"मुझे मारकर प्रजाओं का पालन काहे पर करोगे ?" पृथु ने उत्तर दिया—"अपने शरीर को फैलाकर।" अस्तु, जमीन ने कहा कि—"मैं गौ हूं, मेरे लिए बछड़ा और दोहनेवाला और पात्र बता दो जिससे मैं दूध देती जाऊं। परंतु जरा पृथ्वी को समतल तो करो जिससे मेरा चूता हुआ दूध सब ओर फैले।" पृथु ने सब ओर शिलाजालों को हटाया और जगह-जगह पहाड़ छोड़ दिए। पहले तो, जैसा ऊपर कहा गया है, न ग्राम थे न नगर, पर अब जहां-जहां समतल भूमि मिलने लगी वहीं-वहीं मनुष्य निवास करना पसंद करने लगे। पृथु ने सब विधान कर दिया जिससे सारे भूत पृथ्वी दुहने लगे, उसका दूध पीने लगे।

मनुष्यों ने पृथ्वी को ही पात्र बनाया। प्रथम मनुष्य स्वयंभू मनु को वत्स, और पृथु को दोहनेवाला बनाया और खेती और अनाज दुहा।

पृथु का प्रताप

उसके राज्य में न बुढ़ापा था न दुर्भिक्ष, आधि और व्याधि कहां ? साँपों, चोरों या किसी और का भय न था। भूमि शस्यों की माला से सिंगारी हुई रहती। जब वह समुद्र को जाना चाहता, पानी रुक जाते, पहाड़ उसे मार्ग दे देते। उसने पृथ्वी में से सत्रह प्रकार के अन्न दोहन करके निकाले। जंगली पशु भी उसके इतने वश में थे कि, शतपथ ब्राह्मण के अनुसार, उन्हें नाम लेकर बुला लिया करते कि 'आओ, आज तुम्हें पृथु पकाना चाहता है।' उसने लोगों को रिझाया इससे वह 'राजा' कहलाया। तब से ही भगवान् विष्णु राजा में प्रविष्ट हुए हैं।

(महाभारत—द्रोणपर्व ६९, शांतिपर्व ५८)

[प्रथम प्रकाशन : मर्यादा : दिसम्बर-जनवरी, १९११-१२ ई०]

सुकन्या की वैदिक कहानी

हिंदू लोग भोजन किए पीछे एक श्लोक[1] पढ़ा करते हैं जिसका तात्पर्य यह है कि राजा शर्याति, उसकी कन्या सुकन्या, मुनि च्यवन, सोम, और अश्विनीकुमार, भोजन किए पीछे इनका नित्य स्मरण करनेवाले की आँख कभी नहीं बिगड़ती। इस सुकन्या की पतिभक्ति की कहानी प्रसिद्ध है। कैसे उसने बूढ़े च्यवन की धर्मपूर्वक सेवा की, कैसे वह बहकाई जाकर भी पतिव्रत से नहीं डिगी, और कैसे उसके सतीत्व के बल से उसका पति भला-चंगा हो गया, यह रोचक कहानी हिंदू-माताओं, देवियों और पुत्रियों को सदा स्मरण रहती होगी। तभी तो हिंदुओं ने उसके उपाख्यान को इतना गौरव दिया कि नित्य के स्मरणीय नामों में उसको रखा। इस कथा का पौराणिक रूप झालरापाटन के पंडित गिरिधर शर्मा ने 'सरस्वती' की किसी पिछली संख्या में खड़ीबोली की कविता में वर्णन किया है। आज मैं उस कथा का वैदिक स्वरूप सुनाता हूं जो पौराणिक कथा का पिता है।

शतपथ ब्राह्मण के चौथे कांड में आश्विन ग्रह (सोम का वह कटोरा जिसके देवता अश्विनीकुमार होते हैं) की प्रशंसा के साथ-साथ यह आख्यायिका आई है—

जहां से भृगु के वंशीय वा अंगिरस् के वंशीय (अपने कर्मों से) स्वर्गलोक को गए वहां च्यवन, जो या तो भृगुगोत्र का था या अंगिरस् गोत्र का, बहुत बूढ़ा और पलीत का होकर[2], पीछे रह गया। मनुवंशी शर्यात[3] राजा अपने ग्राम के साथ[4] विचर रहा था। उसने उसी के, च्यवन के, पड़ोस में आकर डेरा किया। लड़कों ने[5] खेलते-खेलते च्वयन को बूढ़ा पलीत का-सा और निकम्मा समझकर पत्थरों से खूब दला। वह (च्वयन) शर्यात-वालों[6] पर क्रुद्ध हुआ जिससे उनको व्यामोह हो गया और बाप बेटे से लड़ने लगा और भाई

---

१. शर्यातिं च सुकन्यां च च्यवनं सोममश्विनौ।
भोजनान्ते स्मरेन्नित्यं तस्य चक्षुर्न हीयते॥

२. कृत्यारूप-कठपुतली का-सा या भुतने का-सा।

३. पौराणिक नाम शर्याति। वेद में इंद्र का नाम भी शर्याति अर्थात् 'शर्या के गोत्र का' मिलता है। पुराने राजाओं और देवताओं का सगोत्र और सयोनि होना बहुत जगह पाया जाता है।

४. सारी प्रजा के साथ, सारी सेना के साथ, वा सारी कौम के साथ।

५. शर्यात् के पुत्र अथवा कौम के कम-उम्र जवान।

६. शर्यात् के परिवार पर, या सारी प्रजा पर। सब से पुराने समाजों में कुल का बड़ेरा ही जाति का राजा होता था। प्रजा के दोनों अर्थ हैं, संतति और रिआया। पुराने राजा संतति में और प्रजा में भेद भी नहीं समझते थे क्योंकि संतति ही, किसी काल में, प्रजा थी।

भाई से।[१] शर्यात ने सोचा कि—'मैंने कुछ न कुछ किया है जिससे कि यह आन पड़ा।' इसलिए उसने ग्वालों और गड़ेरियों को बुला कर कहा—"तुम में से किसी ने आज यहां कुछ देखा था?" उन्होंने उत्तर दिया—"यहां पर एक बूढ़ा मनुष्य ही प्रेत-सा सोया रहता है। उसे निकम्मा समझ कर कुमारों ने पत्थर से दला है।" राजा समझ गया कि यही च्यवन है।[२] वह हाथ जोड़ कर और उसमें अपनी पुत्री सुकन्या को रखकर चला और वहां पहुंचा जहां ऋषि था, और बोला—"ऋषे, नमस्ते। मैं नहीं जानता था कि इससे मैंने अपराध किया (शब्दार्थ—हिंसा की)। यह सुकन्या (शब्दार्थ—अच्छी लड़की) है इससे मैं तुमसे प्रायश्चित्त करता हूं (शब्दार्थ—अपराध छिपाता हूं), मेरा ग्राम फिर जुड़ जाय, समझ जाय।"[३] तभी उसकी प्रजा ठीक हो गई और शर्यात मानव वहां से डेरा उठाकर (शब्दार्थ—जुड़ा जोड़ कर) फिर चल पड़ा कि दूसरी बार अपराध न हो जाय।

अश्विनी दोनों जगत् में चिकित्सा करते हुए फिरते थे। वे सुकन्या के पास आए और उससे जोड़ा करना चाहा। उसने यह नहीं माना। उन दोनों ने कहा—"सुकन्ये, किसलिए इस बूढ़े खूसट प्रेत के साथ सोती है? हमारे पास चली आ।" वह बोली—

---

१. दुर्वासा का ठट्टा और अपमान करने से द्वारिका में यदुवंशियों को भी यों ही व्यामोह हुआ था और मद्य पीकर वे भी यों ही कट मरे थे। राजकुमारों का उद्दंड होना सदा प्रसिद्ध है, जैसे—
'यत्किञ्चित्कारितया नृणां भवेद्राजपुत्रत्वम्', और 'कर्कट सधर्माणो हि जनकभक्षा राजपुत्राः' (कौटिल्य)

२. काण्व शाखा के 'शतपथ ब्राह्मण' में यह कथा कुछ और तरह है—तब शर्यात ने सोचा—'कुछ न कुछ मैंने किया है जिससे ऐसी बड़ी भारी आपत्ति आई।' तब उसे यह सूझा—"अवश्य ही बूढ़ा आंगिरस् या भार्गव च्यवन यहां छूट गया था उसे मैंने किसी-न-किसी तरह अतिक्रुद्ध कर दिया होगा। इससे ही इतनी बड़ी आपत्ति हुई।" उसने अपने ग्राम को बुलवा जुटाया। सब को जुटा कर उसने पूछा—"गोपालों या गड़ेरियों ने किसी ने यहां कुछ देखा है?" उन्होंने कहा—"वह वहां एक बुड्ढा प्रेत-सा आदमी पड़ा है, उसे लड़कों ने ढेलों से मारा है। यही देखा है।"

३. पौराणिक कथा में तपस्या में बैठे हुए च्यवन की आँखों में चपलता और बालसुलभ कौतूहल से स्वयं सुकन्या ने काँटा चुभाकर रुधिर निकाला है और फिर जब इस कारण पिता के कटक पर आपत्ति आई तो अपने पाप के अपराध-स्वरूप उसने स्वयं उस वृद्ध की 'अंधे की लाठी' बनना स्वीकार किया है। वैदिक कथा में कन्या का स्वार्थ-त्याग और भी अद्भुत है। जाति के उद्दंड कुमारों ने अपराध किया है। सारे राष्ट्र पर विपत्ति पड़ी है। उसे मिटाने के लिये पिता अपनी निरपराधिनी कन्या की, इजराईल के जज जेपथा की तरह, बलि देता है। वह भी पिता की आज्ञा के अनुसार, अपने पिता और भाइयों के कल्याण के लिये, उसी बूढ़े प्रेत जैसे पति की अनन्य सेविका हो जाती है।

"जिसे मुझे बाप ने दिया है उसके जीते जी मैं उसे नहीं छोड़ूंगी।" ऋषि यह जान गया। वह बोला—"सुकन्ये, तुझे इन्होंने क्या कहा ?" उसने उससे सब बखान कर दिया। सुनकर उसने कहा—"यदि तुझे ऐसा ही फिर कहें तो कहना कि तुम अपने आप भी तो ऐसे समृद्धिवाले और भरे पूरे नहीं हो कि मेरे पति की निंदा करते हो। यदि वे तुझे पूछें कि हम क्योंकर नहीं समृद्ध और नहीं भरे पूरे हैं तो कहना कि मेरे पति को फिर जवान कर दो तब तुम्हें कहूंगी।" वे फिर उसके पास आए और उसे वैसे ही कहा। वह बोली—"तुम दोनों भी तो बहुत समृद्ध और बहुत भरे पूरे नहीं हो कि मेरे पति को हँसते हो।" उन्होंने कहा—"हम काहे से नहीं भरे पूरे हैं, काहे से असमृद्ध हैं ?" उसने उत्तर दिया—"मेरे पति को फिर युवा कर दो तब कहूँगी।" वे बोले—"इस दह में[1] उसे न्हिला दे, वह जिस अवस्था को चाहेगा उसी का होकर निकलेगा।" उसने उस दह में न्हिलाया और (च्यवन ने) जिस वय की इच्छा की उसी के साथ वह निकला। वे बोले—"सुकन्ये, हम काहे से नहीं भरे पूरे हैं, काहे से नहीं समृद्ध हैं ?" उनको ऋषि ने ही उत्तर दिया—"देवता कुरुक्षेत्र में यज्ञ कर रहे हैं। उसमें से तुम दोनों को अलग कर रक्खा है, इसलिये नहीं भरे पूरे हो, नहीं समृद्ध हो।" वहां से दोनों अश्विन् चल दिए और बहिष्पवमान नामक सूक्त से स्तुति हो चुकने के समय यज्ञ में देवों के पास आ पहुंचे। उन्होंने कहा—"हमको बुलाओ।" देवताओं ने कहा—"तुमको नहीं बुलाएँगे तुम चिकित्सा करते हुए बहुत दिन मनुष्यों में मिल-जुलकर विचरे हो।"[2] वे बोले—"बिना सिर के यज्ञ से यज्ञ कर रहे हो।" देवताओं ने पूछा—"क्योंकर बिना सिर के से ?" वे बोले—"हमें यज्ञ में बुलाओ तब कहेंगे।"[3] "ठीक है" यों कह कर देवताओं ने उन्हें बुलाया। उनके लिये इस आश्विन् सोमरस के कटोरे को लिया। वे दोनों यज्ञ के अध्वर्यु बने और यज्ञ का सिर फिर उन्होंने लगा दिया। यह बात दिवाकीर्त्यों के ब्राह्मण[4] में लिखी है कि उन्होंने कैसे यज्ञ का सिर फिर लगाया। इसी से यह कटोरा बहिष्पवमान स्तोत्र हो चुकने पर लिया जाता है क्योंकि वे (अश्विन्) बहिष्पवमान के स्तुत हो जाने पर आए थे।

---

१. काण्व शाखा में दह का उल्लेख नहीं है।

२. मनुष्यों के संपर्क से ब्राह्मणों में चिकित्सकों की तरह देवताओं में अश्विन् भी कुछ हीन माने जाते थे, बहुत काल तक उन्हें यज्ञ में भाग नहीं था।

३. यहां अश्विन् वही चाल चले हैं जिससे सुकन्या और च्यवन ने उनसे अपना मनोरथ पाया था।

४. दिवाकीर्त्य या दिवाकीर्त—शतपथ १४.१.१.८ से तात्पर्य है। गवामयन नामक संवत्सर सत्र में विषुवत् का दिन (अथवा एकविंश) भी आता है। उसके पहले और पीछे दस दस दिन जो याग होते हैं उनके प्रयोग में आने वाले मंत्र, और वह इक्कीसवां दिन भी दिवाकीर्त्य कहलाते हैं। ऋग्वेद १०। १७०। १-३ के सामगान का भी नाम दिवाकीर्त्य है। महादिवाकीर्त्य के ग्यारह मंत्रों का उल्लेख शांखायन श्रौतसूत्र में है। साम-संहिता उत्तरार्चिक ८।३ का नाम बोधायन धर्मसूत्र में महा-दिवाकीर्त्य लिखा है।

जैमिनीय तलवकार ब्राह्मण में इसी कथा का एक कुछ नवीन रूप है। उसमें कथा का पिछला भाग यों है—

अश्विन् दोनों ने ऋषि से कहा—"महाराज, हमें सोम का भागी बनाइए।" "अच्छी बात है, तुम मुझे फिर युवा कर दो।" वे उसे सरस्वती के शैशव (निकलने के स्थान) के पास ले गए। ऋषि (सुकन्या से) बोला—"बाले, हम सब एकसार दिखाई देते हुए निकलेंगे, तू तब मुझे इस चिह्न से पहचान लेना।" वे सब ठीक एकाकार दीखते हुए स्वरूप में अति सुंदर होकर निकले। उस (सुकन्या) ने उसे (च्यवन को) पहचान कर कहा—"यही मेरा पति है।" उन्होंने ऋषि से कहा—"ऋषे, हमने तुम्हारा वह काम पूरा कर दिया है जो तुम्हारा काम था; तुम फिर युवा हो गए हो, अब हमको इस तरह सिखाओ कि हम सोम के भागी हो जायँ।" तब च्यवन भार्गव युवा होकर शर्यात मानव के पास गया और उसने पूर्व वेदि पर उसका यज्ञ कराया। राजा ने उसे सहस्र (गौएँ) दीं, उनसे यज्ञ किया। यों च्यवन भार्गव, इस च्यवन साम में प्रशंसित होकर फिर युवा हो गया। उसने बाला स्त्री पाई और सहस्रदक्षिण यज्ञ किया।

पौराणिक कथा से इस पुरानी कथा की तुलना पाठक कर लें।

[प्रथम प्रकाशन : मर्यादा : जनवरी-फरवरी, १९११-१२ ई०]

चाणूर अंध्र

विष्णुसहस्रनाम[1] में विष्णु के हजार नामों में से एक 'चाणूरान्ध्र-

१. महाभारत, अनुशासनपर्व, अध्याय २५४ (कुंभघोणं संस्करण) = अध्याय १४९ (प्रतापचन्द्र राय का संस्करण)। महाभारत के सब पते कुंभघोणं संस्करण ही से दिए जाएंगे।

विष्णुसहस्रनाम, भीष्मस्तवराज, गीता, अनुस्मृति और गजेंद्रमोक्ष ये महाभारत के पंच रत्न कहे जाते हैं। इनमें से विष्णुसहस्रनाम (अनुशासन-पर्व, अध्याय २५४), भीष्मस्तवराज (शांतिपर्व, अध्याय ४६), श्रीमद्भगवद्गीता (भीष्मपर्व, अध्याय २५-४२) और अनुस्मृति (शांतिपर्व, अध्याय २१०; अनुगीता दूसरी चीज है, आश्वमेधिकपर्व, अध्याय १७-५१) तो वहां हैं, किन्तु गजेंद्रमोक्ष का कहीं महाभारत में पता नहीं है। गजेंद्रमोक्ष जो पंचरत्नों में पढ़ा जाता है वह श्रीमद्भागवत (स्कन्ध ८, अध्याय २-४) में है।

कुछ समय बीता, हिंदी के एक कवितामय पत्र में यह बात उठाई गई थी कि एक प्रसिद्ध प्रेस के छपे भागवत में 'विषाद् द्विषड्गुणयुतात्०—' इत्यादि श्लोक नहीं छपा है सो यह स्मार्त पंडितों की चालाकी है। सांप्रदायिकों पर पुराणों में जोड़ देने का दोषारोपण तो सदा से होता आया है, स्मार्तों पर छांटकर श्लोक निकाल देने का यह कलंक नया है। प्रेस के स्वामी ने क्षमा मांग ली। इस श्लोक को निकालने से स्मार्तों का क्या बन जाता और रहने से क्या बिगड़ता था?

(क्रमशः)

निषूदन[1] भी है। इसका अर्थ होता है चाणूर नामक अंध्र को मारने वाला। यही अर्थ

यदि वैष्णव गुणयुक्त ब्राह्मण से श्वपच को अच्छा मानते हैं तो मानते रहें, स्मार्त भी मानते हैं, करके न वैष्णवों ने दिखाया न स्मार्तों ने। उसी समय उसी पत्र में एक राज्यरत्न महाशय ने एक नई बात निकाली थी कि नारदपंचरात्र महाभारत में था, जैसा कि अकबर के समय के उसके अनुवाद रज्मनामे से प्रकट है, पीछे स्मार्तों ने ही उसे महाभारत में से निकाल दिया। बात यह है कि महाभारत के अनुक्रमणिका-पर्व आदि के अनुसार कहीं नारदपंचरात्र को ठूंसने की गुंजाइश नहीं, न कहीं महाभारत की कथा या उपाख्यानों में उसका बंध बैठता है। जैसे गजेंद्रमोक्ष भारत में पांचवां रत्न कहलाता है किंतु उसमें कहीं न होकर भागवत में है, वैसे नारदपंचरात्र पृथक् ग्रंथ है। उसके उपक्रम, उपसंहार, प्रश्नोत्तर, कथाप्रसंग किसी में महाभारत की गंध नहीं। अकबर के समय में फारसी जाननेवाले मुसलमान अनुवादकर्ता को जो कह दिया गया वही उसने मान लिया, महाभारत की पोथियों से आधुनिक रीति पर छानबीन कहां की गई थी ? हरिवंशपुराण पृथक् ग्रंथ है, किंतु महाभारत का खिल माना जाता है। उसकी कथाएं भी भारत की ही कही जाती हैं। भागवत का गजेंद्रमोक्ष भी भारत का ही कहा जाता है। यों नारदपंचरात्र भी भारत का ही कहा जाता होगा। नारदपंचरात्र को कोई महाभारत से निकालकर क्या ले लेता जबकि भागवत धर्म, पांचरात्रागम, एकांतिक धर्म, सात्वतधर्म या भक्तिमार्ग महाभारत में स्थान-स्थान पर बिखरा हुआ है ? महाभारत के शांतिपर्व में जो नारायणीयाख्यान (अध्याय ३४४-३४८ आदि) है उसी में कथा है कि नर-नारायण ऋषियों ने श्वेतद्वीप में इस धर्म का उपदेश किया। वहां से नारद इसे लाए और 'पंचरात्रानुशब्दित' करके इसका प्रचार किया। इसी से यदि नारदपंचरात्र को महाभारत के अन्तर्गत कहा जाय तो कह सकते हैं। नारदपंचरात्र में द्वादश स्कंधों के भागवतपुराण, ब्रह्मवैवर्तपुराण, विष्णुपुराण, गीता और महाभारत का नामोल्लेख है। नारायणीय उपाख्यान के मूल पाठ में हंस को प्रथम अवतार, कूर्म को दूसरा, मत्स्य को तीसरा कहा है। फिर वराह आदि गिनकर राम दाशरथि आठवां, सात्व कृष्ण नवां और कल्कि दसवां गिना गया है। नारदपंचरात्र में बुद्ध को नवां अवतार गिनकर आरम्भ में हंस को छोड़ दिया गया है। इससे सिद्ध होता है कि नारदपंचरात्र का मूल उपादान महाभारत में होने पर भी वह पीछे का ग्रंथ है। रज्मनामे के अनुवादकर्त्ताओं को यही कह दिया होगा कि नारदपंचरात्र महाभारत में है। यों ही सांप्रदायिक खेंचतान के दिनों में 'पवित्रं ते विततं' प्र तद् विष्णोः', इत्यादि श्लोक या प्रक्षिप्त अथवा कल्पित मंत्र वेद से मिलती हुई भाषा में बनाए जाकर खिल, परिशिष्ट या 'इति श्रुतिः' तक की छाप से काम दे दिया करते थे। अब पदपाठ, सर्वानुक्रम, शाखाभेद, भाष्य आदि की पूरी जांच होने, प्राचीन पोथियों के विदेशों के पुस्तकालयों या सरकारी पुस्तकालयों में पहुंचने और कई प्रतियों से शोधकर पाठों के छप जाने से वह व्यवसाय बंद हो गया है।

१. महाभारत, अनुशासनपर्व, अध्याय २५४, श्लोक १०३।

शांकर भाष्य में किया है।[1] चाणूर मथुरा के राजा कंस का प्रसिद्ध मल्ल था जिसे श्रीकृष्ण ने मारा था।[2] उसे अंध्र कहने के दो ही अर्थ हो सकते हैं, या तो वह अंध्र नामक वर्णसंकर (प्रतिलोम) जाति का हो जो वैदेहिक से कारावरी में उत्पन्न होता है[3] या वह अंध्रदेश का निवासी हो।[4] दूसरा अर्थ अधिक उचित जान पड़ता है, क्योंकि अंध्र जाति मृगया से जीविका करने वाली और नगरों से बाहर रहनेवाली कही गई है,[5] मल्ल नहीं। सो अंध्रदेश पहले भी एक राममूर्ति उत्पन्न कर चुका है।

[प्रथम प्रकाशन : नागरी प्रचारिणी पत्रिका : १९२० ई०]

---

१. श्रीवाणीविलास प्रेस, श्रीरंग का स्मारक संस्करण, जिल्द १३, पृष्ठ १३८ (श्लोक १०१ का भाष्य)।

२. महाभारत उद्योगपर्व, अध्याय १३०, श्लोक ६१, श्रीमद्भागवत स्कंध १०, अध्याय ४४, हरिवंश, अध्याय ८६ में भी इसके मारे जाने की कथा है। महाभारत सभापर्व में चाणूर और अंध्रक नामक दो राजा भी कहे गए हैं जो सभाप्रवेश में युधिष्ठिर के साथ थे (अध्याय ४, श्लोक ३२ और ३०)।

३. मनुस्मृति १०।३६।

४. अंध्र वा आंध्र देश तथा उसके निवासी दोनों के लिए आता है। यह तेलंग (तेलगु-भाषी) देश है जिसमें मद्रास के उत्तरी सरकार विभाग, विजयानगरम्, विजगापटम् (विशाखापत्तन) आदि प्रांत हैं। ऐतरेय ब्राह्मण के शुनःशेप उपाख्यान में लिखा है कि विश्वामित्र ने जब शुनःशेप को नरमेध से बचाकर अपना पुत्र बनाया तब उसके पचास पुत्रों ने इसे स्वीकार न किया। विश्वामित्र के शाप से वे और उनके वंशज, अंध्र, पुंड्र, शबर, पुलिंद और मूतिब हुए (ऐतरेय: ८।१८)। शांखायन श्रौतसूत्र में पुलिंदों का नाम नहीं है और मूतिब के स्थान पर 'मूचिप' है। ऐतरेय में उन्हें विश्वामित्र ने शाप दिया है कि 'अंतान् वः प्रजा भक्षीष्ट' अर्थात् तुम्हारीसंतान (सीमा +) अंत देशों को भोगे और ब्राह्मण में उन्हें उदंत्य (सीमा-प्रांतवासी) और 'दस्यूनां भूयिष्ठाः' कहा है। इसका यही अर्थ है कि ये जातियां ऐतरेय ब्राह्मण के काल में आर्यों की निवासभूमि के सीमाप्रांतों पर रहती थीं। कृष्णा और गोदावरी का मध्यभाग अंध्र या आंध्र अनार्यों का वासस्थान था।

५. वैदेहिकादन्ध्रमेदौ बहिर्ग्रामप्रतिश्रयौ (मनु० १०।३६), क्षुद्रो वैदेहकादन्ध्रो बहिर्ग्रामप्रतिश्रयः (महाभारत, अनुशासन पर्व, अध्याय ८३, श्लोक २५)

लोक और कला

संगीत[1]

मुझे इतना समय नहीं रह गया है कि आपके सामने ऐसी कहावतें रक्खूं कि रोना और गाना सबको आता है; न मेरी यही रुचि है कि संगीत न जानने वाले को द्विपद मृग और पुच्छविषाणहीन पशु बताने वाले श्लोक यहां पर उद्धृत करूं और इसके लिए भी समय अनुकूल नहीं है कि ऐसे वाक्यों के प्रमाण दूं जिनमें कहा गया है कि शिशु, पशु और सर्प ही गीत का रस जानते हैं या साक्षात् शङ्कर ही जानते हैं और विष्णु ने कहा है कि मैं, न तो वैकुण्ठ में रहता हूं और न योगियों के हृदयों में, परन्तु मेरे भक्त जहां गाते हैं वहीं मैं रहता हूं। मेरा प्रयोजन आज यह कहने से भी नहीं है कि ब्रह्मा के सामगान और विष्णु के वंशीवादन और शंकर के ताण्डवनृत्य को और सरस्वती की वीणा को सामने धरकर गीत, वाद्य, नाट्य का दैव रूप आपको दिखाऊं। मुझे केवल दो बातें कहनी हैं—

एक तो यह कि भारतवर्ष की वर्तमान उन्नति में जिस समाज वा जिस प्रांत ने आगे पैर बढ़ाया है उसने संगीत का सहारा लिया है, अथवा गणित वालों के शब्दों में, जिस अनुपात में जो समाज वा प्रांत गानविद्या से विमुख है अथवा नहीं है उसी अनुपात से वह समाज समृद्धि के मार्ग में पीछे पड़ा हुआ अथवा बढ़ा हुआ है।

इस पर थोड़े ही से विचार की आवश्यकना है। ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज और प्रार्थना-समाजों ने संगीत और वाद्य की अपने विचारों के प्रचार में बहुत सहायता ली है। नई सनातनधर्म सभाओं ने भी भजन-मण्डलियों और नगर-कीर्तनों से अपने को रहित नहीं रक्खा है। वङ्ग देश की सभ्य ब्राह्मी महिलाएं, बम्बई प्रांत की परभू जाति की कुलवतियां, मद्रास की उच्च ब्राह्मणी से लेकर नैयर जाति तक की ललनाएं अपने-अपने प्रांतों की उन्नति लक्ष्मी की मूर्त्तियां बनकर संगीत और वाद्य का प्रेम दिखाती हैं। जैसा इधर के प्रांतों में संगीत को नीच जातियों का विषय मानने का पुराग्रह है जैसी ही स्त्रियों की उन्नति को रोकने की कुप्रथा है वैसे ही यहां पर उन्नतिदेवी का आना दूर है। पंजाब में भी जो कुछ जागृति दिखाई देती है तो उसके साथ-ही-साथ विष्णु दिगम्बर

१. एक व्याख्यान का पिछला भाग। पीछे से लिखा गया।

पुलुस्कर के गन्धर्व महाविद्यालय की चर्चा सुनाई पड़ती है।

मालूम होता है कि जैसे क्रस्तान धर्म के पुराणकर्ताओं ने सब लोकों के घूमने से एक प्रकार का अनाहत नाद होना माना है जो परमेश्वर के सिंहासन के चारों ओर विजय-संगीत का स्वर सुनाता है, वैसा ही देशों की, मनुष्यों की और हृदयों की उन्नति में संगीत का एक तानलय प्रभाव है जो उन्नति की विजयपताका को उड़ाता हुआ चलता है।

हिन्दू शास्त्रकारों को कहीं पर संगील, वाद्य आदि को गर्हित ठहराने वाला कहा जाता है परन्तु सब वाक्यों की मीमांसा करने पर सारांश यही निकलता है कि असत् गीत-वाद्यादिक की निन्दा से ही वहां तात्पर्य है, विनोद और उच्च आनन्दमय आह्लाद-प्रधान संगीत की निन्दा से नहीं। नहीं तो पतंजलि यह काहे को कहते कि 'ये वीणायां गायन्ति ते धन सनयः' और काहे को पवित्र यज्ञों में वीणागाथियों के गान और सम्मान की बातें जगह-जगह सुनाई पड़तीं ?

मेरे वक्तव्य का दूसरा अंश यह है कि हिन्दू और विशेषतः उच्च आर्य जातियों के प्रतिनिधि यदि संगीत की निन्दा और अपमान करते हैं तो वे उस मार्ग से दूर जा रहे हैं जिस पर उनके 'पूर्वे पितरः' चले थे, यही नहीं वे पितरों के कर्मों के विरुद्ध चल रहे हैं क्योंकि वे गवैयों के बेटे-पोते हैं—उनके बहुत पुराने पुरुषा गवैये थे।

आप आश्चर्य करेंगे। मैं फिर कहता हूं कि आपके बाप-दादा गवैये थे। संक्षेप से इस बात को विचारिये। सब वर्णों की उत्पत्ति आठ गोत्रकार ऋषियों से ही है। क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र भी उन्हीं गोत्रकार ऋषियों की सन्तान हैं। शूद्रों को ज़रा देर के लिए छोड़ दीजिए, क्योंकि वे गान की और गवैयों की निन्दा नहीं करते। क्षत्रिय और वैश्य कुलों के वे ही ऋषि हैं जो ब्राह्मण कुलों के। और ब्राह्मण कुलों के ऋषि न केवल वेदों के द्रष्टा थे, वे वेद-मन्त्रों के ऋक्, यजु, साम नामक त्रिधा भिन्न स्तुति, कर्म और गान रूप प्रथा के चलाने वाले थे। जहां पर वैदिक कर्म में 'ऋग्भिः शंसति' और 'यजुर्भिर्जुहोति' है वहीं पर 'सामभिर्गायति' भी है। कौन ब्राह्मण का बच्चा कह सकता है कि मैं इन गवैये ऋषियों की सन्तान नहीं हूं ? कौन ब्राह्मण का बच्चा यह कहने का साहस कर सकता है कि ये ऋषि सामगान नहीं करते थे ? और संगीत से नाक चढ़ाकर कौनसा ब्राह्मण इन सात्त्विक गवैयों का अपमान नहीं कर रहा है ? तुम्बुरु का तम्बूरा ब्राह्मणों के वाद्य के सम्बन्ध का और राजर्षि भरतमुनि का नाट्यशास्त्र क्षत्रियों के वाद्य, नृत्य के साथ निकट सम्बन्ध का सदा साक्षी रहेगा।

क्षत्रियों और वैश्यों के गोत्रकर्ता ऋषि वे ही हैं जो ब्राह्मणों के हैं। इस बात को छोड़ दीजिए। आजकल की क्षत्रिय जातियों के वंशधर अपने आप को प्रधानतः दो कुलों का बतलाते हैं—सूर्यवंश का और चन्द्रवंश का। सूर्यवंश की प्रत्येक वंशावली दशरथ के पुत्र रामचन्द्र के पुत्र कुश और लव के साथ मिलाई जाती है और चन्द्रवंश की वंशावलियां भी देवकी-पुत्र कृष्ण तक पहुंचाई जाती हैं। इन्हीं दोनों कुलों की बात सुन लीजिये।

चन्द्रवंश की वंश-परम्पराओं के आदिकमल वासुदेव कृष्ण को जो अपना पूर्वज

मानते हैं वे किस मुँह से गाने-बजाने की निन्दा करते हैं ? कृष्णचन्द्र ने न केवल स्वयं गीतागीत गाया प्रत्युत उसके कारण गाए हुए पञ्चगीत आज भी संस्कृत-साहित्य के प्रियतम रत्नों में से हैं। और उनकी वंशी बजाने की महिमा का तो कहना ही क्या ? मनुष्यों और देवताओं पर ही उसका व्यामोहन नहीं चलता था, पशु, पक्षी, तरु, लता, नदी, पर्वत—सब उस धुन से मस्त थे। यहां पर पञ्चगान के दो-तीन पद ज़रा ध्यान से सुन लीजिए, मैं मूल संस्कृत नहीं कहता, मथुरा के मारवाड़ी सेठ कन्हैयालाल पोद्दार के मधुर अनुवाद में से सुनाता हूं—

गौ कृष्ण के मुख कढ्यो वह वेनु-गान—
पीयूष-पान करतीं जु उठाय कान।
त्यों वत्स हू पय भरे स्तन-ग्रास छाँडे,
ठाड़े रहैं सु प्रभु को हिय राखि गाढे॥

वंशी ध्वनि सुनि नदी गति होत भग्ना,
आवर्त सूचित-मनोभव में निमग्ना।
लै के तरङ्ग भुज सों कमलोपहारु,
गाढ़े गहैं सु हरि के पद-पद्म-चारु॥

गौ-गोप-साथ रसरी धरि कै सु कांधै,
वंशी बजात जब ही सुर सप्त साधै।
रोमांग वृक्ष रु रहें चल जीव ठाड़े,
हा ! चित्र !! चेतन अचेत भाव छाड़॥

दूर ते हि मृग-गौ-गन सारे,
वेणु-नाद-हत-चित्त विचारे।
दाँत-ग्रास-धरि कान लगावें,
नैन मूंदि सभ-चित्र लखावें॥

चतुर-गोप शिशु खेलन मांही,
वेणु-वाद-नव-रीति महाही।
जब अरी यसुदा ! तव ताता,
ओष्ठ बिम्ब धरि वेणु बजाता॥

तबहिं सो सुनि सबें सुरवृन्दा,
ब्रह्म-इन्द्र-शिव-पाय अनंदा।
नमित-ग्रीव चित-ध्यान लगावें,
राग-भेद नहिं जानि लजावें॥

करत हास ऽरु कटाक्ष विलासा,
हा ! तबै हम बंधे स्मर-पासा।
तरु-समान गति होय हमारी,
भूलि जाँहि कबरी अरु सारी॥

पति सुतादि को छांड़ि कुल गली,
तव समीप हा ! आ गईं छली !
सरस गीत सों मोहि जो गईं,
तियन रैन में को तजै ? दईं !

ऐसे बड़े उस्ताद के वंशधरों की क्या, जाति-भाइयों की भी क्या, एक देश-वासियों तक की गाने-बजाने से प्रीति होनी चाहिए। हां, यदि कोई मेरा युवा मित्र यह कह उठे कि यह तो कवियों की कल्पना है, सच्ची बात थोड़ी है; तो मैं चुपके से उसके कान में कहूंगा कि संस्कृत की एक प्रसिद्ध कहावत के अनुसार एक ही मुर्गी का एक हिस्सा पकाने के और दूसरा हिस्सा अंडा देने के काम में नहीं आ सकता; मैं मानता हूं कि यह कवियों की रचना है; परन्तु तुम्हारी वंशावली का कृष्ण से मिलना भी क्या कवियों की रचना नहीं है ?

अब मर्यादा पुरुषोत्तम राजा रामचंद्र के दोनों पुत्रों की ओर आइए। उनके नाम कुश और लव थे। ये कुछ निराले से नाम हैं; पहले के और पीछे के राजाओं में बहुत ही कम (शायद नहीं भी) मिलते हैं। दोनों जोड़ले भाई थे, वाल्मीकि ने इनके सब संस्कार साथ ही किये थे, शब्द ब्रह्म का नया श्लोकमय विवर्त वाल्मीकीय रामायण इनने साथ-ही-साथ पढ़ा, उसे गा-गाकर लोकापवाद-भीरु रामचंद्र की निकाली हुई सीता के वियोग-दुःख को वे कुछ-कुछ कम करते थे और उनका लोकोत्तर गान सुनकर रामचंद्र ने जब उनसे पूछा कि 'गेये को नु विनेता वां ?' (तुम्हें गाना किसने सिखाया) तो उन्होंने वाल्मीकि का नाम लिया और पीछे राम ने उन्हें पहचान कर स्वीकार किया। बड़ी रोचक और करुण रस की कथा है। उन दोनों का नाम समास करके 'कुशलवौ' ऐसा भी आता है और कई जगह 'वाल्मीकीय रामायण' में 'कुशीलवौ' भी आता है, जैसे—

अभिषिच्य महात्मानावुभौ रामः कुशीलवौ।
(रामायण : उत्तरकांड)

कुश और लव का समास करने पर बीच में ई का घुसना नई बात होने पर भी संस्कृत-व्याकरण के जानने वालों के लिए नई नहीं है। क्योंकि वहां बालक का नाम तो हरिचंद्र होता है; एक खास राजर्षि का नाम उन्हीं शब्दों से बनकर हरिश्चंद्र हो जाता है; दुनिया का दोस्त इस अर्थ में विश्व + मित्र बनता है और उसी में एक खास ऋषि का नाम होने से 'आ' आ जाता है और वह शब्द विश्वामित्र हो जाता है। आजकल किसी पार करने वाले का नाम 'पारकर' होगा; परंतु एक ऋषि का उसी अर्थ का नाम पारस्कर है। व्याकरण को भाषा की उन्नति के आधीन मानने वाले कहेंगे, ये पुराने शब्द हैं व्याकरणों के बनने के पहले भाषा के चालू सिक्कों में आ चुके थे; और पीछे वैयाकरणों ने अपनी बुद्धि के अनुसार जिन शब्दों को न बना पाया उन्हें निपातन करके अलग छांट दिया। ठीक है; मेरा उनसे कोई झगड़ा नहीं है। वे ये मानेंगे कि आजकल

यदि दो जोड़ले भाई या सदा साथ रहनेवाले दो जनों के नाम कुश और लव हों तो उन्हें 'कुशलवौ' कहा जाएगा; परंतु उन दोनों भाइयों को 'कुशीलवौ' नहीं कहेंगे, वह केवल वाल्मीकि के शिष्य और मैथिली के कुमारों पर रूढ़ है।

अच्छा, जरा देखिए तो संस्कृत में कुशीलव का क्या अर्थ है? इसका अर्थ गाने-बजाने में कुशल, कीर्त्ति संचारक, नट वा चारण, गायक मिलता है। इन दोनों भाइयों के अर्थ में भी कुशीलव पद पाया जाता है। कुशीलवों की विद्या के चलाने वाले वाल्मीकि मुनि का भी यह शब्द वाचक है। और इन अर्थों के वाचक कुशीलव शब्द की व्युत्पत्ति कोशकार यह करते हैं कि "कुत्सितं शीलं अस्त्यर्थे व; कुशीलं वाति वा"। कु = खोटा; शील = चरित्र, व = है, वा जो खोटे चरित्र को लिए फिरते हैं। इस बचपन की व्युत्पत्ति को मैं बेसमझी का टक्कर मारना कहता हूं। यह उसी पंजाबी कहावत का नमूना है कि :—

उणादि का प्रत्यय आया डुलक, डियां डोलाना;
मा धातु से सिद्ध हुआ मुलक, मियाँ मौलाना !!

'वाल्मीकिरामायण' के पहले किसी ग्रंथ में गवैयों के अर्थ में कुशीलव शब्द नहीं मिलता। अतएव मेरा सिद्धांत यह है कि ये दोनों भाई कुशीलव इतने बढ़िया गवैये थे कि उनके पीछे गवैयों भर का नाम कुशीलव हो गया।

भाषा-विज्ञान के खोजी जानते हैं कि विशेष संज्ञा-नामों से साधारण गुण नाम बन जाते हैं। एक 'कादम्बरी' उपन्यास के पीछे मराठी भाषा में उपन्यास मात्र का साधारण नाम कादम्बरी हो गया है। एक भगीरथ के हिमालय पर्वत से समुद्र तक गङ्गा नदी को लाने के परिश्रम को देखकर बड़े हिम्मत के कामों में 'भगीरथ प्रयत्न' कहने लग गए हैं। हिंदी में एक प्रसिद्ध अंधा सूरदास नामक हो गया है जिसके पीछे अंधे अंधे सभी सूरदास जी कहलाते हैं। एक जसवन्तराव होलकर काने के पीछे सभी काने जसवन्तराव हो गए हैं। 'नव्वाबी', 'सिखाशाही' आदि शब्द भी एक विशेष प्रकार की शासन-प्रणाली के वाचक होकर वैसे गुणों वाली सभी प्रणालियों के लिए लाए जाते हैं। आजकल भी एक पायोनियर अखबार की प्रसिद्धि से लोगों ने पायनियर को अखबार मात्र का सर्वनाम बना लिया है, जैसे "आपके हाथ में कौनसा पायनियर है?" ढोला नाम का एक ऐसा प्रेमिक हो गया है जिसे अपनी प्रेयसी से वियोग क्षण-भर भी इष्ट न था; इसलिए अब राजपूताना में प्रेमी मात्र को 'ढोला' कहने लग गए हैं और चकवा-चकवी की तरह साथ रहने वाले प्रेमियों को ढोला-मारू। पीछे वैयाकरणों ने इस प्रेममय शब्द को प्राकृत के 'दुल्लहो' और संस्कृत 'दुर्लभ' और हिंदी 'दूलह' से मिलाकर अपना काम किया है। इसमें संदेह नहीं कि 'ढोला राय' को 'दुर्लभराय' का विकृत रूप मानना पड़ेगा, परंतु अत्यासक्त प्रेमी का अर्थ न दुर्लभ में है न दूलह में है; ढोला में जो वह आया है वह उस विशेष व्यक्ति के गुणों का जाति मात्र में आरोप होने से हुआ।

ऐसे उदाहरण पचासों दिए जा सकते हैं। भाषा-विज्ञान के आचार्यों ने यह उदाहरण दिया है। किसी वस्तु का नाम 'हरा' था और उसका यह डित्थ कपित्थ की

तरह अनर्थक नाम था। उसमें हरा (हरित) गुण भी था। अब लोगों को जो चीज़ हरित दिखाई पड़ती उसे वे सादृश्य का कारण "हरा! हरा!!" चिल्लाने लगे। होते-होते हरित गुण की वस्तु मात्र का साधारण नाम हरा हो गया जो एक विशेष अनर्थक नाम से निकल कर गुणवाचक हो गया।

यही 'कुशीलव' के साथ हुआ होगा। अयोध्यावासियों के इतिहास में अपने राजा की खोई हुई रानी और पुत्रों का मिलना बड़ी भारी हलचल पैदा करने वाली घटना हुई होगी। राम ने 'लोक एव जानाति किमपि' कहकर सारा पुण्य-पाप का भार प्रजा पर रख दिया था। राम के छोटे भाई अपने अग्रज की निःसंतानता पर दुःखी थे जैसा भवभूति ने चंद्रकेतु और सुमंत के मुंह से कहलाया है।[1] प्रजा भी अपने भविष्यशून्य सिंहासन को देखकर दुःखी थी। इसी अवसर में नाटक के समान घटना से दो गाने वाले जोड़ले भाई, जो 'कुशीलव' कहलाते थे, रंगमंच पर आते हैं और रामचंद्र और अयोध्या-वासी उन्हें अपना मान लेते हैं। इस समय कुशीलव का और कोई अर्थ नहीं है, यह उन दोनों भाइयों का जुड़ा हुआ नाम है। अब हाट-बाट में घर-घर में कुशीलवों की चर्चा फैल गई—"देखो, ये कुशीलव कितना अच्छा गाते हैं कि सुनते-सुनते हमारे राजा को अश्रु आ गए! क्यों भई, पहले भी कभी ऐसे कुशीलव सुने गए थे? अपनी अयोध्या में ऐसे कितने कुशीलव हैं? जी, अयोध्या की गिनती का क्या, आर्यावर्त में इन जैसे कुशीलव नहीं हैं।" वाल्मीकि को आता देखकर लोग अंगुली उठा-उठाकर कहने लगते "हाँ, देखो यह कुशीलवों का गुरु आया! क्या यह और भी कुशीलव तैयार कर रहा है?" शायद नायिकाओं ने अपने विदग्ध नायकों से कहा हो कि 'हमें रिझाना हो तो कुशीलव बनकर आओ'। और किसी पिता ने जब देखा हो कि बेटा दूकान को न सम्हाल कर दिन भर 'ता ना री री' में लगा रहता है तो उसने उसे सिर धुनता हुआ देखकर झिड़क कर कहा हो—"कुशीलवों की दुम बना जाता है! तेरे जैसे जब कुशीलव हो जाएंगे तब अयोध्या भर में किसी को नींद नहीं लेने देंगे।"

यों होते-होते यदृच्छा शब्द कुशीलव का अर्थ गवैया बजवैया मात्र हो गया। जैसे बुड्ढे वसिष्ठ के कारण हर एक आदरणीय वृद्ध को 'वसिष्ठ' कहते हैं (खालक-बारी का बसीठ=पैगम्बर) वैसे उन सुचतुर गवैयों के कारण सभी गाने-बजाने वाले कुशीलव कहलाने लगे। पीछे कई सौ वर्षों बाद जब इस शब्द की असली उत्पत्ति को लोग भूल गए थे। किसी अक्षरकीट पंडित ने अपने समय की गवैयों की घृणा को देखकर 'कुत्सितं शीलं' वाली भानमती के कुनबे की-सी व्युत्पत्ति गढ़ दी। वंश दो तरह चलता है विद्या से और जन्म से, तो क्यों कुशीलवों के जन्म-वंशज अपने वंशकर्ताओं की विद्या

१. अप्रतिष्ठे रघुज्येष्ठे का प्रतिष्ठा कुलस्य नः।
इति दुःखेन पीड्यन्ते त्रयो नः पितरोऽपरे।
मनोरथस्य यद्बीजं तद्दैवेनादितो हृतम्।
लतायां पूर्वलूनायां प्रसूनस्यागमः कुतः।

से घृणा करते हैं ?[१]

यदि यह कहा जाए कि गवैयों का नाम कुशीलव रामचंद्र के पुत्र लव और कुश से पुराना है तो प्रमाण न होने पर भी इसमें इष्टापत्ति है। तो यों हुआ होगा कि दो चतुर बालक कुशीलव (=गवैये) अयोध्या में आए और पहचान होने पर राजपुत्र मान लिए गए। उनका नाम किसी को नहीं मालूम था। 'कुशीलवों को राजा ने अपना पुत्र पहचान लिया'—'अब कुशीलव हमारे राजा बनेंगे'—इस प्रकार की बातें अयोध्या में होते-होते लोग उन्हें 'कुशीलव' ही कहने लग गए। जैसे बड़े पहलवान वा पंडित का नाम कोई नहीं जानता या लेता वरन् उन्हें पहलवान जी या पण्डित जी कहता है वैसे ये दोनों भाई 'कुशीलव' ही कहे गए। पीछे उसी नाम को फाड़कर उनके नाम लोगों ने कुश और लव रख लिए। क्योंकि पहले कहा जा चुका है कि ये निराले-से नाम हैं और संस्कृत-साहित्य में शायद और कहीं पाए नहीं जाते। और इनके निरालेपन ही को देखकर और कुशीलव से इनका निकलना न सोच कर कई सौ वर्षों पीछे (और उस समय गानविद्या और उसके प्रचारकों से गर्हा उत्पन्न हो गई हो) यह द्रविड प्राणायाम से बादरायण संबंध निकाला गया कि वाल्मीकि ने उनके गर्भक्लेशों को कुश और लव (=गोपुच्छ) से मिटाया था इससे उनके नाम कुश और लव रक्खे गए। जिस एक गर्भ में जोड़ले भाई हैं उसके क्लेश मिटाने के लिए न्यारे-न्यारे उपकरण कैसे लिए गए यह जैसे विचारणीय है वैसे यह अप्रमाण कथा भी विचारणीय है कि एक दिन लव को खोकर सीता व्याकुल हो रही थी तो मुनि ने कुश पर छींटा मारकर एक दूसरा बालक बना दिया ! इससे एक पुत्र वाली सीता के दो पुत्र हो गए !! और यह बात ही न्यारी है कि ज्येष्ठ कुश उस कथा में कनिष्ठ हो जाता है !!!

चाहे जो हो, चाहे उन दो राजकुमारों के पीछे गवैये कुशलीव कहलाए हों और चाहे गवैया होने के कारण वे दोनों कुशीलव कहलाए हों—इसमें संदेह नहीं कि वे शब्दब्रह्म के नये विवर्त आदिकाव्य रामायण के चतुर गाने वाले थे। उनके गानवेत्ता होने में कोई संदेह नहीं। यदि रामचंद्र की ऐतिहासिकता में किसी को संदेह हो तो यह मानना ही पड़ेगा कि रामचरित आदिकवि की कल्पना है। यह बात भी हमारे काम की है क्योंकि पुराने—अति पुर ने—समय के कवि की दृष्टि में ऐसे चक्रवर्त्ती राजा के पुत्र और भविष्य चक्रवर्त्तियों को गानवेत्ता कहने में कोई संकोच न जान पड़ा या लज्जा नहीं आई। उस समय के पाठक भी चक्रवर्त्ती के लड़कों को गाता हुआ देखकर 'अब्रह्मण्यं,

---

१. एक और विनोद की बात है; संस्कृत भाषा के व्याकरण के अनुसार गोत्र के सब व्यक्तियों का नाम गोत्रकार के नाम से चलता है। कुशिक के वंश के लोग कुशिकाः कहलाएंगे ('एष वः कुशिका वीरो'—ऐतरेय ब्राह्मण) और भरत के वंश के सब लोगभरताः ('एष वो राजा भरताः—कृष्ण यजु०)। इस प्रकार से चन्द्रवंशी दुष्यन्त के पुत्र शकुन्तला गर्भज भरतवंश के लोग भरताः कहलाएंगे और कुशीलवों के वंश के कुशीलवाः। और संस्कृत-साहित्य में 'भरताः' और 'कुशीलवाः' यह नाचने-गाने-बजाने में चतुर लोगों का नाम है !!!

अब्रह्मण्यं' नहीं पुकारते होंगे।

यह माना कि आजकल संगीत नीच सङ्ग से कुरुचिकारक हो गया है, पर कुसङ्ग से कौन चीज़ नहीं बिगड़ जाती? और उत्तम विद्या को नीच से, स्वर्ण को अपवित्र जगह से, अमृत को विष से, स्त्रीरत्न को दुष्कुल से लेने के विषय में भी तो नीति का एक श्लोक है न?

[प्रथम प्रकाशन : मर्यादा : मार्च, १९११ ई०]

साँप के काटने का विलक्षण उपाय

ग्वालियर राज्य में एक मकसूदनगढ़ या नया किला नाम का एक छोटा-सा स्थान है। वह, रेल के रास्ते से, राघोगढ़ से, अथवा भोपाल के पास पड़ता है। वहां जाने के लिए कौनसा रेलवे स्टेशन है यह ठीक पता नहीं चला; पर हां, यह तो जान पड़ा है कि मकसूदनगढ़ अपने आप रेल का स्टेशन नहीं है। इस ठिकाने की ठाकुर की गद्दी में यह करामात सुनी गई है कि साँप के काटने का इलाज एक अद्भुत रीति से वहां पर होता है। जो गद्दी पर बैठता है उसी में यह शक्ति रहती है, छोटे भाइयों या कुमारों में नहीं। राजपूताने के पूर्व-दक्षिण हिस्से और मालवा के बड़े भारी भाग में सब इस बात को जानते हैं; सैकड़ों नहीं तो पचासों स्त्री-पुरुष अवश्य वहां जाकर प्रतिवर्ष अच्छे हो आते हैं।

क्या होता है

जिस किसी को साँप काटे वह उसी समय दंश की जगह पर एक डोरा बांधकर कह देवे—"यह महाराज धीरजसिंह जी की ताँती (तंतु, तागा) है, साँप को धीरजसिंह जी की आण (शपथ) है यदि मुझ पर विष चढ़ा तो। मैं एक महीने (दो महीना या छः महीना, कोई निर्दिष्ट समय बताना चाहिए) नए किले की गद्दी पर हाजिर हो जाऊंगा। सिर्फ कहने का तात्पर्य ऐसा होना चाहिए। कुछ यह जरूरी नहीं है कि भाषा यहां की यही हो। साथ ही, यह भी निश्चय नहीं हुआ है कि राजपूताना की देहाती भाषाओं को छोड़ कर अरबी, फारसी, संस्कृत या अंगरेजी में यही बात कही जाए तो उसका प्रभाव क्या होता है। खैर, यह कहते ही साँप का विष नहीं चढ़ेगा। काटा हुआ मनुष्य अपना काम करने लगता है। किन्तु यदि निर्दिष्ट समय के अन्दर वह नए किले नहीं जावे तो अवधि का दिन पूरा होते ही उसे विष चढ़ता है और वह मर जाता है। नए किले में जाते ही उसे बाहर मन्दिर के पण्डे से मिलकर सूचना देनी चाहिए कि एक साँप का काटा आया है। वह ठाकुर साहब को सूचना देता है। वहां पर आने वाले स्त्री या पुरुष जैसा हो,

उसके लिए वैसा ही खाने-पीने, रहने का प्रबन्ध किया जाता है। क्योंकि लोक-विश्वास और चाल के अनुसार धीरजसिंह जी गद्दी वाले न सिर्फ साँप के काटे को मौत के मुंह से बचाते हैं; बल्कि उसे सब तरह का सुख और खर्च देकर घर भेजते हैं। देहली पर जाते ही काटे हुए का विष चढ़ता है, वह हाथ-पांव पछाड़ता है (कभी-कभी मुंह से झाग निकालता है) और बेहोश हो गिर पड़ता है। वह उठाया जाकर ठाकुर साहब के सामने लाया जाता है। वे उससे पूछते हैं कि तू कहां रहता है। वह, अर्थात् उसे काटने वाला साँप, उत्तर देता है कि मैं अमुक पेड़ की जड़ में, या फलाने कुएं की चिनाई में, (या और किसी जगह) रहता हूं। मानो उस मनुष्य के शरीर में विष के रूप से साँप ने प्रवेश कर लिया है। अक्सर साँप के काटे हुए लोग ३/४ कोस की दूरी से ही आते हैं क्योंकि करामाती स्थानों की बड़ाई या तो बहुत छोटे घेरे में रहती है, या बहुत ही दूर तक अपने किरण छोड़ती है। ऐसे पास के लोगों के प्रमाण पर जब बताए हुए पते पर साँप खोजा गया है तब, लोग कहते हैं कि, वहीं मिला है। पीछे पूछा जाता है कि तूने इसे क्यों काटा? उत्तर में साँप, काटने का कारण कहता है। जैसे, इसने मेरी दुम को कुचला, या मेरे लाठी मारी, या मेरे जोड़े को मार डाला। (यह भी काटे हुए मनुष्य से पूछा जाता है तो ठीक निकलता है।) तब ठाकुर साहब आज्ञा देते हैं कि तुम इस मनुष्य को छोड़कर चले जाओ। साँप यदि भला होता है तो मान लेता है और वह मनुष्य नींद से उठने वाले की तरह चौंककर जाग पड़ता है। यदि साँप दुष्ट जाति का होता है तो वह कह देता है कि मैं नहीं छोड़ूंगा। तब ठाकुर साहब अपने जेब में से एक रूमाल निकाल कर उसे बटना शुरू करते हैं। ज्यों-ज्यों वे उसमें बल देते हैं त्यों-त्यों ऐसा मानते हैं कि साँप के शरीर में बट लगते जा रहे हैं। एक, दो या तीन बल में ही वह मनुष्य हा-हा खाता है और कहता है—"माफ कीजिए, मैं जाता हूं" और होश में आ जाता है। पीछे खर्च आदि लेकर ठाकुर साहब का गुण गाता हुआ अपने घर लौट जाता है।

वैज्ञानिक विचार

विष के रूप से साँप ही काटे हुए के शरीर में घुस जाता है, ऐसा कई लोग मानते हैं। और जगह भी साप के काटे हुए को 'बकराकर' (बकना शुरू कराकर) प्रश्न पूछे जाते हैं और यह माना जाता है कि साँप उत्तर दे रहा है। यह बकराना मन्त्र से, या मेस्मेरिज्म के से, 'पास' करने से होता है। धीरजसिंह के नाम से विष का जोर न करना, नाम के मन्त्रबल से हो सकता है अथवा नाम लेने के मन पर दृढ़ विश्वास के प्रभाव से हो सकता है। ऐसे ही निर्दिष्ट समय पर मकसूदनगढ़ न पहुंच सकने वाले का मर जाना भी इसी दृढ़ विश्वास के हट जाने की शिथिलता का फल हो सकता है। दो मनुष्य पास-पास सो रहे थे। एक को साँप ने काटा, दूसरे को चूहे ने। चूहे के काटे हुए ने समझा मुझे साँप ने काटा है और उसे जहर चढ़ने लगा, मुँह में फेन आ गए, आँख चढ़ गईं और साँप का काटा हुआ यह समझकर कि मुझे चूहे ने काटा है खेलता-कूदता रहा। एक दंश पहचानने वाले ने दाँत का निशान पहचानकर जब पहले को कहा कि तुम्हें चूहे ने काटा है तो वह भला-चंगा हो गया और दूसरा उसीसे यह सुनकर कि उसे साँप ने

काटा है मूर्छित हुआ और मर गया। यह सहानुभूतियुक्त कल्पना (Sympathetic Imagination) का फल हो सकता है। झाड़-फूंक के द्वारा, मन्त्रों के द्वारा, जो साँप का जहर उतारने का दावा किया जाता है वह भी मानसिक बल से काटे हुए की मनोवृत्तियों को विश्वास की भित्ति पर जमाकर, दूसरी तरफ लगाने से होता होगा। पहला मानसिक जादू काटने वाले और काटे हुए की एकता है, दूसरी मानसिक करामात रूमाल और अपराधी की एकता है जो पहले के कान ऐंठने से दूसरे के कान ऐंठवा देती है।

नामों की महिमा

कुछ नामों के विषय में भी यह होता है कि उन नामों से साँपों का विष हटता हुआ बताया जाता है। हैदराबाद के भूतपूर्व निज़ाम महमूदअली बेग में भी यह सामर्थ्य कहा जाता था। केवल इतना ही आवश्यक था कि साँप के काटते ही निज़ाम महमूदअली बेग का नाम ले लिया जाय। बस, धीरजसिंह जी की गद्दी की तरह हैदराबाद जाने की जरूरत न थी; केवल तार या चिट्ठी से दक्षिण के निजामुलमुल्क को यह सूचना देनी होती थी कि आपके नाम से यह आराम हुआ। नहीं जानते कि वर्तमान और भविष्य के निज़ामों में भी यह शक्ति रहेगी या नहीं। पंजाब में 'गूगा छत्री' के नाम की ऐसी ही महिमा है;—यहां तक कि साँप मात्र को लोग 'गूगा' कहने लग गए हैं। गूगा जी के विषय में कुछ और भी कहना है। साँप के विष के बारे मे आस्तिक लोग एक श्लोक पढ़ा करते हैं जिसका अर्थ यह है कि "नर्मदा को सुबह को प्रणाम और नर्मदा को रात को प्रणाम। नर्मदे, तुमको प्रणाम, मुझे सर्प-विष से बचा।" यों लिया जाने वाला नाम किसी प्रबल पराक्रमी या साँपों के परिचित किसी उनके उपकारी का होना चाहिए जिसके नाम से साँप दबते हों। 'महाभारत' के पढ़ने वाले यायावर कुल के जरत्कारु ऋषि और नाग-कुल की जरत्कारी के पुत्र आस्तीक का नाम जानते होंगे जिसने अपने वैदिक ज्ञान के बल से परीक्षित जनमेजय के सर्पसत्र को बन्द कराकर अपने मामा के कुल की रक्षा की थी। उसके नाम के प्रभाव से साँप को दूर रखने के लिए कहा जाता है—"साँप, हट जा, तेरा भला हो, महाविष, दूर हट जा। जनमेजय के यज्ञ में अन्त में आस्तीक का वचन याद कर। आस्तीक का वचन सुनकर जो साँप नहीं हटता उसका सिर सौ टुकड़ों में फट जाता है जैसे शिंश वृक्ष का फल।" ये दोनों श्लोक 'महाभारत' में हैं और (हँसिए मत) ऋग्वेद-परिशिष्ट में भी पहुंचा दिए गए हैं। तो जैसे 'ओं आस्तीकाय नमः' कहने से साँप का भय नहीं रहता, वैसे ही धीरजसिंह जी की आण देने से भी साँप का विष नहीं चढ़ता, माना जाता है।

धीरजसिंह जी कौन थे? साँपों के कुल से उनका ऐसा कौनसा सम्बन्ध था कि साँप अब तक उनका आदर करते हैं? इस प्रश्न के उत्तर में धीरजसिंह जी का रोचक उपाख्यान सुनिए—"धीरजसिंह जी, कई पीढ़ियों पहले, इसी वंश में हुए हैं। कितनी पीढ़ियां उनसे मकसूदनगढ़ के वर्तमान अधिकारी तक हुईं यह नहीं जाना जाता। संभव है कि वर्तमान ठाकुर के पास अपना वंशवृक्ष हो। अस्तु, एक दिन वे जंगल में जा रहे थे। देखा कि उच्चकुल की सर्पिणी एक नीचकुल के सर्प के साथ सहवास कर रही है। साँपों की

जाति पहचानना पुराने लोगों की एक विद्या थी। महाभारत में साँपों की ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि कई जातियां लिखी हैं। राजा को यह अनाचार बुरा लगा, उसने बेंत की चोट मारकर उन दोनों को अलग किया और अपना रास्ता लिया। कहते हैं कि साँप अपना मैथुन देखने वाले को क्षमा नहीं करता। अवश्य ही जारिणी सर्पिणी ने अपने प्रेमी को उसकाया[1] होगा कि बदला ले, किन्तु उस कापुरुष ने दुम दबाकर अपनी बहकाई हुई प्रेयसी को बेंत की चोट का स्मरण करने के लिए छोड़ दिया। स्त्री ने अपने पति नाग से जाकर कहा कि राजा धीरजसिंह ने मुझ निरपराध स्त्री पर प्रमाद से आघात किया है, आप मेरा बदला लीजिए। सर्प फुफकारता हुआ राजमहल में पहुंचा और एक मोरी में अवसर ताकता हुआ छिपा रहा। इसी समय राजा भीतर अपनी रानी से कह रहे थे कि देखो कलियुग का प्रवेश हम मनुष्यों में ही नहीं, सर्पों में भी हो गया है। आज मैंने एक नीच जाति के सर्प के साथ एक उच्चकुल की नागिनी को देखा। हा! हन्त! समय न मालूम और क्या-क्या दिखाएगा?

पनाले में से यह सुनकर नाग राजा के सामने आया और (अवश्य ही यह उस समय की बात होगी जब साँप मनुष्यों की भाषा बोल सकते थे!!) धीरजसिंह से सच्चा हाल सुनकर बोला—"मैं उस छलिनी के वचनों से मोहित होकर आपको मारने आया था परन्तु अब मेरी आँखों पर से परदा हट गया है। आप जो चाहें, वर मांगिए।" बार-बार पूछने पर राजा ने यह वर मांगा कि मुझमें और मेरे वंशधरों में यह शक्ति हो कि वे साँप के काटे हुए को अच्छा कर सकें और सब साँप उन मनुष्यों को छोड़ दें जो मेरा नाम लें। साँप 'तथास्तु' कहकर चला गया। पीछे उसने अपनी कुलटा स्त्री को क्या दण्ड दिया और उस क्षुद्र साँप की क्या दशा की जो न केवल 'परदाराभिमर्षण' में शूर था परन्तु अपना तथा अपनी विश्वसिनी प्रिया के अपमान को देखकर कायरपन की प्रतिमूर्ति बनकर भाग गया था; इसका साँप के गार्हस्थ्य-सुख से सम्बन्ध होते हुए भी हमारी कथा से कुछ सम्बन्ध नहीं है।

ऊपर का लिखा हुआ वृत्तांत एक प्रामाणिक व्यक्ति से सुना हुआ है; कई मनुष्यों ने इसके सत्य होने की साखी भरी है। यदि यह सत्य हो तो इस विषय की जांच होनी चाहिए। जब मकसूदनगढ़ के ठाकुर साहब प्रत्येक साँप के काटे को भला-चंगा करके उसे वस्त्र देकर भी सत्कार करते हैं, तब अवश्य ही वे अपने यहां एक रजिस्टर रख सकते हैं। उसमें लिखा जाना चाहिए—अमुक दिन साँप का काटा अमुक व्यक्ति यहां आया, उसके कथन के अनुसार उसे साँप ने अमुक स्थान में इतने दिन पहले काटा था, और वह चंगा होकर चला गया। यदि १० वर्ष तक भी ऐसा नक़शा रखा जाय तो यह गवाही ऐसी प्रबल हो जाएगी कि कट्टर-से-कट्टर नास्तिक भी इसे नहीं हिला सकता। और अब अंग्रेजी राज्य और रेल की कृपा से हिन्दुस्तान का कोई भी भाग मकसूदगढ़ से इतना दूर नहीं रहा है कि एक-एक सप्ताह में वहां न पहुंचा जा सके। यदि दस वर्ष का लेखा सही-सही रखा जाय तो मकसूदनगढ़ तक रेल भी बनाई जा सकती है और जो सरकार पागल कुत्तों के काटे हुए दीनों को बिना किराया लिए

१. उकसाया।

कसौली के 'पाश्चूर इन्स्टिट्यूट' में भजती है उससे यह भी आशा की जा सकती है कि हर थाने, हर पुलिस-चौकी में यह ढिंढोरा पिटवा दे कि साँप के काटते ही राजा धीरजसिंह जी की शपथ खाओ। इस देश में प्रतिवर्ष सहस्रों मनुष्य गाँवों में साँप के काटने से मरते हैं। उनके बचने का ऐसा सुलभ उपाय होने से राजा-प्रजा में मकसूदनगढ़ के ठाकुर साहब का कितना मान होगा।

किन्तु

एक बात विचारने की है। यह भय है कि सर्वसाधारण में प्रकाशित करने से धीरजसिंह जी के नाममन्त्र की महिमा कहीं घट न जाय। कभी-कभी करामातों के विषय में यह सुना गया है कि उन्हें बहुत ही तंग हद में रखना चाहिए जिससे अवज्ञा न उत्पन्न हो। सर्वसाधारण की जानकारी की उंगली के सामने करामात की लाजवन्ती मुंह छिपा लिया करती है। चाहे जो हो, यह विषय खोजने और विचारने योग्य अवश्य है।

[प्रथम प्रकाशन : इंदु : जनवरी, १९१३ ई०]

संस्कृत की 'टिपरारी'

योरोप के वर्तमान युद्ध में टिपरारी ने खूब नाम पाया। आयरलैंड के एक कोने में टिपरारी नामक एक न-जाना-सुना गाँव है। किसी दिलचले कवि ने उसे एक गीत में अमर कर दिया है। गीत में टिपरारी-निवासी किसी कल्पित ग्रामीण का भोलापन और देश-प्रेम दिखाया गया है। परन्तु जैसे तुलसीदासजी ने साबर-मन्त्रों के लिए कहा है कि 'अनमिल आखर अर्थ न जापू। प्रकट प्रभाव महेस प्रतापू' वैसे ही अंगरेज़ सिपाही लाम में इस व्यंग्यमय गीत को गाकर बहुत आश्वासन पाते हैं। जहां थकावट और घबराहट के बादल उनके प्रसन्न मुखों पर छाये कि टिपरारी की धुन ने उन्हें चौगुना चमका दिया। इस युद्ध में टिपरारी पर और भी शान चढ़ी,—फ्रेंच में, जर्मन में, हिन्दी में उर्दू में उसके अनुवाद हुए। हमारे जवान भी 'कद्दू मज़ेदार'[1] और 'बलूची जालमा' की जगह उसे अलापने लगे। अंगरेज-सिपाही किस प्रकार हँसता-खेलता मृत्यु के मुख में धँस जाता है, किस प्रकार कमर-कमर भर कीच में वह ठट्ठा करता रहता है, इसका मानो टिपरारी विज्ञापन हो गया, मन्त्र हो गया। टिपरारी के शब्द और अर्थ का विचार करके आज यह दिखाना है कि इससे मिलता हुआ भावमय काव्य हमारे यहां भी है।

---

१. देखें : उसने कहा था : इसी ग्रंथ का पृष्ठ ८७

टिपरारी का गीत यह है—

१. Up to mighty London came
An Irishman one day;
As the streets were paved with gold
Sure everyone was gay.
Singing songs of piccadilly
Strand and Leister-square
Till Paddy got excited
Then he shouted to them there;
It's a long way to Tipperary
It's a long way to go
(टेक) It's a long way to Tipperary
To the sweetest girl I know.
Goodbye Piccadilly
Farewell, Leister-square
It's a long, long way to Tipperary
But my heart's right there.

२. Paddy wrote a letter to
his Irish Molly o
Saying should you not receive it
Write and let me know.
If I make mistakes in spelling
Molly dear, said he,
Remember it's the pen that's bad
Don't lay the blame on me.
(टेक) It's a long way etc.

३. Molly wrote a neat reply
To Irish Paddy o
Saying Mawklin wants
to marry me and so
Leave the Strand and Piccadilly
Or you will be to blame
For love has fairly drove me silly
Hoping you are the same.
(टेक) It's a long way.

ज़रा इसके भाव को देखिए। जैसे हमारे यहां शिकारपुर के या भौगाँव के या बदायूं के भोले सरदार प्रसिद्ध हैं, वैसे अंगरेज़ी-साहित्य में आयरलेंड के निवासी 'पैडी' के उपनाम से बनाये जाते हैं। एक दिन पैडी लन्दन-महानगर में आया। कलकत्ते में एकदम पहुंचनेवाले भोजपुरिये और बम्बई में अचानक आ धमकनेवाले मारवाड़ी की तरह वह भौचक रह गया। वहां की सड़कें मानो सोने से मढ़ी हुई थीं, सब लोग प्रसन्न थे और पिकाडिली के जौहरी बाज़ार, स्ट्रैंड के मोती-कटरे और लीस्टर-स्क्वायर के मानिक चौक के सब गीत गा रहे थे। पैंडी साहब को भी जोश आ गया और आप चिल्ला उठे—"मेरी टिपरारी बहुत-बहुत दूर; बहुत ही दूर है। मेरी प्रियतमा के पास टिपरारी जाना यहां से बहुत ही दूर पड़ता है। पिकाडिली, सलाम और लीस्टर-स्क्वायर, नमस्कार। टिपटारी बहुत ही दूर है, पर मेरा हृदय वहीं है।"

चमत्कार यह है कि लन्दन के ऐश्वर्य के आगे भी वह अपने छोटे-से गाँव और वहां पर अपनी परिचिता सुन्दरी की धुन में रमा हुआ कहता है कि मेरा हृदय वहीं है।

दूसरी कड़ी का विरोधात्मक हास्य देखिए। पैंडी ने अपनी आयरलेंडनिवासिनी प्रेयसी मौली को पत्र लिखा कि यदि तुम्हें यह पत्र न मिले तो लिख कर मुझे सूचना देना ! यदि मेरे लेख में कोई अशुद्धि हो तो याद रखना कि क़लम खराब है (आँगन टेढ़ा है) मुझे दोष न देना !!

तीसरी कड़ी में मौली का उत्तर बड़ी सफ़ाई से दिया गया है। वह कहती है। कि तुम्हारे यहां से चले जाने पर दूसरों की बन आई है। माकलिन मुझसे विवाह करना चाहता है। इसलिए स्ट्रैंड और पिकाडली को छोड़ कर चले आओ, नहीं तो सब दोष तुम्हारे सिर रहेगा, क्योंकि प्रेम ने मुझे पागल कर रक्खा है और (जैसे चिट्ठियों में कुशल-समाचार लिखते हैं) आशा है कि तुम भी वैसे ही होगे !!!

इसके पीछे क्या हुआ, यह गीत में नहीं। मौली और टिपरारी का दोहरा आकर्षण पैंडी को लन्दन की सुवर्ण-वीथिका (सोनागाछी नहीं) से खींच ले गया होगा और हिन्दी के एक पुराने भावमय गीत के अनुसार—

> कब ऊगेगो सुक्र ? चले चालो।
> गोरी ने डोला कसवायो रसिया ने सिकल कर्यो भालो ॥

[२]

महाभारत का युद्ध हो रहा है। भीष्म और द्रोण मर चुके हैं। कर्ण बड़े अभिमान के साथ सेनापति बन कर अर्जुन से लड़ने चले हैं। मद्रराज शल्य इस शर्त पर उनका सारथि बना है कि मैं जो चाहूं सो कर्ण को सुना दूं। कर्ण ने युद्धक्षेत्र में आते ही डींग मारना आरम्भ किया। कहता है कि अब अर्जुन और कृष्ण मरे। मुझे कोई अर्जुन को दिखा तो दे। मैं दिखानेवाले को छै हथिनियोंवाला सोने का रथ दूं, गले में सोना पहने हुए दासियां दूं, चौदह वैश्यग्राम—मारवाड़ी सेठों के गाँव (इसका स्वारस्य शेखावाटी के ठाकुरों से पूछना चाहिए)—दे दूं। यों ही वह शेखी बघारता गया। शल्य ने उसे

झिड़कना शुरू किया। शल्य कहता है कि जो तेरे पास इतना रुपया है तो यज्ञ क्यों नहीं करता ? क्या तुझे इस तरह मृत्युमुख में जाने से रोकनेवाले मित्र नहीं ? माता की गोद में पड़ा-पड़ा तू चन्दखिलौना मांगता है ! क्या कभी गीदड़ ने शेर को मारा है ? हंस की चाल चलनेवाले कौवे की तरह ही तेरी दुर्गति होगी !

कर्ण को क्रोध आ गया। एक तो ऐसी झिड़क दूसरे शाप की झिड़क सुनते ही तू निस्तेज हो जाएगा। शल्य पहले यह प्रतीक्षा करा कर सारथि बना था कि जो चाहूं सो कह लूं। अब कर्ण ने जले दिल से शल्य को बुरा-भला कहना आरम्भ किया। शल्य मद्रदेश का राजा था। मद्र पश्चिमी पंजाब है, जहां उस समय वाहीक नामक अनार्य जाति आ बसी थी। पाणिनि के समय में भी व्यास नदी के उत्तर तट पर वाहीकों के ग्राम और कूप बन गए थे। वाहीकों के रीति-रिवाज से कुरुक्षेत्र और आर्य्यावर्त के निवासी बहुत घिनाते थे। मद्र और वाहीक की उस समय वही प्रसिद्धि थी जो तुलसीदास और कबीर के समय मगह (मगध) की थी। कर्ण ने कई अध्यायों में वाहीकों की बुराई की है; उनका खाना, पहनावा, स्त्रियों का व्यभिचार, अधर्म सब कुछ बखान कर शल्य को गोलियां दी हैं कि ऐसे पापियों का तू षष्ठांशभोगी राजा है ! शल्य से चिढ़ कर उसके देशवासियों को गाली देना कोई तर्क तो नहीं, पर क्रोधी कहीं तर्क की परवा करता है ? शल्य चुपचाप इन कुवाच्यों को पीता गया। उसने कर्ण के देश के लिए कुछ भी न कहा। पर कर्ण की वीरता पर वह गीला कम्बल डालता गया और उसे बकने दिया। उसका उद्देश सिद्ध हो रहा था। भर्त्सना से कर्ण की वीरता पानी-पानी हो रही थी और शाप का प्रभाव चढ़ रहा था। केवल अन्त में शल्य ने कहा—"कर्ण, तुम्हारे अङ्गदेश में भी आतुरों को मरने के लिए छोड़ देते हैं और स्त्रियों तथा पुत्रों को बेच दिया करते हैं; प्रत्येक देश में सदाचार और दुराचार होते हैं। इससे क्या ?"

जो हो, अपनी जलन में कर्ण ने जो वाहीकों के आचरण का चित्र खींचा है वह बड़ा ही ओजस्वी है और ऐतिहासिक मूल्य रखता है। समाज-वर्णन के ये तीन-चार अध्याय महाभारत के समुद्र में भी अनूठे रत्न हैं। जगह-जगह पर कर्ण ने कुरुराज धृतराष्ट्र के दरबार में आए हुए प्रवासी ब्राह्मणों और वाहीकों की गाथायें उद्धृत की हैं। ये गाथायें सामाजचित्रण की दृष्टि से बड़े महत्त्व की हैं। कुछ तो उनमें इस ढंग की हैं जैसे—"राँड साँड सीढ़ी संन्यासी। इनसे बचे तो सेवै कासी", "जाय कलकत्ते + + खाय अलबत्ते", "जाओ कुल्लू, हो जाओ उल्लू", "गये चम्बा, बड़ा अचम्भा" —इत्यादि। इन संक्षिप्त लोकोक्तियों में जन-समाज के मत का जो चित्रण है वह कितने स्वारस्य से भरा हुआ है। कर्ण की गाथाओं में से कुछ गाथायें ये हैं—

१. मद्रदेश की स्त्री से यदि काँजी मांगो तो वह जांघें समेट कर कहती है कि मैं अपने बेटे को दे दूं, पति को दे दूं, पर काँजी न दूं।

२. युगन्धर (देश) में जल पीकर, अच्युत-स्थल में रहकर और भूतलय में नहाकर भला कहीं स्वर्ग को जा सकता है ?

३. गोवर्धन नामक बड़ और सुभाण्ड नामक शहर ये दोनों कलि के द्वार हैं, यह मैं लड़कपन से सुनता आया हूं।

४. वाल्हीक पृथ्वी के मैल हैं।

५. वाल्हीका और हीक विपाशा में दो पिशाच थे। वाहीक उनके पुत्र हैं; प्रजापति की सृष्टि ही नहीं !

६. वहां ब्राह्मण क्षत्रिय हो जाता है; क्षत्रिय वैश्य, शूद्र होकर नाई हो जाता है; नाई फिर ब्राह्मण हो जाता है !

७. बिच्छू का विष उतारने के लिए और राक्षस का आवेश मिटाने के लिए वाल्हीकों के पाप की दुहाई दी जाती है।

जिन गाथाओं में वाल्हीक-स्त्रियों के दुराचार का वर्णन है उनका अनुवाद करना उचित नहीं।

[३]

खैर, उन गाथाओं में एक गाथा है—

[तासां किलादलिप्तानां निवसन् कुरुजाङ्गले।
कश्चिद् वाल्हीकदुष्टानां नातिहृष्टमना जगौ]
स नूनं बृहती गौरी सूक्ष्मकम्बलवासिनी
मामनुस्मरती शेते वाल्हीकं कुरुवासिनम्
शतद्रुं नु कदा तीर्त्वा तां च रम्यामिरावतीम्
गत्वा स्वदेशं द्रक्ष्यामि स्थूलजङ्घाः शुभाः स्त्रियः ?
मनःशिलोज्ज्वलापाङ्ग्यो गौर्यस्ताः काकुकूजिताः
कम्बलाजिनसंवीता रुदन्त्यः प्रियदर्शनाः।
मृदङ्गानकशङ्खानां मर्दलानाञ्चनिःस्वनैः
खरोष्ट्राश्वतरैश्चैव मत्ता यास्यामहे सुखम्।
शमीपीलुकरीराणां वनेषु सुखवर्त्मसु
अपूपान् सक्तुपिण्डांश्च प्राश्नन्तो मथितान्वितान्।
पथिषु प्रबलो भूत्वा तथा सम्पततोऽध्वगान्
चेलापहारं कुर्वाणास्ताडयिष्याम भूयसः।

कोई प्रवासी वाल्हीक कुरुक्षेत्र में आया हुआ है। प्रवासी को आर्यभूमि का चमत्कार लुभा नहीं सका। वह अपने देश की स्त्रियों की याद करके गा रहा है—हाय, अवश्य वह बृहदाकार और गौर शरीर वाली स्त्री, बारीक पश्मीना पहने हुए मुझ कुरुदेश-प्रवासी वाल्हीक की याद करती हुई सो रही होगी (इधर की स्त्रियां ठिगनी और सांवली और सूती कपड़े पहनने वाली; पेशावर की तरफ़ की स्त्रियां अब भी बृहती, गौरी और सूक्ष्म कम्बलवासिनी !) कब मैं सतलज को पार करके, और सुन्दर रावी को लांघकर स्वदेश पहुंचूंगा और कब सुन्दर, मोटी जांघोंवाली, मनःशिला की-सी उज्ज्वल कनखियोंवाली, गोरी सदा मोड़ के लटके से बोलनेवाली, कम्बल और मृगचर्म पहने हुए, मेरे वियोग में रोती और प्रियदर्शन स्त्रियों को देखूंगा ? (इतने में उसको

अपनी प्यारी जन्मभूमि का स्मरण आ गया) ढोल, नगारे, शंख और मर्दल बजते जायंगे, और मतवाले होकर हम गधों, ऊंटों और खच्चरों पर चढ़े-चढ़े चले जायंगे ! वहां शमी, पीलु और करीर के जंगल हैं। हमारे लिए मार्ग बड़ा सुखदायक है ! वहां हम मट्ठे के साथ पूए और सत्तू के लड्डू खाते जायंगे और राह चलते हुए मुसाफिरों के कपड़े तक उतारकर उन्हें खूब लूटेंगे; मारेंगे !

कितना भावमय वर्णन है। अर्धसभ्य जाति के देश-प्रेम, भोजन, विहार और व्यवसाय का कितना अच्छा चित्र है ! इस गीत की अन्तिम दो कड़ियों को गाते समय प्रवासी वाहीक की आँखों में वही ज्योति आ जाती होगी जो डूंगजी जवाहरजी की धमाल सुनकर शेखावटी के सफ़ेद दाढ़ीवाले ठाकुरों की आँखों में अब भी आ जाती है। चाहे उसकी पथरकला-बन्दूक़ की नाली में अब मकड़ी के जाले लग गये हों और उसकी जंगलगी तलवार नन्हें बच्चों के सिरहाने रहकर भूत-प्रेतों को टालने ही के काम की रह गई हो, पर उस समय के रायबहादुर सेठ करोड़ीमल, आनरेरी मैजिस्ट्रेट की ख़ैर न उस ऊँट चढ़े राजपूत से मिलने पर थी और न ख़च्चरों पर चलनेवाले सत्तू खानेवाले इस वाहीक से !

इस गीत की समता का 'टिपरारी' से विचार पाठक ही करें।

[प्रथम प्रकाशन : सरस्वती : नवम्बर, १९१८ ई०]

एक हस्ताक्षरित मौलाराम*

अनुवादक : डॉ० मस्तराम कपूर

अज्ञातमानव भारतीय कला की एक अद्वितीय विशेषता है। कुछ अपवादों के साथ भारतीय चित्रकला और मूर्तिकला की कृतियों को नाम से नहीं पहचाना जा सकता। उनकी विशिष्टता इस बात में है कि वे वैयक्तिक कृतियां न होकर जातीय कृतियां हैं। यह कथन जितना कला के क्षेत्र में सही है उतना ही साहित्य के क्षेत्र में भी सार्थक है। शुरू-शुरू के समस्त संस्कृत-साहित्य में लेखक के आत्मपरिचय के रूप में कुछ विशेष नहीं मिलता और इतिहास भी बहुत कम, नाममात्र को मिलता है। हालाकि बाद के लेखकों तथा टीकाकारों ने कभी-कभी अपने तथा अपने आश्रयदाताओं के विषय में विस्तृत जानकारी दी है। महाकाव्यों तथा पुराणों के लेखकों के नामों पर रहस्य का पर्दा पड़ा हुआ है और अधिकतर इनके साथ 'छद्मनाम' जुड़े हुए हैं।

बाद के लेखकों में अक्सर अपने नाम को छिपाने और अपनी रचनाओं को

*रूपम : अप्रैल, १९२० में छपे अंग्रेजी लेख का हिंदी रूपांतर। मूल के लिए देखें : परिशिष्ट।

किसी पौराणिक लेखक या प्रसिद्ध कवि के नाम से प्रचारित करने की प्रवृत्ति पाई जाती है। 'ऋग्वेद' के कुछ मंत्रों के अंतिम छंद में लेखक का नाम दिया जाता था जो अधिकतर द्वयर्थक होता है। यह प्रथा मध्ययुग के साहित्य में अचानक फिर प्रकट हुई, जब लेखक का नाम छंद, गीत या मंत्र के अंत में दिया जाने लगा। जैसे—'कहे कबीर···', या 'भूषण भनत···।' सूरदास, तुलसीदास या अन्य कवि अपना पूरा या आधा नाम छंद की अंतिम पंक्ति में देते थे।

सामाजिक अनुशासन के पुराने नियमों के अनुसार नाम न देने का प्रयोजन होता था—व्यापक जातीय चेतना में अपने व्यक्तित्व को डुबो देना। इस प्रकार कला और साहित्य में अभिव्यक्ति वैयक्तिक न होकर मुख्यतया जातीय हुई। व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति को आध्यात्मिक जीवन की समरसता के लिए (जिसे लेखक जातीय छाप के रूप में प्राप्त करना चाहता था) हानिकारक माना जाता था। कलाकार संस्कृति के एक ऐसे रूप को जन्म देता था जिसमें व्यापक और सर्वमान्य गुण होते थे जिन्हें सभी अपना सकें और जो किसी के लिए अजनबी न हों। इस प्रकार भारतीय कला में कलाकार का व्यक्तित्व एक रहस्य बन जाता है और उसके मन को जानने तथा उसके व्यक्तित्व की झलक प्राप्त करने का एकमात्र साधन हमारे पास उसकी कृतियां रह जाती हैं। यूरोप में कलाकार की कृतियों की समीक्षा और अध्ययन में उसके जीवन-संबंधी विवरण और किस्से तथा अन्य बाह्य सामग्री बाधक होती है क्योंकि कलाकृति को समझने में उनका निकट संबंध नहीं होता। किंतु कलाकार के जीवन के इन बाह्य विवरणों से हम उस वातावरण को जान सकते हैं जिसमें कलाकार जीता और काम करता था। इन विवरणों से हमारा ध्यान उसकी कलाकृतियों से, उसके मन की निर्मितियों से हटकर उसके व्यक्तित्व पर चला जाता था।

वस्तुत: कलाकार के मन और कलाकार में जो कुछ जानने योग्य होता है उसको सबसे अच्छे ढंग से उसकी कृतियों से ही जाना जा सकता है। यह एक लोकप्रिय और कुछ हद तक क्षम्य कमजोरी है कि कलाकार के बारे में जितना उसकी कृतियां बताती हैं, हम उससे अधिक जानना चाहते हैं और इस लोकप्रिय जिज्ञासा के फलस्वरूप यूरोपीय देशों में प्रसिद्ध चित्रकारों और मूर्तिकारों के जीवन और कृतियों के बारे में विशाल साहित्य की रचना हुई। सौभाग्य से, उन देशों में सामग्री इतनी उपलब्ध होती थी कि उसके आधार पर कलाकारों की कृतियों की सूची पर प्रकाश डालना तथा उनके आधार पर कलाकारों की शैली के विकास का मूल्यांकन करना आसान होता था। भारत में और सामान्यतया एशियाई देशों में इस प्रकार विवरण प्राप्त करना असंभव होता था। और भारत में तो मुग़लकाल तक हस्ताक्षरित कलाकृति अज्ञात घटना मानी जाती थी। मुग़लकालीन और उत्तर मुग़लकालीन चित्रों में, तथा बाद के कांगड़ा-शैली के चित्रों में भी हस्ताक्षरित कलाकृति एक विरल वस्तु है। अत: मौलाराम के जलरंग-चित्रों में जिसे सम्पादक के मूल संग्रह से उद्धृत किया गया है, कुछ असाधारण रुचि जगती है।

सन् १७६० ई० में जब मुग़ल-इतिहास के महान् नाटक के पांचवें अंक का त्रासद अंत हो रहा था, गढ़वाल जिले में भारत के प्राचीन दरबारी चित्रकारों अंतिम

प्रतिनिधि का जन्म हुआ जिसके कंधों पर भारत की प्राचीन चित्रकारी की परंपरा की महान् ज्योति को कुछ वर्षों के लिए ज्योतित रखने का दायित्व आया क्योंकि कुछ वर्षों के बाद यह ज्योति उस राजनैतिक शक्ति के पतन के पश्चात्, जिसकी छत्रछाया में भारत की अनेक सांस्कृतिक गतिविधियां पल्लवित-पुष्पित हुईं, अंतिम रूप से बुझ गई। मुग़ल साम्राज्य के विघटन से पूर्व की अराजकता में पुरानी चित्रशैली के बहुत से जीवित कलाकारों ने हिमालय की कंदराओं के छोटे हिन्दू-राजाओं के संरक्षण में शरण ली। जिस प्रकार बंगाल में मुसलमानों के प्रवेश के बाद मगध और गौड़ की पुरानी कला ने नेपाल की घाटी में शरण खोजी, मुग़ल-दरबार के कलाकारों ने लगभग वैसी ही परिस्थितियों में पंजाब के हिमालय क्षेत्र के हिन्दू राजाओं की शरण ली, कलाकारों के बहुत से परिवार धीरे-धीरे दिल्ली के दरबार से हटते गए। इनमें मौलाराम के पूर्वजों का उदाहरण विशेष तौर पर उल्लेखनीय है।[1] जब औरंगजेब के षड्यंत्रों के कारण उनका भतीजा सलीम अपनी जान की रक्षा के लिए दिल्ली से भागा तो उसने गढ़वाल के राजा फतहसिंह के यहां अस्थायी शरण ली। भगोड़े राजकुमार के साथ श्रीनगर (गढ़वाल) में दो कलाकार भी आए जिनके नाम शामदास और केहरदास थे। वे गढ़वाल के राजा के पास ही रहे जिसने कुछ समय बाद राजकुमार को धोखा देकर औरंगजेब को सौंप दिया। राजा ने उन दो कलाकारों में बड़ी रुचि दिखाई। उन्हें दीवान बना दिया गया, साथ ही पचास गाँव की जागीर और पाँच रुपये रोज का भत्ता भी दिया गया। उन्हें अपने नये आश्रयदाता के अधीन विकास का अच्छा अवसर मिला होगा। उन्होंने अपनी पारिवारिक परम्परा का शिल्प और शैली मौलाराम को सौंपी, जो उस परिवार में चौथी पीढ़ी के तथा एक व्यापक संस्कृति के कलाकार थे। उनकी अनेक कलाकृतियों से पता चलता है कि वह एक प्रतिभाशाली कलाकार थे। लगता है वह हिंदी तथा फारसी में कविता भी लिखते थे।

वह औरंगजेबकालीन ऐतिहासिक घटनाओं पर कुछ पांडुलिपियां भी छोड़ गए हैं। संभवत: उस काल की स्मृतियां उस परिवार में सुरक्षित रही होंगी क्योंकि उनके पूर्वजों ने उन घटनाओं में हिस्सा लिया था। इतिहासकार के रूप में कलाकार मौलाराम की उपलब्धियों की छानबीन तो अभी नहीं हुई है किन्तु उनके द्वारा काव्य-रचना के प्रमाण मिलते हैं। डॉ० कुमार स्वामी ने अपने ग्रंथ 'राजपूत पेंटिंग' (ऑक्सफोर्ड प्रेस, खण्ड-१, पृ० २३) पर एक दोहा या छंद उद्धृत किया है जिसे मौलाराम ने अपने एक चित्र में दिया है। इसका अभिप्राय है—**हजारों लाखों गाँव और सोना क्या चीज है! मौलाराम का पुरस्कार तो सद्भाव और सुखी जीवन है। संवत् १८३२ वि०**

---

१. राजनैतिक इतिहास में अज्ञात अनेक जागीरदारों और राजाओं को उनके दरबारी कलाकारों ने अमर बना दिया है। इसका प्रमाण हैं अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दी के अनेक पोर्ट्रेट। उदाहरणार्थ: नूरपुर (कांगड़ा) के राजा वीरसिंह और अनेक सिख राजाओं के पोर्ट्रेट।

(सन् १७७५ ई०) **फाल्गुन शुक्ल पंचमी तथास्तु ।**[1] यह बात उनके एक और चित्र से भी प्रकट होती है कि मौलाराम अपने चित्रों पर अपनी कविताएं लिखा करते थे। चित्रों पर विवरणात्मक टिप्पणियां या कविताएं उकेरने की प्रथा प्राचीन चीनी-चित्रों में आम बात थी और प्राचीन कलाकारों में भी इसका काफी प्रचलन हो गया था। महाकाव्यों और पुराणों की घटनाओं से संबंधित चित्रों तथा राग-रागनियों के चित्रों पर हमेशा कलाकार की हस्तलिपि में कविताओं के उद्धरण, विषय पर प्रकाश डालने के लिए सामान्यतया चित्रों के ऊपर दिए जाते थे। ये उद्धरण अक्सर हिंदी या संस्कृत में प्रचलित लोकप्रिय पाठों से लिए जाते थे। मौलाराम के कई चित्रों में दिए गए दोहे, छंद कलाकार की अपनी रचना होते थे क्योंकि अंतिम पंक्ति में हिंदी कविता की पुरानी परम्परा के अनुसार कवि का नाम दिया गया है।

दोनों छंदों में तिथि भी दी गई है जो कलाकार के समय को जानने के लिए स्वयं कलाकार की हस्तलिपि में लिखित महत्त्वपूर्ण साक्ष्य है। निःसंदेह कम-से-कम इस (चर्चाधीन) चित्र में उद्धृत कविता स्वयं लेखक ने लिखी है। कविता बड़ी सावधानी के साथ मोटे अक्षरों में लिखी गई है। चार पदों को लाल रेखाओं से अलग किया गया है। दुर्भाग्य से लिपि के कुछ अंश खण्डित हो गए हैं किन्तु उनका भावार्थ लगना कठिन नहीं है। लाल अक्षरों में प्रथम शब्द संभवतः 'शुभमस्तु' है। कविता की भाषा हिंदी है (ब्रजभाषा—ब्रज और मथुरा जिले की बोली) और कविता सुप्रसिद्ध 'सवैया' छंद में है। बीच के दो खण्डित शब्दों को छोड़ देने के बाद कविता इस प्रकार है—

बाग विलोकन कूं नवला निकसी मुखचंद्र दिखावत ही।
लखि संग च(कोरा)···सब्द कठोर सुनावत ही॥
उझकि-उझकि फिरकि सी फिरि चहु आशहि···
क(?)वि 'मौलाराम' चली हटी के दुपटा पट चोट बचावत ही॥

—संवत् १८५२ वि० (सन् १७९५ ई०)

मूल कविता के मधुर शब्दों के भावों को पकड़ पाना निश्चय ही कठिन होगा किंतु कवि के भाव को निम्नलिखित स्थूल अनुवाद में रखा जा सकता है। "नव बाला बाग में निकली। ज्योंही उसने अपना मुखचंद्र दिखाया, हठी चकोर उसके आसपास मंडराने लगा जो कठोर शब्दों में उसकी प्रताड़ना करना चाहता था। वह उचक-उचककर, फिरकी की तरह घूमकर हठी चकोर की नजरों से बचने का प्रयास करने लगी। मौलाराम कवि कहते हैं कि ठीक समय पर वह पीछे हटी और अपने आंचल से चकोर पर प्रहार करने लगी।

नवबाला के वस्त्र तथा आभूषण वहीं हैं जो आम तौर पर गढ़वाल और कांगड़ा

---

१. "कहां हजार कहां लक्ष हैं, अरब खरब धन ग्राम।
समझै 'मौलाराम' तो सरब सुदेह इनाम॥—सं० १८३२ फागुन। सुदी गढ़वाल की दिवंगत विभूतियां : भक्त दर्शन : पृ० ७४, द्वि० सं० से उद्धृत।—सम्पादक

जिले के निचले इलाकों में पाए जाते थे। चित्र और कविता दोनों ही संभवतः कलाकार द्वारा अपनी प्रियतमा की प्रशस्ति हैं और सम्भवतः वास्तविक घटना पर आधारित हैं। यद्यपि प्यासे चकोर का सुंदरी के मुखचंद्र पर झपटना एक सुपरिचित काव्य प्रौढ़ोक्ति है जिसका लगभग सभी संस्कृत-कवियों ने बार-बार प्रयोग किया है। भारतीय काव्य परम्परा में चकोर चन्द्रमा को बहुत चाहता है। कहा जाता है कि यह चंद्रकिरणों का पान करने या जलते कोयले को निगलने में तुनुकमिजाज और अधीर होता है।[1]

छंद की भाषा में कवि मौलाराम मुखचंद्र के प्यासे चकोर के रूप में प्रस्तुत करता है, चूंकि चित्र में चकोर सुंदरी के पीत अंचल के प्रहार से बाल-बाल बचता दिखाया गया है और छंद की अंतिम पंक्ति में भी इसका संकेत दिया गया है। यद्यपि कलाकार ने अपनी प्रियतमा को बहुत सुंदर मुद्रा में चित्रित किया है तथापि यह चित्र उनकी सर्वोत्तम कला का नमूना नहीं कहा जा सकता। चित्र में निर्णायकता और दृढ़ता है जिससे उनकी शैली के उत्तर विकास का आभास मिलता है किंतु कई बातों में चित्र कुछ अपरिष्कृत है, विशेषकर पेड़ों के चित्रण में और संभवतः यह कलाकार के जीवन की मध्यावधि की कृति है, जब उनकी शैली उतनी परिपक्व नहीं हुई थी। यह बात चित्र पर दी गई तिथि से भी स्पष्ट होती है अर्थात् सं० १८५२ वि० (सन् १७९५ ई०)। मौलाराम का जन्म सन् १७६० ई० में और निधन सन् १८३३ ई० में हुआ था, साथ ही इस चित्र के बनाने के समय उनकी अवस्था ३५ वर्ष की रही होगी।

[प्रथम प्रकाशन : रूपम : अप्रैल, १९२० ई०]

---

१. चंद्रकिरणों के प्रति चकोर के मोह को दर्शाने वाले अनेक उद्धरण संस्कृत-कवियों के दिए जा सकते हैं। चूंकि प्रियतमा के मुख की उपमा चंद्रमा से दी जाती है, कवि चकोर की निष्ठा को मुख पर स्थानांतरित कर देता है। राजशेखर कृत विद्धशाल-भञ्जिका-१, ३१ के निम्नलिखित छंद में यह चित्र देखा जा सकता है—

उपप्राकाराग्रं प्रहिणु नयने तर्कय मना-
गनाकाशे कोऽयं गलितहरिणः शीतकिरणः।
सुधाबद्धग्रासैरुपवनचकोरैरनुसृतः
किरञ्ज्योत्स्नामच्छां नवलवलिपाकप्रणयिनीम्। १।३१॥

अर्थ : (राजा ऊपर देखकर विदूषक से)—अरे! ज़रा उस चहारदीवारी पर अपनी दृष्टि फेंको और विचार करो कि जिसकी स्थिति आकाश में नहीं है और न ही जिसके अंक में हरिण है, ऐसा यह अपूर्व चन्द्र कौनसा है। उपवन के चकोरगण अपने ग्रास को रोककर जिसकी चन्द्रिका का पान करने के लिए आकृष्ट हो रहे हैं और जो अपनी स्वच्छ एवं निर्मल ऐसी ज्योत्स्ना छिटका रहा है जो नवीनवली के समान है।

—विद्धशालभञ्जिका-नाटिका : संपा० श्री बाबूलाल शुक्ल शास्त्री, पृ० २९ से उद्धृत। प्र० : चौखम्भा ओरियन्टालिया, वाराणसी, सं० १९७६ ई०

—सम्पादक

राजनीति/धर्म

इण्डियन नेशनल कांग्रेस

पदेन खलु वा एते यन्ति विन्दन्ति खलु वा पदेन एतदृद्धमयनम् ।[1]
(तैत्तिरीयसंहिता ७।५।२।१-२)

'ऐतरेय ब्राह्मण' में एक 'गवामयन' नामक यज्ञ का वर्णन है। उसमें होता को अर्धरात्र के पीछे प्रकाश होने के पहले-पहले, प्रायः १००० मन्त्रों के आश्विनशस्त्र का पाठ करना पड़ता है। होता उसका पारायण करने के पहले कुछ घी भी पी लेवै क्योंकि जैसे लोक में तेल या घी लगाने से गाड़ी ठीक चलती है, वैसे उसका पाठ भी ठीक चलता है। यही नहीं, यदि उस सूक्त को पढ़ते-पढ़ते सूर्योदय न हो जाय, तो और कई सूक्तों को पाठ किया जाय, अथवा सारे ऋग्वेद का भी पाठ कर डाला जाय। तौ भी सूर्य न उगे तो रंग-बिरंगे पशु का यज्ञ किया जाय, और कई बार सूर्य न उदय हुआ हो तो देवताओं ने उसके लिए प्रायश्चित्त किए ! ! अन्य शासकों के नीचे भारतवासियों की पराधीनता रात्रि का अर्धरात्र बीत चुका है, और अब, कांग्रेस और उसका व्यय, सूर्य्योदय के पहले के सूक्त, घी, और याग ने समान है।[2]

एक बेर गौएं यज्ञ करने बैठीं। इस इच्छा से कि हमारे सींग और खुर उग आवें। दश महीने उनका यज्ञ रहा। कुछ के सींग निकल आए और वे सफल काम होकर उठ खड़ी हुईं। बाकी अश्रद्धा से दो महीने और बैठी रहीं, और उन्हें ऊर्ज (बल) हो गया, किन्तु सींग न निकले। अस्तु, दोनों तरह की गौएं ही सबकी प्यारी, और सुन्दर हो गईं। गोभक्त, निःशस्त्र भारतवासी श्रद्धा से, वा अश्रद्धा से दयामय सरकार से यों ही सींग और बल पाकर सुन्दर होंगे।[3]

'ऋग्वेद' में एक 'मण्डूकसूक्त' है। उसके जप करने से अनावृष्टि हट जाया करती है। वसिष्ठ एक बार वृष्टि के लिए इन्द्र का स्तव कर रहे थे कि मण्डूकों ने

१. ये रस्ते से चलते हैं, रस्ते ही से अपने मन चाहे को पाएंगे, यही सफल वर्ष है।
२. निरुक्त १२, १। होग का एतरेय ब्राह्मण ४, ७। आश्वलायन ६, ५, ३-८। आपस्तम्ब १४, १-२।
३. ऐतरेय ब्राह्मण १४, १७, तैत्तिरीय संहिता : ७, ६, १-२, ६-२

उनका अनुमोदन किया। वसिष्ठ प्रसन्न होकर उनकी ही स्तुति करने लगे।[1] योरोपीय वेदवित् तो कहते हैं कि ब्राह्मणों के यज्ञयागादिक की हँसी उड़ाने को यह सूक्त बना है, किन्तु सूक्त इतना सुन्दर है, और कांग्रेस की दशा को ऐसा जताता है कि हम उसका अनुवाद किये बिना अगाड़ी नहीं बढ़ सकते।[2]—

"वार्षिक व्रत करने वाले ब्राह्मणों की तरह बरस भर तक सोए हुए, अर्थात् मेघ बरसने के लिए तपस्या करते हुए मण्डूक, मेघ को प्रसन्न करने वाली बोली बोलते हैं ॥१॥

"जब सूखी खाल की तरह सूखे हुए इन मैंडकों पर, तालाब में सोए-सोए दिव्य जल गिरता है तब (वृष्टि होने पर) बच्चेवाली गौओं की तरह इनका बड़ा शब्द उठता ही है ॥२॥

"चाहते हुए, प्यासे इन मैंडकों पर, बरसात आने से, जब मेघ बरसता है, तब 'अख्खल' 'अख्खल' करके एक मैंडक दूसरे शब्द करते हुए मैंडक के पास, बाप के पास बेटे की तरह आ जाता है ॥३॥

"जब पानी के मौके पर दो मैंडक प्रसन्न हुए, तो एक दूसरे से मिलता है। पानी से छिड़का हुआ उछलता-उछलता पृश्नि रंग का मैंडक हरित मैंडक के साथ बोली मिलाकर शब्द करता है ॥४॥

"हे मण्डूको ! आप में से एक दूसरे की वाणी को, अध्यापक की वाणी को विद्यार्थी की तरह, अनुवाद करता है। जब सुवक्ता आप लोग जल पर उछलते हुए बोलते हैं तब आपका सारा शरीर (जो गर्मियों में सूख गया था) हृष्टपुष्ट मालूम देता है ॥५॥

"एक की बोली बैल की-सी, तो एक की बोली बकरे की-सी ! एक पृष्णि रंग का तथा एक हरे रंग का ! भिन्न-भिन्न रूप वाले होने पर भी एक नाम रखते हुए कई जगह बोलते हुए ये उठ खड़े होते हैं ॥६॥

"अतिरात्र सोमयाग में जैसे ब्राह्मण पारी-पारी से स्तोत्र पाठ करते हैं, वैसे अब तुम भरे हुए तालाब के चौतरफ बैठकर रात को बोलते हुए, बरसाती दिनों में, वर्तमान होते हो ॥७॥

"ये मण्डूक सोमयाजी ब्राह्मणों की तरह सालियाना स्तोत्र करते हुए शब्द करते हैं। धर्म नामक प्रवर्ग याग (होम) को करने वाले पसीजते हुए वैदिकों की तरह, गर्मियों के सूखे हुए, छिपे हुए कई मण्डूक अब भी प्रकट नहीं होते ॥८॥

"यही नेता (लीडर) मण्डूक देवताओं के बनाए ऋतुक्रम को रखते हैं, अतएव बारह महीने के ऋतुओं को नापते हैं, नहीं बिगाड़ते। साल बीतने पर वर्सात आने से गर्मियों के झुलसे हुए (अपने बिलों से) छुट्टी पाते हैं ॥९॥

"गौ की-सी आवाज वाला मैंडक हमें धन दे ! बकरे के-से शब्द वाला हमें धन

१. निरुक्त ६, ६।

२. ऋग्वेदसंहिता : मण्डल ७ : सूक्त १०३

दे ! पृष्णि रंग का हमें धन दे ! हरा मैंडक हमें धन दे ! जब हजारों औषधियां पैदा होती हैं, वा हजारों यज्ञ होते हैं, उन दिनों सैंकड़ों गौवें हमें देते हुए मैंडक अपनी और हमारी आयु बढ़ावें ! ॥१०॥"

कई शताब्दियों के अज्ञान और अत्याचारों की गर्मी से झुलसे हुए बृटिश राज्य की वृष्टि से अपनी सूखी खाल को पूरी करके वर्ष भर सो रहने पर भी हजारों कान्फरेन्सों की ऋतु में उस मेघ का स्तोत्रपाठ करते हैं जिसने रंग-बिरंगे, भिन्न-भिन्न आवाज़ों-वाले उनको एक नाम दिया है। चाहते हुए, प्यासे इन मैंडकों का अखण्ड शब्द, जो वसिष्ठ (ह्यूम) का अनुमोदन करता है, पर्जन्यस्तुति ही है। देवताओं के बनाए ऋतुक्रम को ये ही रखते हैं क्योंकि लोगों को बड़े दिन की छुट्टी और नए वर्ष का आरम्भ इन्हीं द्वारा जान पड़ते हैं। इनमें से कई अब भी प्रकट नहीं होते। यही नहीं, नवम् मन्त्र भाष्य में सायणाचार्य लिखते हैं, कि पर्जन्य की स्तुति करके ये ही वृष्टि के हेतु होते हैं !! तथास्तु।

जैसे मैंडकों की फटी खाल का समूची होना मेघ ही की कृपा है वैसे कांग्रेस भी दयामय सरकार की परम दया का दृष्टान्त है। 'तीसरी मद्रास कांग्रेस' की स्वागत-कारिणी सभा के प्रेसीडेण्ट राजनैतिक-कुलतिलक सर टी० माधवराव ने ठीक ही कहा था कि कांग्रेस बृटिश शासन का गुणगान है। हलाकू और चङ्गेजखां से कौन अपने अधिकार मांग सकता है जिसे अपने कन्धों पर सिर भारी न हो ? तैमूर और नादिरशाह से अपने अधिकार मांगने की किसको हिम्मत होगी ? चाहे कांग्रेसवाले सरकार का गुणानुवाद करके प्रतिक्षण पिष्टपेषण न करें, तथापि उनका प्रत्येक शब्द, और प्रत्येक चेष्टा, सरकार के महत्त्व का सूचक है। यदि मुसलमानी समय का कोई भारतवासी अंग्रेजी समझने की शक्ति पाकर स्वर्ग से उतर आवै, और कांग्रेस को देखै तो उसके मन में क्या भाव होंगे ? यह कब सम्भव है कि इतनी दूर-दूर के आदमी, एक वासना से, एक मन से यों इकट्ठे हों और अपने शासकों का छिद्रान्वेषण करें ? और उनकी जीभ न काटी जाय और खाल कुत्तों से न नुचवाई जाय ? कौन इस बात की कल्पना कर सकता था कि इतने बड़े महाद्वीप के अधिवासी, भिन्नधर्मी, भिन्नाचारी, भिन्नभाषी यों मिलकर एक विदेशी भाषा में अपने सम्मिलित भावों को प्रकाश करेंगे ? यह जादू किसने किया, यों मुर्दों को किसने जिलाया ? यह उस महात्मा जाति का काम है जिसने असभ्य और उजाड़ देशों को सभ्य और पूरित बनाया है, जिसने करोड़ों दासों की बेड़ियां काटी हैं और जो 'राष्ट्रों की माता' कहलाने की पात्र हैं। साथ ही यह भी कोई न कहे कि कांग्रेस राजविद्रोह करती है, और असन्तोष फैलाती है। अंग्रेजी शिक्षा ने वकील, अध्यापक, डाक्टर, नौकर प्रभृति कई ऐसे मनुष्य उत्पन्न किए हैं जिनका जीवन बृटिश राज्य के होने ही में है। यदि, ईश्वर न करें, पुराना काल लौट आवै तो ये सब टके सेर को भी न पूछे जायं। सरकार का राज्य शस्त्रबल से अवस्थित नहीं है, उसे प्रजा के प्रेम की वज्रभित्ति पर टिकना चाहिए, और इसी कारण, एङ्गलोइण्डियन कर्मचारियों को, जो किसी को भी उत्तरदाता न होने के कारण उद्दण्ड हो जाते हैं, शासन में लाना और देशवासियों को कुछ कुछ अधिकार देते जाना—पुराने वाइसराय उचित मान चुके हैं,

और स्वर्गवासिनी महाराणी का घोषणापत्र स्वीकार कर चुका है। विदेशीय राजा को देशीय बातें जतलाना और इन दो सिद्धान्तों को पूरा करना कि "१. किसी जाति का कभी ऐसा शासन न हुआ और न होगा जिसमें परम सन्तोष वर्तमान हो और कोई नया अधिकार न पाना रहा हो और नई इच्छाएं न पूरी करनी हों, और २. कोई सरकार, वा शासकवर्ग ऐसे पूर्ण, निर्दोष और सर्वज्ञ नहीं हो सकते जिन्हें कुछ भी न कहना पड़े।" राजविद्रोह नहीं है, राजभक्ति है। वास्तव में देखा जाए तो कांग्रेस का-सा राजभक्त कोई नहीं होगा। **पुत्रादिच्छेत् पराभवं** के अनुसार कांग्रेसवालों से सरकार को प्रसन्न होना चाहिए, रुष्ट नहीं।

अब कांग्रेस अपने जीवन के उन्नीस वर्ष पूरे कर चुकी है और बालिग हो चुकी है। अतएव, उसके पुराने इतिहास पर सिंहावलोकित करके यह देखना अनुचित न होगा कि कौन-कौन प्रवृत्तियां इसकी बढ़ती की ओर जाती हैं, और कौन-कौन इसे रोक रही हैं।

लाट रिपन के काल के पूर्व भारतवासियों के अंग्रेज अफसर आदर्श थे। कई उत्साही नवयुवक उनके आचार-विचार की नकल करने में, उनके साथ खानपान में, अपना सौभाग्य समझते थे और उन्हें आदर्श मनुष्य मानकर पूजते थे। यद्यपि लिटन के प्रेसएक्ट ने उन्हें अपने अधिकारों से वंचित होने की सूचना दे दी थी, तथापि उनका वह भक्तिभाव नहीं हटा था। इल्बर्ट बिल के विरोध ने उनकी आंखें खोल दीं, और उन्हें अपने अधिकार और उनकी उपेक्षा का पूरा ध्यान दिला दिया। उसके पीछे १८८४ में कलकत्ते की अन्तर्जातिक प्रदर्शिनी में दूर-दूर के भारतवासी मिले। थियोसोफिकल सोसाइटी के वार्षिक अधिवेशनों में भी मिलते रहने से उनमें परस्पर मिलने की इच्छा हो गई थी। लाट रिपन को विदाई का एड्रेस देने के लिए दूर-दूर के भारतवासी उस अपने नेत्रामृत पूज्य प्रभु को धन्यवाद देते हुए बम्बई में मिले। वहीं भारतवर्ष के 'वृद्ध' मनुष्य दादाभाई नौरोजी ने देश-देश के प्रतिनिधियों के वार्षिक मिलन का प्रस्ताव किया। बम्बई तो अभी इतना व्यय कर चुकी थी, मद्रास में वा पूना में सभा हो, यही विचार होता-होता रह गया। कांग्रेस के पिता ह्यूम साहब ने यह विचारा कि समाज संशोधन और शिक्षा विचार के लिए भारतवासी प्रतिवर्ष प्रधान-प्रधान नगरों में मिला करें और वहां के शासक सभापति बनाए जाया करें। जब यह प्रस्ताव ह्यूम साहब ने लाट डफरिन से शिमले में कहा तो उनने इसका विरोध करके और ही सलाह दी। उनने कहा कि इस देश में Opposition सरकार का विरोधी दल नहीं है, और सम्वाद-पत्र इस काम को कर नहीं सकते, अतएव तुम राजनैतिक सभा करो। मेरी इस बात से पूर्ण सहानुभूति है किन्तु जब तक मैं भारतवर्ष में हूं तब तक यह बात न खोलना। ह्यूम साहब ने इस बात का वचन दिया और प्रान्त-प्रान्त के नेताओं के पास प्रस्ताव फिराया जाकर सन् १८८५ में पूना में कांग्रेस करना विचारा गया। पूना में हैजा होने पर भी मान्यवर तैलङ्ग, मेहता और दादाभाई नौरोजी की कृपा से बम्बई में 'प्रथम इण्डियन नेशनल कांग्रेस' नामक जातीय यज्ञ का, उमेशचन्द्र बनर्जी (डब्ल्यू० सी० बनर्जी) के सभापतित्व में, १८८५ के बड़े दिनों की छुट्टियों में सुमुखश्चैकदन्तश्च हो गया।

डफरिन साहब का विचार सत्य था। कांग्रेस के नेताओं ने सात वर्ष तक उच्छृंखल समाज-सुधारकों के प्रस्तावों से पृथक् रहने का झगड़ा किया। सोश्यल कान्फरैन्स अब भी कांग्रेस से पृथक् है, किन्तु उसने कांग्रेस के दल में बखेड़े, विवाद और फूट डाल दी है। समाजसुधार राष्ट्रीय महासभा द्वारा हो नहीं सकता। मान लीजिए कि कांग्रेस के मुसलमान क्रुस्तान और सुधारक डेलीगेट प्रस्ताव पास कर दें कि 'जातिभेद उन्नति का विघातक है' तो क्या फल हो ? महाराष्ट्र और मदरास के हिन्दू पड़दा उठा देने का प्रस्ताव अधिक सम्मति से पास कर दें तो मुसलमान भाई क्या करें ? दूसरे, समाजनीति और है, राजनीति और। हमारी विधवाओं का ब्याह नहीं होता, इससे क्या हम शस्त्र उठाने के योग्य नहीं हैं ? हमारी कुमरियों को शिक्षा नहीं मिलती, इससे क्या हम शासन करने योग्य नहीं हैं ? हमारे क्रुस्तान भाई हमसे ब्याह-शादी नहीं कर सकते, इससे क्या हम इस्तमरारी बन्दोबस्त के पात्र नहीं रहे ? समाजसुधारकों के दल में भी फूट है। वे कहते तो हैं, किन्तु स्वयं संशोधन करके चलनेवाले डा० भाण्डरकर के-ऐसे उनमें विरले मिलते हैं। पूना कांग्रेस में सर्वसाधारण के विरोध ने सोश्यल कान्फरस को कांग्रेस के स्थान में न होने दिया और कलकता सोश्यल कान्फरैन्स के प्रेसीडेन्ट ने भी उसके प्रस्तावों का अनुमोदन नहीं किया ! ! अवश्य ही इस कान्फरेंस से एक बड़ा भारी लाभ यह है, कि जिन सरकारी नौकरों को कांग्रेस से स्नेह है वे भी इसमें आने के मिस से कांग्रेस को परामर्श आदि से सहायता दे सकते हैं।

बम्बई के प्रथम अधिवेशन में प्रतिनिधि चुने नहीं गए थे, और वे सौ से अधिक भी न थे। इन मुष्टिमेय प्रतिनिधियों से किसे आशा थी कि 'जातीय महासमिति' की जड़ जम जायगी ? **दूसरे** वर्ष कलकत्ते में ४३६ प्रतिनिधि जुटे थे, राजा डाक्टर राजेन्द्रलाल मित्र अभ्यर्थना कमेटी के सभापति और त्यागशील, कर्मपटु, विलायत में भारत के प्रतिनिधि दादाभाई नौरोजी सभापति थे। डाक्टर मित्र ने कहा था कि सम्पूर्ण भारतवर्ष के प्रतिनिधि यों मिल सकेंगे यह उनका एक स्वप्न था, जिसके सत्य होने की उन्हें आशा न थी। मद्रास में **तीसरी** जातीय महासमिति की बैठक हुई थी, जिसमें राजनैतिक मुकुट सर टाञ्जोर माधवराव स्वागतकारी थे, और बम्बई के मुसलमानों के नेता बदरुद्दीन तैयबजी सभापति। प्रतिनिधि संख्या ६०७ थी। उन दिनों यूरेशियन, एङ्गलोइण्डियन और देशी क्रुस्तानों की पूर्ण सहानुभूति थी, और ह्वाइट, गैञ्ज, नार्टन प्रभृति ने कांग्रेस की पूरी सहायता की थी। सर टी० माधव राव ने कहा था कि कांग्रेस अंग्रेजी राज्य का सर्वप्रधान गौरव है। इन दोनों कांग्रेसों ने, सिद्ध किया कि कांग्रेस वकीलों का तितिम्मा नहीं है, भारतवर्ष के सुशिक्षित मात्र का प्रयत्न है। विज्ञ-गौराङ्ग-पूजितचरण डाक्टर मित्र, और चार प्रधान देशी राज्यों के बनाने वाले सर टी० माधवराव क्या वह वकील थोड़े ही थे जिन्हें इक्के का किराया नहीं मिलता और जो बकवाद में नामवरी पाना चाहते हैं ? उस कांग्रेस में हिन्दी भाषा के इतने प्रतिनिधि उपस्थित थे—राजा रामपालसिंह और पण्डित मालवीय (हिन्दोस्थान), पं० प्रतापनारायण मिश्र (ब्राह्मण), देवकीनन्दन त्रिपाठी (प्रयाग समाचार), रामकृष्ण वर्मा (भारतजीवन), पं० गोपीनाथ (मित्र विलास), पं० बालकृष्ण भट्ट (हिन्दी प्रदीप)। उस समय राजपुरुषों को कांग्रेस

से चिढ़ नहीं थी। मद्रास के गवर्नर लाट कनेमारा ने सब प्रतिनिधियों को एक गार्डन-पार्टी दी थी। **चौथी कांग्रेस** प्रयाग में हुई। उनमें बड़े-बड़े विरोध उठ खड़े हुए। लार्ड डफरिन की सहानुभूति एक सम्पादक की भूल से हट गई थी और उनने सेन्ट एंड्रूज डिनर में कांग्रेस कर्त्ताओं को Microscopic minority कह दिया। बकवादी बङ्गलियों ने 'वाह वाह' और करतलध्वनि के लोभ से अपने व्याख्यानों में संयम का अतिक्रम करके राजपुरुषों का विरोध पैदा कर लिया। ऐसी भूलें कांग्रेस से कई हुई हैं! उन दिनों प्रधान कांग्रेस-विरोधी सर आकलेण्ड कालविन का पश्चिमोत्तर प्रदेश पर राज्य था। उनने Democracy not suited to India नामक ग्रन्थ लिखकर भिनगा महाराज के नाम से छपवाया। मिष्टर नार्टन और ह्यूम ने इसका खूब मुँहतोड़ उत्तर दिया। उस समय कई 'जो हुकुम' खुशामदियों ने कांग्रेस का विरोध कर दिया। अलीगढ़ कालेज के संस्थापक सर सैयद अहमद ने एन्टी-कांग्रेस की दोहाई मचाई, और भाई-भाई को लड़ाया। कांग्रेस के लिए स्थान नहीं मिलता था, और पण्डित अयोध्यानाथ अपना मकान खुदवाने को तैयार थे कि स्वर्गीय दरभङ्गा-नरेश ने एक कोठी मोल लेकर कांग्रेस को अर्पण कर दी। यदि उस समय पंडित अयोध्यानाथ न होते तो कांग्रेस का नाम-निशान न रहता। सर सैयद और खुशामदियों की शक्ति, सरकार का कोप, और मुसलमानों का विरोध, उस वीर ब्राह्मण के तेज के आगे न ठहर सका। जैसे उत्साह से वह चौथी कांग्रेस हुई थी, वैसा उत्साह फिर कभी न देखा गया। मुसलमानों में दो टुकड़े हो गए—एन्टिकांग्रेस, और कांग्रेसवाले। आयर्लैंड निवासी जार्ज यूल साहब सभापति थे और उनका भाषण मुर्दों की भी नसें फड़काने वाला था।

पांचवीं कांग्रेस सन् १८८९ में बम्बई में हुई। इसमें अभ्यर्थना-सभापति फिरोजशाह मेहता और सभापति सर विलियम वैडरवर्न थे। ऐसे अकृत्रिम भारत सुहृत् के सभापतित्व में वैसे ही अकृत्रिम मित्र सर चार्ल्स ब्राडला कांग्रेस में आए। प्रतिनिधि १८८९ आए थे। न्यायकारी कौन्सिलों के विचार में दो मुसलमान मेम्बरों ने यह औंधा प्रस्ताव किया कि जितने हिन्दू चुने जायं, उतने ही मुसलमान! पीछे विलायत में आन्दोलन करने के लिए चन्दा हुआ जिसमें मांगने से दूना रुपया आया। उसी समय स्वामी आलाराम सागर ने अपना कम्बल उतारकर चन्दे में दिया था। ब्राडला साहब को एड्रेस दिया गया। कौन्सिलों के सुधार का जो बिल वे पेश करने वाले थे वह किसी और ने और तरह पास करा लिया। **छठी कांग्रेस** कलकत्ते में ६७७ प्रतिनिधियों के साथ, मनोमोहन घोष के स्वागत से फिरोजशाह मेहता के अधिपतित्व में हुई। उन दिनों सहवास सम्मति के पचड़े ने शत्रुओं को आशा दिलाई थी कि दो पार्टी होकर कांग्रेस टूट जायगी, किन्तु ईश्वर ने इस सामाजिक तूफान को दूर करदिया। एक हिन्दी पत्र ने वृथा ही 'निशालीन काकरस' का विरोध आरम्भ किया, जो उमने अब छोड़ दिया है। कांग्रेस का सातवां अधिवेशन नागपुर में हुआ। प्रतिनिधि ८१२, अभ्यर्थक नारायणस्वामी नायडू, सभापति श्रीयुक्त पी॰ आनन्द चार्लू थे। सुगृहीतनामा पण्डित अयोध्यानाथ ने अगामिवर्ष के लिए कांग्रेस प्रयाग में बुलाई, किन्तु कांग्रेस के विराट परिश्रम के मारे उस कर्म-वीर का देहपात हो गया। यदि किसी ने कांग्रेस को अपने प्राण दिए हैं तो पंडित

अयोध्यानाथ ने। ६२५ प्रतिनिधि थे, पण्डित विश्वम्भरनाथ अभ्यर्थक, और डबल्यू० सी० बनर्जी सभापति।

नवीं कांगेस १८९३ में लाहौर में हुई। ८६१ प्रतिनिधि, सिख सर्दारों के नेता दयालसिंह अभ्यर्थक और दादाभाई नौरोजी सभापति थे। १८९४ में मद्रास में ११६३ प्रतिनिधि, रङ्गिया नायडू अभ्यर्थना समिति के सभापति और अलफ्रेड वेव सभापति थे। दूसरे वर्ष पूना में १५८४ प्रतिनिधि, राय बहादुर भिड़े अभ्यर्थना समिति के सभापति थे और सभापति वाग्मिवर सुरेन्द्र नाथ बनर्जी ने सात घण्टे तक व्याख्यान दिया। १८९६ में कलकत्ते में महासभा भरी। प्रतिनिधि ७८४, सभापति बम्बई के रहमत उल्ला सयानी और स्वागत-सभापति हाईकोर्ट प्रधान न्यायपति सर रमेशचन्द्र मित्र और डाक्टर रासबिहारी घोष। १८९७ में बराड़ की राजधानी अमरावती में गणेश श्री कृष्ण खापर्डे की अभ्यर्थना, और अवस्था में सबसे छोटे प्रेसिडेन्ट शङ्कर नैयर के सभापतित्व में ६९२ प्रतिनिधि समवेत हुए। अगले वर्ष फिर मदरास में मिलन हुआ, प्रतिनिधि ६१४, अभ्यर्थक सुब्बाराव पान्तलू, सभापति श्रीयुक्त आनन्द मोहन बसु थे। १८९९ में लखनऊ में ७३९ प्रतिनिधियों के सभापति अर्थशास्त्रवित् रमेशचन्द्र दत्त महोदय विलायत से आए थे, उनकी अभ्यर्थना वृद्ध श्रीयुक्त बंशीलाल सिंह ने की थी। रमेश बाबू ने भूमि-कर सम्बन्धी विषयों पर ऐसी सारगर्भ वक्तृता दी थी कि वायसराय ने उन्हें शिमले बुलाया। आगामिवर्ष लाहौर में अधिवेशन हुआ जिसमें श्रीमान् कालीप्रसन्न राय की अभ्यर्थना में बम्बई के श्री युक्त चन्द्रावरकर सभापति थे। जिस सप्ताह में ये कांग्रेस के सभापति चुने गए उसी सप्ताह बम्बई हाइकोर्ट के न्यायपति बनाए गए। १९०१ में कलकत्ते में अधिवेशन हुआ जिसमें दिनशा ऐदुलजी वाचा सभापति थे, और नाटौर के महाराज अभ्यर्थक। १९०२ की कांग्रेस अहमदाबाद में हुई, उसमें अम्बालाल साकरलाल देसाई की अभ्यर्थना में बाबू सुरेन्द्रनाथ बनर्जी सभापति बने थे और इस साल मद्रास में बाबू लालमोहन घोष सभापति की अभ्यर्थना नवाब सैयद मुहम्मद ने की थी।

इस देश में राजनैतिक आन्दोलन नई बात है। सारे देश भर से सुप्त जातीयता को जगाने में कांग्रेस सफल मनोरथ हुई है। उसकी प्रार्थना से व्यवस्थापक सभाओं का सुधार हुआ, जूरी विचार प्रवृत्त हुआ, और आमदनी-टैक्स और नमक-टैक्स घटाया गया। यह कुछ कम गौरव की बात नहीं है। विचार और शासन विभागों का पृथक् होना, सिविल सर्विस परीक्षा का इस देश में होना, सारे भारतवर्ष में चिरस्थायी बन्दोबस्त होना, सैनिक शिक्षा का प्रचार यह भी कांग्रेस की प्रार्थनाओं में से कुछ हैं।

कांग्रेस की त्रुटियां भी कम नहीं हैं। यदि इसके नेता संयम से रहते तो यह सरकार की चक्षुःशूल न होती। न इसके अपव्यय की इतनी धूम मचती। यदि उसके नेता कुछ होशियारी से चलें तो देशवासी सभी अंगरेज, यूरेशियन और देशी क्रस्तान इनके सहायक हो जायं। मुसलमानों का विरोध अब हट ही-सा गया है, क्योंकि एन्टीकांग्रेस केवल शिक्षा-समिति ही रह गई है। मुसलमानों में शिक्षा कम होना ही इसका कारण है, किन्तु नेताओं की उच्छृङ्खलता ने बारिष्टर हामिद अली जैसे कांग्रेस पक्षपातियों को भी अलग कर दिया। मुसलमान लोग यदि समझें कि हिन्दुओं की

बहुतायत से नगण्य होकर हमारी क्षति होगी तो यह भूल है। निर्वाचन-प्रणाली मिलते ही बङ्गदेश और मद्रास के हिन्दुओं ने मुसलमानों को ही प्रतिनिधि चुना था। शिक्षित हिन्दुओं में वह भाव नहीं है। पार्सी मुसलमानों से भी थोड़े हैं, उन्हें यह भी बहकाया गया कि वे भारतवासी नहीं हैं, तथापि वे कांग्रेस के प्राण हैं। यह देखकर बड़ा दुःख होता है कि मुसलमान जमींदार का अपनी हिन्दू-प्रजा से प्रेम है, हिन्दू राजा मुसलमान प्रजा को पुत्रवत् मानते हैं तो मुसलमान ग्रेजुएट और हिन्दू ग्रेजुएट लड़ रहे हैं। अस्तु, सर सैयद अपने पोते-पड़पोते तक एक की पेंशन करा गए। विलायत में सर चार्ल्स डिल्की, डिगवी, ह्यूम, वैडरवर्न प्रभृति कांग्रेस के सुहृत हैं। केन और ष्टनलि का स्वर्गवास हो चुका। वहां कांग्रेस-कमेटी आन्दोलन करती है और 'इण्डिया' नामक साप्ताहिक पत्र निकालती है। यह अपव्यय है; किसी विलायत के प्रधान दैनिक पत्र में एक कालम पा लेने से प्रभाव भी ज्यादा होगा, व्यय भी कम। कांग्रेस का कुप्रवन्ध भी कुछ कम नहीं। वर्ष भर तक सोकर चार ही दिन में देश भर का फैसला किया जाता है। जब कांग्रेस अपनी जान में स्वतन्त्र सरकार को प्रजामत दिखाने का दावा करती है तो उसमें लीडरों की उच्छृङ्खलता क्यों ? वे तो प्रजातन्त्र का दावा करें। वास्तव में प्रतिनिधि सभाओं का और पार्लेमेन्टों का काम बक-बक करना ही है। असभ्य ज़मानों में एक दूसरे से राय न मिल सकने पर मनुष्य एक-दूसरे को तलवार से काटकर देश को लाल रंगते थे, अब वह कटाई का काम जीभ से ही हो जाता है। ये भी एक प्रकार की Tyrrany ही है, जहां 'शून्य' 'कुछ नहीं' इस फल को उत्पन्न करने के लिए जवानी जमाखर्च होकर काट-पीट, अनुमोदन और खण्डन होते हैं। अच्छी बात है। आगे शून्य उत्पन्न करने की कला देशों में होती थी, अब पण्डाल ही में, तलवार और कवच के बदले जीभ और प्लेटफार्म से काम हो चुकता है और शासक मज़े में शासन करते हैं, किसान बेरोक खेती करते हैं। अधकचरे, ठग और धकेलने वाले मनुष्यों को बधाई है,—जिसे कुछ भी गुस्सा, गुस्ताखी, हठ, चालाकी और गला फाड़ना आता हो, वही नेता बन बैठे। तलवारों से शत्रुओं को हटा दें, किन्तु आदमियों के गलों को कौन हटा सकता है ? आकाश के नीचे खड़े होने को जगह बहुत है, कुर्सी मूढ़ा नहीं तो औंधा पीपा ही सही, पत्थर ही सही, सुननेवाले भी कम न होंगे। महापुरुष नेताओं के लिए नियम बनाने की जरूरत नहीं; उनका एक तन्त्र भी प्रजातन्त्र से अच्छा होता है। ह्यूम साहब अपनी इच्छा बलात्कार से चलावें, औरों को फटकार दें, तो भी ठीक है, किन्तु उनके यहां न होने पर कांग्रेस बिना सूंड के हाथी की तरह न चले। यदि कांग्रेस को काम करने वाले मिले हैं तो पञ्जाबी मिले हैं। उनने ही शिल्प-प्रदर्शिनी आरम्भ की, जिस में नाटोराधीश, गायकबाड़ और माइसोर के राजा, क्रम से प्रधान बन चुके हैं। उनके प्रस्ताव से एक स्टेण्डिङ्ग कांग्रेस कमेटी बनी थी, जो सभापति चुनने प्रभृति प्रबन्ध के कामों को सम्हालती थी। १९०० की लाहौर कांग्रेस के लिए उनने विष्णुनारायण धर को चुना किन्तु वे अस्वस्थ थे, अतएव चन्द्रावरकर का नामकरण हुआ और किसी ने आपत्ति न उठाई। दूसरे वर्ष कमेटी ने बाचा को चुना और देश भर ने स्वीकार किया। बातौनी वीरों को यह बात भाई नहीं। कमेटी तोड़ी गई। अहमदाबाद और मद्रास की कांग्रेसों में प्रेसीडेण्ट चुनने में क्या क्या

खटराग हुए हैं, उन्हें सब जानते हैं। कालीचरण बनर्जी का नाम तीन दफे लिया गया। किन्तु सुरेन्द्र बाबू अहमदाबाद में दर्बार करने गए। इधर भी स्टेड, काटन प्रभृति कई लोगों के नाम लिए गए, किन्तु किसी के स्वीकार न करने पर राजनैतिक योगी लालमोहन घोष अंधेरे में से निकाले गए। पञ्जाब के लोग इसी से कांग्रेस से पृथक् हो गए थे। उनका प्रस्ताव यह भी था कि एक दिन भर शिक्षा और शिल्प के प्रस्तावों को दिया जाय। अब उनकी उदासीनता हट गई है, किन्तु प्रबन्ध नहीं हुआ।

जातीय कान्फरैन्सें, बड़े दिन की छुट्टियों में होकर कांग्रेस में योग देने से लोगों को रोकती हैं। लोग कांग्रेस को बच्चे खानेवाली बिल्ली की उपमा देते हैं जो प्रादेशिक कान्फरैन्सों को नष्ट करती है। उत्साह भंग होना हमारे देश का गुण है। अहमदाबाद कांग्रेस तो प्रादेशिक कान्फरैन्स ही मालूम देती थी। पुराने कांग्रेस के बन्धु सुस्त हो गए हैं। कुछ को फूट ने अलग किया है। कुछ स्वेच्छा से हटे हैं। उनको जगाने के लिए सेनापति वैडरवर्न, दादाभाई, डबल्यू० सी० बनर्जी और ह्यूम ने 'शंखनाद' हिन्दुस्तान रिव्यू में प्रकाशित किया है। वैडरवर्न ओर ह्यूम के पत्रों का अनुवाद 'समालोचक' में छपेगा। अब फटी थेगली को सीने का समय है, नहीं तो उपहास होगा। कांग्रेस भारत-वासी मात्र की सम्पत्ति है और प्यारी सम्पत्ति है। जो लोग कांग्रेस को 'अज्ञात में कूदना' कहते हैं वे देखें कि हाईकोर्ट के न्यायमूर्ति, व्यवस्थापक सभाओं के मेम्बर, सभी कांग्रेस के पक्षपाती हुए हैं। तथापि कांग्रेस का प्रभाव सर्वसाधारण पर नहीं पड़ा है। पहले तीन-चार वर्षों में जिस उत्साह से अंग्रेजी और देशी भाषाओं में ग्रन्थ लिखकर बांटे गए थे, वह बात अब स्मर्तव्यशेष है। कांग्रेस को देशी भाषाओं से घृणा है, वह उनके व्याख्यानों को भी नहीं छापती। काशीनाथ खत्री ने कांग्रेस पर हिन्दू-उर्दू में लिखकर उसे सर्वप्रिय बनाया था। यदि कांग्रेस की रिपोर्ट और ट्रेक्ट हिन्दी भाषा में बांटे जायं, यदि कांग्रेस के नेता शहरों में देश-भाषा में व्याख्यान दें, यदि कांग्रेस में भी आधे व्याख्यान भाषा में हों, तो कांग्रेस का प्रभाव कई गुणा बढ़ सकता है। कांग्रेस का सभापति होना, भारतवासी के लिए बड़ा भारी सन्मान है। जब कई सज्जन उसके पात्र बैठे हैं तो सोने पर सोना चढ़ाने अर्थात् एक ही सज्जन को बार-बार सभापति करने का क्या लाभ है? अभी यूरेशियन और देशीय कृस्तानों में से कोई सभापति नहीं चुना गया है। युक्तप्रान्त और पंजाब का भी कोई सभापति न बना। इन बातों से असन्तोष हो सकता है।

प्राचीन हिन्दुओं में से अब तक आनन्द चार्लू ही सभापति बने हैं। आगामि बम्बई कांग्रेस में सच्चे हिन्दू जष्टिस गुरुदास बनर्जी को सभापति बनाना चाहिए, या देशी कृस्तानों के लीडर कालीचरन बनर्जी को, जिससे कि दो बार चुने जाकर न चुने जाने का उनका दुःख मिटे।

कांग्रेस को मिस सरला घोषाल का जातीय खेलों का भी प्रस्ताव हाथ में लेना चाहिए। परीक्षाओं में नम्बर पाना, बकवाद करना, मेज पर कलम रगड़ना, फूटी आँखें, टूटी कमरें, यही अधिकार पाने की निशानियां नहीं हैं। आस्तीनें चढ़ाना सीखना चाहिए, क्योंकि कार्लाइल के मत में राजदण्ड हथौड़े का (जो सिर समझाने से न मानें उनको तोड़ने के लिए) रूपान्तर है। हथौड़ा उठा सकने वाले राजदण्ड भी उठा सकते हैं।

जब परमेश्वर ने हमें ऐसी दयालु सरकार दी है तो अवश्य ही अन्त में देश का भला होने वाला है। कांग्रेसकर्त्ताओं की पुष्पिता वाणी भी इस बात को नहीं छिपा सकती कि उनके दल में फूट है। मद्रास कांग्रेस में इन्द्र के कोप से जलप्लावन की बात पढ़कर न केवल तालाब के चौतरफ बैठे मैंडकों का स्मरण होता है किन्तु कांग्रेस के नाटकमय खिलौने पर परमेश्वर की अप्रसन्नता ही जान पड़ती है। फ्रान्स के विप्लव के दिनों में बकवादी फरांसीसियों ने कई गज ऊंचा रंगमंच बनाकर उसमें 'न्याय, राजा, प्रजा' की ओर सच्चे होने की भक्ति की शपथ की थी, उस दिन वृष्टि ने सब मजा बिगाड़ दिया था।[1] हां, कांग्रेस के नेताओं ने यह तो जाना होगा कि सुख में चाहे वे लड़ें किन्तु दुःख में वे एक हैं, क्योंकि उनके कपड़े वाटरप्रूफ नहीं हैं तो उनकी खाल तो वाटरप्रूफ है!!

अस्तु! कांग्रेस के नेताओं को अपना सुप्रबन्ध करना चाहिए, क्योंकि इस लेख के ऊपर लिखी श्रुति कहती है कि रस्ते से चलने से ही सब कुछ होता है।[2] नहीं तो कार्लाइल के मत में हम भी यह कहेंगे—God confound you, your paper constitutions and theory of irregular verbs. परमेश्वर तुम्हारे कागजी प्रबन्ध और असमाप्त क्रियाओं की परिपाटी को नष्ट करे!

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : जनवरी-फरवरी, १९०४ ई०]

प्रदर्शिनी

मद्रास में कांग्रेस के साथ जो शिल्पप्रदर्शनी होने वाली है उसके विज्ञापन शंकर नैयर प्रभृति के हस्ताक्षरों से सरकारी गजटों में छपे हैं। उनमें बिचारी कांग्रेस का नाम तक भी नहीं है। क्या कांग्रेस के कर्णधारों ने सरकारी कृपा वा यूरोपियनों की सहानुभूति के लिए स्वयं प्रख्यापित स्वार्थत्याग को ढकेल फेंका है। बच्ची प्रदर्शिनी की माता का नाम भी नहीं!!

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : अक्तूबर-नवम्बर, १९०३ ई०]

---

1. Carlyle's History of the French Revolution, Vol. II, Book-I, chap. XI, XII.
२. इस लेख में, और और पुस्तकों के सिवाय, बंगला मासिक पत्र 'साहित्य' के एक लेख की सहायता ली गई है।

बंग का भंग

सप्त शल्यानि : 'नृपांगणगतः खलः'—गत मास भारतवर्ष में घटनाओं का चक्र इस तेज़ी से घूम गया है कि देखनेवालों को मुंह बा कर और सिर पर हाथ रखकर उसका स्मरण करने में भी कठिनाई पड़ती है। क्या था, और क्या हो गया और उसका परिणाम क्या होगा, इसी की जांच करने में ऐतिहासिक, कभी सही और कभी गलत, अन्दाज़ लगाते हैं। गत मास ऐसे कई अन्दाज़ टूटे हैं और कई नये अन्दाज़ फिर टूटने के लिए बंध गए हैं। किस प्रकार प्रजा के मत को लात मारकर और नये प्रस्ताव पर प्रजा का मत न लेकर, छिपे-छिपे ही बंगालियों की बढ़ती जातीयता के मूल में कुठार मारने वाला भंग का विचार, कर्त्ताओं ने ठानकर प्रजा पर डाल दिया, यह मालूम ही है। उसके पीछे मर्माहत बंगाली जाति ने गाँव-गाँव सभा करके इसका विरोध आरम्भ किया, बंगीय कौंसिल के क्या युवा, क्या वृद्ध सब ही ने इसे बंगालियों और अंग्रेजों के सदा के द्वेष को जगाने वाला कहा और इधर-उधर व्यवहारकुशलों ने विदेशी पदार्थों के त्याग और स्वदेशियों के ग्रहण का बीड़ा उठाया। इसकी परमावधि कलकत्ते के टाउनहाल और उसके उपप्लव मैदान की २०,००० मनुष्यों की सभा ने कर दी जिसमें स्वदेशी वस्तुओं के उपयोग से अनपेक्ष इंग्लैण्ड की जेब काटने और शोक की सवारी में विद्यार्थियों को लगाकर उनके उत्साहप्रिय समाज को मिलाने की दूरदर्शिता दिखाई गई। विश्वदूत रूटर की कृपा से यह कोलाहल वृथा न गया, और दो दिन पीछे ही सर हैनरी काटन के उपदेश से मि० हर्बर्ट राबर्ट ने, लिबरल नेताओं की सहानुभूति से, पार्लिमेंट में इस विषय पर विचार करने का प्रस्ताव किया। यद्यपि अनुकूल सम्मति होने से स्वीकार की आशा न थी, तो भी यदि 'अपने देश के सिवा सब देशों के मित्र' पर मञ्चूर जी भावनगरी उलटा विरोध करके चक्षुःशूल न बनते तो अच्छा ही होता। 'यस्तित्याज सचिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति' और बंगालियों ने अपनी भाषा के अनुसार उनका अच्छा 'सत्कार' कर दिया। मि० ब्राडरिक के और कागज़ पार्लेमेन्ट में पेश करने के वचन पर वह प्रस्ताव पीछा लिया गया और विलायत के सभी पत्रों का ध्यान इससे बंग-विच्छेद की तरफ़ हो गया। सम्भव नहीं कि इस विषय में श्रीमान् लार्ड कर्ज़न की गीशमाली न की गई हो, और ब्राडरिक महाशय इतने अनजान बने थे, मानो उनने आँख मूंदकर वायसराय को प्रसन्न करने को ही बंग-विच्छेद पर सम्मति दे दी हो। भारतवर्ष के सेना-सुधार में कुछ मास पहले जैसी उनकी बात बिल्कुल न सुनी गई थी, वैसे कुछ तो उनके सान्त्वन का उपाय चाहिए ही था। परन्तु सान्त्वन से वास्तव सान्त्वन न हो सका।

सेनापति का चक्र : यद्यपि सेनापति के नये अधिकार और सेना के नये प्रबन्ध से सारा अधिकार और प्रताप वायसराय से प्रधान सेनापति में आ गया है, और 'मुल्की लाट' केवल पति 'जंगी लाट' का बिल चुकाने वाले रह गए हैं जिससे भारतवासियों की लचकी पीठ सेना के बोझ से बहुत शीघ्र टूट जा सकती है, तो भी भारतवासी इस विषय में उदासीन थे।

पहलवानों का दंगल : तुलसीदास जी के शब्दों में, 'कोउ नृप होइ हमें का हानी।

चेरी छांड़ि न होउब रानी'। उन्हें सिविल एकतन्त्र से मिलिटरी एकतन्त्र केवल एक अंश ही अधिक अन्यायी जान पड़ा। सिविल एकतन्त्र कौन-सा उन्हें दूध देता था? दूसरे, जिस जाति को सदा हवल्दार तक बनकर रह जाना है और जो कभी सेना के ऊंचे पदों की आशा नहीं रखती उसे सेना के प्रबन्ध से क्या? और रूस के आक्रमण के स्ट्रेटेजी से क्या? तीसरे, उनकी दृष्टि में सेनापति और वायसराय का संगर दो लंगर बांधे पहलवानों की कुश्ती या मुर्गों की लड़ाई थी। लोग यही जानते थे कि सेर को सवा सेर मिल गया है, लड़ाई हो रही है। बिलायत में भी इस बिषय का शास्त्रीय गुरुत्व जाता रहा, केवल दो प्रबल पुरुषों की टक्कर ही रह गई जिसमें खिसियाकर लार्ड कर्ज़न ने इस्तीफे की धमकी दी थी। उनके यश के लिए अच्छा होता, यदि वे उस समय पृथक् हो जाते।

अमोघेऽपि निर्वाणालातलाघवम्!: यद्यपि भारतवासी उनकी सर्वतोभद्र शक्तियों के विश्राम के लिए देवी-देवता मना रहे थे, और चाहे वे भारतवर्ष में सिविल सर्विस कराने का पक्ष लेकर इस्तीफा देते, तो भी देश उनके ठण्डे-ठण्डे जाने से प्रसन्न होता; परन्तु पीछे यदि एकतन्त्र सेनाधिकार उन्हें दुःख देता, तो वे उस वायसराय का स्मरण करते जो और बातों में दुःख देकर भी इस बात में उनका पक्ष लेता था। परन्तु श्रीमान् ने चार छोटे और निष्फल परिवर्तनों पर यह मानकर संतोष किया कि मिलिटरी मेम्बर अपना ही नियत करके किचनर के क्रम को अपदस्थ कर देंगे और एक वर्ष और भारतवर्ष भोग लेंगे! परन्तु श्रीमान् की गणना में अबके भूल हुई।

चुपड़ी और दो दो?: मि० ब्राडरिक ने अब के सर एडमण्ड बारो को नियत करने वा न करने का अपना अधिकार इन्हें न दिया। इस विषय का जो तार-व्यवहार छपा है उसमें स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि पार्लेमेन्ट बन्द हो जाने से निःशक मि० बालफोर और ब्राडरिक असम्भावित लार्ड कर्ज़न को निकालने को तैयार थे। मि० ब्राडरिक ने स्पष्ट कहा, "तुम्हारे कहने से मैंने बंग-विच्छेद मान लिया, और तुम्हारे चाहे कौंसिल के मेम्बर दे दिए, अब क्या मैं मट्टी का मम्मा हूं?"

कर्ज़न का तर्जन: जैसे लड्डू न मिलने से बिगड़ैल लड़का फांसी की धमकी देता है, वैसे ही मान्यवर ने इस्तीफे की धमकी दी। मि० ब्राडरिक तैयार थे। अपनी आस्तीन में लार्ड मिण्टो को लिए बैठे थे। झट उनको नियत करके मान्यवर के पीछे आगल ठोंक दी जिससे फिर श्रीमान् लार्ड कर्ज़न आफ कैडलस्टन अपना मत न बदल सके।

पीतल के टुकड़े: इस घटना से सिद्ध होता है कि बालफोर दल के लोग कैसे पीतल के टुकड़े हैं जो अपने को सोना समझ रहे हैं। पार्लमेंट रहते तो बालफोर और ब्राडरिक की हिम्मत नहीं हुई जो लार्ड कर्ज़न को पृथक् कर सकते, परन्तु उसके उठते ही उन्हें कोने में फंसाकर इस्तीफ़ा दिलवाकर माने। भारतवर्ष में महाराजाधिराज के प्रतिनिधि ने भी संशोधन के सार्वजनिक विषय पर तो इस्तीफा न दिया, परन्तु व्यक्तिगत सिफारिशी के नियत न होने पर पृथक् होना ठीक समझा। मच्छरों को छाना और ऊंटों को पिया। लोग आश्चर्य न करें कि लार्ड कर्ज़न ने शिमले की मसनद को खाली कर दिया

और सूर्य अभी उदय होता ही है ! प्रलयकाल के मेघ भी नहीं आए और भूकम्प भी नहीं हुआ ! क्या हुआ ! श्रीमान् का अधःपतन ! उससे विश्व ब्रह्माण्ड को क्या ? इतना अवश्य है कि ऐसा पतन ऐतिहासिक घटनाओं में विलक्षण है ।

विरुद्ध धर्माश्रय : कितने विरुद्ध धर्मों का इसमें समावेश था, और कैसे एकतन्त्र स्वाधीनता के श्रीमान् के मस्तक को फिर दिया था ! जो स्वयं विश्वविद्यालय की उच्च शिक्षा का ऋणी है वह उसके द्वार को बन्द और पढ़ाई को व्ययसाध्य करै । जो समाचार-पत्रों के राजा 'टाइम्स' का सम्वाददाता रहकर बढ़ा है और जिसका ढोल समाचारपत्रों ने पीटा है, वह उनकी स्वाधीनता रोके ! जो व्याख्यानों में बड़ा हुआ है वह 'भाषण की गुलामी' की निन्दा करे । जिसे पार्लेमेन्ट ने चढ़ाया, वह उसको तटस्थ कर देवै ! जो महारानी विक्टोरिया का अन्तिम वायसराय हो वह उसके साम्ययाद के घोषणापत्र को कजोड़ा समझे । जो कोरिया में परमसत्य बोल चुका है, वह एशिया के सत्य के आदर्शों को लथेड़ै ! जो अमेरिका के धनियों को वर्मा में खान के सुभीते दे चुका है वह टाटा के विश्वविद्यालय की चक्की में कंकर डालै ! राजाओं ने जिसके पारिपार्श्वक बनकर 'उद्यानपाल सामान्यं' शोभा बढ़ाई उनके अधिकारों को वही कम करे और उन्हें रेजीडेंटों की गुड़िया बनावै ! जिसने यूरोपीयनों का रजवाड़ों में जमना बुरा समझा वही उनके लिए नये-नये पद बनावे ! जिसको बंगाली पंडितों ने श्लोक पढ़-पढ़कर आशीर्वाद दिए, वही बंगाल का बलिदान करै ! जिसने सर फीरोजशाह को के० सी० एस० आई० दी, वही यूनिवर्सिटी वैलिडेशन एक्ट पास करे । जो चेम्बर आफ कामर्स से दावत में मिला, वह सर हैनरी काटन से कांग्रेस के प्रस्ताव न ले ! जो प्रोटेक्शन का विरोधी था, वह देश की कलाओं को न बढ़ावै ! जो सोमालीलैण्ड और ट्रांसवाल में भारत की सेना का व्यय न देता था, वही सेना के व्यय को बढ़ावै और सेनापति की उद्दण्डता को दबाने में वही दुर्बल हो जाए, जो विश्वविद्यालय ऐक्ट और बंग-भंग में सहस्त्रबाहु था ।

पहले-पहले श्रीमान् के भाषणों से और कार्यों से भारतवासियों को आशा हुई थी कि रिपन का भाई आया, और राजाओं ने समझा कि हम पर विश्वास करनेवाला आया । परन्तु वह संस्कार मिट गए । भारतवर्ष यदि श्रीमान् का किसी बात में ऋणी है तो कुछ कर घटाने और पुरानी इमारतों की रक्षा का और नहीं तो पीछे ढकेले जाने का । परन्तु सारी प्रजा के विरुद्ध मत को जानकर भी श्रीमान् दूसरी दफ़ा भारतवर्ष में आए और रत्न से जुगनू बनकर, और अपने यश को नष्ट करके, सेनापति के हाथों से 'अपवादैरिवोत्सर्गाः' बन गए ।

सायंकाल का उपस्थान : एक मारवाड़ी पत्नी ने अपने पति को कहा था, "साजन ! तुम बहुत लायक हो, मुझे तो तुम्हारे साथ यह मिला कि जो घर में नहीं था, वह तो आप लाए नहीं और जो था वह खो दिया ।" सम्भव है कि कुछ वर्षों पीछे भारतवर्ष आपको भूल जाय किन्तु अभी तो—

पटुर्धारावाही नव इव चिरेणापि हि न मे, निकृन्तन्मर्माणि क्रकच इव मन्युर्विगलति ॥

तिसंकू [illegible] ! चाहे खुशामदी लोग श्रीमान् को विदाई के

तार दें, और बम्बई ही नहीं, अदन तक पहुंचाने जावें परन्तु देश का मत श्रीमान् के विषय में यही है कि श्रीमान् को शीघ्र ही विदाई न मिल गई और उनकी सर्वतः पाणिपाद शक्ति बंगाल के भेदन से बाज न आई। पुराणों में जैसे पृथ्वी और स्वर्ग के बीच में लटकते त्रिशंकु की राल कर्मनाशा से अंग को अपवित्र कर गई वैसे श्रीमान् ने भी १ सितम्बर को बंग-विच्छेद की घोषणा कर दी।

'मुर्गे बिस्मिल ! मत तड़प, यां आँसू बहाना है मना !' जब मि० ब्राडरिक पार्लमेन्ट को और कागज़ात पेश करने का वचन दे चुके हैं, तब इस शीघ्रता का करना न्याय है या नहीं, यह विचारणीय है। जैसे तिब्बत मिशन में सरकारी आज्ञा का पालन न करने पर श्रीमान् के लत्ते लिए गए थे, वैसे मि० ब्राडरिक फरवरी में इस विषय में कुछ करेंगे या नहीं, यह प्रश्न है।

आइये ! :

अब स्थविर लार्ड मिन्टो भारतवर्ष में आते हैं और भारतवर्ष में उनका स्वागत है। बुढ़ापा वृद्धि का पिता है। और आशा है श्रीमान् शीघ्र ही आकर श्रीमान् युवराज के पथदर्शक बनेंगे क्योंकि जब तक वे नहीं आते तब तक यही न रह जाएं, यह डर लगा हुआ है। जैसे श्रीमान् के पूर्वज गवर्नर जनरल ने बिना एक गोली बरसाये, नैपोलियन के आक्रमण का भय हटाया था, वैसे श्रीमान् भी क्या उपचीयमान् सेना व्यय के कारण रूस के भकोओं को सदा के लिए शान्त न कर देंगे ?

स्वदेशी आन्दोलन :

बंग देश में कोलाहल के साथ-साथ स्वदेशी वस्तुओं के प्रचार का आन्दोलन फैलता जाता है। गाँव-गाँव में सभा होती हैं। बड़े-बड़े ज़मींदारों ने स्वयं कलें खोलने की प्रतिज्ञा की है। मैनचेस्टर के माल को फैलाने के पाप का प्रायश्चित्त मारवाड़ियों ने बुरी तरह भोग लिया है और उन्हें अच्छी हानि उठानी पड़ी है। अब वे बंगालियों के साथ ही रहें, इसमें कल्याण है। मैनचेस्टर वालों ने निर्द्वन्द्व बनकर उन्हें जो आन्दोलन न करने का उपदेश दिया है उसे पढ़कर हँसी आती है। चाहे मैनचेस्टर की जेब कटने से इंग्लैण्ड वाले ध्यान दें, चाहे न दें, स्वदेशी आन्दोलन देश भर में व्याप्त होना चाहिए। बंगाली पंडितों ने शास्त्रों में से स्वदेशी वस्तुओं के श्लोक खोजना आरम्भ किए हैं और अपने शिष्यों के नाम आज्ञा-पत्र लिखे हैं। यह नई व्यवस्था है। क्या अच्छा हो, यदि कुछ पंडित विदेश-यात्रा के भी यों ही प्रमाण ढूंढ़ दें जिससे 'श्री वेंकटेश्वर समाचार' का तो मुंह बन्द हो ! सारे भारतवर्ष में यदि चार-पांच महीने भी स्वदेशी आन्दोलन का स्वस्ति-वाचन हो जाय तो इतनी उदासीनता न रहै और राजनैतिक क्षेत्र में ही वचन-बहादुर न कहलाकर हम कर्म-क्षेत्र में ही कुछ कर सकने वाले कहला जाएं।

एकाक्षर प्रचार :

इसी जातीयता का लक्षण और भारतव्यापी नई जागने वाली सहानुभूति का

निदर्शन, भारतवर्ष में एकाक्षर प्रचार का काम भी गत मास अग्रसर हुआ है। समानकाल में बङ्गाली और गुजराती साहित्यकारों में आन्दोलन उठा और माननीय जस्टिस शारदाचरण मित्र की अध्यक्षता में एक प्रभावशाली समाज कलकत्ते में देवनागरी प्रचार के लिए कायम हो गया है। यदि पांच भाषाओं में एक पत्र न निकालकर हिन्दी के साथ और भाषाओं के पत्र द्वैभाषिक बनें, तो अच्छा। हिन्दी प्रान्तवाले इस विषय में चुप हैं, उन्हें कुछ करना चाहिए। स्वयं अग्रणी होने का हठ छोड़कर पीछे काम करने वाले भी अच्छा कर सकते हैं। जापान के देवनागरी लिपि के स्वीकार पर अधिक हल्ला नहीं करना चाहिए। जापान अपना सुभीता स्वयं जान सकता है, हम उसके गुरु बनने योग्य नहीं हैं। अन्तर्जातिक व्यवहारों में जापान को (और हम को भी) अंगरेजी अधिक काम देगी और विजातियों की देवनागरी लिपि का उपयोग—जिसकी वे स्वयं भी सेवा नहीं करते—करने की अपेक्षा जापान में अधिक बुद्धि है!

काशी कांग्रेस :

जब सर फिरोजशाह महता के एक ही मकार ने बम्बई-कांग्रेस को इतनी धूम से कर दिया तो मदनमोहन मालवीय और मुन्शी माधवलाल—पञ्चमकार के रहते क्यों लोग काशी-कांग्रेस पर शंकाएं करते हैं? माननीय गोखले का सभापति होना बहुत सुन्दर है क्योंकि कर्ज़न की कूलंकषा के सामने लोहे का दुर्भेद्य तीर उनने ही दिखाया था। युक्त प्रान्तवालों को पण्डित अयोध्यानाथ के प्राचीन गौरव का स्मरण करना चाहिए। कांग्रेस का विरोध यदि कहीं हुआ है तो उन्हीं के प्रान्त में, और उसके रहने न रहने का संग्राम उनने ही लड़ा है, अतएव रेशमी मोज़े पहनकर लड़ने वाले और प्रान्त उनका उपहास न करें, इसका उन्हें ध्यान चाहिए। सामाजिक परिषद् के कारण कई स्वाधीन-चेता छिपे रुस्तम भी कांग्रेस में आ जाते हैं इसमे उसे पृथक् करना तो ठीक नहीं; उसके प्रभाव को रोकने को धर्मसभा कर लेनी चाहिए। एक हिन्दी की कान्फरेन्स भी उस समय होनी अवश्य चाहिए। काशी नागरीप्रचारिणी सभा क्यों चुप है?

मण्डूका यत्र वक्तार :

माननीय मालवीय ने अच्छा किया कि आत्मगौरव के लिए प्रयाग म्यूनिसिपेलिटी को छोड़ दिया। यदि यही भाव भारतवासियों में रहता तो वे इधर-उधर अनाड़ी बनकर अप्रतिष्ठा न कराते फिरते। या इन सब बातों को हाथ में लें, या बिलकुल छोड़ दें।

शान्ति! शान्ति!! शान्ति!!!

सभ्यसमाज प्रेसिडेन्ट रूज़वेल्ट का ऋणी है कि उनने रूस-जापान के लोमहर्षण संग्राम के बीच में पड़कर शान्ति करा दी और रणचण्डी के नृत्य को बन्द किया। संसार जापान की क्षमा और उदारता पर विस्मित है कि वह न केवल युद्धक्षेत्र में परन्तु धर्म-क्षेत्र में भी वीर है। वे जातियां कहां हैं जो चीन पर चढ़ दौड़ी थीं और उसकी बोटी-

बोटी छीनती फिरी थीं ? परन्तु इतना मानभङ्ग होने पर भी रूस इतने ऊंचे सुर में है और जापान में 'शठं प्रति शठम्' न करके अच्छा नहीं किया। यदि वह ही युद्ध में हारता तो उसकी क्या दशा होती ? एशियावासी जापान के विजय से प्रसन्न थे, परन्तु इस सन्धि से उन्हें लज्जित होना चाहिए। शत्रु से उदारता क्या, और आततायी से 'तत्वमसि' कैसा ? इतने वर्षों पीछे एशिया का एक राज्य यूरोप से शस्त्रों में तो जीता परन्तु डिप्लोमैसी में वह भी उनसे हार गया ? डिप्लोमैसी अभी हममें आई नहीं। 'राज्ञां-नीतिबलम्'।

थर्मामिटर और स्वतन्त्रता :

श्रीमती ऐनी वेसन्ट ने मि० स्टेड के सम्भाषण में प्राचीन हिन्दुओं को Pharisees अर्थात् कंस-शिशुपाल के समान कहा है। इससे तो श्रीमती की कार्यावली में विघ्न होगा ही ! परन्तु वहीं पर भारतवासियों की राजनैतिक आशा पर यों गीला कम्बल छोड़ा गया है—"मैं नहीं समझती कि थोड़े से अंगरेजी पढ़े हिंदुओं को अधिकार मिलने से देश का क्या लाभ होगा।" इधर सिनैट प्रभृति श्रीमती के सहयोगियों का सिद्धान्त है कि यूरोप और अमेरिका की जातियों के आगे ही भविष्य है, यहां वालों के नहीं। यदि यह घोर अनर्थकारी सिद्धांत भाग्यवादी भारतवासियों में फैल जायगा तो बड़ा अनर्थ होगा। परन्तु प्रोफेसर आयरलेंड ने एक थियोरी निकाली है कि ज्यों-ज्यों गर्मी के मारे थर्मामीटर का पारा चढ़ता जाता है त्यों-त्यों उस देशवाले राज्यशासन, प्रजातन्त्र और स्वाधीनता के योग्य नहीं होते। अर्थात् परमेश्वर ने ठण्डे मुल्कवालों को शासक बनाया है और गर्म मुल्कवालों को केवल एकतन्त्र का दास। राजा को ईश्वर मानने वाले और पुराण-प्रिय भारतवासियों में यदि सत्यनारायण की कथा के मिस से यह सिद्धांत फैलाए जाएं तो राजनैतिक आन्दोलन का बहुत शीघ्र अन्त हो जायगा और लोग महाराणी के घोषणापत्र की दुहाई न दिया करेंगे। राजा शिवप्रसाद के मतों के उत्तराधिकारियों को बङ्गालियों के तूफान पर इस अमोघ शस्त्र का उपयोग करने की हम सलाह देते हैं।

दादा दादाभाई :

महापुरुषों का पूजन देश के जीवन का लक्षण है और भारतवर्ष के वृद्ध महापुरुष दादाभाई नौरोजी की इकासिवीं वर्षगांठ का उत्सव देशभर में होना अच्छा लक्षण है। अल्पायु भारतवासियों में दादाभाई का जीवन कई युगों के बराबर है। जब जार्ज चतुर्थ बादशाह और लार्ड एमहर्स्ट गवर्नर जनरल थे उस समय आपका जन्म हुआ था; और परमेश्वर करै—अहुरमज्द करै—जार्ज पञ्चम को राजभक्ति का प्रणाम करने को (और राजभक्ति कहलाती है कि वह दिन दूर हो) और कई उच्छृंखल वायसरायों का 'समरकण्डू निकषण' करने को दादाभाई मार्कण्डेय जी की आयु पावें ! लक्ष्मी नरसू चेट्टी का राजनैतिक आन्दोलन, डवल्यू० सी० बनर्जी और लालमोहन घोष का आन्दोलन —ह्यू म और अयोध्यानाथ का आन्दोलन और अन्त को प्रोटेस्ट मीटिङ् और गोखले का

आन्दोलन—चारों तरह के आन्दोलन दादाभाई की गोद में खेल चुके हैं। "अपि नः स कुले जायात्" जो दादाभाई का काम बंटा लेवैं और इस परम परिश्रमी वृद्ध को विश्राम दे !

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : सितम्बर, १९०५ ई०]

विलायती राजनीति

भारतवर्ष को उचित है कि अपने प्रतिनिधि मि० गोखले को उनके चोखे भाषणों और मि० लाजपतराय को उनकी भारतवर्ष की लाज और पत रखने के लिए प्रचुर धन्यवाद दे। अग्रणी बम्बई ने तो अपने पुरुषरत्न को भेजा ही, परन्तु पश्चात्पद पंजाब ने भी और प्रान्तों के टालमटोल करते रहने पर भी योग्य प्रतिनिधि को भेजकर अच्छा कर्तव्यपालन किया। मि० लाजपतराय भारतवर्ष के आत्मनिर्भर को प्रधान मानते हैं और विलायती राजनैतिक पार्टियों पर अधिक भरोसा नहीं करते। मि० गोखले दादाभाई और सर फिरोजशाह की नेमिवृत्ति प्रजा के अनुकूल, लिबरल पार्टी पर अपनी सारी आशाएं बांधते हैं। सत्य इन दोनों के बीच में है। यद्यपि अपने बिना मरे स्वर्ग नहीं दीखता और कन्सर्वेटिव या लिबरल कोई भी ऐसा काम न करेंगे जिससे इंग्लैण्ड के प्रत्यक्ष स्वार्थों का विरोध हो परन्तु सहारे मात्र के लिए उदार लिबरल ठीक ही हैं। लार्ड रोजवरी ने फिर अपने दल में मिलने आये थे परन्तु होमरूल का नाम सुनते ही चिढ़कर चल दिए। जब ८० मेम्बरों वाले आयरलैंड का यह हाल है तो हमारे बारे में कब लिबरल दल का एकमत हा सकता है? तो भी समय-समय पर विलायत में प्रतिनिधियों के भेजने की आवश्यकता है। मि० बालफोर का वक्री मन्त्रिदल अन्त को समाप्त हो गया और वर्णनातीत मि० ब्राडरिक के स्थान में ग्लैडस्टोन के प्राइवेट सिकत्तर और जीवनचरित्र लेखक जानमार्ले भारतवर्ष के भाग्य में आये हैं। जिस समय तक हम लोग अपनी योग्यताओं से अधिकार पाने के योग्य न हो जाएंगे तब तक हमारे भाग्य से चाहे कोई मन्त्रिदल और चाहे कोई सेक्रेटरी आफ स्टेट हो, हम वैसे-के-वैसे ही रहेंगे तो भी 'सच्चे जान' से आशाएं करना निर्मूल नहीं है।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : नवम्बर-दिसम्बर, १९०५ ई०]

कांग्रेस और स्वदेशी

कई अदूरदर्शी लोग कांग्रेस में स्वदेशी आन्दोलन को खेंच लाना चाहते हैं। वे बम्बई और भारतवर्ष के अन्य प्रान्तों में इस बारे में गुत्थमगुत्था होती बतलाते हैं। परन्तु भीड़

के साथ हल्ला करना जिन लोगों का उद्देश्य है उनके अतिरिक्त कांग्रेस के और सब नेता अपना सिर नहीं खो चुके हैं और वे उचित विचार करेंगे। अवश्य ही कांग्रेस के विच्छेद, वहां के प्रजामत की अवहेलना, और नये प्रान्त में शाइस्ता खां आदर्श राज्य के विषयों पर मत प्रकाश करेगी; परन्तु यहां कांग्रेस का कार्य पूरा हो जाता है। राजनैतिक कांग्रेस यदि भारतवर्ष की सर्वतोमुख उन्नति को अपने भीतर डालने लगे तो सामाजिक परिषद्, शिल्प परिषद्, प्रदर्शनी प्रभृति की क्या आवश्यकता है? दूसरे कांग्रेस में मिलने से स्वदेशी आन्दोलन की क्षति होगी। यह एक पार्टी का कर्तव्य हो जायगा और सरकारी नौकर प्रभृति इसका अनुसरण नहीं कर सकेंगे। अभी यह सार्वजनिक कार्य्य है जिसमें अंगरेज तक संयुक्त हो रहे हैं। अवश्य ही ऐसा होने से लोग कांग्रेस को केवल भिक्षुकमण्डल कहेंगे परन्तु क्या बायकाट नामक प्रतिबन्धक अस्त्र का प्रयोग सारे भारतवर्ष की कांग्रेस कर सकती है? कोई कांग्रेस को रीपब्लिक बनाना चाहता है, कोई उसको न्याय-मन्दिर बनाना चाहता है, परन्तु यों करके लोग उसके वास्तव उद्देश्य से दूर डालते हैं। अभी कुछ काल तक प्रजामत को उत्पन्न करना और स्वरूप देना इसी में उसको और उनको सन्तुष्ट होना चाहिए।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : नवम्बर-दिसम्बर, १६०५ ई०]

धर्म के शत्रु

किसी धर्म के विरुद्ध जो मनुष्य हो सकते हैं वे साधारण रीति से दो श्रेणियों में बांटे जा सकते हैं। एक तो वे जिन्हें किसी दूसरे धर्म का हठ हो, जिन्हें यह दृढ़ भ्रम हो, कि वास्तव सत्य का अधिकार उन्हीं को है और सब मनुष्य अज्ञान में लिपटे हैं, इससे दण्डनीय हैं। उन मनुष्यों का जमाना तीन सौ वर्ष हुए योरोप में और भारतवर्ष में भी बीत चुका। आजकल जो लोग धार्मिक स्वतन्त्रता को दबाने में अग्रणी हैं, वे वही हैं जिनके लिए जगत् सन्देहमय है, जिनके कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं हैं अर्थात् जड़वादी और निरीश्वरवादी वैज्ञानिक और चार्वाक। इन्हें पहले अपनी नास्तिकता में एक प्रकार की आस्तिकता थी अर्थात् जैसे धर्मवादियों को अपने धर्म का हठ था, वैसे इन्हें भी धर्म के ठगविद्या होने में विश्वास था, अपनी समझ को वे समझ समझते थे और अपने पैरों को वास्तव सत्य पर टिका हुआ मानते थे। अब जैसे धर्म की हठात्मकता टूट गई है वैसे चार्वाकों की दृढ़ता भी टुकड़े-टुकड़े हो गई है। प्रकृतिवादी ईश्वर को कल्पना कहते थे, किन्तु उनके जड़विज्ञान की प्रकृति भी अब पर्दे में छिपती जाती है। दार्शनिक और वैज्ञानिक सन्देह का, अज्ञानवाद का, पूरा आचार्य; परलोक में ही नहीं, किन्तु जड़विज्ञान के राज्य में भी व्यापक अनभिज्ञतावाद का पोप, इङ्गलैण्ड के मन्त्री और

दार्शनिक मिस्टर बालफोर को समझना चाहिए। ब्रिटिश एसोसिएशन के सभापति बनकर (जिसके सभापति ने गतवर्ष विज्ञान और विश्वविद्यालयों के बढ़ाने का प्रबल पक्ष किया था) उनने कहा है कि हमारा जानना यही है कि हम कुछ नहीं जान सकते। "मनुष्य जाति का उन पदार्थों का ज्ञान जो उसके चारों ओर हैं, अधूरा ही नहीं किन्तु बिलकुल गलत है। यह कहना आश्चर्यदायक होगा कि कोई पांच वर्ष पहले तक मनुष्य जाति, बिना अपवाद के, भूल, अज्ञान और भ्रम में जीती और मरती रही है और वे भ्रम दूर के या अनज्ञान पदार्थों के विषय में नहीं थे, परमेश्वर की या दैव की कल्पना में नहीं थे, किन्तु उन सीधी-सादी बातों में भ्रम है जिनमें साधारण बुद्धि रोज-रोज निश्चिन्त, सन्तुष्ट और अनजान बनकर घूमती है।"—सत्य है। इसी से तो बालफोर मिनिस्ट्री के कोई सिद्धान्त नहीं होने पाते क्योंकि उसका अध्यक्ष 'सन्देह की दार्शनिकता' का दार्शनिक है!

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : अक्तूबर-दिसम्बर, १९०४ ई०]

धर्मसंकट

काशी में जातीय आन्दोलन के साथ-साथ ही बड़ा भारी धर्मसंकट भी उपस्थित हुआ है। सनातन हिन्दू धर्म त्रिधाबद्ध हो गया है और उसकी उन्नति का इसे सहायक कहें, या विघातक, कुछ समझ में नहीं आता। सामाजिक परिषद्, महामण्डल का वर्त्तमान प्रबन्ध और मालवीयजी की धर्मसभा, इस त्रयी से कुछ अदूरदर्शी आत्मश्लाघी लोगों को धर्म के लिए त्रिदोष सन्निपात खड़ा करने का अच्छा अवसर मिल गया है। इस त्रिपुष्कर योग में यदि गाँठ सुलझेगी तो मालवीयजी के हाथ से। जो लोग काम कर रहे हैं उनकी चालों में आपस के इतने दाव-पेच और पालिसी के भीतर पालसियां खेली जा रही हैं कि धर्म का पवित्र धर्मत्व दूर जाकर केवल बनियों की ले-दे का व्यापार रह गया है। धर्म व्यवसाइयों और धर्मध्वजाधारियों की यह वणिक् अवस्था बहुत ही खेदजनक है। हम नहीं चाहते कि उन लोगों के घृणित कर्त्तव्यों पर से उपेक्षा का पर्दा उठाकर उन्हें प्रसिद्धि दें जिसके वे योग्य नहीं हैं और जिसके लिए वे 'घटं छित्वा पटं भित्वा' का मार्ग ले रहे हैं। परन्तु यदि कर्त्तव्यवश हमको उनके रहस्यभेदन के लिए बाधित होना पड़ेगा, तो हम अभी से कहे देते हैं कि हम उससे न चूकेंगे। मालवीयजी अपने सत्यनिष्ठ धर्म-प्रेम मे धर्मानुयायी हिन्दुओं के नेता बन गए हैं और वे जिधर ले जाना चाहेंगे उधर, वह मार्ग चाहे कण्टकाकीर्ण ही हो, हिन्दू जाने को तैयार हैं। मालवीय जी के-से लोकप्रिय नेता के कर्त्तव्यों को 'ग्रेजुएट' नीति कहकर उड़ाने वाले, डेढ़ पन्ने के अखबार लिखने वाले या डेढ़ सभाओं के प्रबन्धक हिन्दुओं के नेता बनेंगे या यह काम के

महाहिन्दू करेंगे जिनकी मङ्गलया मनोहारा कथा न्यायालयों को पवित्र कर चुकी है ? प्रथम तो काशी से सामाजिक परिषद् को उड़ाने का जो यत्न किया जा रहा है वह अनर्गल इतिकर्त्तव्यताशून्य, उपेक्ष्य और एकदेशी है। इसका प्रधान उद्देश्य मालवीयजी को अपदस्थ करना और गौण उद्देश्य कुछ आत्मंभरि लोगों की तिलक बनने की लालसा है। युक्त प्रान्त में बहुत-से लोगों की तिलक बनने की लालसा जाग पड़ी है परन्तु चाहे वे त्रिवेणी में गोता खावें, चाहे त्रिलोकी घूम आवें, चाहे उन पर न्यायालयों में घृणित-से-घृणित अभियोग लग जावें, वे तिलक की षोडशी कला को भी नहीं पा सकते। वर्ष-भर तक यार लोग चुप रहे। काशी में, सामाजिक परिषद् की स्वागतकारिणी में सुधाकरजी और राममिश्रजी दो महामहोपाध्याय भी चुने गए, वर्षभर कुछ विरोध नहीं किया। ये लोग भी ताने मारते अवसर तकते रहे। परन्तु जब पण्डित मालवीयजी के धर्ममहोत्सव का विज्ञापन निकला तो मनुष्य-दुर्बलता से सुलभ अभिमान जाग उठा और सामाजिक परिषद् का होना मालवीयजी के सिर रखा गया। क्या हिन्दुओं में मालवीयजी का मान ऐसे कच्चे तागे पर है जो यों कम हो सकता है ? माना कि सामाजिक परिषद् हिन्दू-सिद्धान्तों की विघातक और इसीलिए निष्फल भी है, परन्तु उसके न कराने का यत्न क्या उस निन्दनीय जलाने बहाने के ज्वर के समान नहीं है जो डेढ़-दो वर्ष पहले हिन्दी साहित्य पर चढ़ा था ? यदि विरोधियों का उत्तर उनका मुंह बन्द करना ही है तो क्यों 'वन्दे मातरं' गाने की मनाई के लिए मि० फुलर का शासन बदनाम किया जाना है ? यह भी कथन विकृत है कि सामाजिक परिषद् के नेता 'अपनी विकृत वासनाओं को पूरी करने के लिए अपने सुधार या दुर्धार चाहते हैं।' उद्देश्य में भेद हो चाहे न हो, काम के ज्ञान और मार्ग में भेद है, इसलिए वासनाएं विकृत बताना बड़ी भारी भूल है। न्यायमूर्त्ति रानाडे वा चन्द्रावर्कर प्रभृति के व्यक्तिगत आचरण इतने उज्ज्वल हैं कि छिन्द्रान्वेषी निगाह उनकी झलक से झंप जाती है और किसी भी समाजसुधारक का चरित्र इतना कलुषित न होगा, जितना एक पंजाबी धर्म-व्यवसायी का, सच्चे झूठे लोमहर्षण रीति से, प्रकट हुआ था ! परन्तु स्वयं कुछ करना नहीं और, और लोग अग्रसर हों तो सोश्यल कान्फ्रेन्स न रोकने का दोष उनके मत्थे ! खण्डन करो, विरोध करो, परन्तु स्थान मात्र पर से कान्फ्रेन्स को हटाकर क्या तुम तिलक बन सकते हो ?

महामण्डल काशी में लल्लोपत्तो कर रहा है, 'श्रीमती सोश्यल कान्फ्रेन्स मौडल भगिनी' प्रभृति भद्दे मज़ाकों मात्र से अपनी गम्भीरता का परिचय दे रहा है, कांग्रेस से मण्डल एक दिन के लिए मांगकर सामाजिक परिषद् के उसे ले सकने के अधिकार का प्रबल प्रमाण दे रहा है, उससे कुछ कहना नहीं और वास्तव देशोपकारी काम में अग्रणी बनने के लिए मालवीयजी को उपालम्भ और ताने और उनको राजनैतिक क्षेत्र में उदासीन होने के लिए उकसाना ! राजनैतिक काम करनेवाले युक्त प्रान्त में ढाई-तीन, उनमें मालवीयजी के पञ्चहज़ारी बोर्डिङ्, लक्खी पत्र और सौलक्खी यूनिवर्सिटी के काकदन्तगणना के स्कीम जिन से वे अपना 'ह्विप' पना छोड़कर मध्यस्थ वृत्ति पर आगे ही पड़े हैं और तिस पर भी यह 'क्षते क्षारावसेचनम्' !!! "स्मारं स्मारं स्वगृह-

चरितं दारुभूतो मुरारिः।"

इधर भारतधर्म महामण्डल का अजब हाल है। यदि उसके नये कार्यकर्त्ता पुराने कर्मचारियों के आडम्बरपूर्ण और व्ययमय कार्यों की हँसी करें तो उतना निन्दनीय नहीं, परन्तु वे लोग जिनने पुराने वाचारम्भणों में खूब हाथ गर्म किये हैं अब किस मुंह से अपने अन्नदाताओं की निन्दा करते हैं? महामण्डल का वर्तमान कर्म, प्राचीनों की निन्दा, आगे केवल लेखाडम्बर और पब्लिक के सामने अपना ब्यौरा देने से भागना—यही है। इधर 'अज्ञातवास का अन्त' हो जाने से धर्मपुत्र युधिष्ठिर के समान (मित्र लोग वृथा ही उनकी तिलक जैसे हीन पुरुष से तुलना करते हैं। कहां राजनीति—मात्रावलम्ब तिलक और कहां धर्म महोदधि को चूलुकित करने वाले पण्डित गोपीनाथ?) पण्डित गोपीनाथ महामण्डल के कार्य्याध्यक्ष बने हैं और उन्हें 'निर्वाहमात्र के लिए (ता० १४ मई से १००) 'सौ रुपया माहवार' सहायता दी जाती है, इससे सिद्ध होता है कि वे हज़ार-दो हज़ार मासिक की जीविका छोड़कर धर्म-सेवार्थ श्रीचरणों में आए हैं। अच्छा होता यदि पण्डित गोपीनाथ राजनीति या देवनागरी प्रचार के सार्वजनिक काम में अपनी पुष्पिता वाणी का व्यय करते और फिर महामण्डल में न आते क्योंकि "अतथ्यस्तथ्यो वा हरति महिमा नं जनरवः" परन्तु कदाचित् कुमारिल भट्ट के समान पण्डितजी ने भी अपनी सत्यानृत अप्रतिष्ठा का प्रायश्चित्त लोकप्रसिद्धि के तुषानल में करना विचारा हो। परन्तु वे सावधान रहैं, "गतं न शोचामि" चाहै सनातनर्धामयों का सिद्धांत है, परन्तु अब वे काशी में जो आर्य्यसमाज का महाधिवेशन होगा उसकी टक्कर से पण्डितजी बचते रहैं। कुछ लोगों की शोभा तभी तक होती है जब तक वे कुछ नहीं बोलते। आते ही आपने नई इंजील फर्माई है। 'निगमागम चन्द्रिका' के चैत्रादि श्रावणान्त संख्या के पृष्ठ १२५ में **उपदेशक महाशयों से आवश्यक निवेदन** छपा है। उसमें कहा गया है कि उपदेशकों की जो सुख्याति श्री भारतधर्म महामण्डल द्वारा हुई है वह किसी प्रकार होनी सम्भव न थी! "यद्यपि उनमें बहुत से धुरन्दर विद्वान् और धर्मतत्त्ववेत्ता हैं।" तथापि, साफ बातों में, बहुत से ऐसे भी हैं जिन्हें महामण्डल ने ही रोटियों सिर लगाया है। आगे यह सिद्धान्त और भी स्पष्ट है—"यह कहना सत्य ही है कि श्री भारतधर्म महामण्डल ने सम्पूर्ण उपदेशक महोदयों के लिए **एक प्रकार की बड़ी भारी खेती** तैयार कर दी है जिसमें से अपने-अपने परिश्रम के अनुसार प्रत्येक महाशय जितना चाहें लाभ उठा सकते और उठा रहे हैं।" नारायण! नारायण!! क्या यह उपदेशकों को साफ-साफ कहना नहीं है कि चाहे जहां थाली फेरो, लूटो और खाओ। परन्तु महामण्डल के विषय में उनका "कुछ विशेष कर्तव्य" यह है कि वे इसकी दल्लाली करें, याने मेम्बर बनावें। कौन कहता था कि पुराने मण्डल के उपदेशक लुटेरे हैं? नया मण्डल उन्हें साफ कमाने-खाने और उनकी लूट में साझा मांगने की तरग़ीब दे रहा है!! उसके लिए पुरस्कार और मेम्बर न बनाने का दण्ड भी नियत हो गया है!! बड़े-बड़े विद्यासागर उपदेशकों के जो कहीं पर जमकर धर्म-सेवा कर रहे हैं, मन में अब यह डर लगा है कि नए-नए बच्चे उपदेशक अधिक मैम्बरों की दल्लाली करके उनसे ऊपर न बढ़ जायं। कितने ग्रामीणभाव से उपदेशकों को धन बटोरने और

दल्लाली करने को कहा गया है ! प्रश्न है कि जो उपदेशक मेम्बर न बनाएंगे उनके नाम क्या यह 'फतवा' दिया जाएगा कि सभाएं उन्हें भेंट न दें ? अस्तु, जलसे प्रभृति का विज्ञापन छपा है,—वह सब हाथी के दिखाने के दाँत हैं, बिना सभाओं के पूछे घर-ही-घर में प्रावीजनल कमेटी को स्थायी कर लेना और यह किया वह किया छापना यही होना है। बड़े खेद की बात है कि हमारे तिलकंमन्य मित्रों की तरह महामण्डल भी मालवीयजी से घबड़ाता है और उनका "लक्ष्य किसी और तरफ" बतलाता है। मालवीयजी को वह अपना प्रतिद्वन्द्वी मान बैठा है। रहे मालवीयजी, उनका धर्ममहोत्सव भविष्यत् की अपेक्षा करता है। अब के चाहे वे वाचारम्भण करें, परन्तु उनके धर्म पुस्तक और संस्कृत विद्यालय का दूरव्यापी परिणाम, उन्हीं के इष्ट देव "अकुण्ठं सर्वकार्येषु" पूरा करें। इस नूतन धर्मान्दोलन के पण्डे का पीठ भी वही त्रिवेणी की पवित्र भूमि है जो पुराने पण्डों के मुँह फाड़कर सुधार चाहने वाली कुरीतियों का लीला-स्थल है। परन्तु पण्डों के 'दीयतां दीयतां' में और मालवीयजी के 'ह्रिया देयं, भिया देयं, श्रद्धया देयं, अश्रद्धया देयं' में बड़ा अन्तर है। क्या प्रयाग के पण्डे इस भीति से कि मालवीयजी उनकी भूमि में उन्हीं के अपदस्थ करने के लिए सभा भरते हैं उनकी सभा को त्रिवेणी तीर से हटाना नहीं चाहते ? इस विलक्षण कर्तव्य में उनकी दृष्टि उनके और मणिकर्णिका के कुछ अदूरदर्शी पड़ोसियों के उस आचरण से होगी जो उनने स्वयं कर्म से कान्फरेन्स के कलुषित कर्तव्यों का कर्तन न करके कपटी करतूतों से कर्मपरायण कृती मालवीयजी की महिमा पर मलिनता न्यास करने के निषिद्ध नियोग में किया है और जिसका न्यक्कार नियति के नियम से नाति चिरकाल में होनेवाला है। ऐसे लोगों के वास्तव कार्य जानने के लिए हम अपने विशेष प्रतिनिधि उनके उत्सवों में भेजना विचारते हैं जो निष्पक्ष भाव से उनकी पालिसियों की गुत्थी सुलझाने का उद्योग करेंगे। हम फिर दोहराते हैं कि उनके वास्तव भाव चाहे मालवीयजी को अपदस्थ करने के हों परन्तु वे अपने ही लिए खाई खोद रहे हैं। श्रुति भगवती उन्हीं का वर्णन करती हैं—

'य ईं चकार न सो अस्य वेद य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात्।'

अर्थात् जो यों करता है, वह भी इसे नहीं जानता और जो त्यों देखता है उससे भी यह दूर है।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : नवम्बर-दिसम्बर, १९०५ ई०]

मध्याह्न में चाण्डाल

शुक्ल यजुर्वेद, अर्थात् माध्यन्दिन (वाजसनेयि) शाखा के पढ़नेवाले ब्राह्मणों को तैत्तिरीय (कृष्णयजुर्वेद) शाखा वाले कुछ घृणा से देखते हैं। इतिहास यों है कि शिष्य याज्ञवल्क्य ने गुरु की आज्ञा न मानकर उनके पढ़ाये यजु को वमन कर दिया और और शिष्यों ने

उन ज्वलदंगार यजुमंत्रों को तित्तिरि बनकर उठा लिया। याज्ञवल्क्य ने सूर्य से शुक्लयजु पाया। इसके प्रातिशाख्य और शिक्षा में **य** को **ज** और **ष** को **ख** बोलने का जो निर्देश और प्रथा है उसे तैत्तिरीय शाखा वाले यों कहते हैं कि गुरु के शाप से इनसे अक्षर शुद्ध नहीं निकलता। अवश्य ही शुक्ल यजुर्वेदी इस शाप को नहीं मानते और इसे अपना गुरु-परम्परागत उच्चारण क्रम मात्र मानते हैं। परन्तु एक और विलक्षण बात है। मद्रास प्रान्त में बहुत थोड़े, बहुत ही थोड़े, शुक्लयजुर्वेदी हैं। उनका विश्वास है कि हम लोगों को मध्याह्न में चाण्डाल होने का शाप है जो याज्ञवल्क्य ने गुरु की अवज्ञा करके तैत्तिरीय संहिता का वमन करके पाया था। इससे वे घड़ीभर के लिए अपने को प्रतिमध्याह्न चाण्डाल मानते हैं। उस समय वे धोती लेकर ग्राम के बाहर कूप पर चले जाते हैं और मध्याह्न बीतने पर घर में स्नान करके प्रवेश करते हैं और प्रत्येक वस्तु को प्रोक्षण करते हैं। यह विलक्षण रीति बहुत ही कम कुटुम्बों में है, परन्तु धर्म के दृढ़ विश्वास की चरमदशा का अच्छा दृष्टान्त है।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : नवम्बर-दिसम्बर, १६०५ ई०]

समीक्षाएं

पुस्तकें

निबन्धमालादर्श

१. यह पुस्तक पं० विष्णुकृष्ण शास्त्री चिपलूनकर जी के लिखे हुए कई एक मरहठी निबन्धों का अनुवाद है। इसके मूल लेखक तो बड़े प्रौढ़ विद्वान् और स्पष्टवक्ता थे ही, इसके अनुवादक पं० गंगाप्रसाद अग्निहोत्री जी भी कृतविद्य और गवेषणाशाली पुरुष हैं। इससे उक्त आदर्श भाषा के लेखकों के लिए आदर्श ही है। पुस्तक **मुन्शी नवल किशोर** (लखनऊ) के छापेखाने की छपी है। क्रय करनेवालों को छापेखाने के मैनेजर के निकट मूल्य और चिट्ठी भेजनी चाहिए। टाइटिल पेज पर मूल्य लिखा हुआ नहीं है किन्तु अनुमानत: ज्ञात होता है कि आठ आना मूल्य होगा क्योंकि उक्त प्रेस की पुस्तकों का मूल्य अधिक नहीं होता।

२. कुछ लोग मुझसे कहा करते हैं कि आप की आलोचना कड़ी होती है, उसमें दोष ही की अधिक चर्चा होती है और गुण की थोड़ी। जो झूठी प्रशंसा करने में असमर्थ है और अच्छी पुस्तक उसको नहीं मिलती उसे वाक्य-बाणों के लक्ष्य बनने में कुछ भी सन्देह नहीं। आज ऐसी पुस्तक की समालोचना का भार हम पर है जिसमें गुण-ही-गुण दिखाई पड़ता है। इस पुस्तक-पेटिका में पांच निबन्ध-रत्नों की माला रखी हुई है जो पाठक इन्हें कण्ठ से धारण करेगा वह अवश्य सभ्य समाज में गण्यमान्य समझा जाएगा।

सबसे प्रथम **विद्वत्व और काव्यत्व** शीर्षक लेख में यह बातें प्रामाणित हुई हैं—

१. "कवि का प्रधान गुण सहृदयता है। हृदय की श्रृंगार, वीर, करुणादि जो वृत्तियां हैं, वे उसे अत्यन्त सूक्ष्म एवं स्पष्ट रूप से अनुभूत होनी चाहिए। उक्त भिन्न वृत्तियों का विषय इन्द्रिगोचर होते ही कवि का मन क्षुब्ध हो जाता है और उस क्षुब्धता के आवेग में उसके मुख से जो बातें विनिसृत होती हैं वही यथार्थ कविता है···हमारे भाषा-काव्य के भण्डार में ऐसी सर्वांग सुन्दर कविता गोस्वामी तुलसीदास जी की ही पायी जाती है।"

२. "यदि हम सम्प्रति काव्य का लक्षण इतना ही समझ लें कि रमणीय अर्थ प्रकट करने वाला शब्द 'काव्य' कहाता है तो बस उक्त लक्षण को समझने से समस्त

भ्रम दूर हो सकते हैं अर्थात् तत्क्षण ज्ञात हो जाता है कि काव्य के लिए पद्यरचना, यमक, प्रास, श्लेष सुतरां वर्ण माधुर्य्यादिकों की विशेष रूप से कोई आवश्यकता नहीं है।"

३. "कवित्व ईश्वरप्रदत्त गुण है। यदि कोई चाहे कि परिश्रम कर उसे प्राप्त कर ले, तो नहीं हो सकता। साधारण मनुष्य कवि हो सकता है, केवल विद्वान ही नहीं। विद्या से सुधार होता है वह कल्पना का बाधक है और कल्पना ही से कविता की सृष्टि है, अतएव बड़े-बड़े विद्वान कवि नहीं होते अथवा उनकी कविता अच्छी नहीं होती। स्वाभाविक कवि कभी-कभी विद्वान भी हो जाते हैं, जैसे—कालिदास प्रभृति।"

४. "काव्य के प्रधान गुण सहृदयता और तज्जन्य वस्तु के प्रकृतिसुलभ गुण वर्णन करने की शक्ति ईश्वरप्रदत्त गुण है। साधारण चौपाई में तुलसीदास ने क्या ही अपनी अपूर्व प्रतिभा दिखाई है! जैसे—

चौपाई

घन घमंड नभ गरजत घोरा। प्रिया हीन डरपत मन मोरा॥
दामिन दमकि रही घन माहीं। खल की प्रीति यथा थिर नाहीं॥
बरषहिं जलद भूमि नियराये। यथा नवहिं बुध विद्या पाये॥
बूंद अघात सहैं गिरि कैसे। खल के बचन संत सहें जैसे॥
इत्यादि।"

बड़े-बड़े कवि यथार्थ अभिमान करते थे, जैसे पं० जगन्नाथ उनकी अभिमानोक्ति से ग्रन्थ की शोभा बढ़ती है।

आजकल के नये समालोचक हर्ष कवि की दर्पोक्ति पर झुलस-से गए हैं।

समालोचना शीर्षक द्वितीय निबन्ध में वे बातें कही गई हैं जिनकी इस समय बड़ी आवश्यकता है। इसके शीर्ष स्थान में एक श्लोक 'भामिनी विलास' का लिखा हुआ है जो योग्य समालोचकों को समझा रहा है, ऐसा जान पड़ता है। वह श्लोक अर्थ सहित यहां पर उद्धृत किया जाता है—

नीर क्षीर विवेके हंसालस्यं त्वमेव तनुषे चेत्।
विश्वस्मिन्नक्ष्नान्यःकुलव्रतंपालयिष्यति कः॥[1]

भावार्थ—हे हंस! जल और दूध को पृथक् करने के लिए यदि तू ही आलस्य करेगा तो संसार में तेरे उक्त कुलव्रत का पालन कौन करेगा? सच है, समालोचक

१. गुलेरी जी ने यह श्लोक 'समालोचक' के आदर्श वाक्य के रूप में अपनाकर अगस्त, १९०३ तथा इसके बाद के कुछ अंकों में मुखपृष्ठ पर छापना शुरू किया। मुखपृष्ठ पर इसका शुद्ध पाठ यों दिया है—
नीरक्षीर विवेके हंसाऽऽलस्यं त्वमेव तनुषे चेत्।
विश्वस्मिन्नधुनाऽन्यः कुलव्रतं पालयिष्यति कः॥ —सम्पादक

यदि पुस्तकों के दोष-गुण विचार करने में आलस करे तो दूसरा इस काम को कौन करेगा ? जो जिस काम के करने में समर्थ होता है, वही उसे करता है अथवा उसी के ऊपर इस काम के करने का भार है।

इस निबन्ध में बहुत-सी समालोचना सम्बन्धी अच्छी बातें वर्णित हैं। उनमें से कई एक का उल्लेख किया जाता है। जिससे पाठक निबन्ध की उत्तमता समझ जाएं—

१. हिन्दी भाषा में पुस्तकों की संख्या बढ़ती जाती है क्योंकि उपयोगी पुस्तकें बहुत ही कम प्रकाशित होती हैं। उसके प्रकाशक दो ही प्रकार के मनुष्य हैं—एक व्यापारी दूसरा नाम चाहने वाले। व्यापारी जिस पुस्तक की बिक्री अधिक देखता है उसी को छपवाता है। उसके प्रयत्न से अच्छी पुस्तकों का प्रकाशित होना असम्भव अथवा दुर्घट है क्योंकि अच्छी पुस्तकों को चाहने वाले कम हैं। दैवात् किसी व्यापारी ने किसी अच्छी पुस्तक को प्रकाशित किया है, तो उसने हानि ही उठाई है। अतएव अच्छी पुस्तकों का दूसरा संस्करण होता ही नहीं। (यही कारण है कि इस 'निबन्धमालादर्श' का भी दूसरा संस्करण अभी तक नहीं हुआ)। नाम चाहने वाले बिना कुछ विचार किए टूटे-फूटे अशुद्ध शब्दों (जैसे पठित समाज, मनोकामना, स्यात् और अतिउत्सव आदि) की वाक्यावली से दो-चार पन्ने काले कर पुस्तक प्रकाशित करता है फिर ऐसी पुस्तक कैसे अच्छी हो सकती है। कभी-कभी लोग अच्छी पुस्तकों का आदर करना चाहते हैं किन्तु जिस प्रकार इंग्लैण्ड में बड़े आदमी ग्रन्थकर्त्ताओं की श्रेणी में पाए जाते हैं उस प्रकार हमारे देश में इस समय एक भी नहीं दिखाई पड़ते और वैसे लोग हमारे देश में कब उत्पन्न होंगे, इसकी ठीक-ठीक तर्कना भी नहीं हो सकती।

२. जिस यूरप में इतिहास पदार्थ विद्वान और चिकित्सादि विषयों के ग्रन्थ मानो लड़कों के खेल हैं, वहां के लोगों के साथ पार्लीमेण्ट में बैठने की इच्छा करने वाले तथा उनके समान अपने स्वत्व के प्रार्थी लोगों को मन में सोचना चाहिए कि वे साहब लोग इस देश की भाषा की स्थिति जानकर कितना हँसेंगे ! भाषा की वर्तमान स्थिति और ग्रन्थ प्रणेतृगण का आदर दोनों देश स्थिति के समीचीन सूचक हैं। जो लोग यह निश्चयपूर्वक जानते हैं कि देशभाषा का और उसमें उत्तमोत्तम ग्रन्थों की अधिकतादि का देशहित से अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है, उन्हें हमारा कथन ठीक जान पड़ेगा।

३. देश भाषा के सुधार के हेतु ग्रन्थों के यथार्थ परीक्षकों का होना अत्यावश्यक है क्योंकि उनके द्वारा भाषा को बहुत लाभ पहुंचता है। ग्रन्थ-परीक्षकों में निम्नलिखित गुणों का रहना बहुत उचित है :

(१) मूल ग्रन्थ का ज्ञान, (२) सत्य प्रीति, (३) शान्त स्वभाव, और (४) सहृदयता।

४. आजकल के समाचार-पत्रों के अग्र भाग में एक लम्बी-चौड़ी प्रतिज्ञा लिखी रहती है किन्तु उसके अनुसार काम होता दिखाई नहीं पड़ता। कूड़ा-कर्कट लेखों से समाचार-पत्रों का कलेवर भरा जाता है। देशभाषा के सुधार करने वाली समालोचना

के विषय में यह लिखा रहता है कि अमुक ग्रन्थ हमें प्राप्त हुआ इसके लिए हम तद्रचयिता को धन्यवाद देते हैं। इसकी समालोचना आगामी अंक में प्रकाशित की जाएगी। सम्पादक इस प्रकार रसीद लिखकर अपना पिण्ड छुड़ाते हैं अथवा जिल्द, कागज और छपाई आदि अच्छे हैं—यह लिख डालते हैं। कसाई लोग जैसे पशुओं की परीक्षा उनका अंग स्पर्श करके किया करते हैं वही हिसाब ग्रन्थों का भी है।

५. प्रति वर्ष जो नवीन ग्रन्थ मुद्रित होते हैं, समाचार-पत्रों के द्वारा उनकी थोड़ी-बहुत चर्चा होती है और इसी (समालोचना) उद्देश से मासिक पत्रों की सृष्टि हुई है, क्योंकि इन पत्रों का मुख्यतम विषय भाषा और विद्या ही है। जितने नवीन ग्रन्थ प्रस्तुत हों उनमें से लाभदायक कौन, और अपकारक कौन हैं, यह सूचित करना मासिक पत्र-सम्पादकों का प्रधान कर्तव्य है।

६. भले-बुरे की विवेचना न कर, मनमाना अन्न खाने से जैसे शरीर का पोषण होना तो एक ओर रहा पर उलटे उससे नाना प्रकार के रोग लग जाते हैं वैसे ही ग्रन्थों का पठन भी है। जो ग्रन्थ यथार्थ में पढ़ने योग्य हों अर्थात् जिनकी भाषा-प्रणाली उत्तम, विषय-प्रतिपादन प्रौढ़ एवं सुरस, जिनसे मनोरंजन वा उपदेश एक ही साथ प्राप्त होते हैं, उन्हें ही पढ़ना चाहिए। पर ऐसा होने के लिए उक्त प्रकार के ग्रन्थ कौन से हैं, पहले ही ज्ञात हो जाना कठिन अथवा असम्भव है, जैसे डाक्टर लोगों की खाद्य वस्तुओं की परीक्षा कर उन्हें खाने देते हैं वैसे ही विज्ञ लोगों की आलोचना कर लेने पर उनकी सम्पत्ति से किसी ग्रन्थ को पढ़ना चाहिए। नहीं तो हानि की पूरी सम्भावना है।

७. जिस ग्रन्थ की आलोचना द्वारा प्रशंसा नहीं हो उसको कुपित होना नहीं चाहिए क्योंकि जिसमें जो गुण नहीं हैं उसमें उन गुणों का निरूपण ही निन्दाजनक है।

इस निबन्ध की एक-एक बात आजकल के हिन्दी-रसिकों के जानने योग्य है। इस निबन्ध को पढ़कर यदि ग्रन्थकार और समालोचक ग्रन्थ-प्रणयन और समालोचना करें तो हिन्दी भाषा थोड़े ही दिनों में बंगला तथा मरहठी के सामने खड़ी होने के योग्य हो जाए और अपने सुपुत्रों को उन्नति के शिखर पर बिठाने में न चूके।

[हर्ष का विषय है कि आरा नागरी प्रचारिणी सभा ने इस कार्य के लिए अपनी 'प्रणेतृ समालोचक सभा' की पद्धति ठीक कर ली है।]

अभिमान शीर्षक तीसरे निबन्ध के प्रारम्भ में निम्नलिखित श्लोक अर्थ सहित लिखा हुआ है—

अभिमानधनस्य गत्वरैरसुभिः स्थान यशश्चिचीषतः।
अचिरांशुविलासचञ्चला ननु लक्ष्मीः फलमानुषंगिकम्॥

भावार्थ—नश्वर प्राणपणा के चिरकाल तक रहने वाले यश की प्राप्ति की इच्छा करने वाला अभिमानी मनुष्य सम्पत्ति तृणप्राय समझता है क्योंकि एक तो वह बिजली के समान चञ्चल और वह उसकी वीरता का आनुषङ्गिक फल है।

इस निबन्ध में निम्नोक्त कई एक आश्चर्यकारक बातों का वर्णन है—

१. यह मानस-शास्त्र का विषय है। अंग्रेजी भाषा में इसके ऊपर कई एक

निबन्धमय ग्रन्थ हैं। मनोविकार विशेष को 'अभिमान' कहते हैं। इसकी निन्दा प्रायः सभी धर्म-ग्रंथों में पायी जाती है। कामादि छः विकारों में इसकी भी निन्दापूर्वक गणना है। महर्षिगण इसे नरक अथवा अनर्थ का मूल कहते हैं। सारांश यही है कि कोई इसकी प्रशंसा नहीं करता क्योंकि प्रसिद्ध है कि अभिमानी शीघ्र ही विनष्ट होता है।

२. यह सुनकर सबको बड़ा आश्चर्य्य होगा कि अभिमान सर्वथा त्याज्य और हानिकारक नहीं है क्योंकि वह स्वयं अनर्थ का कारण नहीं है किन्तु उसकी भलाई-बुराई मनुष्य की भलाई-बुराई पर निर्भर रहती है। इससे यह सिद्ध हुआ कि अभिमान दो प्रकार का है—एक, चतुर विज्ञ पुरुष में तथा दूसरा, मूर्ख और अबोध में पाया जाता है। अर्थात् विज्ञ पुरुष के अभिमान से भलाई और मूर्ख के अभिमान से बुराई होती है।

३. मूर्खों में से किसी को बल की, किसी को धन, किसी को वस्त्राभरण और किसी को अपने सौन्दर्यादि का अभिमान रहता है पर इससे उनकी अपनी भलाई भी नहीं होती और दूसरों की बुराई हो जाने की सम्भावना होती है। यथार्थ ज्ञान के अभाव से मनुष्य को अभिमानादि घेर लेता है क्योंकि भर्तृहरि जी ने लिखा है—"जब मैं यों ही थोड़ा-बहुत समझने-बूझने लगा था तब हाथी की नाईं मदांध (अभिमान और मदजल सेवक) हो गया था और यही समझता था कि मैं सर्वज्ञ हूं पर जैसे-जैसे मुझे पण्डित लोगों के संसर्ग से थोड़ा-थोड़ा ज्ञान प्राप्त होता गया वैसे-वैसे मुझे विश्वास होता गया कि मैं मूर्ख हूं।" इसी प्रकार का बल धनादि विषयक भी अभिमान है।

४. व्यक्ति विशेष में जो यथार्थ गुण हैं उनके विषय में यथायोग्य गर्व धारण करने से मनुष्य सर्वथा दोष-पात्र नहीं होता। इसके लिए उदाहरण लीजिए—प्रत्येक मनुष्य जो अपनी आय के अनुसार वस्त्रादि धारण करता है उसे कोई अभिमानी नहीं कहता। महाराज अपने सामर्थ्य के अनुसार ठाट से सब काम करते हैं। इससे उनकी प्रशंसा ही होती है। पण्डितराज जगन्नाथ, मिल्टर, वर्ड्सवर्थ आदि कवियों की गर्वोक्ति पर रसिकजन न्यौछावर हो जाते हैं। अच्छी बात यह है कि जब कोई किसी को व्यर्थ में दबाना चाहे तब उसे उचित है कि उसके अज्ञान एवं दुराग्रहजन्य दूषणों का खण्डन कर अपनी साभिमान रक्षा करे। ऐसा करने से उसकी निज की भलाई होवे-हीगी। इसके अतिरिक्त जग के और भी बड़े-बड़े उपकार होंगे।

सम्पत्ति का उपभोग शीर्षक चौथे निबंध में पहले यह बात दिखलायी गई है कि धन अनर्थ का मूल है। इसके लिए मनुष्य अत्यन्त नीच काम करता है। वह धन पाकर विषयासक्त हो जाता है और बड़ी भारी आपत्ति में फंसता है। अतएव बुद्धिमान् पुरुष अपने को इसके फेर में डालते नहीं, इत्यादि इस वर्णन के अनन्तर सिद्धान्त यह किया गया है कि मनुष्य कैसा ही परमतत्त्ववेत्ता क्यों न हो पर क्षुधादि की शान्ति के उपाय की शरण लिए बिना उसका काम नहीं चलता अथवा दरिद्र पुरुष को सब तुच्छ समझते हैं और धनिक उस पर अत्याचार करते हैं, इत्यादि बातों को विचार कर मीमांसक कहते हैं कि न्याय से धन उपार्जित करना चाहिए और उसे अच्छे काम में व्यय करना चाहिए। यही धन की यथार्थ शोभा है। इस निबन्ध में मूल लेखक ने विलायती वस्तुओं पर लट्टू होने वालों को खूब फटकारा है।

वक्तृता शीर्षक पांचवें प्रबन्ध में निम्नलिखित अर्थ का एक श्लोक प्रारम्भ में लिखा हुआ है—

"सभा में उपस्थित हो वक्ता को ऐसी वक्तृता देनी चाहिए कि जिसे सुनकर श्रोताओं के अन्तःकरण प्रसन्न हों। कर्ण वचनमाधुरी से भर जायँ, नेत्र आश्चर्य्य से विकसित हों तथा क्षुधा, निद्रा, श्रम, दुःख और समय का ज्ञान न रहे। अन्य सब कामों की विस्मृति हो, बराबर वक्रता सुनने के लिए उनका चित्त उत्कण्ठित होता रहे और उसकी समाप्ति पर उन्हें शोक हो।"

१. वक्तृता का आदि पीठ, जो ग्रीस देश है वहां उत्पन्न हो इसका प्रसार कैसे हुआ? वहां इसने कहां लो उन्नति-लाभ किया और वहां से अन्य देशों में इसका प्रचार कैसे हुआ और इसका उत्कर्ष कहां तक हुआ।

२. हमारे देश में यह वर्त्तमान रूप से थी वा नहीं आदि का निरूपण।

३. वक्तृता की उन्नति के लिए सम्प्रति जिन उपायों की शरण ली जाती है उनकी आलोचना।

उक्त विषय की विवेचना कर वक्ता के आवश्यक गुणों का निरूपण, वक्तृता-जनित उपयोगितादिक की मीमांसा आदि।

इस निबंध में वक्तृता विषयक बातों का विचार उक्त रीति से चार भागों में बांटकर किया गया है।

इसके सभी निबन्ध अत्युत्तम हैं। उनमें से एक भी निन्दा-भाजन नहीं जान पड़ता।

३. दोष

इस ग्रन्थ की भाषा कुछ कठिन हो गयी है। कहीं-कहीं व्याकरण की भी अशुद्धियां हैं। पुनरुक्ति बहुत है अथवा ग्रन्थकार की ऐसी शैली है कि गूढ़ बात दुहरा भी जाती है। जया और इला से कुछ अंश उद्धृत करके प्रथम निवन्ध में लिखे गये हैं, वे दोषों के भण्डार हैं। इसमें 'चन्द्रकान्ता' की एक स्थान में प्रशंसा है, वह भी ठीक नहीं, इत्यादि।

स्वतन्त्र सम्मति—ऐसा ग्रन्थ हिन्दी में एक भी नहीं है। अभी बनने की सम्भावना भी नहीं है। जो विद्वान हिन्दीरसिक हैं उन्हें सौ काम छोड़कर यह ग्रन्थ पढ़ना चाहिए। हिन्दी-लेखकों के लिए कोई पुरस्कार यदि नियत होता, तो अग्निहोत्री जी सबसे अधिक उसके योग्य समझे जाते। हिन्दी बोलनेवाले अपनी भाषा को यदि कुछ समझते तो पचासों संस्करण इसके हुए होते। अन्त में अग्निहोत्री जी और मुंशी नवल-किशोर (लखनऊ) प्रेस के अध्यक्ष अनाथा हिन्दी की ओर से धन्यवाद के पात्र हैं जिनके प्रयत्न से यह असहाया कुछ-न-कुछ ससहाया हुई है।

सूचना—इसमें अस्मच्छब्द का एकवचन आलोचक का और बहुवचन ग्रन्थ-कार का है।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : जून-जुलाई, १९०३ ई०]

किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यास

(१) अब तक हम यही जानते थे कि पवित्र दम्पति-प्रेम के उन चित्रों को, जिनका पर्दा लज्जा के मारे, पवित्रता के ख्याल से कोई मनुष्य वा लेखनी नहीं उघाड़ सकती, सरे बाज़ार रखने में पं० किशोरीलाल गोस्वामी revel करते हैं, मज़े लूटते हैं, किन्तु अब मालूम हुआ कि बलात्कार, पाशविक दुराचार, हत्याकाण्ड विदूषण प्रभृति के उद्वेग-जनक चित्रों में भी वह अधिक रुचि से wallow करते हैं !! लीलावती, लाडली और तारा की लज्जा यों उघाड़ी जाकर सही भी जा सकती थी, क्योंकि उसका उघाड़ना पवित्रता से सुवासित था, किन्तु देखते हैं, गोस्वामीजी को गन्दे चित्र उघाड़ने में भी मज़ा आता है। कलावती की गन्दी अठखेलियां खाली लीलावती के मुकाबिले के लिए ही नहीं बताई गईं, किन्तु उनके लेखक की रुचि झलकती है। जहानआरा और रोशनआरा का कल्पित व्यभिचार इसलिए नहीं लिखा गया कि उससे तारा के पवित्र चरित्र पर छाया पड़े, किन्तु इसलिए कि लेखक को इन वर्णनों में मज़ा आता है !! यों ही चपला को नंगे करने की कोई dramatic necessity न थी, कि उसके बिना नाटक ही अधूरा रह जाता। चपला को बाल बराबर बचाकर गोस्वामीजी रेनाल्ड की उस घृणित चतुराई की नकल (भद्दी नकल) कर रहे हैं जिसने Mary Price को कई दफ़ा पूरे सर्वनाश से बचा दिया। सम्भव है कि गोस्वामी जी इसी राह पर चलने Rosa Lambert की नकल करने की बहादुरी लूटकर हिन्दी-साहित्य को गन्दा करें और लीलावती की बहन का हाल देने की उनने प्रतिज्ञा भी की है। एक धर्माचार्य की लेखिनी से—उस लेखिनी से जो जुबिली का अभिनन्दन देती बेर किसी वैष्णव समाज के प्रेसीडेन्ट की कलम बन जाती है—ऐसी घटनाएं निकलना हिन्दुओं के लिये, हिन्दी के लिये और साहित्यमात्र के लिये लज्जा की बात है ! जिन दिनों आजकल की ऐयारी की तरह Knight-hood का खब्त यूरोप को बरबाद कर रहा था, पादरी लोग उस स्रोत को रोकने के लिए उसके विरुद्ध धर्मात्माओं के चरित्राङ्कन करते थे ! क्या हमारे गोस्वामी जी पवित्र चरित्र लिख ही नहीं सकते ? क्या हिन्दी ऐसे कायरों की भाषा हो गई है जो मरे बादशाहों की बालाओं पर सच्चे-झूंठे कलंक मढ़ने और अबलाओं के कुछ कम धर्मनाश की कहानियां ही सुना करें ? हमारा स्वर नक्कारखाने में तूती की आवाज़ की तरह भले ही सुना न जाय, किन्तु हम अपना कर्त्तव्य समझते हैं कि हिन्दी-पाठकों को इन प्रपञ्चों के विरुद्ध अपील करें। इनके पक्षपाती कह सकते हैं कि अन्त में सच्चे का बोलबाला दिखाकर हम उपदेश करते हैं, किन्तु इसमें बड़ी भूल है, पुस्तकें आजकल जो काम कर रही हैं वह बड़ा भारी है। जगद्गुरु गद्दी के स्वामी का जितना बल नहीं है उससे अधिक बल से पुस्तकें उपदेश कर सकती हैं। उदाहरण का फल भी बड़ा संक्रामक है। सौ पीछे ९० पाठकों के जी पर तो घटना बढ़ते ही वज्रलेप हो जाती है और वे परिणाम को नहीं देखते। मनुष्य की पापश्रवण-प्रकृति परिणाम से शिक्षा न लेकर यह कहती है—"अमुक पापी का पराजय अमुक चूक से हुआ, हमें उससे बचना चाहिये।" अन्त की दो पंक्तियों में दौड़े-दौड़े पापी को मारने और बीच के अध्यायों में पाप-कथा लिखने का फल कब अच्छा होगा ? बीमारी का हाल जानना ही रोग है, बीमार ही रोग के वर्णन में रीझते

हैं। पाप के मार्गों का जानना ही बुरा है, उन रहस्यों से परिचय होना ही पाप है। "मुख्यस्तू पाय एतेषां निदानं परिवर्जनम्" इलाज से रोकना अच्छा है। पोप कवि ने खूब कहा है—

दुस्कर्म हैं एक महापिशाच,
कुरूप है ताकहं सर्व गात।
निहारते मात्र घृणा अवश्य,
अत्यन्त ते ही करते मनूष्य।
देखें जु ताको हम बारबारा,
तद्रूप से ह्वै परिचै हमारा।
सहन करें तत्स्थिति को दया से,
सप्रेम आलिंगन दें हिया से।

—Pope's Essay on Mars

गोस्वामीजी के ग्रन्थ सभ्यसमाज में कदापि अमर नहीं हो सकते, यदि वे इस रीति का यों ही अनुसरण करते रहें।

तारा उपन्यास में स्थूल भूलें ही बहुत हैं। नायिका तारा बिचारी अबोध बालिका है जो बात-बात में रम्भा के हाथ की गुड़िया बनी है। रम्भा के प्रौढ़ छलों में जिस भोलेपन से वह मिल गई है वही असम्भव और सन्देहजनक है। इस 'आओ बैल मुझे मारो' ढंग से म्लेच्छों में कूदना नई बात है। और फिर इस भोली कन्या से रसीले कवि ने वह पक्की चिट्ठी लिखाई है कि वाह !

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : अगस्त, १९०३ ई०]

(२) 'समालोचक' होना सहज कथा नहीं है। जौन्सन साहब की कुर्सी पर बैठना कठिन कार्य है। समालोचक का चित्त उदार और माथा विद्या-बुद्धि का आगार चाहिये।

—बिहारबन्धु : १५।८।०३

गत बार पं० किशोरीलाल गोस्वामी जी के उपन्यासों पर जो नोट लिखा गया था उसमें एक भूल रह गई है। चपला की लज्जा नहीं बेची गई है, किन्तु उसकी बहन सौदामिनी और कामिनी का सतीत्व गन्दी तरह खतरे में लाया गया है। अब हम चपला के प्रकाशित दो भागों के चरित्रों की समीक्षा में कुछ लिखने में समर्थ हैं।

प्रथम तो यही पूछना है कि उपन्यास का नाम 'चपला' क्यों रक्खा गया? चपला के विवाह की रात को उसका वर लापता हो गया और जब उस कुटुम्ब पर आपत्ति आई तो कोई चपला को उड़ा ले गया ! बस, इसके सिवाय चपला का उपन्यास के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। दो भागों तक प्रधान नायिका background नेपथ्य में रखी गयी है, आगे भी हमें यह आशा नहीं होती कि दो भागों में गोस्वामी जी उसी-

उसी की बात कहेंगे। और भी तो कई झमेले सुलझाने हैं। हां, उपन्यासों की नायिकाओं के लिये गोस्वामी जी ने नये नियम बनाये हों, तो क्या कहना !

अब, दुर्भाग्य के मारे शंकरप्रसाद और योगमाया को छोड़कर बाकी चरित्रों को तो जरा तोल देखिये।

हरप्रसाद : शंकरप्रसाद का ज्येष्ठ पुत्र, भला और योग्य, भाई की नौकरी लगवाता है, किन्तु उस पर नोट चुराने का कलंक वा सन्देह होता है। बड़ा ही गम्भीर है, कर्ज़दारों को नहीं गिनता, किन्तु घर पर आपत्ति का पहाड़ टूटते ही सती स्त्री (जिस से वह कई बातें छिपा रहा था) और अनाथ बहनों को छोड़ भागता है। कैसा असम्बद्ध चरित्र है !

शिवप्रसाद : भाई की भक्ति से, उस पर नोट की चोरी का सन्देह होने पर भी, स्वयं आपत्ति ओढ़ता है, और इस निःस्वार्थता के कारण जेल जाता है !!

मालती : हरिप्रसाद की स्त्री आदर्श हिन्दू रमणी, पति को देवता मानकर विश्वास करने वाली। अपना गहना कील-कील बेच देती है, अनाथ ननदों को सम्भालती है, किन्तु पति का विश्वास नहीं पाती और क्षय रोग से पीड़ित होती है।

सौदामिनी : बालविधवा ननद शोहदों के द्वारा छेड़ी जाती है, चाचा के द्वारा बेइज्जत होती-होती बचती है, सत्यानाश करने वाले श्रीनाथ और कमलकिशोर को चकमा देकर भागती है।

कामिनी : राक्षसी कन्या होने के कारण कुमारी। हरिनाथ के अंगप्रत्यङ्गचुम्बन को सहन करती है और श्रीनाथ कमलकिशोर के द्वारा नंगी की जाकर दैवी कला ही से हरिनाथ के द्वारा बचाई जाती है !

हरिनाथ : एक good for nothing निखट्टू, सिड़ी, धनी आदमी जिनके हृदय में दया है, किन्तु असभ्य देह में छिपी हुई। सन्देह होता है, उनकी दया स्वाभाविक न थी, किन्तु कामिनी के अंगप्रत्यंगचुम्बन के खरीदने का उपाय था क्योंकि वे एक ब्राह्मण को लत्ताप्रहार कर चुके हैं। वे बड़ी पैरवी करते हैं असहाय कुटुम्ब के ईश्वर हैं, किन्तु सिड़ी की तरह विलायत भागते हैं। कामिनी को पाशविक अत्याचार से बचाते हैं।

श्रीनाथ : दुराचारी, लम्पट, नरपशु।

नवलकिशोर : नरपिशाच, उसका मित्र, तथैव च।

रमानाथ : शराबी, भ्रष्ट।

गुलाब : रमानाथ की स्त्री, रमानाथ के व्यभिचार का बदला लेने के लिए नौकर कमीने संभू से फंसती है। (सबसे गंदा अंश)

चमेली : गुलाब की ननद। दुराचारिणी, नेहर में रहकर बिगड़ी हुई, पति का स्पर्श उसे कांटे-सा मालूम होता है। योग्य पति को छोड़, औरस पुत्र को फेंक, एक शोहदे के साथ उड़ जाती है, जो उसका रेल ही में सर्वनाश कर देता है।

मदनमोहन : चमेली के पति। योग्य दयावान् किन्तु उनको गृहस्थ सुख नहीं है, घर छोड़ कर भागते हैं।
(उनकी बहन उनको चाहती है ! ! ! !)

ललिता : मदनमोहन की सम्बन्ध में बहन, किन्तु उसको अपना हृदय अर्पण कर चुकी है।

बुधिया की मा : स्वामिभक्त किन्तु वाचाल।

अब हम सबसे पूछते हैं कि इन चरित्रों में क्या कोई एक भी ऐसा है जिससे हमारे हृदय को आमोद मिले, जिससे मन प्राण ऊंचा उठे, जिनको दिखाकर गोस्वामी जी अपने कर्त्तव्य के अनुसार हमारे से मोरी के रेंगते कीड़ों को उन्नत करें ? कोई भी नहीं। हां, दो तो रह ही गए—

कादम्बिनी : भोलीभाली, शायद हत्यारे को प्रेम करती है।

ब्रजकिशोर : उदार राजा का पुत्र, किन्तु शायद नरहत्या करने वाला।

हरप्रसाद एकान्तवासी होता है, मदनमोहन पिशाचिनी स्त्री से जोड़े जाकर भागते हैं, सती मालती मरी जाती है, विधवा सौदामिनी को दो दफ़ा ईश्वर बचाता है। यह क्या लीला है ? यह क्या ग्रन्थकार का कर्त्तव्य-पालन है ? एक भी चरित्र ऐसा नहीं है जिस पर हमारी नज़र टिके, जिसके सुवास में हम श्रीनाथ प्रभृति की दुर्गन्ध से अपना पिण्ड छुड़ावें।

गुलाब का लम्प बुझाकर संभू को अपने पास लिटाना, बटुकप्रसाद का चकमा, चमेली का रेल में सर्वनाश, कामिनी का नंगा किया जाना, ये चित्र बड़े ही गन्दे हैं। इनसे कौनसा Inspiration होता है ?

हां, क्या गोस्वामी जी यों चलते-चलते चारों बहनों को बचा देंगे, वा Re-quoted की तरह एक को किसी की खानगी बनाकर मानेंगे।

गोसाईं जी ने एक टन्टा और छेड़ा है, ललिता का अपने भाई से प्रेम। यहां वह सब broken heart वग़ैर बातहें आ जाएंगी।

एक और मज़ा देखिये—संसार का सबसे बड़ा जो रहस्य है, जिस तत्त्व पर ही ईश्वरवाद की जड़ है, उस 'यतो वाचो निवर्तन्ते' विषय पर, अर्थात् पापपुण्य का बदला यहां क्यों नहीं मिलता, इसपर गोस्वामी जी एक जगह कहकहा लगाते हैं।

किन्तु हा ! अजब संसार की रीति है ! जिन लोगों का धर्म और ईश्वर पर इतना अचल विश्वास है वे क्यों इतना दुःख उठाते हैं, इसका मर्म कुछ समझ में नहीं आता (चपला, भाग २, पृष्ठ ४५)। चपला के अभी दो भाग और निकलने हैं, और हमें उनके बारे में बहुत कुछ कहना पड़ेगा क्योंकि भारतेन्दु के नाटक की तरह गोस्वामी जी एक उपन्यास का ग्रन्थ लिखने वाले हैं ! !

गोस्वामी जी महाराज से हमारा निवेदन है कि वे बुरा न मानें। हम जो कहते हैं सो उनके ग्रन्थ पर, उनके लिए हमें आदर है। जब वह गम्भीर लेख लिखते हैं तो वैसा लिखने वाले बहुत थोड़े मिलते हैं। किन्तु पाठको ! जिस कलम से लंका, कलिंग-

राज्य और गंगावतरण निकले थे, उसी कलम से यह सब निकलता देखकर हम कहते हैं—भली सूरत को छुपाते हो, बुरा करते हो !

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : सितम्बर, १९०३ ई०]

साधु संन्यासी

लाहौर के प्रौफेसर ओमेन ने इस विषय पर एक ग्रन्थ लिखा है। पश्चिम में साधुत्व वा वैराग्य किसी काल में था, किन्तु भारतवर्ष में यह अस्थिज्वर की तरह जम गया है। इसका कारण यहां का जलवायु, मांस न खाना और जन्म से जाति मानने की प्रथा बताई गई है जिससे हिन्दू जाति भर का उत्साह लंगड़ा हो गया है। राजनैतिक परवशता के कारण से भी भारत में सदा से साधु हैं। विदेशी चाहे उन्हें देखकर घृणा करें, किन्तु वे प्राची के चिह्न स्वरूप हैं। पाश्चात्य, हीरे-मोती वाले राजाओं को ही भारतवर्ष का आदर्श मानें, किन्तु साधु-फकीर वा साध्वी ही भारतवर्ष के सच्चे आदर्श हैं और उनका यहां बड़ा आदर और प्रभाव है। अवश्य ही इनके होने से देश की उत्पादक शक्ति का विनाश करके मुफ्तखोरों की संख्या बढ़ती है, किन्तु यह शान्ति का आदर्श भारतवर्ष की जड़ तक गया है और पश्चिमी शिक्षा के प्रभाव से मिट नहीं सकता। यद्यपि साधुत्व अच्छी बात नहीं है किन्तु क्या अमेरिका का हाय टका, हाय टका अच्छी बात है ? अतएव ग्रन्थकार को आशा है कि भारतवासी देह और मन की शक्ति से यूरोप के जीवन के अनुकरण में असमर्थ होकर इस शान्त, लघु भोजनी साधुत्व को न छोड़ेंगे (जिससे विदेशियों को यहां काम करने की किसी प्रकार की रुकावट नहीं मिले)।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : अक्तूबर-नवम्बर, १९०३ ई०]

ग्लैडष्टोन का जीवन-चरित्र

जान मार्ले नामक विद्वान ने सुप्रसिद्ध राजनीति-विशारद **ग्लैडष्टोन का जीवनचरित्र** लिखा है। वह तीन जिल्दों में २००० से अधिक सूक्ष्म टाइप के पृष्ठों में छपा है और उस में दो तीन लाख ग्रन्थ, लेख, प्रभृति की सहायता ली गई है। मार्ले साहब ने बड़ा ही परिश्रम किया है। धन्य ! धन्य !! धन्य !!!

*

प्रवासी की शारदीय संख्या में गुजराती साहित्य पर एक बहुत अच्छा लेख है। बंगालियों को पंजाब के शीत प्रान्त में उपनिवेश बनाने का परामर्श दिया गया है। धन्य है सम्पादक को जिनने हिन्दी भाषा के सामयिक पत्रों पर कुछ लिखा। अनुवाद की आज्ञा लेने में बड़ी कठिनाइयां पड़ती हैं इनसे कई लोग बिना आज्ञा ही लिखना स्वीकार करते हैं। अवश्य ही यह लज्जा की बात है।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : अक्तूबर-नवम्बर, १९०३ ई०]

छपी हुई व्यवस्था

काशी से पण्डित केशव स्वामी ने हमारे पास एक छपी हुई व्यवस्था भेजी है। इसमें आपस्तंब मदनरत्न के एक-एक वाक्य के सहारे से सिद्ध किया गया है कि जो द्विजाति उपनयन-संस्कार न होने से व्रात्य हो गए हैं, वे व्रात्यस्तोम के बजाय द्वादशवर्ष ब्रह्मचर्य महाव्रत वा उसका अनुकल्प ३६० गोदान करके पुनः संस्कार करा सकते हैं। इस पर काशी वर्द्धमान, दरभंगा और बूंदी के कई पण्डितों के हस्ताक्षर हैं। प्रायः वर्ष भर होता आया, यही व्यवस्था 'प्रति सम्मति पांच रुपया दक्षिणा' के साथ जयपुर के पण्डितों के पास भी आयी थी, किन्तु उनने इस पर सम्मति न मालूम क्यों न की। अच्छी बात है, यदि सुगम उपायों से भी व्रात्यों को उपनीत करने में ब्राह्मण समर्थ रहें। अन्त में लिखा है कि "इन दिनों व्यवस्था को भी लोगों ने जीविका बना रक्खा है, इस हेतु यह छपाई जाती है।" यदि इसके छपाने से (औरों को दक्षिणा से वंचित न करके) व्यवस्था को जीविका बनाना लोगों ने छोड़ दिया है तो ब्राह्मण-कुल का और काशी के कोविदों का गौरव ही है।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : अक्तूबर-नवम्बर, १९०३ ई०]

केनो

"हवाई नाव दी एलेक्ट्रिक एयर—**केनो** नामक अंगरेजी उपन्यास : बाबू गंगाप्रसाद गुप्त अनुवादित।"[1] भारतजीवन, ९६ पृष्ठ, चार आने।

पाम्प और वार्ने नामक नौकरों के साथ, बिजली की हवाई नाव पर सवार होकर, जूम हीरों की घाटी को जाता है। राह में गुब्बारे को बचाकर, बिजली से एक शेर को वश कर, जंगलियों का धन्यवाद लेकर, वे पानी के लिए उतरते हैं और अजदहों द्वारा नष्ट होने से शिकारियों के आक्रमण से बचाए जाते हैं। हीरों की घाटी में गुरिल्लों से लड़ना, जंगलियों के दंगे में आकर उन्हें दगा देना, दो जंगली जातियों का लड़कर हीरों की घाटी को बहा देना, और हमारी पार्टी का थोड़े से हीरों में सन्तुष्ट होकर लौटना बताया गया है। राह में गुब्बारा टूट जाता है और वे कठिनाई से घर पहुंचते हैं।

कहानी अच्छी है। सरल भाषा में कही गई है। अमेरिका वाले डींगें मारने में बड़े निपुण होते हैं, किन्तु घटना उतनी असम्भव नहीं है।

प्रथम पृष्ठ में "कहानी दक्षिण अमेरिका देश की है।···रीड्स टाउन" कह कर रीड्स टाउन दक्षिण अमेरिका में बताया जान पड़ता है। पृ० २ में ब्रेजिल (अफ्रिका) लिखा है किन्तु (पृष्ठ ११) 'दक्षिण में' मैक्सिको की खाड़ी (कहां से ?) वेन्जुला प्रभृति

१. अन्वय क्या हैं ?

से और पृष्ठ १७ से मालूम होता है कि वे उत्तरी अमेरिका से चले हैं और घटना दक्षिण अमेरिका में हुई है। यह तिलिस्म तो है ही नहीं कि मन में आया सो बक दिया। भाषा के कुछ नमूने यों ही चुनकर रख दिये जाते हैं—आश्चर्यप्रद चीज़ (२), हर एक कलों में (३), पहिया चर्चराकर घूमने लगी (४), चिड़िये की तरह (४), घातक लड़ाई (५), लुक्क की तरह (?) (६), सांघातक चीता नाखून और दन्तरहित हो गया (२८), चिडियां चुहचुहा रही थीं (३२), गुरिल्ले ने अपने निर्जीव प्रतिद्वंदी को अपने से बलिष्ट पाया (५१), गली सर्दार (६०), उद्योगे सफलः कार्यः (७०) इत्यादि। कहीं-कहीं खिचड़ी भी है।

पृष्ठ ५८ "पहचान लिया कि ये खोपड़ियां ककेशिया देश के लोगों की हैं।" अनुवादकर्त्ता मूल को (जहां Caucasians होगा) नहीं समझे। मजूटे प्रभृति अमेरिकन नस्ल के हैं, यूरोपीय एशियायी काकेशस गिरि से जाने के कारण 'काकेशियन' कहाते हैं। उनकी नस्ल भिन्न होने के कारण यों लिखा गया है, न कि 'ककेशिया' कोई देश है जिसका वहां सम्बन्ध हो।

अनुवादकर्त्ता इस उपन्यास को बहुत काम का बना देते यदि पिकारी प्रभृति जन्तुओं का सूक्ष्म वर्णन, बिजली की शक्ति के उपाय प्रभृति लिखकर 'खेल में सिखाना' शुरू करते।

घड़ों (पृ० ३५) और बिजली की सन्सनाहट का हाल कुछ बढ़ा देना था। बिजली का विचित्र प्रभाव (पृष्ठ २७) कुछ अतिरंजित जान पड़ता है। बिजली का current जाने से convulsion होकर muscles रुक जाते हैं, मृत्यु हो सकती है, किन्तु condcutor कैंची से बेहोशी में नख कैसे काटे गए। किन्तु यह बात मूल की है, अनुवादकर्त्ता को कुछ नहीं कहना चाहिए। जिनने कि कदाचित् सारानुवाद ही किया है।

तिलिस्म की निर्जीव कथाओं के पढ़ने की अपेक्षा इन विचित्र उपन्यासों के पाठ से, विचित्र घटना जानने के सिवाय, यूरोपीय जातियों के साहस, उत्साह, अन्वेषण प्रभृति के जानने से हमारे मृत समाज की नसों में नई शक्ति प्रविष्ट हो सकती है। मान लीजिए कि यह यात्रा हवाई नाव में नहीं हुई, किन्तु ऐसी यात्राएं बैलून पर, रेल पर, नाव पर वा पैदल, ऐसे ही फलों के लिए होती हैं।

पत्रों ने बाबू गंगाप्रसाद गुप्त को होनहार नवयुवक लिखा है। उन्हें उचित है कि तिलिस्म में अपनी कलम को न बिगाड़ कर 'बैलून में चार मास' आर्टिक अन्टार्टिक समुद्रों की खोज, उत्तर दक्षिण ध्रुवों की खोज, समुद्र के नीचे ४०००० फुट, प्रभृति विषयों के ग्रन्थ लिखना शुरू करें। यह सब इतिहास होने पर भी उपन्यासों से कम रोचक नहीं हैं। उसके बाद जीव, जन्तु, तरु, पत्र प्रभृति प्रकृति की सुन्दरता का वर्णन करके हिन्दी पाठकों को सच्ची विचित्र बातों में प्रेम कराया जाय। तब पाठकों की रुचि उपन्यासों से हटकर वैज्ञानिक वृत्तान्त और ग्रन्थों पर आ जाएगी।

[**प्रथम प्रकाशन : समालोचक : अक्तूबर-नवम्बर, १९०३ ई०**]

कालनिर्णय

कालनिर्णय—श्रीनारायण पांडे बी० ए०, मुजफ्फरपुर रचित, पृष्ठ ४०, तीन आने।

यह वही ग्रन्थ है जो समाचारपत्रों में पं० नारायण पांडे और बाबू अयोध्याप्रसाद में परस्पर लड़ाई का कारण कहा गया है। बिचारा ग्रंथ वास्तव में इस लड़ाई से निर्दोष है। पृथ्वी पर सब स्थानों में सूर्योदय, मध्याह्न वा सूर्यास्त एक साथ नहीं होता। इससे एक जगह का समय दूसरी जगह के समय से भिन्न होता है। इस ग्रन्थ में प्रायः ५५० नगरों के देशान्तरमान की सारणी दी गई है और उससे किसी एक स्थान का समय जानने से दूसरे स्थान का समय जानने की रीति अच्छी तरह समझाई गई है। देशान्तरमान पटने से किया गया है, यह बात नई किन्तु अनावश्यक है। पांडे जी का परिश्रम अच्छा है और उन्हें उचित है कि ऐसे सर्वोपयोगी वैज्ञानिक लेख लिखें। भाषा सरल है।

रही पांडे जी और बाबू साहब के झगड़े की बात, सो प्राइवेट होने के कारण हमें उससे कोई मतलब नहीं। किन्तु कहा जाता है कि यह समालोचना के कारण हुई है अतएव हमने इस बारे में कुछ कागज़ पढ़े। हम तो यह समझे—

बाबूसाहब—मेरी समालोचना से चिढ़कर पांडे जी ने हमारी भौजाई-भतीजे को बहकाकर मुकद्दमा चलाया।

पांडे जी महाराज—कालनिर्णय छपने से वर्ष भर पहले से बाबू साहब मेरी और मेरे भाई की बेइज्जती पर उतारू थे। उनने इन्सपेक्टर को मेरा डिप्लोमा छीनने के लिए लिखा। दो बार मेरे भाई पर फौजदारी दायर की जो झूंठी सिद्ध हुई। स्वभाव इनका बहुत रूखा है। 'कालनिर्णय' प्रकाशित होने के दो दिन पूर्व ही इनके दीन भतीजे ने जज साहब से अपनी दुर्दशा कही और मुकद्दमा चला। मेरे भाई ने उसमें गवाही मात्र दी। हमारा इससे कोई सम्बन्ध नहीं।

बाबू साहब—१४ सितम्बर को फिर मुझ पर झूठा मुकद्दमा दायर कराया गया।

पांडे जी—इससे भी हमारा कोई सम्बन्ध नहीं।

सब लोग समझ जायं, इससे हमने इनकी बातों को संवाद रूप में रक्खा है। वास्तव बात क्या है सो हम न तो जान सके और न कह सकते हैं किन्तु बाबू अयोध्याप्रसाद ने ता० २८ जुलाई १८९७ में जो 'कालनिर्णय' की समालोचना की है उसमें कुछ शब्द बढ़िया हैं, जैसे—"बी० ए० बबुआ का अरबी में उसी क़दर दखल है जिस क़दर जलजन्तु का खुश्की में"—"आप तो हिन्दुस्तान में रहते ही नहीं हैं···देशी मुर्गी विलायती बोल"। फिर 'प्रयाग समाचार' और 'वेंकटेश्वर' की रायों को छपाकर बाबू साहब ने बंटवाया है, उनके चौतरफ यह सुन्दर कविता लिखी है—

अधिक लंठता अब तक किये। कलम काम लाठी से लिये।
छोड़ो ये अनुचित व्यवहार। चलो तनिक सा होश सम्हार।।

लिखने की शक्ति नहीं आई। झूंठे बी० ए० डिगरी पाई।
नारायण करतूत विचार। धिक्कारे जग सौ सौ बार॥

उधर 'बिहारबन्धु' में बाबू साहब साफ-साफ 'कुसंग' कहकर सर्वसाधारण का मन फिराने का यत्न करते-मे दिखाई दुते हैं। ईश्वर जाने बात क्या है, किन्तु बाबू साहब का स्वभाव बहुत तेज़ है इसमें कोई सन्देह नहीं। यह तेज़ी समालोचना के पीछे अशिष्टता दिखाने वालों के कारण भी हो सकती है।

[प्रथम प्रकाशन : समालोचक : अक्तूवर-नवम्बर, १९०३ ई०]

प्राचीन हिंदी पोथियों की खोज-रिपोर्ट

Annual Report on the Search for Hindi Manuscripts for the year 1900 by Syam Sunder Das B. A.

(Government Press, Allahabad, 1903. Rs. 5.8 or 8s.)

सरकार (युक्त प्रदेश की) 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' को प्रति वर्ष ५००) प्राचीन हिन्दी पोथियों की खोज के लिए देती है। उस सहायता से सभा ने सन् १९०० में नया काम किया, इसकी रिपोर्ट, खोज के सुपरिन्टेन्डेन्ट बाबू श्यामसुन्दर दास बी० ए० की लिखी सरकार ने अब छपवाई है। इससे जान पड़ता है कि १६९ पोथियों की नोटिस की गई है, जिनमें १५७ पोथी ९० ग्रन्थकारों ने रची थीं। बाकी के कर्ताओं का पता नहीं। ज्ञात कर्त्ताओं में दो बारहवीं शताब्दी के, दो चौदहवीं, एक पन्द्रहवीं, बाईस, सोलवीं, अठारह-अठारह सत्रहवीं और बारह उन्नीसवीं शताब्दी के हैं। इस खोज से जो प्रधान बातें सिद्ध हुई, वे ये हैं—१. तुलसीदास जी की 'रामायण' की १६४४ की लिखी एक प्रति मिली, जिसके आधार से इण्डियन प्रेस का नयनाभिराम संस्करण हुआ है। २. मोलिक मुहम्मद जायसी के मुकाबले में शेख कुतबन की 'मृगावती' के मिलने से सिद्ध हुआ कि प्राचीन हिन्दी कविता में देवचरित्र युग ही नहीं, उपाख्यान युग भी था। रासो-युग (मारवाड़ी सदृश), उपाख्यान युग (जायसी और उर्दू से मिलता हुआ) और भक्ति-युग (बृज भाषा) की कई नई पोथियां मिली हैं। ३. चन्द बरदाई के रासो की कई प्रतियों और पृथ्वीराज के काल के पट्टों से उस भारतवर्ष के अन्तिम महाराज के समय-निर्णय की नई सामग्री मिली है। ४. 'बीसलदेव रासा' से बीसलदेव और विग्रहराज एक व्यक्ति नहीं थे, यह सिद्ध हुआ। बाबू साहब की भाषा बहुत सरस और और प्रांजल है, और इस रिपोर्ट के स्वर को देखकर पूरी आशा होती है कि वे अच्छे ऐन्टिक्वेरियन (पुरातत्त्ववित्) बन जायंगे। इस रिपोर्ट में लिखे कई ग्रन्थों को 'नागरी प्रचारिणी ग्रन्थमाला' में प्रकाशित करने का विचार है। विशेषतः पृथ्वीराज के काल-निर्णय में जो अनन्द सम्वत् वाली युक्ति दी गई है, उससे अन्तिम हिन्दू नरेश और प्रथम हिन्दी महाकवि के समय-निर्णय का मार्ग प्रायः निष्कण्टक ही हो गया है, और

तब तक ऐसा रहेगा जब तक रासो-कृत्रिमतावादी बाबू साहब के मत को खंडन न कर सकें। रासो और बीसलदेव के कालनिर्णय के लेख 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' में छप चुके हैं, और अंग्रेजी न जानने वाले इतिहास-प्रेमियों को वहीं से अवश्य पढ़ने चाहिए। सभा का का यह कार्य बड़ा लाभदायी है। और, आशा है कि सरकार की सहायता से १०-१२ वर्ष का काम झटपट होकर हिन्दी-साहित्य के 'इतिहास' लिखने की सामग्री मिल सके। जब प्राचीन राजपूतानी भाषाओं को भी हिन्दी का प्राचीन रूप गाना गया है, तो तिर्हुता और पुरानी बंगला की बृजभाषा सदृश कविताओं का अनुसंधान क्यों नहीं किया जाता जिससे कर्म-क्षेत्र का विस्तार हो? इस खोज में हम कोई दोष निकाल सकते हैं तो यही कि रिपोर्ट बड़ी देर से छपी है।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : जनवरी-फरवरी, १९०४ ई०]

चीन दर्पण

बैठकर सैर मुल्क की करनी, यह तमाशा किताब में देखा।[1]

जिस समय बोअर युद्ध के होते-होते 'टाइम्स' ने उसका प्रकाण्ड इतिहास प्रस्तुत किया उस समय हम चुप रहे। उर्दू में स्पेन की मुसलमान बादशाहत का हाल देखकर हमने नेत्र नीचे कर लिये किन्तु जब बंगला में ट्रान्सवाल युद्ध का वर्णन और पन्ना-नरेश की राज्यच्युति छपी, तो हम हाथ मल-मल के पछताने लगे और आँखें मल-मल के सोचने लगे कि जगत् का क्या होगा! चीन में गत बार जो वाक्सर-विद्रोह हुआ था, वह हमारे लिए अच्छा ही हुआ, क्योंकि वहां जाने से दो भारतवासियों ने हिन्दी भाषा को दो ग्रन्थ-रत्न उपहार देकर भाषा का कंकला मिटाया है। ठाकुर गदाधर सिंह ने 'चीन में तेरह मास' लिखा और डाक्टर महेन्द्रलाल गर्ग ने आँखों देख, कानों सुन और पुस्तकों में पढ़कर 'चीन दर्पण' लिखा। चीन की इस चर्चा के चतुर चितेरों ने बड़े चाव से अपने प्रवास का बदला अपनी जन्मभूमि और मातृभाषा को दिया, इसका हम उन्हें क्या प्रत्युपकार करें? अब भी कई भारतवासी विदेश-यात्रा करते हैं, किन्तु अपनी रिपोर्ट देना उचित होकर भी नया काम है। बंग देश के एक संन्यासी स्वर्गवासी रामानन्द भारती ने हिमालय और तिब्बत की यात्रा का अपूर्व विवरण 'साहित्य' में छपवाया था। वह द्वन्द्वातीत व्यक्ति एषणात्रय के त्याग में भी, अपनी मातृभाषा को न भूला और उसके पास "एक खानि क्षुद्र नोट बुक छिलेन।" हिन्दी बोलने वालों में साधु, संन्यासी, कनफटे, भिखमंगों के काफिले मौजूद हैं, किन्तु उन्हें मुफ्त की भीख डकारने और न देने वाले को गाली देने के सिवा काम ही क्या है? अस्तु।

'चीनदर्पण' वास्तव में चीनदर्पण है। इस ग्रन्थ के दोष हम पहले कह लें। छापे

---

१. चीनदर्पण, डाक्टर पण्डित महेन्द्रलाल गर्ग लिखित। उससे···नं० पल्टन झेलम के पते से प्राप्तव्य। पृ० २७९, मूल्य : १।) सुखसेचारक प्रेस, मथुरा।

की भूलें रह गई हैं और छपाई साफ नहीं हुई। ग्रन्थकार ने भूमिका में कहा है कि "मेरे मिलने वालों में अपढ़ लोगों की संख्या अधिक है इसीलिए इसकी भाषा सरल रक्खी है कि स्त्री और बच्चे तक समझ सकें।" उनका यह यत्न सफल न हुआ। 'खिजा के दिनों' (पृष्ठ १०) को कौन स्त्री और बच्चे समझेंगे? सक्त (१२), खपा (१४), मश्शाक (२१), जिल्लत (३२), तफावत (६५), परिश्तिश (५८), मखलूक (१८७), जवाल तनज्जुली (१६८) प्रभृति शब्दों को जो बालक और स्त्रियां समझ सकें वे उनके पर्यायों को पहले समझ सकते। एक आध जगह वाक्य-रचना भी साफ नहीं है। यथा—"हाकिम इखितियार को पाकर मगरूर और रैयत को दुःख देते थे।" (पृष्ठ २४०)

किन्तु इससे कोई यह न समझें कि हम इस ग्रन्थ की निन्दा कर रहे हैं। हम सब लोगों को इस ग्रन्थ के पढ़ने और संग्रह करने की सम्मति देते हैं। इसमें चीन के सब दर्शनीय स्थानों का वर्णन है, सब विलक्षण रीतियों का वर्णन है, वहां का पूरा इतिहास है और इतनी सामग्री है जिससे नेत्रों के सामने चीन का पूरा चित्र खिंच जाय। मनुष्य को मनुष्य का वृत्तान्त जानने की इच्छा होती है। चीनी केवल मनुष्य ही नहीं, हमारे परिचित हैं, सभ्यता में, रस्म-रिवाज में, धर्म में, हमारा उनसे मेल-जोल है। और अब गर्ग महाशय के ग्रन्थ ने हमारी उनसे मित्रता करा दी है। इस ग्रंथ के वर्णन का ढंग बहुत अच्छा है, भाषा सरल है और ऐसे वर्णनों का मुख्य गुण **संक्षेप** भी विद्यमान है। निर्जीव उपन्यासों के पढ़ने में जो आनन्द आता है उससे अधिक आनन्द इसे पढ़ने में होता है। इस रोचक पुस्तक को उपन्यासों के पढ़ने वाले भी पढ़ें, क्योंकि ऐसा आनन्द और कहीं मिलना कठिन है; गम्भीर लेखों के पढ़ने वाले भी पढ़ें क्योंकि ये सत्य घटनाएं, और तथ्य वृत्तान्त मनोरंजक ही नहीं; ज्ञानप्रद भी हैं। ग्रन्थकार को ऐसा उत्साह मिले जिससे वे ऐसे-ऐसे और भी नए ग्रन्थ लिखें।

[प्रथम प्रकाशन : समालोचक : जनवरी-फरवरी, १९०४ ई०]

भारतवर्ष का इतिहास

(मध्य हिन्दी। चित्र और छवि सहित। बंगाले के साधारण शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर स्विकृत, १९०२। चार आना)

जिस ग्रन्थ के टाइटल पेज पर इतनी अशुद्धियां विराजमान हैं उसे देखने की उत्कंठा को हम न रोक सके। सूची-पत्र से जाना कि इस ग्रन्थ में और और बिषयों के के सिवाय 'मुहम्मद गौरी', 'मुगुल शाहिनशाह', 'अकबर आजिम (महान्) और 'फ्रांसीसों (अः!) की अन्त्यम हार' का भी हाल है। स्पैलिङ तो शुरू हुआ। फिर "लार्ड कार्नबालिस और सर जान शोर दूसरा और तीसरा गवर्नर जनरल" वर्णित है वा हैं। नीचे "लार्ड मिंटो छटवां (छटा हुआ?) गबनर जनरल" लिखा है। आगे क्या है सो जरा देखें—"मारहट्ठों की ताकत टुटन" (बवजन फिटन?) फिर जाना जाता है कि इस ग्रन्थ रत्न में "म्युनिसिपलिटियें" और "देसी रियासितें" भी वर्णित हैं। नकशों में

अमुक-तमुक के "समय की बृटिश इंडिया" भी है। टाइटल के चौथे पेज ने कहा कि "ऊपर लिखे हुए पुस्तकें मैकमिलन एण्ड को० लि० ७ नं नया चीना बाजार ष्ट्रीट कलकत्ते में मिलते हैं।"

इस पुस्तक में हमने कई चित्र ऐसे देखे जैसे कभी नहीं दिखाई पड़े थे। इसके लिए प्रकाशकों को धन्यवाद है। किन्तु कुछ आदमियों के नाम हम न समझ सके। जैसे 'मानसिंघ', 'नुरजहां', 'गांव की सावधानता' (घास के बनाए एक ष्टेज पर कुछ आदमी बैठे हैं। पुस्तक कहती है कि यहां गांव की रक्षा के लिए बैठा—"मनुष्य द्वार पर की उड़ती हुई गर्द देखकर जान जाता था कि कोई लुटेरा आ रहा है" तो इस फिकरे का क्या अर्थ है? गांवकतृर्क सावधानता, वा गांव के लिए सावधानता?) शायद यह 'बिलेज आउटलुक' का तर्जुमा है! 'बाहादुरशाह', 'ड्यूप्ल', 'स्वार्ट क्लाइब' (रवसेआर्त्त?), 'शाह आलम दिवानी क्लाइब को दे रहा है' (वहां दीवानी 'दे रहा है' का कर्म है, वा शाह आलम वा क्लाइब का विशेषण), 'रघुवा' (महाराष्ट्र इस सज्जन को 'राघव' कहते हैं और अंग्रेज 'रघोवा'। इस ग्रन्थ ने तीसरा नाम बताया है) 'फरंनवीस' (क्या किसी फिजी द्वीप वासी का नाम है? इतिहास मे फड़नवीस तो हुए हैं) 'टीपु', 'ठग मंडलि', 'सत्ती' (कितना भत्ता मिला?) रंजीतासिंघ (पंजाब केसरी को दो घाव) 'डफरन'। चित्रों में भी यह स्पैलिङ की बहार हुई।

ग्रन्थ में कई जगह 'खांटी तरजुमा' (बङ्गालियों के अक्षरानुवाद' का नाम) विद्यमान है। ठीक जैसे मक्षिका स्थाने मक्षिका चिपकाई हो। आउटलुक की जगह 'सावधानता', 'मिडल बर्नाक्युलर' की जगह 'मध्य हिन्दी', 'जाइण्ट ईष्ट इण्डियन कम्पनी' की जगह 'मिली हुई पूर्वी हिन्दुस्तानी कम्पनी' तो पाठकों ने यहीं पढ़ा होगा। ये तर्जुमे ऐसे हैं जैसे कोई एलेगजैण्डर पैडलर का तर्जुमा सिकन्दर बिसाइती करै।

ग्रन्थकारों का नियम है कि जिन विषयों पर मतभेद हो वहां दोनों पक्षों का कथन दिया करते हैं! चाहे अपने मत को प्रधानता दिखावें, किन्तु विपक्ष मत को बिना दिये नहीं रहते। किन्तु वहां मानो हुक्म दिया जा रहा है कि आर्य मध्य एशिया से आए थे! विधवा स्त्रियां विवाह कर लिया करती थीं! उन हिन्दुस्तानी आर्यों के मूर्तियां न थीं!!! अब तक हिन्दू हनुमान को बड़ा बन्दर-देवता समझकर पूजते हैं। (पृ० ८)

प्रति पृष्ठ में स्पैलिङ की, भाषा की, भाव की गलती एक-न-एक मौजूद है। कयी (१८), इत्नी (१५), मस्हूर (१५), गलतियां है कि अपने यहां (३५), उनका चलन नहीं चाहिए।

"शाहजहांन् को उत्ना तुर्क नहीं कहना चाहिए जित्ना कि राजपूत" (२७-२८) नहीं समझे। लार्ड रिपन को देसी बहुत चाहते थे और वह भी इन पर बहुत मेहरबानी करता था (९०)।

क्या इससे यह ध्वनि निकलती है कि अंग्रेज उन्हें नहीं चाहते थे?

कुछ मुद्दत बाद कलकत्ते की गवर्नमेंट इण्डिया ने जब वह हाल सुना (पृ० ५७) भिन्न टाईप के अक्षरों का क्या अर्थ है? क्या ऊँट के मण्ड में भी न्यारी गवर्नमेन्ट इण्डिया है?

शिक्षा-विभाग को उचित है कि ऐसी पुस्तकों से किनारा करें, नहीं तो इन्हें सुधरवा लेवें।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : जनवरी-फरवरी, १६०४ ई०]

बाबू रामदीनसिंह की जीवनी

(जैनेन्द्रकिशोर लिखित, आरा नागरी प्रचारिणी सभा)

इस पुस्तक में हिन्दी के परम सहायक बाबू साहब का चित्र बहुत अच्छा है। जीवनी अति संक्षिप्त है। बिहारी सभा को बिहार के सर्वप्रधान हिन्दी हितैषी की ऐसी क्षुद्र जीवनी न लिखनी थी। रामदीनसिंह जी के सुयोग्य पुत्र इस कलंक को धोवें कि भारतेन्दु जी की जीवनी कई बरसों तक न निकालने के पाप के प्रायश्चित्त में उनके पिता की जीवनी भी नहीं निकलती। इस पुस्तक से हमें मालूम हुआ कि यह आरा की सभा वैद्यक भी करती है, क्योंकि उसने बाबू साहब के इलाज में जान (!) तक लड़ा डाली और नागरी प्रचारिणी सभाएं कमा खाने की (!) ठीकरा है, इस कारण से बाबू साहब की सहानुभूति उनसे हट गई थी। काशी की सभा से बाबू साहब की सहानुभूति कैसे हटी, यह सब जानते हैं और हमें बड़ा हर्ष हुआ कि आरा की सभा कमा खाने का ठीकरा नहीं है। कैसा ग्रामीण और अनर्गल कथन है ! क्या 'प्रणेतृ समालोचक गण' यों बड़ों को गाली दिया करेंगे ?

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : मार्च-अप्रैल, १६०४ ई०]

आरा नागरी प्रचारिणी सभा का द्वितीय वार्षिक विवरण

इस सभा की उचित क्रमोन्नति को देखकर हम बड़े प्रसन्न होते हैं सही, किन्तु कुछ बातें हमें पसन्द नहीं हैं। मैम्बर बढ़ रहे हैं, आर्थिक सहायता दृढ़ होती जाती है, बाबू सालिग्राम और पण्डित लक्ष्मीशंकर मिलाए गए हैं, यह सब अच्छी बातें हैं। सभा के आगे अच्छा भविष्य है। दिल्ली में हिन्दी की कान्फरेन्स करने के Quixotic बिलल्ले प्रस्ताव को नागरी प्रचारिणी सभा ने रोका, किन्तु आरा वाले अश्रुतपूर्व चार व्यक्तियों का नाम क्यों लेते हैं ? काशी की सभा ने मैकमिलन की पुस्तकों के शोधन का यत्न और उद्योग किया, तो आरावाले भी एक पत्र लिखकर पाँचवें सवार की टांग क्यों अड़ाते हैं ? सभा के नियत किए विषयों पर ही पदक क्यों देते हैं ? लेख-प्रणाली नई क्यों चलाते हैं ? उन्हें उचित है कि प्रच्छन्न रूप से सभा से प्रतियोगिता न करके या तो प्रादेशिक हित करें, वा बड़ी सभा के कार्य को शाखा बनाकर वा यों ही Supplement पूरित करें। यह संघर्ष हमें बिलकुल नापसन्द है। यों आरा न चलाकर मिलजुलकर काम करना चाहिए, जिसमें 'हितवार्ता' के शङ्खध्वनि लेखक को अज्ञान से "काशी की सभा आरा की सभा का अनुकरण करें" न कहना पड़े।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : मार्च-अप्रैल, १६०४ ई०]

जैनमत समीक्षा (आर्यसमाज, लाहौर)

इस ग्रन्थ से क्षुब्ध होकर स्थान-स्थान के जैनियों ने सरकार को प्रतिकार की प्रार्थना की है। क्या जैनी इतनी शताब्दियों में भी ब्राह्मणों की उस सहनशीलता को न सीखे जिससे वे 'शिर: श्वाका को वा द्रुपदतनयो वा स्पृशतृ: तत्' कह सकते और जिसे उनके प्रभु का 'वीतराग' नाम सूचित करता है ? सबसे बड़े असम्भव और करामात को मानना ईश्वर-वाद ही है, और स्वयं ईश्वरवादी होकर औरों को गाली देना कदापि अच्छा नहीं है। अवश्य ही अब ऐसे लोग नहीं होंगे जो किसी धर्म विशेष को ईश्वर का फेंका हुआ मानते हैं। धर्ममात्र मनुष्य के सर्वोच्च भाव हैं और सभी सच्चे और सभी झूंठे हैं। विशेष करके जैनधर्म को मद्यपान और मांसाहार के प्रचार के कारण कहकर कलंकित किया है। इन दो कर्मों से, सूर्य के नीचे, जैनों से अधिक दूर कोई कदाचित् ही हो। आजकल जब जातीय एकता की जरूरत है तो ऐसे ग्रंथों का निकलना कदापि हितकर नहीं है।

स्वामी दयानन्द जी की योग्यता की बात तो उनके साथ ही गई, किन्तु वर्तमान आर्य समाज की इस सब धर्मों की निन्दा की ऋणात्मक क्रिया से धनात्मक धर्म रह गया है, उसके विषय में कार्लाईल ने वाल्टेयर महाशय को जो वाक्य कहे हैं उन्हें उद्धृत करके हम इस पुस्तक की चर्चा को दूर करेंगे।

"चुप रहो, मान्यवर वाल्टेयर महाशय, अपनी मीठी बोली को बन्द कीजिए, क्योंकि जो काम आपके सुपुर्द था वह पूरा हो चुका मालूम पड़ता है। इस महान् या तुच्छ साध्य को आपने बहुत अच्छी तरह सिद्ध कर दिया है कि कृस्तानधर्म के पुराण इस समय वैसे नहीं मालूम देते जैसे छठी शताब्दी में मालूम होते थे। बस अब क्या आपके छै और तीस चौपेजी, और छै और तीस हजार चौपेजी और 'शतपेजी' कागजों की गड्डियां जो तब और पीछे उसी विषय पर लिखी गई हैं, हमको इतनी थोड़ी-सी बात समझाने को लिखी गईं ? किन्तु और क्या ? क्या आप हमें उस धर्म की देवीआत्मा को नए पुराण में, नए वाहन और वस्त्र में रखने में सहायता दे सकते हैं जिसमें हमारी आत्माएं, जो और तरह नष्ट होती हैं, बच जायं ? बस, क्या आप में वैसी शक्ति नहीं है ? जलाने को पलीता तो है ! किन्तु गढ़ने का हथौड़ा नहीं ? तो हमारे धन्यवाद लें, और अपने को यहां से दूर ले जावें।"

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : मार्च-अप्रैल, १९०४ ई०]

दो जीवन-चरित्र[1]

इन दोनों जीवन-चरित्रों को साथ लेने के कई कारण हैं, जिनमें सब से पहला यह है कि

१. कर्नल जेम्स टाड का जीवन चरित्र : गौरीशंकर हीराचन्द ओझा : खड्गविलास प्रेस, बांकीपुर। ४० पृष्ठ। मू० : चार आने।
भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का जीवन चरित : श्रीराधाकृष्ण दास। तारा प्रेस। स्वदेशवस्तु प्रचारक कम्पनी २१ नं० बुलानाला, काशी। १८७ पृष्ठ। मू० : छैआने।

दोनों ही हिन्दी-साहित्य के भूषण हैं। यदि 'कर्नल टाड कुलीन बिन क्षत्रिय यश क्षय होत' तो भारतेन्दु बिना हिन्दी क्या और कैसी होती इसकी कल्पना भी नहीं कर सकते। उदयपुर-दरबार से दोनों का प्रेम था। दोनों ने परिश्रम से भारतवर्ष की सेवा की और दोनों ने अल्पायु पाई। (टाड : १७८२-१८३५, ३६ वर्ष) (भारतेन्दु : १८५०-१८८५, ३५ वर्ष) यदि टाड साहब भारत संबंधी इतिहास के पिता हैं (पृ० ३९) तो भारतेन्दु ने हिन्दी को हरिश्चन्द्री ढाल में ढाला। इन दोनों ग्रन्थों में ही खंगबिलास' प्रेस की शिकायत है, भारतेन्दु जी की 'कला' को पूरी न करने की और जीवन-चरित्र बीस वर्ष तक न छापने की; और टाड के राजस्थान का अनुवाद न छापने की। किन्तु हमें यह लिखते हर्ष है कि स्वर्गीय रामदीनसिंह जी के पुत्र ने अपने पिता के इन दोनों कार्यों को पूरा करना विचारा है, और संकल्पमय भगवान् इस संकल्प को, हम अभागों के सम्बन्ध से तो नहीं, पर उन दो 'विभूतिमान्' जीवों के सम्बन्ध से पूरा करा देवें। दोनों ग्रन्थों के लेखक भी ऐसे कि जो अपने-अपने विषय के अधिकारी हैं, और जिनसे अच्छा लेखक, उस विषय का, नहीं मिलता। उदयपुर इतिहास कार्यालय के अध्यक्ष, और टाड की भूलों को पकड़ने वाले हिन्दुओं के टाड ओझाजी से अच्छा टाड-चरित्र और कौन लिखता ? भारतेन्दु जी की मण्डली के रत्नों में से बचे हुए बिरलों में उनके फुफेरे भाई से अच्छा उनका स्तुतिकर्त्ता कौन हो सकता ?

टाड साहब ने इतिहास की भूलें, संस्कृत की अनभिज्ञता से की हैं। उनका जीवनव्यापी परिश्रम और विदेशियों के इतिहास के लिए प्राणान्त यत्न उदाहरण योग्य है। उनने राजपूतों की स्तुति की है, और अपने ग्रन्थ के समर्पण में उनको शस्त्राधिकार और स्वतन्त्रता देने के भाव जताए हैं। आज तक कोई भी योरोपियन वा देशी शोधक ऐसा भाग्यशाली नहीं हुआ कि ऐतिहासिक सामग्री-संग्रह करने में और परिश्रम में उनकी बराबरी कर सके। (पृ० ३२) टाड साहब को अपनी प्रसिद्धि की तृष्णा न थी (पृ० ३७) और ऐसों को होती ही क्यों ? ऐतिहासिक लोग रूखे होते हैं किन्तु ओझा जी को भी अन्त में जोश आ गया है और अपनी सीधी भाषा में वे उसे यों प्रकाश करते हैं—"१७ वर्ष की किशोर अवस्था ही से उन्होंने संसार रूपी विषम समुद्र में प्रवेश कर उसकी तरल तरङ्ग के अनेक धक्के सहने पर भी पूर्ण साहस और अथक परिश्रम के साथ ३६ वर्ष के अल्पकाल ही में अपने कर्त्तव्य रूप नौका को किस तरह पार पहुंचाया। जीवन के प्रत्येक विभाग में यश और-प्रतिष्ठा ने उनका साथ दिया पश्चिमी भारत के प्रामाणिक मानचित्र उनने बनाए और भारत के क्षत्रियों के पुरुषार्थ और किसी को जो पहले अन्धकार में पड़े थे उन्हें अपने महान श्रम से प्रकाश में लाकर उनके यश का प्रवाह संसार में फैला दिया।" देशियों के धर्म सम्बन्धी विचारों का वे पूरा आदर करते थे किन्तु दुर्गुणों की बुराई करते थे। इसमें भी वह निर्भीक और उच्छृंखल भारतेन्दु के मत—'हरि पद मत रहे उपधर्म छूटै' को याद दिलाते हैं।

भारतेन्दुजी के इतिहास प्रसिद्ध और ब्रह्मण्य वैष्णव कुल का वर्णन ४६ पृष्ठों में है। सत्य है—"शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टो भिजायते।" बंग देश पर अंगरेजों का अधिकार कराने वाले किन्तु कृतघ्नता के छले सेठ अमीचन्द, पुराने पण्डितों की कथाओं

में प्रसिद्ध दानी 'काले हर्ष चन्द' और 'वुढवा मंगल के दूलहे', सुकवि वैष्ण गोपालचन्द का जी भक्तिमय चरित्र पढ़ने लायक है। 'सरस्वती' में जो गोपालचन्द्र जी का और हरिश्चन्द्र जी का जीवन-चरित्र निकला था उसी में कुछ बढ़ाकर यह पुस्तक प्रस्तुत हुई है। पहले तो हमें राधाकृष्ण दास जी की शिकायत क्रोध से करनी है कि 'प्रताप नाटक' के पीछे आज उनने पुस्तक निकाली और फिर अपना करम ठोकना है कि बीस वर्ष पीछे एक छोटी-सी जीवनी निकली और वह भी एक घर के मनुष्य की लिखी ! अस्तु, अब 'खंगविलास' और 'भारत मित्र' सम्पादक से आशा होती है कि वे लोग भी जो भारतेन्दु जी के गोलोकवास के पीछे जन्मे हैं, उस प्रातःस्मरणीय मूर्ति को धुंधली न देखेंगे। कैसा विलक्षण चित्र है, जो दूर होने पर भी अपना ही है ! कहां तदीय समाज की प्रतिज्ञाएं और कहां पुरी की तहकीकात ! कहां 'मिथ्या अभिमानी पतित झूठो कवि हरिश्चन्द्र' कहना और कहां अपने चौतरफ नारि के फन्दों को जकड़ना ! कहां ऋणजाल में उलझना और कहां वह अलिफ लैला की-सी उदारता ! कहां भारत-नक्षत्र को गुरु मानना और कहां कर्तव्यवश उनही की निन्दा ! विरुद्ध धर्मों का एकत्र रहना परमेश्वरांश इसी मूर्ति में देखा !!!

"यह महाशय भाषा के उत्तम कवि थे—इस प्रकार के वाक्य लिखकर जो लोग आपके बिछोड़े पर शोक करते हैं वह हमारे प्यारे हरिश्चन्द्र की हतक करते हैं। हम से यह सहन नहीं हो सकता। हम कहते हैं कि जो लोग प्यारे भारतेन्दु के विषय में इतना ही जानते हैं वह चुप रहे हैं ऐसे फीके वाक्य कहकर भारतेन्दु के चकोरों को दुःख न दें।" (पृष्ठ १०६)

भारतेन्दु-चरित्र का एक और पृष्ठ है, जिसे बाबू राधाकृष्ण दास अंकित नहीं कर सकते और न भक्तों से इसकी आशा करनी चाहिए। भारतेन्दु जी के चरित्र की विलासिता को यद्यपि उनके गुण सन्निपात में ही हमें देखना चाहिए, तथापि निर्दोष केवल ईश्वर है इससे किसी और की लेखनी से उस चित्र को पाने का हिन्दी भाषा को हक है।

'नागरी प्रचारिणी सभा' को भातरतेन्दु जी के हस्तलेख, मुद्रा प्रभृति जो कुछ मिल सके उन्हें खोजकर एक ग्लासकेस में रखना चाहिए। भारतेन्दु जी के मित्रों से एक हमारा प्रश्न है। 'नारदभक्ति-सूत्र' के विषय में कई लोगों ने कहा है कि वह ग्रन्थ भारतेन्दु जी का रचा हुआ है अर्थात् पहले यह ग्रन्थ नहीं था। क्या वे इस बात का प्रमाण दे सकते हैं कि भारतेन्दु जी ने अनुवाद ही किया है, वा मूल भी उन्होंने बनाया है ?

बड़े खेद का विषय है कि इस पुस्तक में छापे की भूलें बहुत रह गई हैं जिससे बढ़िया कागज और छपाई छिप गई है।

दोनों पुस्तकें बहुत अच्छी हैं।

गीतार्थ पद्यावली

मराठी में गीता का कई छन्दों में तात्पर्यानुवाद। शिवचन्द बलदेव भरतिया। निर्णय-सागर प्रेस; चार आणे।

इसमें प्रथम दो अध्यायों को एक कर दिया गया है। कहीं गीता के श्लोकों का अर्थ बढ़ाया है और कहीं एक पद्य में कई श्लोकों का तात्पर्य रक्खा गया है। अनुवाद सुरस और मूल का अनुयायी हुआ है। छन्दों की बहुतायत से दार्शनिक ग्रन्थ की कठिनता हट गई है। हिन्दी वालों को इतने अधिक छन्दों का प्रयोग अवश्य चलाना चाहिए किन्तु कठोर खड़ीबोली में यह जरा कठिन काम है।

सुरसती के संक्षेप में उदाहरण—

प्रपन्नकल्पवृक्षातं तोत्रत्रलेधरा सदा।
ज्ञानमुद्रा नमी कृष्णा, गीतामृत सुदोहका ॥
आत्म्याला जो जाणतो मारणारा
किंवा जाणे मृत्यु ते पावणारा।
ते दोघेही जाणतीना अशानं
आत्मा भारी ना मरे तो कशाने ॥
सकलते कलते हरिला गती
विसरुनी सरुनी पुसुंलागती
नरमती रमती वरि तत्पदां
सुरकते करते सुखसंपदा ॥

ज्ञानकाण्ड को उचित प्रधानता दी गई है।

[प्रथम प्रकाशन : मार्च-अप्रैल, १९०४ ई०]

व्रजविलास

मनुष्य ईश्वर की कल्पना मनुष्य ही के रूप में कर सकता है, और अपने अच्छे गुणों को अनन्तता तक बढ़ाकर ईश्वर की मूर्ति बनाता है। यदि घोड़ा भी जगदीश्वर की कल्पना करेगा तो उसे घोड़ा ही मानेगा, यदि वृत्त ईश्वर की भावना कर सके तो वह उसे वृत्त समझेगा। यही सिद्धान्त बड़े उदार भाव से हिन्दुओं की अवतार-कल्पना में भरा हुआ है, और लोगों की रुचि के अनुसार, 'विष्णुपुराण' और 'महाभारत' के श्रीकृष्ण, 'भागवत' और 'व्रजविलास' के श्रीकृष्ण में परिणत हो गए। अंग्रेजी पढ़े श्रीकृष्णभक्त 'मैट्रिक्युलेशन लीला' और 'नकटाई-लीला' के क्षेपक **व्रजविलास** में जोड़ेंगे या नहीं, यह तो भविष्यत् के हाथ है, किन्तु अपनी-अपनी रुचि के अनुसार भक्तों ने लीलाएं बनाई हैं। हमारे सामने जो पुस्तक है वह श्रीकृष्ण-भक्तों और हिन्दी कविता के प्रेमियों के आदर की सामग्री व्रजवासी दासजी कृत 'व्रजविलास' का जेबी संस्करण है जिसे बम्बई के निर्णयसागर प्रेस ने "अनेक पुस्तकों से अति शुद्ध कराकर और मुख्य-मुख्य क्षेपकों से अलंकृत !" किया है।

जिल्द बहुत बढ़िया है, छपाई बहुत साफ है, आकार अच्छा है, मूल्य बारह आने

है। क्षेपकों के प्रेमी पाठकों के लिए क्षेपक खूब रक्खे गए हैं; किन्तु भविष्यत् संस्करणों में यदि प्रकाशक क्षेपकों को अलग छाप दिया करें, वा भिन्न टाइप में दिया करें तो साहित्य-प्रेमी बड़े प्रसन्न होंगे। कठिन शब्दों पर टिप्पणी दी गई है। पृष्ठ ३१ में 'जात कर्म' को 'जाति कर्म' छापकर उसका अर्थ 'नान्दी श्राद्ध' लिखा गया है। क्या आजकल वैश्यों के विवाह के एक दिन पहले गले में रस्सा डालने की चाल पर ब्रजविरह और 'रुक्मिणी चरित्र' के पहिले 'यज्ञोपवतीत लीला' लिखी गई है? महारास भी और 'कुबिजा' गृहप्रवेश भी, और उसके पीछे जनेऊ! यह भी यहीं पढ़ा कि श्रीकृष्ण और राधा की 'सगाई' नन्द जी ने की थी!

यह संस्करण सुन्दर और उपादेय है। कविता की समालोचना यहां नहीं।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : मई, १९०४ ई०]

करपल्लवी और गुप्तलेख

करपल्लवी में हाथों से बात करने की विधि, और **गुप्त लेख** में अक्षरों के उलट-फेर से अपना अभिप्राय दूसरा न जान सके—ऐसे हिन्दी लिखने की रीति है। दोनों पुस्तकें रोचक हैं। दूसरी में साइंस की भी बातें हैं। मूल्य प्रत्येक का एक आना। मिलने का पता : ग्रन्थकार बाबू शिवप्रसाद, कैरेज डीपार्टमेण्ट, ई० आइ० आर० प्रयागराज।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : मई, १९०४ ई०]

त्रैभाषिक व्याकरण शब्दावली

इसमें अंग्रेजी **खालकबारी बल्लभकोष** के रचयिता पण्डित ब्रजबल्लभ मिश्र ने अंग्रेजी, हिन्दी और उर्दू व्याकरण के समानार्थ शब्दों का संग्रह करने का यत्न किया है। अंग्रेजी व्याकरण के शब्दों के जहां पूरे अनुवाद न मिल सके वहां नए शब्द गढ़े भी गए हैं। हिन्दी और उर्दू को एक करने वालों का यत्न यहां विफल होता है, क्योंकि किसी अंग्रेजी शब्द का समानार्थ शब्द संस्कृत में या अरबी में ही मिल सकता है। यत्न बहुत अच्छा है। मूल्य चार आना कुछ अधिक है। छपाई लहरी प्रेस की है। ग्रन्थकार के पास, सामोद नरेश के प्राइवेट सेक्रेटरी, जयपुर के पते से मिल सकती है।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : मई, १९०४ ई०]

परमापंच प्रकाश

यद्यपि कई शताब्दियों से हम फारसी और अरबी भाषा पढ़ते रहे हैं तो भी हमने उनके प्रचुर साहित्य से अपना उपकार न किया। जब दाराशिकोह ने उपनिषदों का अनुवाद

कराया, तो कुरानशरीफ का संस्कृत में अनुवाद क्यों न हुआ ? हिन्दी-साहित्य में भी फारसी का 'दिवान हाफिज' नहीं है, हां, 'शाहनामा' है। शेखसादी की 'करीमा' फारसी-प्रेमी मात्र के आदर की वस्तु है, और उसकी सरल किन्तु भावमय उपदेशावली सभी को मोहित करती है। इस ग्रन्थ में ब्रजभाषा के दोहा-चौपाइयों में 'करीमा' का अच्छा अनुवाद हुआ है।[1] यदि यह अनुवाद खड़ीबोली कविता में होता तो बहुत अच्छा होता क्योंकि ब्रजभाषा नौसिखुओं के हाथ में उच्छृंखलता की पराकाष्ठा को पहुंच जाती है।

> इक समरथ विपद विलीना। इक सजीव इक जीवन हीना ।।
> इक निरोग इक कृशतनु रोगी। स्थविर एक इक यौवन भोगी ।।
> धर्मी एक एक रत पापा। कोई शुभयुत कोई छल व्यापा ।।
> इक सुकाजरत शुभमति धारी। इक निमग्न अघ सरित मंझारी ।।

बस, यही अनुवाद का नमूना है। तुकान्त के लिए शब्द मरोड़े-तोड़े भी गए हैं। अन्त में ग्रन्थकार की संस्कृत-कविता 'जीवदुर्दशाविंशति', 'शोकविंशति' और 'सिद्धनाथ-प्रशस्ति' हैं। वे भी अच्छी हैं—

> तुलनापदवीं न कश्चन (!) तव मृत्यो भुवि यातुमीश्वरः
> करुणारहिते विधौ भवान् विधिना केवल मादृतः पुरा।

[प्रथम प्रकाशन : समालोचक : मई, १९०४ ई०]

मोजफ़्फ़रपुर हिन्दी भाषा प्रचारिणी सभा का चतुर्थ वार्षिक विवरण (१९०४ ई०)

सभा के ६ अधिवेशनों में लेख पढ़े गए। पुस्तकालय में ४९५ ग्रन्थ हैं जिसके लिए मुकुटधारणोत्सव पर कुछ धन कलक्टर साहब ने भी दिलवाया है। सभा ने यूनिवर्सिटी कमीशन के काल में कलकत्ते की सिण्डिकेट में बिहारियों के होने के बारे में मेमोरियल दिया, और मैकमिलनी पुस्तकों की हिन्दी पर लिखा-पढ़ी की। सभासद ४६, आय २३२॥-) व्यय २२९॥)। मन्त्री नारायण पाण्डे बी० ए० बी० एल० हैं जो कचहरी कोश बना रहे हैं। सभा को अपने नगर में एक अच्छा पुस्तकालय बनाना चाहिए, और काम तो होते ही रहैंगे।

[प्रथम प्रकाशन : समालोचक : मई, १९०४ ई०]

---

१. बाबू परमानन्द, एसिस्टेन्ट हेड मास्टर, टाउन स्कूल, आरा। सच्चिदानन्द सिंह प्रेस, आरा। १६ पृष्ठ। चार आने।

हिन्दी व्याकरण

(केशवराम भट्ट कृत। बिहारबन्धु छापाखाना, बांकीपुर। १९२ पृष्ठ। आठ आना।)

"हिन्दी व्याकरण पढ़ने से हिन्दी ठीक-ठीक बोलना और लिखना आ जाता है।" —इस परिभाषा से हिन्दी के पुराने लेखक भट्टजी ने अपने अच्छे व्याकरण का आरम्भ किया है। एक परिहासप्रिय मित्र ने, इसे देखकर, हिन्दी व्याकरण की यह परिभाषा बनाई कि "हिन्दी व्याकरण वह मृगतृष्णा है जिसके पीछे 'हिन्दी ठीक-ठीक लिखना और बोलना जान' कर ही अच्छे लेखक दौड़ने लगते हैं।" संस्कृत व्याकरण के जटिल और सुश्रृंखल नियमों की चाल पर हिन्दी-व्याकरण बनाने के पूर्व कई बातों पर विचार करना चाहिए। संस्कृत का सबसे प्राचीन और नियमित व्याकरण (जिसे व्याकरण का आदर्श भी कह सकते हैं) पाणिनि का व्याकरण है। उस प्रायः पूरे व्याकरण में यदि समय-भेद से प्रयोग-भेद के कारण कुछ परिवर्तन हुए तो वे कात्यायन और पतञ्जलि ने बढ़ा दिए, और वेदों के विरुद्ध इसी शास्त्र में यह वाक्य चला कि "यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यं।" इस तिहरी जकड़न में संस्कृत-भाषा का अङ्ग-भङ्ग हो गया और पतञ्जलि के पीछे के वैयाकरणों का इतिहास उन्नति का नहीं, अवनति का है। कई वैयाकरणों का यत्न पाणिनि के संक्षेप सूत्रों को और भी संक्षिप्त करने में रहा, आधुनिक समय में न्याय की गोद लेकर नवीन वैयाकरणों ने बाल की खाल खैंचना आरम्भ किया और यदि कोई नए रूपों के लिए नए सूत्र बने तो केवल एक यही कि "निरंकुशाः कवयः"। भाषा की लहलहाती बेल को धूप और बरसात से बचाने के लिए जिस ग्लास-केस में बन्द किया था, उसने भाषा की सांस घोंट दी, वा यों कहिए कि बुढ़िया संस्कृत भाषा व्याकरण की लाठी के इतनी अधीन हो गई कि स्वच्छन्दता से चल-फिर न सकी। भट्टजी ठीक कहते हैं कि यदि—"संस्कृत भी आज प्रचलित भाषा होती तो पाणिनीय व्याकरण भी कभी ऐसा पत्थर की लकीर न होता।" (भूमिका, ६) और, प्रचलित हिन्दी भाषा में कोई व्याकरण वैसा होने का दावा नहीं कर सकता। व्याकरण की जड़ पर भाषा बढ़ती है सही, किन्तु यदि उन जड़ों को गिनकर, नाप-तौलकर, जांचकर बढ़ने से रोका जाय और अन्धकार में से निकालकर सबकी उंगलियों के नीचे रक्खा जाय, तो वे न बढ़ेंगी और बेल के बढ़ने की आशा नहीं करनी चाहिए। भाषा वही जो बिना सीखे आवै, जो व्याकरण को अपना दास न बनाकर उसकी दासी बन गई, जिसने ठोकरों से न गिरूं यह विचार कर ली हुई लकड़ी को अपनी अनन्य आधारभूता बैसाखी बना ली, उसे भाषा नहीं कहा जा सकता। लैटिन, ग्रीक प्रभृति भाषाएं अपने अन्तकाल में व्याकरण के परवश बनी हैं, और इसके विरुद्ध अंग्रेजी, फ्रेंच प्रभृति भाषाएं व्याकरण को अपने साथ नचाती हैं। परिवर्तन संसार का नियम है, और हिन्दी भाषा अभी जितनी छोटी है उसके देखते जिन डेढ़ दर्जन देशी और विदेशी वैयाकरण सज्जनों के नाम भट्टजी ने अपने व्याकरण की भूमिका में दिए हैं, उनका होना कम नहीं मालूम देता। कहीं इससे वही बात न हो कि जैसे नायिका-भेद के लक्षणग्रन्थ हिन्दी में बीसियों होने पर भी कोई लक्ष्यग्रन्थ, महाकाव्य नहीं, जिसमें उनका समन्वय हो सकै, वैसे ही

व्याकरण के नियमशास्त्र तो रहें, किन्तु लक्ष्य के न होने से हमें भी "लक्षणैकचक्षुष्क" बनकर काना बनना पड़े। और हुआ भी कुछ-कुछ ऐसा ही है। भट्टजी लिखते हैं— "क्या करें, दिल्ली के प्रामाणिक कवि प्राय: सभी मुसलमान हैं। हिन्दू कवियों को तो प्राय: खड़ीबोली भाती ही नहीं। दिल्ली का हिन्दू भला गद्य लेखक ही प्रसिद्ध और प्रामाणिक जो कोई होता तो उसी के लेख में दृष्टान्त उद्धृत किए होते अतएव क्षमा के पात्र हैं।" (भूमिका ५) अतएव भट्टजी इस अर्धनारीश्वर साहित्य का व्याकरण बनाती बेर 'जों जों काल बदलता जाता है···तों तों भाषा भी बड़ी उमंग के साथ रोज़-रोज़ अपना रंग बदलती जाती है और अन्धाधुन्ध (संज्ञा या क्रिया विशेषण ?) फैलती जाती है।" इस भाषा के जीवित होने के लक्षण को 'आपद्' न मानें। जब बच्चा बढ़ने लगै तब उसकी टांगें न बांधनी चाहिए, या बढ़ते पैरों को लोहे के जूते में बन्द करके चीनी युवती की मण्डूकप्लुति का अनुकरण न करना चाहिए।

एक बात और भी है। जब कात्यायन ने संस्कृत के शब्दार्थ को भी सिद्ध और लोकगम्य माना है, तो हिन्दी व्याकरण के प्रचार के लिए (external sanction) बाह्य रक्षा भी नहीं है। हिन्दी वालों को 'निष्कारण' वेदों की रक्षा नहीं करनी है, उन्हें आहिताग्नि होकर अपशब्द बोलते ही प्रायश्चित्त करने नहीं दौड़ना पड़ता, और न उन्हें यह धमकी है कि यदि प्रणाम के उत्तर में वे प्लुत न बोलेंगे तो उन्हें स्त्रियों की तरह प्रणाम किया जायगा। उन्हें प्रयोग के लिए आप्तवाक्य, व्यवहार, सान्निध्य आदि से शक्तिग्रह हो सकता है, और व्याकरण को वे उनका सहायक ही मानेंगे न कि एक मात्र अधिकारी। हां, विदेशियों को व्याकरण जानने की बड़ी फिक्र रहती है। "और और देशों के लिए जो हो सो हो पर बिहारियों के लिए तो बिना हिन्दी पढ़े कल्याण ही नहीं। क्योंकि इनकी मातृभाषा कहीं मगहिया, कहीं भोजपुरिया, कहीं तिर्हुतिया है, और यह हिन्दी उन्हें सीखकर अपनी-अपनी मातृभाषाओं से उलथा करके बोलना पड़ता है।" (भूमिका, पृ० १) आरा की सभा शायद इस बात को न मानै।

भट्टजी ने बहुत ठीक हिन्दी उर्दू को एक भाषा माना है, किन्तु मौलवी शिबली नौमानी फरमाते हैं कि मौलवी फतह मुहम्मद ने जो उर्दू-व्याकरण लिखा है उसमें उर्दू का व्याकरण अरबी के सांचे में ढाला गया है। क्या यह बात सच है कि केवल इसीलिए कि उत्तर भारत के मुसलमान उर्दू को बोलते हैं, उस (उर्दू) आर्य घराने की कुलबाला को सिमियातिकी बुर्का और पजामा पिन्हाया जाता है? 'नागरी प्रचारिणी सभा' को मौलवी साहब को इस काम से रोकना चाहिए।

भट्टजी व्याकरण के साथ 'भाषा के इतिहास का लिखना भी अवश्य' नहीं समझते, और उनके मत में "छन्द को व्याकरण से ऐसा कुछ लगाव भी नहीं है" (पृ० ६ भू०) क्योंकि उनने 'पाणिनी' का ढर्रा यथासम्भव अवलम्बन किया है। किन्तु एक बात यह भी है कि हिन्दी भाषा का इतिहास लिखना आसान काम नहीं है, उसके कई भाग अभी ऐतिहासिक खोज की प्रतीक्षा में अन्धकार के काने उदर में छिपे हुए हैं। यदि हिन्दी छन्द को भट्ट जी लिखते भी तो उसमें क्या-क्या लिखते। संस्कृत और प्राकृत का पूरा छन्दःशास्त्र, फारसी और अरबी के पूरे वज़न, और अंगरेजी के साधारण

छन्दों को गिनकर भी पिण्ड नहीं छूटता, क्योंकि खड़ीबोली के नए छन्द बंगला और मराठी छन्दःशास्त्र तक के नहीं छोड़ते। पाणिनि ने (Punctuation) नहीं लिखा, यह भी अंग्रेज़ी व्याकरणों की चाल है। भट्ट जी ने उसे लिखा है (१८७-१९२)। उच्चारण के भेद पाणिनि ने शिक्षा[1] में लिखे हैं, किन्तु भट्ट जी ने इस व्याकरण में लिखे हैं (पृष्ठ ४९)। शब्दों का निरुक्त, उनका भिन्न-भिन्न भाषाओं से आना प्रभृति पाणिनीय में नहीं है तो भी भट्ट जी के व्याकरण के २१-३० पृष्ठों में निरुक्त का आनन्द आता है। पद-परिचय के माने (Parsing) पार्जिग् और अन्वय का अर्थ (Analysis) अनालिसिस (१७०, १९६) पाणिनीय में नहीं जान पड़ते। सो भट्टजी के व्याकरण में शिक्षा है, व्याकरण है, निरुक्त है, पार्जिग है, अनालिसिस है। तो फिर छन्द और इतिहास के लिए पाणिनि की दुहाई देना ठीक नहीं।

ग्रन्थ में सात अध्याय हैं। पहले में वर्ण-विचार है। छठे में वाक्य-विचार और सातवें में चिह्न-विचार होने से बाकी में शब्द-विचार है। दूसरे अध्याय में संस्कृत, फारसी और अरबी धातुओं का, उनसे बने शब्दों की पहिचान का, अच्छा उल्लेख है। ठेठ हिन्दी के [तत्सम और तद्भव] धातु भी खूब छांटे हैं। तीसरे अध्याय में संज्ञा के सम्बन्ध में लिङ्ग, वचन, कारक, विभक्ति का विचार है। चौथे में धातु, क्रिया, उनके रूप और वाच्य का विचार है। पांचवें में व्यौत्पत्तिक और अव्यौत्पत्तिक (सी ! व्युत्पन्न और अव्युत्पन्न क्यों नहीं ?) अव्यय, कृत, तद्धित आदि का विचार है। छठे में महावरे का भी दिग्दर्शन कराया गया है। क्या क्रम में, क्या विषय में, क्या उदाहरणों की चुनावट में, ग्रन्थ बहुत अच्छा बना है, और आज तक के हिन्दी व्याकरणों के देखते, पढ़ने-पढ़ाने योग्य है।

९ पृष्ठ से 'अक्षरों के हेरफेर' के नाम से संस्कृत की सन्धियां, यत्व, णत्व के नियम दिए गए हैं। हिन्दी में कोई सन्धि नहीं करता। संस्कृत में जुड़े-जुड़ाये पद ले लिए जाते हैं। हिन्दी वाले 'विवक्सा' से 'विवक्षा' नहीं बनाते। अतएव हिन्दी में संस्कृत की सन्धियां Phonetic परिवर्तन माननी चाहिएं, और सिद्ध शब्द ले लेने चाहिएं।

"और और भाषाओं से आये हुए और विशेषतः देशज शब्दों की व्युत्पत्ति··· विषय कोष का है, व्याकरण का नहीं।" (पृ० १७) नहीं, यह व्याकरण का ही विषय है। यदि कोष का अर्थ आधुनिक Dictionary हो तो व्याकरण उसके पेट में आ जाता है। (पृ० २७) वज़न बहुत अच्छे हैं, किन्तु थोड़े हैं।

भट्टजी ने एक शून्य प्रत्यय (पृ० ३५) और बुझक्कड़ गवइया प्रभृति में अक्खड़प् और वइयाय् प्रत्यय (पृ० ४६) बनाए हैं। यह विलक्षणता बिना प्रयोजन मालूम होती है। संस्कृत व्याकरण की तरह 'पित्व' का क्या फल माना गया ? विभक्तियां पांच मानी गई हैं—कर्त्ता, का, से, का, में। उनके प्रयोगों का वर्णन पूरा है। वाच्य, धातु, और अव्ययों में कई नई बातें हैं। एनेलिसिज़ और पार्जिग बालकों को बड़े उपयोगी होंगे, क्योंकि उनसे वाक्यों की गठन जल्दी समझ में आती है।

---

१. यथासौराष्ट्रिका नारी तक्रं इत्यभिभाषते। इत्यादि।

रोज़मर्रा और वाग्धारा के अध्याय कुछ बड़े होने चाहिए थे। इन्हीं पर जीवित भाषा का व्याकरण निर्भर है। "मुहावरा मानो मनुष्य के शरीर में कोई सुन्दर अङ्ग है और रोजमर्रे को ऐसा जानना चाहिए जैसे अङ्गों का तारतम्य मनुष्य के शरीर में।" (पृ. १८४)

भाष्यकार ने लिखा है कि जैसे घड़े की जरूरत पड़ने पर कुम्हार के यहां जाना होता है, वैसे वैयाकरण को यह कोई नहीं कहता कि हमें शब्द बना दीजिए हमें उनका प्रयोग करना है। साधारण व्यवहार का मार्ग दिखाने ही भर के लिए व्याकरण की आवश्यकता है, और हिन्दी की वर्तमान दशा में भट्टजी का व्याकरण प्रायः इस काम के लिए योग्य है। मतभेद तो सदा ही रहते हैं।

भट्टजी इसका मूल्य ॥) बतलाते हैं, किन्तु वे कहते हैं कि पाठ्यपुस्तक होने पर इसका मूल्य कम भी हो सकता है। हम इस पुस्तक का मङ्गल चाहते हैं।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : मई, १९०४ ई०]

अर्धांगिनी

सुप्रसिद्ध विद्वान जान स्टुअर्ट मिल, अपने 'स्वतंत्रता' विषयक ग्रन्थ के समर्पण में अपनी पत्नी के विषय में लिखते हैं—"मैं इस ग्रन्थ को उसके प्रिय और शोचनीय स्मरण को समर्पण करता हूं, जो मेरे ग्रन्थों में जो कुछ सर्वोत्तम है उसकी किसी अंश में रचनेवाली और प्रेरण करनेवाली थी, जिस मित्र और पत्नी का सत्य और न्याय का उच्च विचार मेरा सब से प्रबल प्रेरक था, और जिसका साधुवाद मेरा प्रधान पारितोषक था। कई वर्षों से मैंने जो कुछ लिखा है, उसके समान यह ग्रन्थ जैसा मेरा है वैसा उसका भी है, किन्तु जिस रूप में यह ग्रन्थ अब है, उसमें बहुत ही अपूर्ण रूप से उसकी आवृत्ति का अमूल्य लाभ पहुंचा है, कुछ सबसे प्रधान अंश अधिक सावधानी से पुनरावृत्ति के लिए रख छोड़े थे, जो उनके भाग्य में कभी नहीं थी। उसकी समाधि में जो बड़े विचार और उदारभाव गड़े हैं उसका यदि मैं आधा भी जगत् को समझा सकता, तो जगत् को अधिक लाभ पहुंचता, उसकी अपेक्षा जो उसकी अद्वितीय बुद्धि की प्रेरणा और सहायता के बिना जो कुछ मैं लिखूं उससे कहीं भी हो सकेगा।"

इस चित्र के सामने 'आनन्द कादम्बिनी' के 'विवाह' लेख के कुत्सित चित्र को रखकर हम किस मुख से अपने देश की असार स्तुति किया करते हैं? यदि 'मिल' की मनभावती साधारण न हो तो भी 'कादम्बिनी' की कलहप्रिया या धूमावती देश भर में व्याप्त है; विशेषतः विद्वानों पर उनकी अपार कृपा है!!

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : अगस्त, १९०४ ई०]

उपन्यास

मासिक पुस्तक के साथ एक छपा पत्र बांटा गया है। उसमें पं० किशोरीलाल गोस्वामी अपने ग्राहकों से ग्राहक बढ़ाने की प्रार्थना करते हैं और प्रार्थना की नींव बांधते हैं अपनी स्त्री के मरने और अपने ब्राह्मणत्व पर ! एक स्वर्गीया नारी और पवित्र वंश को यों नीचे खेंचना अच्छा नहीं। क्या वे भिक्षा मांगते हैं ? उपन्यास के ग्राहक बढ़ाने के लिए आप उनसे कहें, किन्तु ब्राह्मणत्व को क्यों दूषित करते हैं ?

[प्रथम प्रकाशन : समालोचक : सितम्बर, १९०४ ई०]

वृहद्देवता

'ऋग्वेद' के किस मंत्र का कौन ऋषि है, कौन छन्द है, कौन देवता है और क्या काम उस मंत्र से लिया जाता है, ये सब बातें 'सर्वानुक्रमणी' नामक पुस्तक में लिखी हैं। शौनक मुनि के नाम से 'वृहद्देवता' नामक एक ग्रन्थ और भी प्रचलित है जिसमें भी ये सब बातें लिखी हुई हैं। उसमें केवल यही नहीं है परन्तु छोटे-छोटे छन्दों में कई वैदिक उपाख्यान भी लिखे हैं जिनका सम्बन्ध कई मन्त्रों से है। इससे वैदिक पढ़ाई में यह ग्रन्थ बहुत उपयोगी है। इसका एक संस्करण कलकत्ते की 'बिब्लोथिका इण्डिका' में डाक्टर राजा राजेन्द्रलाल मित्र का शोधा हुआ छपा था। दूसरा अभी अमेरिका में छपा है। वहां हर्वर्ड युनिवर्सिटी एक 'प्राच्य पुस्तकमाला' निकालती है। जिसमें अब तक 'जातकमाला', 'सांख्य प्रवचन-भाष्य', 'बौद्ध धर्म के तर्जुमे', 'कर्पूरमंजरी' और 'अथर्ववेद संहिता' इतने ग्रन्थ छप चुके हैं। 'वृहद्देवता' उसी माला में, दो भागों में, छपी है। एक में सम्पादक की भूमिका और खूब शोधा हुआ मूल पाठ है। उसके पीछे बहुत ही सुन्दर सूची और अनुक्रमणी है। दूसरे भाग में प्रतिश्लोक अनुवाद और पाठान्तर लिखे गए हैं। इसके सम्पादक मैकडानल साहब हैं जो आक्सफोर्ड में बोडन संस्कृताध्यापक हैं। इस संस्करण में मूल पाठ के बनाने में बड़ा परिश्रम किया गया है। यूरोप में जितने 'वृहद्देवता' के पुस्तक मिल सके, वे सब मिलाए गए हैं और डाक्टर मित्र के संस्करण की भी पूरी सहायता ली गई है। अनुवाद भी बहुत अच्छा हुआ है। परन्तु डाक्टर मित्र के संस्करण की भूमिका में बहुत ही निन्दा की गई है। कहा गया है कि उसमें कई श्लोक बार-बार लिख दिए गए हैं, अच्छे पाठ नोटों में दिए गए हैं, और प्रति पंक्ति पाठ में एक भूल के हिसाब से पुस्तक में भूलें हैं, कहीं-कहीं सात-सात भूलें तक एक-एक पंक्ति में हैं। एक जगह एक कथा लिखकर भारत-वर्ष के प्रूफ़-संशोधन और पाठान्तर-विवेचन की दिल्लगी उड़ाई गई है। कहा गया है कि बिब्लोथिका में पुस्तक छापने के नियमों में एक यह भी है कि कम-से-कम तीन पुस्तकों में पाठ न मिलाकर न छापा जाय। एक विद्वान् किसी पुस्तक का संस्करण छापना चाहते थे, परन्तु उनके पास एक ही प्रति थी। अतएव, उनने अपने पण्डितों को काम में लगाया, और तीन प्रति तैयार होकर यह पुस्तक छाप दी गई। हम भी कहते हैं कि प्रूफ़

देखने और पाठांतर जांचने की प्रवृत्ति भारतवर्ष के विद्वानों में बहुत ही कम है। यही नहीं, ज्यों-ज्यों सम्पादक की प्राचीन ढंग की पण्डिताई की मात्रा बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों उनकी पाठांतर शोधने की ओर उपेक्षा बढ़ती जाती है। सबसे शुद्ध संस्करण, भारतवर्ष में, 'निर्णयसागर प्रेस' के होते हैं, और बिब्लोथिका में संस्कृत पुस्तक यदि किसी एम० ए०, बी० ए० का सम्पादित है, तब तो खैर, नहीं यदि किसी न्याय पञ्चानन्न के हाथ पड़ गए, तब तो खूब ही पाठों की हत्या होती है। शोधने में जितने उदासीन, अनपेक्ष और अनभिज्ञ काशी के विद्वान् हैं इतने और कहीं के नहीं। परन्तु डाक्टर मित्र पर यह कलंक मैकडानल साहब ने ठीक नहीं लगाया है। उनकी विद्वत्ता के आगे कई पश्चिमी पुरातत्त्ववेत्ताओं का ज्ञानी पानी भरता था। क्या मैकडानल साहब को यह नहीं मालूम है कि डाक्टर मित्र ने 'वृहद्देवता' का संशोधन हाथ में ही लिया था, परन्तु उसे वह पूरा न कर सके ? सम्भव है उनके सहकारी पण्डितों के संशोधन को दोहराने का उन्हें समय ही न मिला हो। यह संस्करण उनकी मृत्यु के पीछे प्रकाशित हुआ है। एक जगह स्पष्ट लिखा है कि डाक्टर मित्र ने यहीं तक शोधा है, आगे का भाग उनके शोधन का लाभ न उठा सका। मैकडानल साहब का संस्करण अवश्य डा० मित्र के संस्करण से अच्छा है, बहुत अच्छा है, परन्तु वह बना है उसी के आधार पर जिस वृक्ष के सहारे टहनी पर चढ़ गए, उसी वृक्ष को काटने लगना, हम नहीं जानते, क्या आक्सफोर्ड में पण्डिताई गिनी जाती है ? यह तो हो नहीं सकता कि जान-बूझकर मैकडानल साहब के सदृश विद्वान् सत्य का अपलाप करें, और डाक्टर मित्र के संस्करण को उनने इतना अधिक काम में लिया है कि यह 'स्पष्ट लिखी' बात उनकी दृष्टि में न आई हो। अतएव यह हमारा ही दोष है कि डाक्टर मित्र के संस्करण को पढ़ते समय हमारी दृष्टि उस नोट पर पड़ गई थी, और मैकडानल के संस्करण को पढ़ते उनकी तीन प्रतियों वाली आख्यायिका पर।

[प्रथम प्रकाशन : समालोचक : अगस्त, १९०५ ई०]

राघवेन्द्र

अश्विन के 'राघवेन्द्र' में 'हमारा वक्ता' कहता है—"दी विशिष्टाद्वैतन पत्र का उदय उचित समय पर हुआ है।" पत्र का नाम शायद 'विशिष्टाद्वैतिन्' है, परन्तु बहुत सोचकर भी हम न जान सके, कि रूस-जापान की सन्धि, बंगाल का स्वदेशी आन्दोलन, लार्ड कर्ज़न का इस्तीफ़ा या कोई-सी सामयिक घटना इस 'राघवेन्द्र' के भाई के लिए 'उचित समय' क्योंकर है। आगे चलकर एक वाक्य है—"इसके एक-दो लेखों का भाषा अनुवाद हम कभी अपने पाठकों को भेंट करेंगे।" इसे ही कदाचित् उस पुण्यवान् पत्र के लिए 'उचित समय' है।

[प्रथम प्रकाशन : समालोचक : नवम्बर-दिसम्बर, १९०५ ई०]

श्री भारतधर्ममहामण्डल रहस्य

महामण्डल के शास्त्रप्रकाश-विभाग द्वारा 'श्री भारतधर्ममहामण्डल रहस्य' नामक उत्तम ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। इसमें २१९ पृष्ठ हैं। इसका मूल्य १।।) अधिक है। उत्तम पुस्तकों के प्रचार का उपाय उन्हें बांटना और कम मूल्य पर बेचना ही है। इसके विषय में यह कहा जा सकता है कि आत्मश्लाघा और व्यर्थ आडम्बर के पृष्ठों को छोड़कर एक भी ऐसा पुस्तक महामण्डल प्रतिवर्ष निकाल दिया करे, तो वह अपने कर्त्तव्य के मार्ग में आ सकता है, कागज़ी घोड़ों और पालिसियों से नहीं। भूमिका में 'ग्रन्थकार की आज्ञानुसार' पण्डित गोपीनाथ ने 'यह ग्रन्थरत्न श्री भारतधर्ममहामण्डल के श्रद्धास्पद संरक्षक महोदय, माननीय प्रतिनिधि महाशय, वन्दनीय व्यवस्थापक महोदय, श्लाघनीय सहायक महाशय और प्रशंसनीय साधारण सभ्य महोदय के अर्थ' समर्पण किया। बेचारे उपदेशक लोग कहां गए ? बकौल कल्लू अल्हइत के उनका—"सरगौ नरक ठेकाना नाहिं।"

इस ग्रन्थरत्न के नाम के पाठ करने से कोई महाशय ऐसा न समझें कि यह ग्रन्थ **महामण्डल का अनुशासन** ग्रन्थ है; (इतनी सावधानी क्यों? क्या मधुसूदनसंहिता विभ्राट् के पीछे मण्डल फूंक-फूंककर पैर रखता! मोटे टाइप में छपे अंशों का पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी यह अर्थ करेंगे—पहले महामण्डल, पीछे उसका शासन) वास्तव में इस ग्रन्थरत्न के प्रकाशित करने का प्रथम उद्देश्य यह है कि जिन्होंने असाधारण यत्न द्वारा भारतवर्ष की अनेकानेक धर्मसभाओं के सम्मेलन से जो इस नियमबद्ध विराट सभा की स्थापना की है उनका आन्तरिक तात्पर्य विदित हो (यह काम तो पण्डित दीनदयालु ने किया था परन्तु उनका यह ग्रन्थरत्न हो नहीं सकता)। दूसरा उद्देश्य यह है कि जिन्होंने आर्यजाति के कल्याणार्थ और सनातनधर्म के पुनरभ्युदय के अर्थ बहुत काल तक बहुत कुछ चिन्ता की है उनकी चिन्ता का यथासम्भव लाभ (याने बहुत कुछ लाभ) श्री भारतधर्ममहामण्डल के सभ्य महोदयगण और विशेषतः कार्य्यकर्त्तागण उठा सकें। (इससे सिद्ध हुआ कि महामण्डल के गणपाठ के कार्यकर्त्तागण में इसके कर्त्ता नहीं हैं, या हैं तो उस गण में गिने और लोग उनकी चिन्ता से अनभिज्ञ हैं। अस्तु, चाहे ग्रन्थकार अपने पवित्र नाम को छिपाना पसन्द करें, परन्तु जिसे इसे पढ़कर उनके विज्ञान का आनन्द मिलेगा वह शतमुख से उनके उदारभाव और हितचिन्तन की स्तुति करेगा।)

ग्यारह पृष्ठों के शुद्धिपत्र के पीछे ग्रन्थ का आरम्भ है। प्रथम टिप्पणी में भारत का, अर्थात् बृटिश इण्डिया का, परिमाण नए श्लोकों में दिया गया है जिनका प्रमाण नहीं लिखा गया। ऐसे ही अमूलक (अर्थात् और प्रमाणों की तरह जिनका मूल नहीं लिखा गया) धर्म के लक्षण श्लोकों में 'सुभगे' पद से अनुमान होता है कि मंगलाचरण के फुटनोट का मंगलाचरण शायद मधुसूदन संहिता में से किया गया है। आगे 'महामण्डल' शब्द का तात्पर्य महासभा से है। सनातनधर्म-सम्बन्धी जहां कहीं जो कुछ व्यष्टिरूप से सभा धर्म्मालय आदि का पुरुषार्थ हो रहा है सबका समष्टि रूपी विराट् धर्मसभा यह महामण्डल है, यों समझाया गया है। (इसी से तो मुम्बई का पंचांगशोधन कमंडलु में लीन हो गया है और इसी से 'स्वदेशबन्धु' नामक नवजात लाहौरी पत्र की द्वितीय संख्या

में कहा गया था कि मण्डल के पुरुषार्थ से ग्वालियर में हिन्दी का प्रचार हो गया है)। 'जब तक इस भारतभूमि में पूज्यपाद त्रिकालदर्शी आर्य ऋषिगणों का प्रकाश रहा तब तक इस पवित्र धर्ममार्ग में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं दिखाई दिया' (पृ० ३) परंतु 'अविद्या बढ़ने से प्रजा की धर्मशिक्षा जितनी न्यून होती रही उतना ही प्रजागण सनातन-धर्म का सार्वभौम-भाव भूलते रहे और क्रमश: आपस में विरोध बढ़ता रहा और सम्प्रदाएं अपना-अपना लक्ष्य छोड़ धर्म से ही अधर्म की उत्पत्ति करने लगीं। उसी समय जीवों की दुर्गति देख × × **दया अवतार श्री भगवान बुद्धदेव का आविर्भाव हुआ** (पृ० ५) बौद्धधर्म के अत्याचारों से पीड़ित होकर आर्यगणों ने पुनः मस्तक उठाया। उसी समय दार्शनिक शिरोमणि कुमारिल भट्ट आदि ऋषि तुल्य आचार्यों का जन्म होने से बौद्धधर्म हीनबल होने लगा। तब सुअवसर जान श्री भगवान् शंकराचार्य प्रकट भये और अपनी पूर्वलीला में जो-जो अभाव रक्खे थे उनको पूर्ण कर दिए।" (पृ० ६) [हिन्दी चिन्त्य है। पूर्वलीला माने बुद्धावतार ?]

पीछे मुसलमानी राजत्वकाल में "वैष्णव धर्म का आविर्भाव हुआ और राजा यवन रहने पर भी एक बार समस्त भारतवर्ष में धर्मप्रवाह बहने लगा और उससे मलिनता बहुत कुछ धुलकर सनातन धर्म की श्रेष्ठता स्थापन हुई और उसी स्रोत से बहुत जीवों का कल्याण हुआ" (पृ० ६)। इस स्रोत में "विशिष्टाद्वैतमतप्रवर्तक पूजनीय श्रीरामानुजाचार्य, शुद्धाद्वैत सम्प्रदायप्रवर्तक श्रद्धास्पद श्री विष्णु स्वामी, तथा श्रद्धास्पद श्री वल्लभाचार्य, द्वैताद्वैत सम्प्रदाय प्रवर्तक माननीय श्री निम्बार्काचार्य, द्वैतमत प्रवर्तक आराध्य श्री माध्वाचार्य तथा यतिवर श्री चैतन्याचार्य प्रभृति और धर्मसंस्थापकों में ऋषि तुल्य श्री मधुसूदनाचार्यजी, सिद्धवर श्री नानकजी, भक्ताग्रगण्य श्री तुलसीदासजी, कविवर श्री सूरदासजी, यतिवर श्री रामदास स्वामी आदि महात्मागणों ने धर्म की रक्षा करने में पूर्ण सहायता की।" (पृ० ६)

यद्यपि यवन राज्य नाश होने पर मरहठा और सिख राज्य स्थापित हुआ—"परन्तु अधर्म के द्वारा धर्म की रक्षा नहीं हो सकती, हिन्दुओं को दासत्व करते हुए बहुत काल बीत गया था, वे राज धर्मरक्षा न कर सके।" (पृ० १०), "ईसाई धर्मप्रचारकों द्वारा पुनः हिन्दूधर्म हृदय पर बहुत ही धक्के लगे, तो पुनः तमोगुण प्राप्त हुए सनातन धर्म ने करवट ली।" (पृ० १०) 'इस बात को अवश्य ही स्वीकार करना होगा कि पंडितवर राजा राममोहन राय जी का प्रतिष्ठित ब्रह्मसमाज और यतिवर स्वामी दयानन्द सरस्वती जी का प्रतिष्ठित आर्य समाज इन दोनों मतों से सनातन धर्म को उसके आपत्काल में बहुत ही सहायता मिली (पृ० ११) फिर, 'असाधारण बुद्धिमती परम विदुषी श्रीमती मैडम ब्लैभस्की उत्पन्न हुई।" (पृ० १२)

विशेषत: श्रीमती उसी जाति की थी कि जिसके द्वारा आर्यप्रजा की श्रद्धा का नाश हुआ था, इसी कारण जब उसी जाति की एक असाधारण तेज और शक्तिसम्पन्ना विदुषी के द्वारा अपने आर्य विज्ञान के अनुकूल उपदेश आर्यप्रजा को मिलने लगे तो तुरंत ही वे अपने भूले हुए स्वरूप को जानने में समर्थ होने लगे। वास्तव में श्रीमती की असाधारण शक्ति प्रतिभा और पुरुषार्थ के द्वारा तथा उनके शिष्य परम्पराय (बवजन

सांपराय ?) द्वारा इस समय के धर्मप्रवाह की उन्नति करने में बहुत ही सहायता मिली' (पृ० १४)। वर्णों में ब्राह्मण श्रेष्ठ स्थानीय हैं, और आश्रम में संन्यास शीर्ष स्थानीय है अतः ब्राह्मणों के भी गुरु 'संन्यासी' ही कहाते हैं (पृ० १५) [यह पूजा पकाना है]; धर्म पुरुषार्थ में दोनों गुरु ही लगे। "जिनमें से धर्मप्रचार कार्य में शारदा मठाधीश परमहंस परिव्राजकाचार्य पूज्यपाद श्री स्वामी मद्रा(?) जराजेश्वर शंकराश्रम शंकराचार्य जी महाराज ने और विद्या प्रचार के विषय में परमहंस परिव्राजकाचार्य पूज्यवाद श्रीमान् स्वामी ब्रह्मनाथ आश्रमजी महाराज ने [वज़न खूब बराबर मिलाया है] बहुत कुछ कार्य किया [प्रथम ने तो उपदेश-यात्रा की और दूसरे ने ?]। 'संस्कृत ग्रंथों के अनुसन्धान करने में इटावा नगरस्थ पुस्तकोन्नतिसभा' के 'असाधारण कार्य' [है !] और पंजाब की धर्म-सभाओं और बंगाल की हरि-सभाओं के बहुत कुछ सत्पुरुषार्थ को शाबासी देकर लिखा गया है—

'प्रथम हरिद्वार तीर्थ के महाकुम्भ मेले के समय वर्ण गुरु ब्राह्मणों के द्वारा [नाम तो दिया होता ?] भारतधर्ममहामण्डल नामक महासभा का जन्म हुआ। तदन्तर त्रिवेणी तीर्थ के महाकुम्भ के मेले के समय आश्रमगुरु संन्यासीगणों के द्वारा निगमागम मण्डली नामक दूसरी महासभा की सृष्टि हुई, एक ने प्रचारकार्य और दूसरी ने प्रबन्ध कार्य (सच्चे ही ?) में सफलता प्राप्त की। और तत्पश्चात् कलेर्गताब्दाः ५००१ से दोनों का पुरुषार्थ एक होकर कार्य करने का सुअवसर हुआ' तो 'उक्त दोनों सभाओं के सम्मेलन से कलेर्गताब्दाः ५००२ में श्री मथुरापुरी के महाअधिवेशन में नियमबद्ध विराट् सभा 'श्रीभारतधर्ममहामण्डल' का जन्म हुआ (पृ० १७)। परम आनन्द परिपूर्ण कैलास-कानन में शिवशक्ति सम्मेलन से जिस प्रकार परमपद रूपी मुक्तिफल की प्राप्ति होती है उसी प्रकार भारत कानन में इस धर्ममण्डल व धर्ममण्डली के सम्मेलन द्वारा मानो त्रिताप से तापित आर्यजाति को धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूपी फलों की प्राप्ति कराने के लिए श्री भारतधर्ममहामण्डल की उत्पत्ति हुई है।' (पृ० १८) [यह तो किसी रसिक ने लिखा है] 'निरपेक्ष विचार द्वारा यह मानना ही पड़ेगा कि पूज्यपाद त्रिकालदर्शी महर्षिगणों के तिरोभाव के अनन्तर राजकीय सार्वभौम सुशासन के विचार से स्थायी सुअवसर आर्य-जाति को अभी मिला है।' (पृ० १९) 'सनातन धर्मावलम्बी समाज में धर्मानुशासन का **यथा देशकाल और यथा सम्भव अधिकार** प्रवृत्त कराकर धर्म का पुनरभ्युदय और सद्विद्या का विस्तार करने के अर्थ ही सर्वशक्तिमान् श्री हरिः की अपार कृपा से इस विराट् सभा की उत्पत्ति हुई है।' (२०) इस वंशावली और प्रतिज्ञा से प्रथम अध्याय 'आर्यजाति की दशा का परिवर्तन' बताकर समाप्त होता है।

द्वितीय अध्याय में **चिन्ता का कारण** वर्णित है। वैज्ञानिक युक्तियों के सहारे सृष्टि जाति और ब्रह्म का विचार करके जरायुज जाति की चार संज्ञा की हैं, यथा—आर्य जाति, अनार्यजाति, उन्नत पशुजाति और निकृष्ट पशुजाति।' (पृ० २४)। निगुण-विभाग से वर्णचतुष्टय के भेद को समझाकर, मानसिक सृष्टि का वर्णन करके, 'महा-भारत' के (शान्तिपर्व : अध्याय १८८); श्लोक उद्धृत करके चातुर्वर्ण्य का निम्नगामी स्रोत समझाया गया है—

असृजत् ब्राह्मणानेव पूर्वं ब्रह्मा प्रजापतीन्।
आत्मतेजोभिनिर्वृत्तान् भास्कराग्निसमप्रभान्॥
न विशेषोस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्।
ब्राह्मणाः पूर्वसृष्टा हि कर्मभिर्वर्णतां गताः॥
कामभोगाप्रयस्तीक्ष्णाः क्रोधनाः प्रियसाहसाः।
त्यक्तस्वधर्मा रक्तगांस्ते द्विजाः क्षत्रतां गताः॥
गोभ्यो वृत्तिं समास्थाय पीताः कृष्युपजीविनः।
स्वधर्मान्नानुतिष्ठन्ति ते द्विजाः वैश्यतां गताः॥
हिंसानृतप्रिया लुब्धाः सर्वकर्मोपजीविनः।
कृष्णाः शौचपरिभ्रष्टास्ते द्विजाः शूद्रतां गताः॥

यों जाति-भेद-हीन-काल का उल्लेख करके पूर्वकथित जड़प्रवाह और चेतनप्रवाह के जीव सम्बन्धी विज्ञान की आलोचना द्वारा सिद्ध किया है कि "कोई जाति अपने कर्मों को उन्नत करने पर एकाएक उन्नत नहीं हो सकती क्योंकि आदि में पूर्ण मानव की उत्पत्ति हुई है और मनुष्य के अन्तःकरण की स्वाभाविक गति अधोमुखी है।" (पृ० ३५), 'तमोगुण पक्षपातिनी एशिया वा अफ्रिका की विशेष विशेष जातियां' रजोगुणपक्षपातिनी वर्तमान यूरोप और अमेरिका की विशेष विशेष जातियां, और सत्त्वगुणपक्षपातिनी आर्यजाति के वहिःआचारों में बहुत ही अन्तर देख' (पृ० ३७) कर साभिमान कहा गया है कि 'अपने जातीय भाव की रक्षा तभी हो सकती है, अपना जातिगत जीवन तभी रह सकता है जब तक वह जाति अपनी जातिगत रीति, नीति, खान, पान, भूषण, आच्छादन, भाषा और सदाचार में दृढ़ और तत्पर रहती है। पृथिवी भर में केवल आर्य जाति ही तेजस्वितापूर्वक कह सकती है कि हम ही अपने क्षेत्र की पवित्रता की रक्षा करने में समर्थ हैं।'(पृ० ३८); वारम्बार पराजित होने पर भी आर्यजाति स्वरूप को बिल्कुल न भूल सकी, क्योंकि 'किसी जाति की शक्ति लघु होने पर ही वह दूसरी जाति से नाश को प्राप्त हुआ करती है।···आज तक कितनी विदेशीय जातियों ने इस भूमि को जय किया है वे सब ही आध्यात्मिक विचाररूप सात्विक शक्ति के विचार से इस आर्यजाति से लघ ही रही हैं। इसी कारण राजसिक अवनति की पूर्णता को प्राप्त करने पर भी··· यह मृतप्राय होने पर भी अभी तक जीवित ही है।' (पृ० 41-42), धर्मप्राण 'आर्यजाति को अपने (?) राजसिक शक्ति के नाश का विशेष विचार नहीं है। यदिच बुद्धिमान् गणों को अभी तक इस प्रकार का भय तो नहीं उत्पन्न हुआ है कि आर्यजाति में से सात्विक शक्ति भी जाती रही है, तथापि दूरदर्शी पुरुषगण अब बहुत कुछ सन्देह करने लगे हैं। सदाचार-पालन की ओर से आर्यजाति की प्रकृति दिन प्रतिदिन तीव्र वेग के साथ घटती जाती है। हिन्दूधर्म समाज के विषय-वैराग्य का प्रवाह घटकर दिन प्रतिदिन विषय-तृष्णा का प्रबल वेग होता जाता है' (पृ० ४२), 'अन्तःशुद्धि जो सनातनधर्म का प्रधान लक्ष्य था उसका लोप होकर बाह्याडम्बर की ओर इस जाति का अधिक लक्ष्य पड़ने लगा है। परोपकार-प्रवृत्ति, स्वजाति अनुराग, स्वदेश-प्रेम, उत्साह, न्याय-दृष्टि, सरलता,

पवित्रता, ऐक्य, आस्तिकता, शौर्य, पुरुषार्थ, शक्ति आदि मनुष्य-जाति की उन्नत गुणावली का अभाव इस जाति में दिन प्रतिदिन बढ़ता जाता है। गुण-परीक्षा की शक्ति समाज में से बिल्कुल ही जाती रही है, समाज में यहां तक लघुता आ गई है कि जो महापुरुष देश के लिए, जाति के लिए और अपने प्रिय सनातन धर्म के लिए कदाचित् आत्मोत्सर्ग करते हैं उसी को लोग स्वार्थी, प्रवंचक और कपटी समझकर उसके साथ दुर्व्यवहार करने में प्रवृत्त होते हैं और बाह्याडम्बरयुक्त स्वार्थी लोग धर्मसेवी माने जाते हैं।' (पृ० ४३), [यह वाक्य शायद 'राघवेन्द्र' साहब की नज़र से भी गुजरना चाहिए] इसलिए 'इस निम्नगामी स्रोत को रोकने के लिए प्रबल यत्न होना उचित है।'

व्याधि निर्णय नामक तृतीय अध्याय भारतवर्ष की पूर्ण ओजस्विनी स्तुति से आरम्भ होता है। 'मुसलमान साम्राज्य के समय में आर्यजाति बहुत ही अधःपतित हो जाने पर भी अपने स्वजातिभाव को विस्मृत नहीं हुई थी। उस समय का इतिहास-पाठ करने से यही प्रतीत होता है कि उस घोरतर आपदकाल में भी यह आर्य्यजाति अपनी रीति, नीति, धर्म, कर्म, शिल्प, वाणिज्य, वेश, भाषा और सदाचार आदि आर्यभावों को विस्मृत नहीं हुई थी।' (४९); अंगरेज राज्य ने कुछ सैन्यबल लेकर भारतवर्ष को जय नहीं किया है किन्तु 'गुण प्रभाव के कारण आलस्य तथा प्रमाद पक्षपाती भारतवासियों ने कर्मठ और बुद्धिमान् अंग्रेज जाति को अपना रक्षक करके मान लिया है।' (पृ० ५३); यों 'अति प्राचीनकाल से जो भाति जगद्गुरु नाम से प्रसिद्ध थी उसी आर्य्य जाति की वर्तमान हीनावस्था देखकर पृथ्वी के अन्यान्य जातिगण उपहासपूर्वक अंगुली उठाने लगे हैं।

अनुकरणशून्यता और एकता के न होने में जातीय भाव की उन्नति नहीं हो सकती, एवं बिना जातीय भाव की रक्षा के कोई जाति चिरकाल पर्यन्त जीवित नहीं रह सकती (पृ० ५५); सूक्ष्म विचार द्वारा यह अनुमान में आ सकता है कि नाना प्रकार से लांछित और पीड़ित होने पर भी मुसलमान साम्राज्य के समय इस आर्य्यजाति के सात्विक तेज की इतनी क्षति नहीं हुई थी जितनी अब इस नवीन समय में प्रतीत होती है, (पृ० ६३), क्योंकि 'इस वर्तमान शान्तियुक्त साम्राज्य में अभी तक जातिप्रभाव की कोई भी उन्नति नहीं दीख पड़ती। इस बीच में ऐसे कोई धर्मोद्धारक नहीं प्रकट हुए' (५६); और शिल्प-वाणिज्य, और मातृभाषा का नाश होकर सब में विदेशीय भाव की ज्वाला लग गई है। इस प्रमादवृत्ति की अपूर्व लीला देखकर कभी तो चित्त में हास्यरस का उदय होता है, कभी घोरतर करुणा से हृदय विदीर्ण होने लगता है (६१); यों 'कर्म-भ्रष्ट, तपोभ्रष्ट, धर्मभ्रष्ट, आचारभ्रष्ट, और शक्तिभ्रष्ट' (६२) होने का कारण यह है कि 'जाति में जातिगत पुरस्कार अथवा जातिगत तिरस्कार दोनों प्रकारों की ही रीति एक बार ही लुप्त हो गई है।' (पृ० ६४); [सत्य है, परन्तु क्या लेखक को यह नहीं सूझा कि जिसके हाथ में जातिगत पुरस्कार या तिरस्कार है या जिनके हाथ में वे हमको देना चाहते हैं, वे उसके मुन्सिफ बनने में अपनी अयोग्यता सिद्ध कर चुके हैं, और उनकी अयोग्यता ही जातिबन्धन की शिथिलता की जड़ है और बिना उन्हें पूरी तौर से हिलाए या गिराए **जाति की सात्विक शक्ति** नया जीवन नहीं पा सकेगी ?]

'सफलता का बीजमन्त्र नियम है। अनुशासन के द्वारा ही नियम की रक्षा हुआ करती है।' (पृ० ६७)। यह **औषधि प्रयोग** नामक चौथे अध्याय का आरम्भ है। इस अनुशासन को 'योगानुशासन, 'राजानुशासन' और 'शब्दानुशासन' में बांटा है, जिसमें राजानुशासन गौण माना गया है, और प्रथम को वर्तमान समय के अनुपयुक्त बताया गया है। शब्दानुशासन के आचार्याज्ञा और शास्त्राज्ञा दो भेद किये गए हैं, और 'तथापि लोक हितार्थ आचार्यानुशासन को ही प्रधान अवलम्बन समझ सकते हैं।' (पृ० ७२); गुरु और आचार्य्य एक ही भावप्रकाशक हैं (पृ० ७३) और 'अज्ञानयुक्त कलियुग' में मनुष्यों की बुद्धि बहुत ही मलिन हो गई है, अतएव आचार्यानुशासत की ओर भी दृढ़ता होना उचित है। (पृ० ७४)

प्रत्यक्ष दण्ड की बड़ी भारी आवश्यकता है, परन्तु आचार्यानुशासन अधिक हितकारी हो सकने पर भी राजदण्ड के आश्रय से चल सकता है (७६) परन्तु सम्राट् अन्य धर्मावलम्बी होने के कारण सामाजिक अनुशासन ही से आर्य्यजाति का कल्याण हो सकता है; (७७) इस समय सामाजिक अनुशासन की बहुत कुछ प्रशंसनीय रीति यूरोप और अमेरिका के मनुष्य समाज में देखने में आती है (७८); 'राजनीति विचार के यदिच आज दिन यूरोपीय जाति ने नाना नूतन आविष्कार कर दिखाए हैं परन्तु उनका राजनीतिक विज्ञान सदा परिवर्तनशील ही देखते में आता है, किन्तु आर्य राजनीति अपरिवर्तनशील तथा दृढ़ है'; 'प्रजातन्त्र भाव को तो सनातन धर्मावलम्बी स्वीकार ही नहीं कर सकते, उनकी दृष्टि में प्रजातन्त्र भाव को तो अधर्म का भावी पर अनुमान होता है।' (पृ० ७९); [लेखक महात्मा जो घबरा रहे हैं कि कहीं प्रजातन्त्र का नाम भी पसन्द हो जाएगा तो हमारी लाठी पर कोई न नाचेगा। प्रजातन्त्र ही संसार का भविष्य है, और 'संगच्छध्वं संवदध्वं' आदि श्रुति और 'संघशक्तिः कलौयुगे' आदि स्मृति से वह भारतवासियों के धर्मानुकूल है। यदि आचार्य वास्तव में 'आचारं ग्राहयति' के योग्य हों तो लोग उनका चरण धोवेंगे और वे नेता ही रहेंगे। परन्तु यदि आजकल की तरह जिस किसी काषायाम्बरधर को वा तिलकावृत्तभाल को पोप वा जगद्गुरु बनाना ही महामण्डल का एकमात्र औषधि प्रयोग है, तो उसे दूर ही से प्रणाम है।

धर्माचार्य बहुत पुज चुके और बहुत खा चुके। बस पन्द्रहवीं शताब्दी मरी परिपाटी को क्यों जगाया जाता है? इससे ही राजभक्ति की दुहाई दी जाती है। इसीसे पुण्यलोक लक्ष्मीश्वर सिंह (जिनने कांग्रेस के आपत्काल में विशाल प्रासाद देकर उसकी प्राणरक्षा की थी) के अनुज सुरेन्द्र बाबू और 'वन्दे मातरं' के सम्बन्ध से स्वदेशी यूनिवर्सिटी से भागते हैं? अप्रसंग तो है, पर प्रश्न है कि सारी हिन्दू जाति की तरफ से मंडल युवराज की जो मंगलकामनापूर्वक एड्रेस देना चाहता था और जो काशी और प्रयाग के उत्सवों का प्रधान उद्देश्य बनाया गया था, वह एड्रेस क्या हुआ? युवराज तो भारतवर्ष से विदा भी हुए पर उस विचार एड्रेस की सफलता नहीं सुनी गई। धर्माचार्यों और मठाधीशों की अभ्रान्तता और योग्यता अब स्वप्न हो गई है, मण्डल उसे फिर क्यों जगाना चाहता है? जिस दिन आचार्य महापुरुष बन जाएंगे, या समय के भूमिकम्प से महापुरुष आचार्य बन जाएंगे, उस दिन उनके अनुशासन, नैपोलियन की तरह पुज जाएंगे। मण्डल

उस वांछित परिवर्तन का मार्ग सुगम करें, 'चारों मठों की श्रीवृद्धि तथा अन्यान्य साम्प्रदायिक आचार्य स्थानों की उन्नति करते हुए आचार्य मर्यादा की पुनः स्थापना' (पृ० ८४); आचार्यों की योग्यता के पहले क्यों करता है ? इसके पीछे मण्डल और प्रान्तीय धर्मसमाजों की बनावट और प्रबन्ध का स्कीम है।

प्रान्तीय वा प्रधान सभापति के अनुशासन (जैसे पोप के बुल ?), देश भर में अकीर्ति विस्तार, तिरस्कार और पुरस्कार को कार्यक्रम मानकर 'आर्यजाति की पुनरुन्नति तथा सनातनधर्म का पुनरभ्युदय होना निश्चय' कहा गया। (पृ० ८६) खैर, इस कागजी कल्पना के बाद 'वर्णों के नेता ब्राह्मण, और वर्णों के गुरु तथा आश्रमों के नेता संन्यासियों के वर्तमान आचार-विचारों का संस्कार अवश्य ही होना उचित' माना गया है। 'सांसारिक लोग प्रायः ऐसा विचार करते हैं कि ज्ञानवान् होने पर ही, संन्यास आश्रम-धारी होने पर ही, जड़वत् निश्चेष्ट हो जाना उचित है।' (९२)। इस पूर्वपक्ष को उठाकर, युक्ति से, गीता के वाक्यों का प्रकृतानुग अर्थ देकर, सिद्ध किया है कि 'जो पुरुष कर्मफल की इच्छा न रखकर अवश्य कर्तव्य समझते हुए विहित कर्म किया करते हैं वे ही संन्यासी हैं; और निष्काम पुरुषार्थ की पूर्णावस्था ही संन्यासपद वाच्य है।(पृ० ९४); निष्काम कर्म योग की बहुत कुछ स्तुति की गई है। [इस हिसाब से कई 'उदर निमित्तं बहुकृतवेशः' की अपेक्षा श्रीमान् गोखले और तिलक ही 'निष्काम कर्म में जो कर्म का न होना मानते हैं और बलपूर्वक कर्म-त्गाग में जो कर्म का होना अनुभव करते हैं मनुष्यगण में वे ही यथार्थ में बुद्धिमान् हैं और पुरुषार्थकारी होने पर भी वे ही ब्रह्म में युक्त अर्थात् जीवन्मुक्त हैं।' (पृ० ९८)

यदि आलस्यकलहपरायण वर्तमान काषायवस्त्रधारी मनुष्यों में मण्डल यह भाव फैला देवे, तो क्या ही कहना। उपसंहार में, 'ब्रह्मचर्य आश्रम की पुनः प्रतिष्ठा करके निष्काम व्रतपरायण मनुष्य उत्पन्न करने पड़ेंगे, प्रत्येक गृहस्थ को यथासंभव निष्काम कर्म की प्रतिज्ञा करके गृहस्थ आश्रम में प्रवृत्त होना पड़ेगा, कर्मयोगी वानप्रस्थ आश्रम-धारी पुरुषगण जब दिन और रात लोकहित में प्रवृत्त होंगे और संन्यास आश्रम का एक मात्र अवलम्बन जब श्रीगीतोपनिषद् का विज्ञान हो जाएगा, उसी समय इस घोर रोग की शान्ति होगी। अनुशासनाभाव रूपी क्षयरोग के साथ स्वार्थपरता रूपी वीर्यभंग रोग की उत्पत्ति से आर्य जाति की दशा अब बहुत ही कठिन और शोचनीय हो गई है।' (पृ० ९९)

सुपथ्य सेवन नामक पञ्चमाध्याय का आरम्भ 'प्रकृतिपुरुष-विज्ञान के सिद्धान्त' से यह सिद्ध करने से होता है कि 'यदि सृष्टिकर्ता आदिपुरुष और सृष्टिकर्त्री मूलप्रकृति के साथ नर और नारी देह का समष्टि और व्यष्टि सम्बन्ध विज्ञान सिद्ध है तो यह भी मानना ही पड़ेगा कि उसी आदि नियम के अनुसार नारी शरीर की शारीरिक और मानसिक चेष्टाएं निजपति के सम्पूर्ण अधीन रहना स्वभाव अनुकूल है। (पृष्ठ १०२); पृ० १०४, ५ में विज्ञान के नाम से बहुपत्नी विवाह और पुरुषों के दुराचार को सहारा दिया गया है। 'धर्माधर्म से अतीत कोई भी स्थान अथवा वस्तु नहीं है।' (पृ० १०७), इससे मनुष्य समाज में नर और नारी दोनों का कदापि समान अधिकार नहीं हो सकता।

(पृ० १०५); पीछे कन्या विवाहकाल-निर्णय करते समय, सृष्टि क्रिया में नारी देह ही प्रधान है', 'बालक और बालिका इन दोनों के शरीर की प्रकृति को जब देखते हैं तो यही सिद्धांत होता है कि अष्टवर्ष का बालक परमहंसवत् निर्द्वन्द्व ही रहता है, परन्तु अष्ट-वर्ष की कन्या अपने आपको नारी शरीर मानकर लज्जा, शीलता, संकोच आदि गुणों से युक्त हो जाती है। (पृ० १०९); [क्या बालक में यह शताब्दियों के अज्ञान और पराधी-नत्व का फल नहीं है और कन्याओं में शताब्दियों की जड़ता; दासत्व और श्वश्रू और माता के दबाव का निवारणार्ह परिणाम नहीं है?] 'स्त्री-प्रकृति स्वभावतः मोहमयी और चञ्चला है। उसका पूर्णरूपेण शुद्ध रहना तभी सम्भव है कि नारी-शरीर अपनी चंचलता को प्राप्त करने से पूर्व ही विवाह-संस्कार द्वारा पतिकेन्द्र स्थापनपूर्वक सीमा-बद्ध हो जाए, तो उस अन्तःकरण में पुनः चंचलता होने पर भी अन्य अधर्म संस्कार पड़ न सकेंगे (पृ० १११), 'धर्मशास्त्र विरुद्ध लोक अकीर्ति कर और पापजनक विधवा विवाह का सिद्ध होना तो सम्भव ही नहीं सिद्ध किया है। (पृ० १११); नारी जाति की पवित्रता वृद्धि और उसकी आध्यात्मिक उन्नति जितनी की जाएगी उतनी वर्तमान सामाजिक रोग की शान्ति होगी। (पृ० ११२)

इसके आगे शिक्षा की समीक्षा चली है। मातृभाषा को शिक्षा का प्रधान आश्रय बताया है। संस्कृत की प्राचीन शिक्षा पूर्ण परन्तु एकदेशीय होने के कारण एवं नवीन संस्कृत शिक्षा विस्तृत परन्तु असम्पूर्ण रहने के कारण वर्तमान दोनों प्रकार की संस्कृत शिक्षाप्रणाली ही भारतवर्ष के सर्वसाधारण जनों को पूर्ण फलदायी नहीं हो सकती हैं।' (पृ० ११८); 'फलतः आजकल केवल मुख से जो धर्म-धर्म कहने की रीति प्रचलित होती जाती है वैसे वाचनिक धर्म से भारत का कल्याण होना सर्वथा असम्मव है। (पृ० ११९); इसीलिए शिक्षा-प्रचार आवश्यक है। 'लौकिक शिक्षा के प्रचार करने में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र का विचार कदापि करना उचित नहीं है। धर्म के क्रिया सिद्धांश शिक्षा देने में और वेद तथा वैदिक विज्ञान के शिक्षा देने में अवश्य ही वर्णाश्रम अधिकार का विचार रखना कर्तव्य है। तुरन्तु आर्य जाति के पुनरभ्युदय के अर्थ जब तक सार्वजनिक शिक्षा का विचार न किया जाएगा तब तक सफलता की सम्भावना नहीं है।'(पृ०१२१); यहां से शारदामण्डल का कागजी स्कीम आरम्भ होता है। 'विशुद्ध हिन्दी भाषा ही को'···'थोड़ा-सा यत्न करने पर ही'···'सर्वसाधारण भारतवासियों के लिए केन्द्ररूपेण स्थापित करना' और परम विशुद्ध स्वर्गीय संस्कृत भाषा को पितृस्थानीय और इस हिन्दी भाषा को मातृस्थानीय करके ज्ञान-राज्य में लालित पालित करने की' (पृ० १२४) सम्मति दी गई है। ब्राह्मण धर्म्मोन्नतिकारी शिक्षाविस्तार ही के साथ शिल्प, वाणिज्य और कृषि की उन्नति के (!) उपयोगी शिक्षा का भी विस्तार होना उचित है।' (पृ० १२८); इसमें तो सन्देह नहीं कि जब तक संन्यास आश्रम की पुनः प्रतिष्ठा नहीं होगी, जब तक संन्यासीगण निष्काम व्रत की पराकाष्ठा को पहुंचते हुए सदा लोक-हित कार्यों में रत न रहेंगे तब तक आर्य्य जाति की उन्नति असम्भव है (पृ० १२८); इससे गृहस्थ-आश्रम में एक निवृत्ति-मार्ग की श्रेणी बनाकर शिखासूत्र की रक्षा करवाते हुए कर्म-संन्यासियों और निष्काम कर्मयोग परायण कुछ कामिनीगण को, वर्तमान सामाजिक घोर

रोग का शान्तिकारक पथ्य बताकर यह अध्याय समाप्त होता है।

बीज रक्षा छठे अध्याय का माम है। धर्म के कुछ तत्त्वों का वर्णन करके कहा है कि 'सनातनधर्म के इन अङ्गों में से किसी एक को भी पूर्णरूपेण सात्विक रीति से साधन करने से मुक्ति पद तक पहुंचना होता है।' (पृ० १३५); और इसका दृष्टान्त बौद्ध धर्म और जापान की उन्नति से दिया गया है। 'सनातनधर्म ही बहु पुत्रवान् पिता की न्याईं पृथिवी के वैदिक अथवा अवैदिक सब धर्मसम्प्रदायों का प्रतिपालक है।' (पृ० १३६); प्राचीन सम्प्रदाय-भेद का वर्णन करके, आधुनिक 'ग्रन्थों के आचार्यों ने आर्य शास्त्रानुशासन के अतिरिक्त कुछ नवीनता भी कर ली है। इन सब पन्थों में एक विलक्षणता यह है कि वास्तव में चार वर्ण और चार आश्रम के स्थान पर इन्होंने केवल दो आश्रम (गृहस्थ और विरक्त) और दो वर्ण (दीक्षित और अदीक्षित) ही नियत रक्खे हैं।' (पृ० १३८); यह कहकर वर्णाश्रम-धर्म की जन्ममूलकता पर कुठाराघात किया है। 'इस काल में चतुर्थाश्रम नाम से कितना प्रपंच हो रहा है सो आश्चर्यजनक है, प्राचीनकाल में चतुर्थाश्रम में बहुत अल्पसंख्यक तत्त्वदर्शी ब्राह्मण भी पहुंचा करते थे, परन्तु अब नीच-से-नीच जाति पर्यन्त इस आश्रम के वेश और नाम को धारण करके वर्ण और आश्रम धर्म का नाश कर रहे हैं। इस प्रकार के पंथाई अनाचारों से सनातनधर्म को बहुत कुछ हानि पहुंची है किन्तु [इतना ही स्वतन्त्रता से कह दिया सो बहुत किया]···सम्प्रदाय और पंथसमूह सब ही वेदानुयायी कहे जा सकते हैं।' (१३९); पीछे आर्यसमाज और ब्रह्मसमाज को किंचित् वेदानुयायी कहा है और 'दूरदर्शी पुरुषों का यही विचार है कि अपने निज कुल की ही होने पर भी कालान्तर में सनातनधर्म के साथ विरोध की न्यूनता करके ये उसके एक पन्थ ही बन जाएंगे।' (पृ० १४०); आगे नैकट्य सम्बन्ध के विचार से बौद्धधर्म, जैनधर्म और, पारसी धर्म को लेकर बौद्धधर्म को 'वैज्ञानिक भावों की उन्नति के विचार से उत्तम' कहा है और 'उनमें जितने दोष हैं वे अधिदैव सम्बन्ध से दूर हो सकते थे, इसी कारण सनातनधर्म रूपी पिता की ताड़ना है, नहीं तो सनातनधर्म अन्य धर्ममतों के साथ विरुद्धाचरण करना जानता ही नहीं। वैज्ञानिक दृष्टि से पृथिवी भर के सब वैदिक और अवैदिक धर्ममत समूह ही समदर्शी सनातनधर्म के निकट पुष्टि और तुष्टि के योग्य हैं, केवल आचार के तारतम्य से ही धर्ममतों को वैदिक और अवैदिक संज्ञा में विभक्त किया जाता है।' (१४२)

इस निरपेक्ष और सार्वभौम दृष्टि (पृ० १४२) से यहूदी, ईसाई और मुसलमान धर्मों के आचार्य्यों की सनातनधर्म के गम्भीर सिद्धान्तों को समझने की योग्यता थी अथवा न थी, इसके विषय में विचार करने की विशेष आवश्यकता नहीं है, परन्तु यह तो स्वीकार ही करना पड़ेगा कि उनके पशुवत् देशवासीगण उस समय सनातनधर्म के सिद्धान्तों के समझने की योग्यता नहीं रखते थे' (पृ० १४३); 'यद्यपि शास्त्रों में अभ्युदय का अर्थ 'स्वर्ग' और निःश्रेयस का अर्थ 'मोक्ष' कहा गया है परन्तु यह मानना ही पड़ेगा कि जिससे जीवों की क्रमोन्नति हो उसी को 'अभ्युदय' कहते है। (पृ० १४४) बाइबल आदि ग्रन्थों के पाठ से उन्हें 'शास्त्रीय ग्रन्थों के छाया से अनुवादित' कहा है और 'उन

धर्म-मतों की ईश्वर-भक्ति, दान, तप आदि धर्माङ्गों का स्थूल अवलम्बन, उनकी स्वर्ग-सुखभोग की सद्भावना, उनकी उपासना-विधि में स्तुति और जप साधन का अस्तित्व आदि धर्माङ्ग और उपाङ्ग सनातनधर्ममूलक हैं।'(पृ० १४५); बहुपुत्रवान् स्नेहमय पिता के सदृश सनातनधर्म ही ज्ञान ज्योति की सहायता देकर पुत्ररूपेण उनकी रक्षा कर रहा है।' परन्तु 'काल दुरत्यय है' काल के जिस विभाग में जिस प्रकार के गुण का परिणाम हुआ करता है सो अवश्य ही होगा।(पृ० १४७); जिस युग में मनुष्यों की जैसी उत्पत्ति और उनके जैसे-जैसे गुणकर्म स्वभाव होना निश्चय है सो अवश्य ही होगा।(पृ० १४६); जिस प्रकार एक ऋतु में उत्पन्न होने वाले अन्नों के बीज की रक्षा अति सावधानता-पूर्वक दूसरे ऋतुओं में इस विचार से कृषिजीवीगण किया करते हैं कि जिससे उक्त अन्नों की उत्पत्ति का जब पुनः ऋतु आवै तो सुरक्षित बीज से पुनः अन्न उत्पन्न हो सके, उसी प्रकार इस घोरतम प्रधान कलियुग में अन्य युगों के अन्तर्भाव होते समय धर्म और सद्विद्या की बीजरक्षा होना विज्ञानसिद्ध है। (पृ० १४९); [यह निराशा का मूल मन्त्र है। यदि यह टूटी कमर ही महामण्डल की आशा की लकड़ी है तो कुछ नहीं होगा। पुरुषार्थी का लक्ष्य बृहत् और सदाशामय चाहिए। बीजरक्षार्थी पेड़ों को सुखाकर बीज रखते हैं।] आजकल 'जब सब वर्ण तथा उनकी क्षुद्र क्षुद्रकाएं अपनी-अपनी अढ़ाई चावल की खिचड़ी अलग-अलग पकाने में यत्नवान् हैं। (पृ० १५०); जब पक्षपाती आचार्यों में परस्पर विरोध करना ही साधनाङ्ग समझा जाता है। (पृ० १५१); जब धर्मविरुद्ध, स्तुति, निन्दा, ईर्ष्या, प्रमाद, खण्डन विग्रह, वाचालता, दम्भ, दोषदृष्टि, प्रेमराहित्य, वितण्डा और जल्प आदि की वृत्तियां उसके आचार्य्य उपदेशक और साधकों में दृष्टि-गोचर होती हैं(पृ० १५२), तब महाशा में फंसकर माया को तरते हुए अपौरुषेय वेदों का अधिकार सर्वोपरि रखकर यथा देश, काल, पात्र, भारतवर्ष के सब प्रान्तों में बीजरक्षा रूप से वैदिक कर्मकाण्ड के सब अंगों के क्रिया सिद्धांश की रक्षा करना सर्वथा हितकारी हैं।' (पृ० १६०); 'जगदीश्वर को नित्य शक्तियों के विभागानुसार ऋषि, देवता और और पितर उनकी साक्षात् विभूति हैं और इन तीनों की पूजा जिस जाति से जितनी अधिक रहती है वह जाति उतनी हो उन्नत ही जाया करती है और इनकी पूजा लोप होने के साथ-साथ जातियां नष्टभ्रष्ट हो जाया करती हैं।' (पृ० १६०), अन्यान्य जातियां 'पूज्यपाद महर्षियों के प्रीतिकर ऐसे अनेक कर्म करते हैं जैसे नियमित शास्त्रा-भ्यास की प्रवृत्ति, विद्या और विद्वानों पर श्रद्धा। स्वार्थत्याग, स्वदेशानुराग आदि धर्म-साधन द्वारा वे देवताओं के प्रति सम्पादन करने में स्वतः ही समर्थ हो रहे हैं। मातृसेवा की असाधारण प्रवृत्ति, अपने पूर्वजों की कीर्ति और सम्मानरक्षा आदि धर्मवृत्तियों से वे बिना पितृ यज्ञसाधन किए भी पितरों के आशीर्वाद के भाजन हुआ करते हैं।' (पृ० १६२); [प्रश्न उठ सकता है कि हम गन्धाक्षत छोड़कर उन्हीं की-सी पूजा स्वीकार क्यों न कर लें? या तो जिसे हम पूजा ही कहते हैं, वह पूजा ही नहीं और या अब देवता, पितर और ऋषि दूसरी तरह की पूजा चाहकर तदनुसार प्रसन्न होने लग गए हैं।] बीजरक्षा में एक आदर्शप्रदेश बनाए रखने का परामर्श दिया गया है जहां शास्त्रों की पूर्ण मर्यादा की कालोनी उसी तरह रहै, जैसे म्यूजियम में 'फोसिल्स' पड़े रहते

हैं। योग युक्त होकर समाधि दशा में शरीर-त्याग करना और धर्म युक्त होकर युद्ध में शरीर त्याग करना ये दोनों अभ्युदयकर हैं। इन दोनों संस्कारों की बीजरक्षा अवश्य कर्त्तव्य है। (पृ० १६५); संन्यास-आश्रम सब आश्रमों का गुरु स्थानीय है परन्तु उसकी बीज-रक्षा में असुविधा यह है कि इस आश्रम पर अन्य किसी का भी आधिपत्य नहीं है, संन्यासाश्रम स्वाधीन और प्रबल है। (पृ० १६५); इससे उसके पीठाध्यक्ष भी उसे सुधारें [हाथ जोड़कर निवेदन है कि जो धर्म की मारी खलकत इन्हें रोटियां खिलाती है वह क्यों न कुछ कहे? सब आश्रम गृहस्थ का उपजीवन करते हैं। हिन्दू-समाज के संशोधकों को यह मालूम होता है कि ब्राह्मणों या नाम मात्र ब्राह्मणों का अत्यधिक और दुरुपयुक्त प्राबल्य भी हिन्दू-धर्म का अधिक अवनतिकारक है। समाज उस बन्धन को ढीला करने के लिए छटपटा रहा है जिससे योरोप में हिन्दू धर्म की परिभाषा ब्राह्मणों का रोटियां खा सकने का एकच्छत्र स्वाधीनत्व हो गई है। उस पर यह नया निगड़ डाला जाएगा क्या?]

अस्तु, सनातनधर्म के उन अङ्गों की बीजरक्षा सब तरह से कर्त्तव्य है जिनके द्वारा सनातन धर्म के महत्त्व का विकास बना रहे, प्रजा में ब्रह्मतेज और क्षात्रतेज की बीजरक्षा हो, वर्णाश्रमधर्म नष्ट हो सकें, सतीत्व का तीव्र संस्कार[1] आर्य नारियों में से विलुप्त न होने पावे, आर्य प्रजा में ज्ञानशक्ति और अर्थशक्ति बनी रहै और साथ ही साथ जाति का लौकिक अभ्युदय भी होता जाय। (पृ० १७३) तथास्तु।

सातवें अध्याय का आरम्भ कुछ खेंच-खांच से सिद्ध करता है कि 'श्रीभारतधर्म-महामण्डल' का विराट् धर्म-कार्य साधारणतः सर्वलोकहितकर और विशेषतः आर्यजाति का पुनरभ्युदयकारी होने से महायज्ञपदवाच्य है इसमें सन्देह नहीं। (पृ० १८०); उसके ठीक चलाने के लिए वेदव्यासजी के अनुसार—

त्रेतायां मन्त्रशक्तिश्च ज्ञानशक्तिः कृते युगे।
द्वापरे युद्धशक्तिश्च संघशक्तिः कलौ युगे॥

नियमबद्ध प्रबन्धशक्ति की उचित प्रधानता दिखाई गई है (टट्टी की ओट में पुतलियों का नाच कराया जाय तो यही आदर्श है)। सुकौशलपूर्ण कर्म को 'योग' कहते हैं। (पृ०१९१); और तदनुसार प्रतिनिधि के चुनाव करने का अधिकार देकर समझाया गया है कि ऐसे नियम द्वारा प्रजा की प्रतिनिधि चुनने की योग्यता बढ़ैगी। (पृ० १९३); (क्या यह प्रजातन्त्र नहीं है?) बड़ा सुन्दर प्रोग्राम और प्रोस्पेक्टस देकर पश्चिम शिक्षा से विकृत मस्तिष्क मनुष्यों के धर्महीन उन्नति के उन्माद का यों खण्डन किया गया है—"यह अति प्राचीन जाति अपने अति प्राचीन संस्कारों से इस प्रकार आबद्ध

१. माघ मेले पर न मालूम क्यों 'राघवेन्द्र' साहब डेली हुए थे। न उनने माघ मेले का इतिहास दिया, न समाचार। इधर-उधर के कटाक्ष और प्रलापों में उनका 'द्रिर्नाभि-भाषते' हो गया। उनने दरभंगा-नरेश की राजभक्तिमय वक्तृता के तर्जुमे में जो 'तीक्ष्ण-स्वार्थ' का फिकरा सूपयुक्त किया है उसीके वजन का यह तीव्र संस्कार है।

है तथा सर्व मनुष्य जाति की पितामह रूपी आर्य्य जाति अपने एक अलौकिक धर्म-सिद्धान्त और वैज्ञानिक भाव समूह के तीव्र संस्कारों से ऐसी ओतप्रोत है कि उनके बिना इस जाति की स्थिति और उन्नति असम्भव है। (पृ० २०५); वस्तुतः सनातन-धर्म भिन्नेऽवभिन्नं कई बाजों का मिला हुआ बाद्य है जो भिन्न-भिन्न होने पर भी एक मधुर स्वर देते हैं। (पृ० २०८); [यदि कोई असहिष्णु कर्णकटु तान छेड़कर स्वास्थ्य को न बिगाड़े तो] 'काल पितारूप है। पितृसेवा द्वारा जिस प्रकार पुत्र को सब प्रकार के कल्याण के साथ-ही-साथ उसको (?) समग्र पैतृक विभूति प्राप्त हो जाया करती है उसी प्रकार काल के अनुसार प्राकृतिक प्रवाह के अनुकूल चलने पर मनुष्य को सब प्रकार का अभ्युदय प्राप्त हुआ करता है और काल के विरुद्ध चलने पर विपत्ति और विफलता का होना अवश्य सम्भावी है। अस्तु, आर्य जाति को भी अपने सदाचार, अपने सद्भाव और अपने धर्म की रक्षा करते हुए काल-प्रवाह के अनुकूल आत्मोन्नति करना कर्त्तव्य है। (पृ० २०८) जिस प्रकार अन्य धर्ममतों के नेतागण पदार्थ-विद्या आदि ज्ञान की वृद्धि से भयभीत हुआ करते हैं उसी प्रकार सनातनधर्म के नेताओं को भयभीत होने का कुछ कारण नहीं है। (पृ० २०९); कालवादी, प्रारब्ध पक्षपाती और पुरुषार्थहीन व्यक्तिगण की इस दुःशंका का, कि काल के विरुद्ध कुछ भी पुरुषार्थ नहीं हो सकता, यों समाधान किया गया है कि एक काल विशेष में उत्पन्न हुए जीव समष्टि के कर्मों के द्वारा ही काल का स्वरूप भासमान होने लगता है, नहीं तो यथार्थ में काल निर्लिप्त और निर्विकार है (पृ० २११)। कर्म का फल अवश्य सम्भावी है। (पृ० २१३); इसके पीछे परात्पर परमेश्वर की स्तुति से लेखनी पवित्र करके लेखक अपनी इस रचना को समाप्त करता है।

इस पुस्तक को पढ़कर हृदय में यह भाव उठता है कि वर्तमान व्यवहार में जो धर्म का अर्थ लिया जाता है, उस अर्थ में यह धर्म की पुस्तक नहीं है। आजकल वह सार्वजनिक प्रीतिभाव 'जातीयता' के नाम से कहा जाने लगा है। यद्यपि नाम में कुछ नहीं है, और समाज में धारण की शक्ति रखने वाला विचार और उदार भाव ही कर्म, जातीयता, धर्मपरम, धर्म, ड्यूटी, सत्य वा राइट (ऋत) कहलाया करता है, तो भी यह पुस्तक जातीयता वा नैशनेलटी बना सकती है, और यदि यह महामण्डल का अनुशासन ग्रन्थ है, तो महामण्डल पहले जातीय भाव को रखकर धर्मभाव को उस पर चिपकाना चाहता है; न कि धर्मविहीन उन्नति को दुर्गति कहकर दुर्गति सहित धर्मान्धता को ही परमोन्नति मानता है। महामण्डल का वास्तव में जन्म खण्डन-मण्डन में हुआ था। समय प्रभाव से उसके सिद्धान्तों में इस प्रकार की सार्वभौमता आ गई कि विधवा-विवाह के आनुषङ्गिक खंडन के सिवा उसमें कोई भी सीधा या तिरछा आक्षेप औरों पर नहीं है। या यों कहो कि यह एक अकबरी धर्म की पुस्तक है। हमारे एक मित्र से, हमें सखेद निवेदन करना पड़ता है कि यह पुस्तक अकबरी धर्म की ही है। उनने एक महापुरुष के देशोपकारी कार्यों का अनुमोदन करने वाले एक मनुष्य को आत्मघात करने की सलाह दी है। यह मनुष्य चाहे आत्मघात करे, चाहे न करे, हम एक दूसरे मनुष्य के कई आत्मघात देख चुके हैं। एक काशी नागरी प्रचारिणी सभा के पुस्तकालय में से कृष्णपरीक्षा आदि

पुस्तकों के न निकाले जाने पर हुआ, एक रमेशचन्द्र दत्त के इतिहास के छप जाने पर त्रिवेणी में झम्पा हुई और एक प्रयाग में महासभा के सफलता से हो जाने पर हुआ होगा। शायद चौथा इस पुस्तक को पढ़ने पर होगा, क्योंकि यह खासा अकबरी धर्म है जो साम्प्रदायिक ईर्ष्या-द्वेष को बुरा मानता है, थियासाफी नाम पर ही नहीं चिढ़ता, और जापान और बौद्धधर्म तक को अपने उदार वक्षःस्थल से प्रेमपूर्वक लगाता है। अब वे लोग क्या कहेंगे जो राजनीति और देशप्रेम के फैलाने वालों को राममोहन राय का अनुयायी कहते हैं, जब महामण्डल ही स्वदेश के अभ्युदय को कर्त्तव्य कोटि में आगे रखता है जैसा हमारे दिए विपुल अवतरणों से स्पष्ट हो गया होगा ? परन्तु जिनका मत औरों के काम में दोष मात्र देखने और स्वयं कुछ भी न कर सकने या दाँत पीसने का ही मतवालापन है उन्हें इससे क्या शिक्षा मिल सकती है ? दूसरे का अभ्युदय देखकर दूसरे की योग्यता और ख्याति सुनकर, औरों का यश और परोपकार सुनकर जिन्हें पुराना दाह याद आ जाता है या जो पुराने घावों के हरे हो जाने से ईर्ष्या के चक्र में पिसने लगते हैं, उन्हें ईश्वर ही सुमति दे ! खैर—

परनिन्दासु पाण्डित्यं स्वेषु कार्येष्वनुद्यमः।
विद्वेषश्च गुणज्ञेषु पन्थानो आपदां त्रयः।।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : जनवरी-मार्च, १९०६ ई०]

'भारतमित्र' की उपहार पुस्तकें

'भारतमित्र'-सम्पादक से हम क्षमा मांगते हैं कि उनके इस वर्ष के उपहार की हम अब तक समीक्षा न कर सके और आज भी और विषयों में अधिक समय दे चुकने पर अपना वक्तव्य संक्षेप में कहते हैं। हिन्दी के पत्रों में सबसे अच्छा उपहार 'भारतमित्र' का होता है जो न केवल पत्र के लिये ग्राहकों और पाठकों को खेंचता है, प्रत्युत भाषासाहित्य में उन अमूल्य ग्रन्थों को भी छाप देता है जिनका प्रकाशन और तरह असम्भव होता। इसका दृष्टान्त इस वर्ष के उपहार की प्रधान पुस्तक **जहांगीरनामा** है।

मुन्शी देवीप्रसाद जी ने इस उपयोगी इतिहास को शोधा ही नहीं, परन्तु सरल और रोचक भी बना दिया है। संवत् १६६३ में, संवत् १६६३ का जहांगीर का राजपूताने का दौरा पढ़कर आश्चर्य होता है कि वह फलसस्य सम्पन्न जलमय देश क्या यही मरुस्थल है और तीन सौ वर्ष की भारतवर्ष की आर्थिक अवनति का अस्थिमय चित्र आँख के सामने अंकित हो जाता है। अच्छा होता यदि भिन्न रुचि के पाठकों का प्रसाद उतना प्रधान न होता तो, यही ग्रन्थ उपहार में एक भाग न दिया जाकर समग्र दिया जाता। अभी 'राजतरङ्गिणी' का ऋण 'भारतमित्र' पर है।

शिवशम्भू का चिट्ठा उपहार की दूसरी पुस्तक है जिसने अच्छी प्रसिद्धि पाई है। सरल भाषा में राजनैतिक परिहास के साथ निशाने की चोट विरल ही होती है।

दशकुमारचरित का हिन्दी छायानुवाद छोटा और संक्षिप्त होने पर भी पठनीय

है। भूमिका में विप्रचन्द' कहते हैं—"दशकुमारचरित' भाषा और साहित्य के गुण से खूब प्रशंसा के योग्य है किन्तु मनुष्य-चरित्र के जो आदर्श इसमें दिखाये गये हैं उनके कारण निन्दा के योग्य है।"

हमारी दृष्टि में इस उपहार की प्रधान और अवेक्षणीय पुस्तक बाबू बालमुकुन्द गुप्त की स्फुट कविता है। इसमें हिन्दी के नश्वर सामयिक पत्र-साहित्य के रसांश को अमर करने का यत्न किया है जो हम आशा करते हैं सफल और अनुकरणीय होगा। पं० प्रभुदयालु पांडे की ऐसी कविताओं का संग्रह करना भी हम उनके प्राचीन सखा भारतमित्र-सम्पादक का ही कर्त्तव्य समझते हैं। जो कविताएं पहले कभी राग-द्वेष या अखबारी लड़ाई के समय में लिखी वा पढ़ी गई थीं, उन्हें अब झगड़े की आग बुझ जाने पर यों पढ़ने में एक अपूर्व भाव का उदय होता है। 'भूमिका' में क्या चोट के वाक्य लिखे गए हैं—"भारत में अब कवि भी नहीं हैं, कविता भी नहीं है। कारण यह है कि कविता देश और जाति की स्वाधीनता से सम्बन्ध रखती है। जब यह देश देश था और यहां के लोग स्वाधीन थे तब यहां कविता भी होती थी। उस समय की जो कुछ बची-खुची कविता अब तक मिलती है वह आदर की वस्तु है और उसका आदर होता है। कविता के लिये अपने देश की बातें, अपने देश के भाव और अपने मन की मौन दरकार है। हम पराधीनों में यह सब बातें कहां ? फिर हमारी कविता क्या और उसका गुरुत्व क्या ? इससे उसे 'तुकबन्दी' ही कहना ठीक है। पराधीन लोगों की तुकबन्दी में कुछ तो अपने दुःख का रोना होता है और कुछ अपनी गिरी दशा पर पराई हँसी होती है, वही दोनों बातें इस तुकबन्दी में हैं।"

चाहे गुरुजी इसे तुकबन्दी कहैं, और हँसी-दिल्लगी की मात्रा अधिक होने से, चाहे यह वैसी कहला भी सके परन्तु शोभा और श्रद्धा में कहीं-कहीं कवि को कवि के स्वर्गीय मनोराज्य की छटा का दर्शन हो गया है। और क्यों न हो—

न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना,
गुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भतम्।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता,
सदा करोत्येव कमषनुग्रहम्।

विशेष बात यह है कि कवि भारतवर्ष का कवि है, दुःखी रोगी, भूखे भारत का तुकबन्द है। दिल्लगी के दालान में, श्रद्धा शोभा के श्रृंगार में, वा स्तुति के सुमनोराज्य में, वह भारतवर्ष से भाग कर आकाश में जाकर नहीं टंक जाता। यहां तक कि लक्ष्मी-स्तुति में भी वह कहता है—

गज, रथ, तुरग, विहीन भये ताको डर नाहीं,
चंवर छत्र को चाव नाहिं हमरे उर मांहीं।
सिंहासन अरु राजपाट को नाहिं उरहनो,
ना हम चाहत अस्त्र वस्त्र सुन्दर पट गहनो।
पै हाथ जोरि हम आज यह, रोय रोय विनती करें।
या भूखे पापी पेट कहं, मात कहो कैसे भरें?

यही रंग सर सैयद के बुढ़ापे के पंखेवाले में है और यही मेघागमन में—

'तेरे बल जो दाने निकसे परबत फार,
बिन तो सो होय गये जरि बरि के छार।'

इसी लेखक ने अपनी पहली तुकबन्दी 'भैंस का स्वर्ग' नामक में वह 'दिव्य-अस्थान' ऐसा बनाया है—

कच्चे तालाबों में आधा कीचड़ आधा पानी है।
वहाँ नहीं है मनुष्य कोई बन्धन ताड़न करने को ॥
है सब विधि सुविधा स्वच्छन्द विचरने को और चरने को ॥
वहां करै है भैंस हमारी क्रीड़ केलि किलोल।
पूंछ उठाये भ्यां-भ्यां रिडके मधुर मनोहर बोल ॥
कभी मस्त होकर लोटे है तालाबों के बीच।
देह डबोये थूथन काढ़े तन लपटाये कीच ॥
कभी वेग से फदड़क-फदड़क करके दौड़ी जाती है।
हलकी क्षीण कटी का सबको नाजुकपन दिखलाती है ॥
सींग अड़ाकर टीले में करती है रेत उछाल।
देखते ही बन आता है बस उस शोभा का हाल ॥

परन्तु कवि ने यह ठीक नहीं किया 'जहां न पहुंचे रवि, वहां जाय कवि'—उसकी आत्मा तो वहां पहुंच गई और उसने सुख के परममूल तत्व 'वहां नहीं है मनुष्य कोई बन्धन ताड़न करने को' को स्मर्तव्यशेष कर दिया ! अब स्वच्छन्द विचरना, चरना और रोंथना नहीं हो सकता !! यह भैंस भवानी की सेवा करने के अभ्यास का फल है !! अस्तु स्वर्ग का ध्यान टूट जाने से रुष्ट भैंस चाहै पूंछ उठाकर टांग उछाले, परन्तु—

सर्वथा व्यवहर्तव्ये कुतो ह्यवचनीयता ?
यथा स्त्रीणां तथा वाचां साधुत्वे दुर्जनो जनः ॥

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : जनवरी-मार्च, १९०६ ई०]

धर्मसंग्रह

सुना गया है कि पण्डित बुलाकीरामजी शास्त्री विद्यासागर (यह उपाधि महामण्डल की नहीं है, बंगदेश की है) एक 'धर्मसंग्रह' की क्रमिक पुस्तकमाला बना रहे हैं। इधर मान्यवर पण्डित मदनमोहन मालवीयजी का 'धर्मसंग्रह' सान्तःपत्र होकर विद्वानों में बांटा जा रहा है। विशुद्धानन्द विद्यालय की ऋजुस्तवमञ्जूषा की भी बहुत स्तुति हो रही है। मद्रास में भी एक जातीय भाव का पोषक संग्रह ग्रन्थ छपा है। कलकत्ते में

शिक्षाविभाग के एक सज्जन ने बंगला में धर्म के मूलतत्वों और प्रमाणों का छोटा-सा संग्रह छापा है। इससे सिद्ध होता है कि वर्तमान समय में ऐसी पुस्तकों की आवश्यकता है और समाज 'अपास्य फल्गु' संक्षिप्त धर्मनियमों में अपवाद और उत्सर्ग का नियम प्रवृत्त करना चाहता है।

[प्रथम प्रकाशन : समालोचक : जनवरी-मार्च, १९०६ ई०]

नवीन भारत-१

हमको यह प्रकाशित करते बड़ा हर्ष होता है कि श्रीमान् भारतहितैषी सर हैनरी काटन के बनाए **न्यू इण्डिया** नामक पुस्तक का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित होना ही चाहता है। अभी उस दिन एक विलायती पत्र में पढ़ा था कि जापानियों को भारतवर्ष की वर्तमान स्थिति बताने के वास्ते वह पुस्तक स्वीकृत हुई है और उसका जापानी भाषा में अनुवाद हो गया है। मान्यवर सर हैनरी काटन का-सा स्वार्थत्यागी और सत्यप्रेमी मनुष्य विरला ही होगा जिसने भारत सरकार के उच्च पदों का लोभ न करके बिचारे कुलियों की हिमायत की, अपनी जाति का कोप सहा, और इस अमूल्य पुस्तक में अपने उदार सिद्धान्त निर्भीक होकर प्रकाशित किये। अब पेंशन पाए पीछे भी वे जातीय महासभा के सभापति बनने के लिए भारतवर्ष में आए और पूरी नमकख्वारी के साथ भारतवर्ष के हित का उदार पक्ष ऐसी दृढ़ता से लेते हैं मानो वे भारतवर्ष के वकील हों। कलकत्ते में उन्हें विदा करने को जो सभा भरी थी उसमें यह प्रस्ताव हुआ था कि 'न्यू इण्डिया' सब लोग पढ़ें और भारतवर्ष की देशी भाषाओं में यह गौरव हिन्दी भाषा को ही शीघ्र प्राप्त होने वाला है कि ऐसे अमूल्य ग्रन्थ का इसमें अनुवाद छपा। राजस्थान के कुछ कृतविद्य सज्जनों ने इसके अनुवाद में बहुत ही परिश्रम किया है और मनीषि समर्थदानजी इसको इस शीघ्रता से प्रकाशित कर रहे हैं कि काशी की जातीय महासभा में समवेत भारतहितैषियों को यह कदाचित् मिल सकेगी। हमें जो इसके एडवान्स शीट्स मिले हैं उनसे अनुमान होता है कि पुस्तक डिमाई २५० पेज से कम की न होगी और मूल्य एक रुपये से अधिक न होगा। वर्तमान राष्ट्रीय आंदोलन और जागरण के समय में इस पुस्तक का श्रेयस्कर प्रचार जितना अधिक हो, उतना ही अच्छा। आजकल स्वदेशीय आन्दोलन जो छिड़ रहा है उसके विषय में, अपने ग्रन्थ में, सर हैनरी काटन ने जो कुछ भारतवर्ष का इकॉनामिक प्राब्लेम पर लिखा है, वह अत्यन्त ध्यान देने योग्य है। उसमें से कुछ वाक्य यहां पर उद्धृत किये जाते हैं—"भारतवर्ष के इतिहासकर्ता प्रोफेसर हेरिस हेमन विलसन साहब का निम्नलिखित कथन और भी प्रबलतर है :—

सन् १८१३ ई० में यह वर्णन किया गया था कि उस समय तक भारत का सूती और रेशमी माल इंगलैण्ड के बाजार में वहां के बने हुए माल की अपेक्षा पचास से साठ प्रति सैंकड़े कम कीमत पर बेचा जा सकता था। इसलिए भारतीय माल की कीमत पर सत्तर या अस्सी सैंकड़ा कर लगाकर अथवा प्रकाश्य रूप से उसकी आमद को

रोककर इंगलैण्ड के माल की रक्षा करना आवश्यक समझा गया। यदि ऐसा नहीं किया जाता, यदि ऐसा भारी कर लगाकर भारतीय माल का प्रचार इंगलैण्ड में न रोका जाता, तो पेसली और मैनचेष्टर के कारखाने प्रारम्भ ही में बन्द हो गये होते और वे फिर वाष्पयंत्र के बल से भी कदाचित् ही जारी हो सकते। भारत के कारखानों की बलि चढ़ाकर ही इन कारखानों का जन्म इंगलैण्ड में हो सकता था। यदि भारतवर्ष स्वतंत्र राज्य होता तो वह निस्संदेह यथोचित उत्तर देता, इंगलैण्ड से आने वाले माल पर बहुत भारी और हानिकर कर लगाकर अपना बदला लेता, और अपनी लाभदायक कारीगरी को भी नष्ट होने से बचा लेता। उसको अपनी आत्मरक्षा करने की आज्ञा इसलिए नहीं मिली कि वह विदेशियों की अधीनता में था। जो अंगरेजी माल भारतवर्ष में आता था उस पर कुछ भी कर नहीं लगाया जाता था और यही कारण है कि विदेशीय कारीगर पक्षपात और अन्याय द्वारा अपने प्रतिद्वंद्वी भारत के कारीगरों को दबाकर अन्त उनका सर्वनाश करने में समर्थ हुए; क्योंकि यदि ऐसा न होता तो वे लोग भारतवर्ष के कारीगरों की समता कदापि नहीं कर सकते थे।"

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : नवम्बर-दिसम्बर, १९०५ ई०]

नवीन भारत-२

ता० २७ दिसम्बर, १९०५ को सर हेनरी काटन के **न्यू इण्डिया** का हिन्दी अनुवाद काशी में प्रकाशित हो गया। इस **नवीन भारत** के अनुवादकर्ता श्री गणेशनारायण सोमाणी हैं, 'प्रकाशक' मनीषि समर्थदान, राजस्थान-समाचार यन्त्रालय, अजमेर हैं। पुस्तक में प्राय: ३०० पृष्ठ हो गए हैं और मूल्य डेढ़ रुपया है। पहले हम लिख चुके हैं कि इसका हिन्दी में प्रकाशित होना हिन्दी का एक प्रकार से सौभाग्य मानना चाहिए। राजनीति विषयों की कोई भी पुस्तक हिन्दी में इतनी बड़ी नहीं थी, और हम आशा करते हैं कि इसका इतना प्रचार होगा कि साधारण अंग्रेज़ी न जानने वाले मनुष्य भी इसके पढ़ने से सामयिक राजनीति में अच्छी योग्यता पाने का अवसर न चूकेंगे। इसके दशों अध्यायों में भारतवर्ष की सरकार और प्रजा के सम्बन्ध प्रबल प्रमाणों से दिखलाये गए हैं। 'ज्यों-ज्यों भारतवासी सुशिक्षित, स्वतंत्रता प्रिय, और देशभक्त होते जाते हैं, त्यों-त्यों यह बात और भी स्पष्ट रूप से प्रकट होती जाती है। जो योग्य और साहसी भारतवासी हमसे ही विद्या प्राप्त करके सभ्य हो गए हैं, वे अपने विस्तृत होते हुए नए विचारों के कारण आत्मोन्नति की इच्छाग्नि से प्रदीप्त होकर हमसे ऐसी-ऐसी बातें मांगने लगे हैं जो सर्वथा उचित हैं और जिनका अस्वीकार करना बहुत कठिन है। भारतवासियों की उन्नति के महासागर की लहरें अंग्रेज़ों के पक्षपात रूपी बन्धे से टकराती हैं। (भूमिका : पृ० १)

मैं जिस नीति का समर्थन करता हूं उसकी सफलता में बहुत-से वर्ष ही क्या, बहुत-सी पीढ़ियां भी व्यतीत हो सकती हैं। परन्तु यह वह नीति है कि जिसे हमको

सदैव दृष्टि में रखना चाहिए और जिसे पूरा करने के लिए हमारा सदैव प्रयत्न रहना चाहिए। कभी-न-कभी (शीघ्र हो या देर में) भारतवर्ष पूर्वीय राष्ट्रों में अपनी पुरानी योग्यता को अवश्य पावेगा। इसलिए हमको चाहिए कि उसकी स्वतन्त्रता के मार्ग को सुगम करें। (पृ० २०३)।

इंगलैण्ड की वास्तविक राजनीति की यही कुंजी है कि वह अपने बड़े-बड़े उपनिवेशों को अपने राज्य में नहीं मिलाता, बल्कि उनको आत्मशासन का स्वत्व प्रदान करता है। भारतवर्ष के भावी भाग्य की भी यही कुंजी होनी चाहिए। रूस की दशा से हमारी दशा बिलकुल नहीं मिलती। (पृ० २०५)

अनुवाद भी बहुत अच्छा हुआ है और छपाई भी खासी है। वास्तव में पुस्तक तो यह ऐसी अच्छी है और ऐसे सुन्दर विचारों से भरी है कि हम और कुछ न कहकर हिन्दी पढ़ने वाली पब्लिक से निवेदन करते हैं कि आगामी कांग्रेस तक इसका कम-से-कम द्वितीय संस्करण करने के लिए प्रकाशकों को उत्साहित करें।

[प्रथम प्रकाशन : समालोचक : जनवरी-मार्च, १६०६ ई०]

पंचगीत

मथुरा के सेठ कन्हैयालाल जी पोद्दार ने कृपापूर्वक हमें अपनी **पंचगीत** नामक पुस्तक भेजी है। इसमें उनने 'रचना अनुपम रसखान मनोहर मञ्जु मधुर अति सुधा समान' भागवत के वेणुगीत, गोपीगीत, युगलगीत, भ्रमरगीत और महिषीगीत का समश्लोकी अनुवाद किया है। जैसी छपाई-सफाई सुन्दर है, वैसी ही कविता की सरसता और सुखपाठ्यता भी है। 'भूमिका' में सेठ साहब 'संस्कृत जैसी सर्वोच्च श्रेणी की भाषा का यथार्थ भाव और रोचकता' भाषान्तर में लाना नितान्त कठिन मानकर भी कहते हैं कि 'समश्लोकी अनुवाद प्राय: इस अभाव की पूर्त्ति कर सकता है।'

हमारे मत में समश्लोकी अनुवाद का पक्षपाती संस्कृत जैसी समासबहुल और संक्षेपसह भाषा को विस्तारभार भरित हिन्दी में लाने की कठिनाई के साथ-साथ संस्कृत की तुकान्तहीन कविता में तुकान्त बैठाने की दिक्कत के भी परवश हो जाता है। तो भी सेठ साहब का अनुवाद प्राञ्जल है, सरस है, श्रवणमधुर है। पण्डित लेले ने मराठी में जो 'मेघदूत' का समश्लोकी अनुवाद किया है, उतना मधुर यह न हो सका। लेलेजी ने समश्लोकी के पक्षपाती होकर भी चार ही चरणों में पूरे मूल को जकड़ना उचित न समझा, प्रत्युत आवश्यकतानुसार डेढ़, अढ़ाई वा तीन श्लोक तक अर्थ को फैलाया है। 'अपिवत हृतचेता उत्तमश्लोकजल्पै:' का अनुवाद है—'सुनि रुचिर बड़ाई साँच ही वो ठगाई।' राधाचरण गोस्वामीजी ने इसी को यों बनाया था—'अहह! मन हरो है उत्तमश्लोकवाणी।' गोस्वामीजी ने ब्रजभाषा ही से काम लिया है। सेठ साहब ने आधुनिक हिन्दी कविता के सभी रूपों को काम में लिया है. इसीलिए कीयो, प्रीय प्रभृति भी उन्हें काम में लेने पड़े हैं। अनुवाद की मनोहरता का एक नमूना दे देते हैं—

भ्रमरगीत

मधुप ! कितवबन्धो ! मा स्पृशांघ्रि सपत्न्याः
कुचविलुलितमालाकुंकुमश्मश्रुभिर्नः ।
बहतु मधुपतिस्तन्मानिनीनां प्रसादं,
यदुसदसि विडम्ब्यं यस्य दूतस्त्वमीहक् ।।

सेठ कन्हैयालाल का अनुवाद—

मधुप ! पद हमारे नाँ छुओ धूर्त प्यारे !
सँवत कुचन-माला कुंकु मूछें लगा रे !
धरहु मधुपती उन मानिनी के प्रसादू,
हँसत यदु सभा जो दूत ऐसा बना तू ।[1]

'गोपीगीत' और 'युगलगीत' का पाठ बहुत ही आनन्ददायक मालूम हुआ । सेठ जी की अच्छी शक्ति के सदुपयोग का हम और भी नमूना देखना चाहते हैं ।

[प्रथम प्रकाशन : समालोचक : जनवरी-मार्च, १९०६ ई०]

मनोविनोद

पण्डित श्रीधर पाठक की स्फुट कविताओं का दूसरा संग्रह मनोविनोद चार आने में पं० गिरिधर पाठक : नं० ४, पश्चिम खुसरो बाग, इलाहाबाद से मिलता है। इसमें ३० विषय हैं और—

योग्यता उपेक्षित रहती है, विज्ञता अनादृत रोती है ।
आपस का नेह नस जाने शिष्टता भ्रष्ट पद होती है ।।

—इसका सिद्धान्त वाक्य है । कुछ कविताएं तो इसमें अधूरी होने पर भी इतनी मनोहारिणी हैं कि पाठक जी के सुकवित्व की मर्यादा की ठीक रक्षा करती हैं । इस संग्रह में एडविन अञ्जलेना, ग्रीष्मवर्णन, वर्षावर्णन, स्फुटपद, और चिन्तय मातरं, बहुत ही सुन्दर जान पड़े । 'मनोविनोद' के प्रथम खण्ड की 'भूमिका' में प्रकाशक ने लिखा था कि अपने बालकपन की कविता श्रीधर जी को अब पसन्द नहीं । फिर आत्मन्यप्रत्ययं चेतः' होने पर भी प्रकाशकों ने इसे प्रकाशित कर दिया है । यद्यपि माधुर्य और विषय-बाहुल्य में यह

---

१. गोस्वामी राधाचरण का अनुवाद—

मधुप ! कितवबन्धो ! छू न पा सौतिनी के,
कुचविलुलितमालाकेसरी मुच्छ से मो ।
बहतु मधुपती वा मानिनी के प्रसादै,
यदुसभहिं बिगोयो जासु को दूत ऐसो ।।

मनोविनोद के प्रथम खण्ड को नहीं पाता, तो भी संग्रह के योग्य है। क्या इसके प्रकाशकों को पाठक जी की कविता के अमरत्व में इतना विश्वास है कि उनके पत्रों में से साधारण श्लोक और आगरा कालेज की मासिक परीक्षाओं में अनुवाद के छन्दोबद्ध उत्तर तक छाप दिए और भूल जाने योग्य नहीं माने गए? यों तो पं० श्रीधर जी सुकवि हैं, सम्भव है कि उनने पोप कवि की तरह पिता की ताड़ना का भी उत्तर कविता में दिया हो और उनका बालकपन का गुनगुनाना भी अकवियों की कल्पना से खरा माना जाय, परन्तु 'उजाड़ गाम' के कर्त्ता का महत्त्व इन पत्रों और परीक्षानुवादों के छापने से कहां तक बढ़ा है? खैर, "सत्सूत्रं सर्वदामोघं सूक्तयः सर्वदाऽनघाः।"

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : जनवरी-मार्च, १९०६ ई०]

धर्मसंगीत

पण्डित राधाकृष्ण मिश्र ने सात भागों में **धर्मसंगीत** नामक उपादेय संग्रह निकालना आरम्भ किया है। इनमें पहला 'जातीय संदर्भ' श्रीवेंकटेश्वर प्रेस में छप गया है और तीन आने में 'श्रीभारतधर्ममहामण्डल-कार्यालय' से मिलता है।। 'भूमिका' में संगीत और ऐसे संग्रह की आवश्यकता अच्छी तरह बताई गई है और संग्रह में बहुत ही सुन्दर-सुन्दर पद हैं। हिन्दी के कई प्रसिद्ध लेखकों के प्रायः लुप्त पदों को यों फिर व्यवहार में लाने के लिए हम सम्पादक के कृतज्ञ हैं। यदि धर्म-सभाओं की मण्डलियां कलहमय गीत न गाकर इसका उपयोग करें तो धर्मभाव के साथ-साथ जातीय भाव भी बढ़े। इस में से 'जय भारतभूमि' समालोचक की इस संख्या में उद्धृत किया है। हम चाहते हैं यह सातों भागों का संग्रह शीघ्र पूरा छपे और एक क्रन्दमान अभाव की पूर्ति करे।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : जनवरी-मार्च, १९०६ ई०]

समुद्रयात्रा पर व्यवस्थाएं

आजकल विदेशयात्रा और समुद्रयात्रा के बारे में बहुत कुछ लिखा-पढ़ी पत्रों में हो रही है। काशी सनातन हिन्दूधर्म का किला मानी जाती है। वहीं के महामहोपाध्याय पंडित सुधाकर द्विवेदी और काशी-नरेश ने व्यवस्था दे दी है कि विदेशयात्रा में कोई दोष नहीं है।

इस विषय की दो पुस्तकें मेरे सामने आज आई हैं। एक का नाम है— **द्वीपान्तरगमन-विचार** यानी **दूसरी विलायतों में जाने का निर्णय**, जिसको नेपाल देश के प्रसिद्ध मंत्री महाराजा सर जंगबहादुर की प्रार्थना से राजकीय मुख्य पाठशालाध्यापक, काशी के प्रसिद्ध विद्वच्छिरोमणि श्रीबाल शास्त्री जी के शिष्य पंडित रमानाथ शास्त्री ने बनाया। संवत् १९३७; सन् १८८० काशी में छपा।

दूसरी के टाइटल पेज़ पर लिखा है—**खण्डान्तर पर्यटन निर्णय** अर्थात् समुद्र-पार टापुओं में जाने का विचार जिसकी; सर टी० माधव राव की प्रार्थना से दक्खिन देश के प्रसिद्ध पण्डित श्री राजू शास्त्री के शिष्य वेंकटेश शास्त्री ने बनाया था जिसका उल्था हिन्दी में पण्डित रामकृष्ण शास्त्री ने किया और सम्वत् १९३९ में छपा, इन्दौर। प्रत्येक का मूल्य चार आने है, परन्तु दोनों साथ लेने से छः आने में मिल सकती हैं। मिलने का पता : मुंशी देवीप्रसाद जी, जोधपुर, राजपूताना।

इन दोनों पुस्तकों में तर्क इस चाल पर चलाया गया है कि धर्म का मूल या तो वेद है या पुराने शिष्यों का आचार, अर्थात् जो काम पुराने महात्माओं ने, शिष्टों ने अच्छा समझकर किया कोई उसके लिए उनमें दोष या प्रायश्चित्त नहीं माना तो वह काम करने में दोष नहीं है। इसी प्रमाण पर इनमें पंचपण्डित राम, लक्ष्मण, विक्रम, भास्कराचार्य आदि के उदाहरण पुराण-इतिहास आदि से दिखाए हैं कि ये लोग परयन्त देशों में समुद्र को तैरकर गये परन्तु प्रायश्चित्तादि कुछ नहीं किया। इससे विद्या के लिए, युद्ध के लिए, धन कमाने के लिए विदेशयात्रा में कोई दोष नहीं और न किसी प्रायश्चित्त की जरूरत है। हाँ, न करने से करना भला है। इस नियम के अनुसार गायत्री जप, ब्राह्मण भोजन, दान आदि करना चाहिये। यही इन पुस्तकों का सार है। एक में वैदिक राजा भुज्यु की सौ डांड़वाली नौका का भी उल्लेख है।

दोनों पुस्तकें इस विषय के खोजियों के पढ़ने योग्य हैं। इस विषय पर लिखने वाले और भी कई हैं जिन्होंने समुद्रयात्रा को कलियुग में वर्जित और पातक ठहराकर उसके प्रायश्चित कहे हैं परन्तु इन दोनों में शिष्टाचार को प्रमाण देकर विदेशयात्रा न अधर्म था न अधर्म है और उसके लिए प्रायश्चित्त की जरूरत नहीं, ऐसा कहा है। विशेषकर विद्योपार्जन के लिए विदेश-यात्रा का स्पष्ट उल्लेख किया है। यह व्यवस्थाएं तीस-पैंतीस वर्ष पहले कभी थीं।

अब यह प्रश्न उठता है कि तीस वर्ष पहले की व्यवस्थाओं पर लोग चले क्यों नहीं? इसका उत्तर यह है कि हिन्दू-धर्म के कर्णधार बनने वाले अनेक पंडित आचार्य और पञ्च मुँहदेखी बात करते हैं, शास्त्र और धर्म देखकर नहीं चलते। धर्म सबके लिए एक सार नहीं माना जाता; जितना मेल होता है उतना व्याख्यान किया जाता है। यदि कोई राजा महाराजा व मंत्री विदेश जाता है वा किसी को भेजता है तो उसकी मनचाही व्यवस्था मिल जाती है और उसके लिए पातक नहीं रहता परन्तु यदि कोई विद्यार्थी या व्यापारी या देश-हितैषी जाता है जिससे 'शाकाय वा स्यातलवणाय वा स्यात्' की आशा नहीं होती तब बिरादरी के पंच धड़े बांधते हैं और जात-बाहर निकाल देते हैं और अपनी तरफ पंडितों को खैंच लाने के लिए आय करते हैं। उस समय पंडित लोग निष्पक्षपात न्यायाधीश का आसन छोड़कर एक पक्ष के वकील की तरह एक ही ओर झुक जाते हैं। इसलिए नई उमर के लोगों का विश्वास पंडितों और धर्म-शास्त्र की व्यवस्थाओं पर से उठता जाता है। शास्त्र का प्रमाण सबके लिए एक प्रकार का होना चाहिए लम्बी थैली वाले के लिए और, और दीन विद्यार्थियों के लिए और नहीं। पूजनीय विद्वान एक बार निर्णय कर दें कि विदेशयात्रा और समुद्रयात्रा पाप हैं या नहीं। यदि हैं तो उनका

प्रायश्चि नियतत्त कर दें और यदि नहीं हैं तो साफ कह दें कि संसर्गादि का क्या प्रायश्चित्त है और क्या नहीं। और' यह व्यवस्था बारम्बार बदली न जाय जिससे द्वेष-मूलक कार्रवाई का मौका न मिले और विद्या और देशहित के लिए, जाने वालों को क्लेश न उठाना पड़े। नहीं तो लोग व्यवस्था और पंडितों के बिना पूछे भी जाते ही रहे हैं।

[प्रथम प्रकाशन : वेंकटेश्वर : २८ अक्तूबर, १९१० ई०]

खूब तमाशा

मध्यप्रदेश (छत्तीसगढ़) के राजा राजसिंह के यहां एक कवि गोपालचन्द्र मिश्र था। उसने 'खूब तमाशा' नामक कविता का ग्रंथ लिखा है जिसमें कलियुग की अद्‌भुत बातों का वर्णन देकर प्रति छंद के अन्त में 'खूब तमाशा' समस्या की पूर्ति की है। उसका समय इस छंद में लिखा है जो उसी के अन्त में है—

संवत् सत्रह से षट चालीस पावस ऋतु हितकारी।
महाराज श्रीराजसिह नृप जिन यह सुमति विचारी ॥

(पांडेय लोचनप्रसाद का लेख, शारदा, सं० १९७७ आश्विन; इस 'खूब तमाशा' का वर्णन कई अवतरणों सहित काशी के 'इंदु' में कई वर्ष पहले छप चुका है।)

'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' द्वारा प्रकाशित हिन्दी हस्तलिखित पुस्तकों की, खोज, जिल्द-१ को देखने से प्रतीत होता है कि सं १७४४ में अजमेर (जयपुर) में कवि नन्दराम ने इसी विषय पर 'पचीसी' नामक एक काव्य रचा था। उसका परिचय और आदि-अन्त के अंश उसी रिपोर्ट से यहां दिए जाते हैं। राजपूताने का कवि पहले का है, मध्यप्रदेश का पिछला। संभव है कि पहले कवि की छाया दूसरे ने ली हो, यह भी संभव है कि दोनों स्वतंत्र हों।

आदि—।। अथै नन्दराम पचीसी लिख्यते ।।

गनपति को जय मनाय हों, रिधि सिधि के हेत।
बाक बादनी मात तस्, सुभ अक्षर वही देत ॥ १ ॥
कछुअक चाहत हो कह्यो, तुम्हरे पुन्य प्रताप।
ताहि सूनै सुष उपजै, किरपा करो अब आप ॥ २ ॥
कीनो प्रथम प्रकाश ही, तुम्हरो हुकुम जपाय।
कलि व्यवहार वर्णन करूँ, सुनो चतुर मन लाय ॥ ३ ॥
नीति राज की असी होती, दौलति षोस लीजै।
गज सिका अर तोल मोल की चढ़ती दिन-दिन कीजै ॥ ४ ॥
अब पैसा कमी-कमी जग मोहि, रुपया है नौ मासा।
नंदराम कछु दुनिया माही देख्या अजब तमासा ॥ ५ ॥

अंत—नाटिका चेटक जामें देखि जाकी करै न सेवा ।
भूत···से···ल दिषावे ताकु मानै देवा ।।
अन्तरजामी नाहिन भजिए, भजिए धूलि धमासा ।
नन्दराम ।। २३ ।।

कलि व्यवहार पचीसी वरणी, जथा जोगि मति मोरी ।
कलियुग की जवानि गो, एहै और बात बहुतेरी ।
राखो राम नाम या कुल में नन्द नंदन सूष रासा ।
।। नंदराम ।। २४ ।।

नन्दराम षंडेलवाल है अंबावति के वासी ।
सूत बलिराम गोत है रावत मन है ऋसन उपासी ।।
संवत सत्रह सै चौवाला कातिक चन्द्रप्रकासा ।
नन्दराम कछु दुनिया माही देख्या अजब तमासा ।। २५ ।।

[प्रथम प्रकाशन : नागरी प्रचारिणी पत्रिका : १९२२ ई०]

पत्र-पत्रिकाएं

सुदर्शन की सुदृष्टि

ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा ।
बलादाकृष्य मोहायमहामायाप्रयच्छति ।। (दुर्गापाठ)

तो क्या गद्यकाव्य के विषय में अनिष्णात आरम्भकर्त्ताओं की ही सब नकल करते जायं ?

(गद्यकाव्य-मीमांसा : पृष्ठ १९)

'सुदर्शन' की सुदृष्टि अब उपन्यासों पर हुई है। उसकी तीन संख्याओं में उपन्यासों की प्रतिष्ठा पर लेखक की आस्था की अवस्था अच्छी तरह दिखाई गई है। यह तो कोई बात नहीं कि पं० माधवप्रसाद ने किसी बात की हिमायत कर दी तो फिर उसकी न्याय्यता में सन्देह भी न करना ।[1] तथापि, जब से यह विषय छिड़ा है 'सुदर्शन' और 'श्रीवेंकटेश्वर समाचार' अपने मतों को बहुत कुछ सुधारते-सुधारते एक-दूसरे के पास ले आए हैं, यहां तक कि अब उनका मिलना बहुत ही सुकर है। सम्भव है कि

१. ए अभिमानी मुरलिया ! करी सुहागिन श्याम ।
अरी चलीये सवन पै भले चाम के दाम ।।

'सुदर्शन' से बातचीत करना हमारे ही पत्र का मानवर्धक हो, इसलिए "मित्रं स्पष्टतया वदेत्" के अनुसार हम कुछ बातें कह देते हैं।

१. "हमारी समझ में यह बात सर्वांगपूर्ण न होने पर भी निर्मूल नहीं कही जा सकती" कि अपनी पुस्तकों के न बिकने से 'समालोचक' काशी के उपन्यासों की निन्दा करते हैं। 'अथ समालोचक सुहृद्भूत्वाह'—क्यों जी ! तो वे तुलसी कृत 'रामायण' की निन्दा क्यों नहीं करते जो काशी के उपन्यासों से कई गुने अधिक बिकती है और जिसे छापकर कोई प्रेस भूखा न रहा ? "काशी वालों की पुस्तकों की ओर लोग ऐसे टूटें कि हाथोंहाथ सब प्रतियां उठ जायं।" इसके मोटी बुद्धि से यही कारण हो सकते हैं—

१. काशी वालों से अच्छा लेखक और कोई नहीं।

२. काशी वाले उपन्यासों से अच्छे उपन्यास ही नहीं।

३. लोगों की रुचि कलुषित है।

पहले दो कारण व्याप्तिग्रस्त हैं, यह तो वह भी कह सकता है जो हिन्दी-साहित्य में चार दिन का भी निष्णात हो। इससे कारण '३' शेष रहता है इसीलिए समालोचना का जन्म है। विशेष समय का विशेष व्यक्ति लक्ष्यच्युत हो जाय तो दूसरी बात है।

२. हिन्दूधर्म पर व्याख्या देनेवालों से तुलना (बैसाख, पृ० २६), इसके क्या माने ? साहब ! मूर्ख धर्मोपदेशकों की जो अन्धाधुन्ध स्तुति की जाती है, क्या वैसे ही मूर्ख उपन्यासकारों की भी अन्धाधुन्ध स्तुति की जाय ? उस धूम-धड़क्के का परिणाम न सोचें ? सहयोगी का यह ख्याल होगा कि उसने ऐसे वक्ताओं को चूरणवालों से एक बेर उपमा दी है तो भद्दे उपन्यासों की भी वही निन्दा करे और पत्र, जो उपदेशकों की स्तुति करते हैं, क्यों निन्दा करें ? तो हम 'सुदर्शन' की बधाई देते हैं कि उसे converts मिले। धर्मोपदेश, अयोग्यमुख से निकलने पर भी लाभ पहुंचता है, उपन्यास सुयोग्य विद्वान से लिखा जाने पर भी विलास मात्र ही है।

३. ऐयारीवाले उपन्यासों के पहले आपके भण्डार में कौन से उपन्यास थे ? मान लीजिए कोई नहीं, तो फिर ? गद्यकाव्य-मीमांसा का ऊपर लिखा टुकड़ा पढ़िए।

४. असम्भव का अर्थ—साधारण दृष्टि से जो बात सम्भव न दिखाई दे, उसे असम्भव मानना होता है। विज्ञान के प्रचार के पूर्व जल को एक समूचा द्रव्य माना जाता था, किन्तु अब अवश्लेषण ने जो उद्जान और क्षारजान का फल सिद्ध कर दिया, तो 'असम्भव' 'सम्भव' हो गया। सम्भव असम्भव की कल्पना सापेक्ष है सही, निरपेक्ष absolute नहीं हो सकती तथापि इस सापेक्ष जगत् में हम जिस प्रकार मात्रास्पर्श द्वन्द्वों के भेद को मिटा नहीं सकते, वैसे ही सम्भव असम्भव के भेद को भी मिटा नहीं सकते। यदि असम्भव शशशृंग बन्ध्यापुत्र प्रभृति तीन ही चार अर्थों में रूढ़ हो तो हमने (८) में जो बात लिखी है वह पं० मिश्र के लक्षण से मिलने के कारण सम्भव है। अशशशृंग अबन्ध्या पुत्र वा अकारण कार्य क्या सभी सम्भव हैं ? क्या **सम्भव/१ असम्भव/२** में जो सम्बन्ध है, वही बन्ध्यापुत्र अबन्ध्यापुत्र में है ? विभाज्यतावच्छेदक तो परस्पर व्यधिकरण होने चाहिए, सम्भव है कि अबन्ध्यापुत्र भी कोई पदार्थ असम्भव हो। 'चन्द्रकान्ता' वेदान्तियों के पढ़ने के लिए नहीं बनी है, बनी है युष्मदस्मद् भेद को न मिटा सकने वाले अध्यास-

लिप्तों के लिए। इसीलिए उनकी दृष्टि में सम्भव असम्भव का भेद नहीं मिट सकता। 'कृपा करके कोई' हमें बतलावै कि छोटे आदमी का बड़ा बनना और लम्बे का ठिगना बनना शशविषाण सदृश है वा नहीं ?

(५) (६) (७) कादम्बरी, मैकबैथ और मेरीप्राइस वा फौष्ट ?

स्मरण रहे, जगत् के सब व्यवहारों में कोई-न-कोई बात ऐसी रह जाती है जिसको हम बिना दैवी प्रभाव माने समझ नहीं सकते। कोई घटना साधारण पंक्तियों पर चली जा रही है अचानक घटनाक्रम का बदल जाना वा रुक जाना और तद्द्वारा और अच्छे वा बुरे फल का उत्पन्न होना, यह जगत् में विरला नहीं है। निरीश्वरवादी इसे प्रकृति की खिलवाड़ मानते हैं और ईश्वरवादी इसे परमेश्वर की निर्णायक शक्ति वा design का परिचय मानते हैं। यदि नाटक और उपन्यास mirror of nature प्रकृति के आईने का काम देते हैं तो उनमें अवश्य प्रधानतया मानुष-भावों का चित्रण आवश्यक हुआ। किन्तु मानुष-भावों में presentiment, telepathy, पूर्वनिश्चय भाव-संवाद प्रभृति होते हैं। किसी मनुष्य की प्रेयसी मरती है उसी काल में अज्ञात कारणों से उसको दुःख उत्पन्न हुआ। किसी काम में विघ्न होना है उसमें पहले ही से अनुत्साह जी विराजमान हैं। इन घटनाओं का क्या किया जाए ? इन्हें दिखाने के लिए नाटकों में divine machinery वा Dieux et machina दैवी कला प्रविष्ट की जाती है जो dramatic unity नाटकीय एकता के विरुद्ध नहीं होती। 'कादम्बरी' में जो नायिका का तीन जन्म तक जीवित रहना है यह उपन्यास के परिणाम के लिए आवश्यक है, वह उपन्यास के चरम वर्णों में अनुस्यूत है उसे पृथक् करने से कई बातों की जान मारी जायगी बेशक, किन्तु उसे अलग भी कर सकते हैं। मैकबैथ में यह आवश्यक है कि मैकबैथ को उसके भावी जीवन की सूचना मिल जाए, और उसकी मानसिक अशान्ति का बीज वाप हो। साथ-ही-साथ उसके हाथ से नृशंस कर्म भी कराए जाएं यह सूचना और आगे चल-कर उसका धोखा खाना नाटक के निभाने के लिए आवश्यक है। उसे चाहे भूतनियां करें वा आकाशवाणी करें, किन्तु यह ग्रन्थ से निकाली भी जा सकती है। मेरीप्राइस में न मालूम स्वप्न-विचार कहां कहा गया है। किन्तु यदि हमें छै वर्ष की बात याद हो तो वह वहां है जहां मेरीप्राइस की स्वामिनी का कहीं विवाह होने वाला है और मेरीप्राइस अपने वाग्दत्त की चिट्ठी से स्वामिनी के पति के मुमूर्ष होकर बचने की बात जतलाती है और स्वामिनी के विवाहान्तर में भांजी मारती है। वहां भी उसकी dramatic necessity है। लेखक और पाठक घबरा रहे होंगे कि इस काकदन्त गणना से हम क्या फल निकालेंगे, किन्तु हमारा अभिप्राय सिद्ध हो गया। इन सब ग्रन्थों में असम्भव घटना गौणरूप से प्रवेश की गई है, उसे निकाल दें तो ग्रन्थ के एक वा दो अंगों के अतिरिक्त और सबको कोई क्षति नहीं पहुंचती। चन्द्रकान्ता' में से तो ज़रा ऐयारी को निकाल दीजिए, क्या रहता है ? सूखी खाल और हड्डियां और देवकीनन्दन जी की भद्दी भाषा ! यदि शब्दों के मज़ाक को क्षमा किया जाए तो, हम कह सकते हैं कि इन उपन्यासों में विचित्र घटना कथा की सहायता करती है किन्तु 'चन्द्रकान्ता' में कथा विचित्र घटना की सहायता

गु-१

करती है। फौष्ट और वेहर वुल्फ की बात कुछ न्यारी है किन्तु उनके लिए भी यही बात समष्टि रूप से लगती है। प्रथम श्रेणी के उपन्यासों में विचित्र घटना गौण रूप से बीच में डाली है, किन्तु फौष्ट सरीखों में उससे आरम्भ है। फौष्ट नेकोमेन्सर में आत्मा का बेचना और वेहर वुल्फ में भेड़िया बनना प्रथम से assumed है, शेष घटनाएं सब प्राकृतिक हैं। 'हां', बीच-बीच में आदि सूत्र से मिलान कर दिया जाता है। 'चन्द्रकान्ता' इन सबसे भी एक कदम बढ़ गई है। उसका वा 'सन्तति' का कोई अध्याय उठा लीजिए, देखिएगा कि असम्भव घटना को निकाले बाद उसमें कुछ नहीं है—it is too empty to be looked upon !!

आषाढ़ के 'सुदर्शन' में ऐयारी की पुष्टि के लिए 'मुद्राराक्षस' नाटक का भी नाम लिया गया है और 'चन्द्रकान्ता' छपती बेर रामायण के सीताहरण को भी 'ऐयारी' कहा गया था। यों तो इन्द्रवृत्र के युद्ध को वा सरमा और पणियों की बातचीत को ऐयारों की चालें बताकर 'वेदभगवान्' को भी चन्द्रकान्ता का वकील बना सकते हैं और उस दिन एक मित्र के निवेदन करने पर हमने अद्वैतब्रह्मपरक श्रुतियों को फ्री ट्रेड और प्राटेक्शन पर घटा दिया था किन्तु 'मुद्राराक्षस' की बात भी मैकवैथ और मेरीप्राइस में अन्तर्भूत हो गई। वहां भी विचित्र कलाएं गौण तथा प्रधान कथा की सहायता करती हैं और प्रधान कथा विचित्र कलाओं के साथ नाचती नहीं फिरती। एक और मज़े की बात देखिए। 'कादम्बरी', 'मैकबैथ', 'मेरीप्राइस', 'फाष्ट' वा 'मुद्राराक्षस' पढ़ने पर क्या स्मरण रहता है ? नाटक पात्रों की सजीवता, उनकी चेष्टाएं उनका चरित्रांकन, उनका व्यवहार, कथा-परिणाम प्रभृति। विचित्र घटनाओं का टांका अपना काम कर चुका और सारी पोशाक में टांकों की तरह वह अब दिखाई नहीं देता। 'चन्द्रकान्ता' के प्रेमियों को उसी की शपथ है, उसका पारायण किए बाद क्या याद रहता है ? कथा भाड़ में गई, चरित्रां-कन की बात ही नहीं, चरित्रों में सजीवता की बात कहां, भाषा भी नहीं, केवल ऐयारी देवी और तिलिस्मजी महाराज ! और साथ ही गुण्डे शोधे ऐयार villains of the play.

८. उपन्यास का मुख्य गुण विचित्र घटना है ! सच्चे ही; तो फिर इससे अच्छा उपन्यास कौन है कि "एक हाथी के पीछे एक गीदड़ दौड़ा। हाथी डाल-डाल तो गीदड़ पात-पात, हाथी वृक्ष पर चढ़ा कि उसने कहा—हट हट, पर चढ़ के गीदड़ भी ऊपर चढ़ आया। सामने नदी के दूसरे पार धोबी कपड़े धो रहा था उसने छींका तो उस छींक पर सवार होकर हाथी पार चला गया।" उत्तरोत्तर संगत और कौतूहलवर्धक हो सही किन्तु हो विचित्र ! भरपेट हो, जायकेदार हो, किन्तु हो चटनी ही !! कमर कसकर समाधान करने तो बैठ गए, किन्तु यह न सोचा कि जब रोगी पित्तज्वर से अभिभूत होता है तो उसे अनारदाने की चटनी ही अच्छी लगती है। और कोई भी भोजन उसे अच्छा नहीं मालूम होता। किन्तु स्वस्थ आदमी ही जानते हैं कि दाल-रोटी में क्या स्वाद है। अतएव हमने कहा था कि ऐसे उपन्यास बीमारी के दिन के उपन्यासों (Romances) की नकल हैं। बीमार की रुचि खोलने का काम इस चटनी ने दे दिया अब क्या जन्म भर इसे ही खाया करोगे ? पेट तो दाल-रोटी से ही भरेगा।

९. 'चन्द्रकान्ता' में कोई दोष नहीं है, यह दावा नहीं है।

१०. इसके गुणों पर भी ध्यान देना उचित है।

११. 'गद्यकाव्य मीमांसा' की दुहाई शायद इसलिए दी गई है कि उसमें घटना के संभवासंभव होने से, वा ऐतिहासिक, कल्पित और मिश्र भेद से (पृ० ५२, ५०) उपन्यासों के भेद माने गए हैं। (कारिका : ५२ और ६५); किन्तु पं० व्यास के उनचास अर्बुद, छँ करोड़, एकतालिस लाख, अठानवे हज़ार चार सौ उपन्यासों में इन चार घटकों को छोड़ बाकी क्या हुए? 'गद्यकाव्य-मीमांसा' में से एक टुकड़ा ऊपर दिया गया है। एक और सुन लीजिए। "देशकाल आदि के वर्णन में स्वभाव सिद्ध वर्णन करें, अस्वाभाविक बहुत ऊटपटांग न हांके।" (पृ० ३८) एक और भी बात है। चाहे गद्य-काव्य का सूत्रपात हमारे प्राचीन आचार्यों ने कर दिया हो, किन्तु वर्तमान उपन्यासों की सृष्टि पश्चिमी नमूनों पर हुई है। यद्यपि 'पंचतन्त्र' प्रभृति से हमने ही पश्चिम को कथा-प्रबन्ध सिखलाया था, किन्तु वर्तमान उपन्यासों की रचना और जीवन में यूरोपीय उपन्यास बड़ा भारी भाग ले चुके हैं। साहित्याचार्य का लेख प्राचीनों की भूल पकड़ने और पण्डिताई से नए-नए विभाग करके कुछ दिग्दर्शन दिखा सकता है, किन्तु यूरोप का भी इस विषय में सुने जाने का अधिकार है। पाश्चात्य देशों में उपन्यास की उत्पत्ति और उन्नति तो हम एक स्वतन्त्र लेख में दिखावेंगे, किन्तु यह प्रत्यक्ष है कि यूरोप के सभी देशों में विचित्र वर्णनकारी रोमेन्सों की रचना मारी गई हैं।

अब के उपन्यासों में "चरित्रों का दार्शनिक अध्ययन, राजनैतिक और सामाजिक काकु, बृटिश गृहचर्या का उदार और समालोचना पूर्ण चित्र, वर्तमान दुराचारों के विरुद्ध प्रबल जिहाद" पाया जाता है।[1] "उपन्यासों की अधिक बिक्री और अधकचरे मनुष्यों की उपन्यास लिखने की प्रवृत्ति से यद्यपि ठीक उपन्यासों की चाल नहीं पाई जाती तथापि यह प्रत्यक्ष है कि अंग्रेजी औपन्यासिकों की कल्पना छोड़ गई है। यही नहीं कि इंगलैण्ड प्राकृतिक प्रवृत्तियों वाला हो गया है, किन्तु वहां व्यापारी उपन्यास, जहाज़ी उपन्यास, सामाजिक उपन्यास, साम्राज्योपन्यास भी फैल गए हैं। अयोग्य ग्रन्थ ५० वर्ष तक लोगों की स्तुति के पात्र न रह सकेंगे। उपन्यासों की साहित्यश-क्ति के कम होने से तब तक थकावट और रुकावट जारी रहेगी जब तक सारा Romantic mode रोमेन्सकाल का प्रभाव मिटकर और अच्छे साहित्य को स्थान न दे देगा।"

१२. 'महान् हि शब्दस्य प्रयोगविषयः आहोपुरुषिका मात्रं हि खलु भवामाह।' जितना प्रयोग ऊस, तेर, चक्र, पेश, आदि शब्दों का है उतना ही इन उपन्यासों का भी रहने दीजिए, अस्ति भवति, वा "गौः ग्मा ज्या" की तरह इनका प्रयोग थोड़ा ही है? इसलिए इतना ही प्रयोग का विषय है, कहना असम्बद्ध नहीं है, स्थूल दृष्टि से ठीक है।

१३. "क्या सम्भव है और असम्भव है, यह जानना ही मनुष्य के लिए असम्भव

1. Cf. the Encyclopaedia Brittanica, Tenth Edition. Supplementary Volumes, under "English Literature."

है।" खैर, एक बात तो असम्भव निकली ! धन्यवाद !! इस बैशाख की संख्या का उत्तर देते हुए सहयोगी 'वेंकटेश्वर' ने बहुत कुछ इधर-उधर जाना चाहा है। कई वेर अप्रासंगिक बातें कहकर प्रासंगिक बातों को टाला और अपने सहयोगियों को आगे करके स्वयं निकल भागना चाहा है। इन सब बातों की आलोचना यहां करने की आवश्यकता नहीं, किन्तु 'श्रीवेंकटेश्वर' की शान्ति और सौम्यता की जो स्तुति की जाय वह थोड़ी है। बिना विवाद के किसी बात का पूरा निश्चय नहीं होता, शायद इसीलिए 'सुदर्शन' ने ज्येष्ठ की संख्या में इस बारे में फिर लिखा। उसका अधिकांश यद्यपि शुष्कविवाद पर ही झूमता है, तथापि उसकी कुछ बातों पर थोड़ा-बहुत लिखकर इस लेख को, और इस विषय को हम समाप्त करेंगे।

ज्येष्ठ का 'सुदर्शन' पृ० २० प्रभृति—

१. "सब जानते हैं कि जोधपुर और जयपुर के नरेशों ने मुगल बादशाहों को लड़कियां दी थीं, इस कारण उन्होंने उस समय मुसलमानों की प्रसन्नता के लिए कुछ न उठा रक्खा।" प्रथम साध्य से द्वितीय सिद्ध किया गया है, वा दोनों अनुमानों में अभेद है वा दूसरे से प्रथम सिद्ध किया जाता है। यदि इन नरेशों ने लड़कियां दी थीं इस बात को सब लोग झूंठ जानते हों तो ?

२. निज के प्रेस में चाहे जो अनाप-शनाप छापे इत्यादि (पृ० २१); पत्र-सम्पादक और यन्त्रालय-चालक के कर्तव्य को एक कर दिया गया है। यों motive चिपकाना ठीक नहीं। पत्र-सम्पादन और दृष्टि से होता है, वा और व्यक्ति से होता है, ग्रन्थ-मुद्रण और से।

३. यद्यपि सनातनधर्मदीपक के लिए हमें 'सुदर्शन' का-सा ही दुःख हुआ है और उस विषय में हमारे विचार उससे मिलते-जुलते ही हैं तथापि यह दोष 'वेंकटेश्वर' पत्र का नहीं है और न यह कहना ठीक है कि "क्या मारवाड़ियों की बहू-बेटियों के लिए 'श्रीवेंकटेश्वर' का महाप्रसाद रसिक छ००" जैसा ही होना चाहिए ?

भ्रम किसका है ?

१. "चन्द्रकान्ता' में असम्भव बातें नहीं हैं और वैसी आश्चर्यमयी घटना उपन्यास में दोषावह होने के बदले गुणावह ही है।" यदि ('सुदर्शन' को जोड़ना चाहिए) ऐसी घटना गौण रूप से प्रधान कथा की सहायता करे और प्रधान कथा को बाजीगर बंदरिया की तरह नचाती और बिगाड़ती न फिरे, जैसा कि उसने 'चन्द्रकान्ता' में भरपेट किया है।

२. नैयायिक धुरन्धरों की अपेक्षा उसकी बुद्धि चमत्कारिणी है। इसलिए कि सम्भव और सम्भवाभाव, और असम्भव और असम्भवाभाव को परस्परासमानाधिकरण मानता है। और, 'सुदर्शन' की तरह उन्हें परस्पर संकीर्ण नहीं कर देता। भाष्यकार ने भी लिखा है—"भवनं भावः शब्दैरेव शब्दानाचष्टे" तो 'वेंकटेश्वर' का लक्षण बुरा क्यों है ?

३. उनके प्रतिष्ठित पत्र का सिद्धान्त—सम्पादक विशेष की रुचि से उद्देश्य

विशेष का समर्थन होता है, साथ ही पाठकों में भी अधिकारीभेद होता है। पाठक उपन्यास शून्य होना नहीं चाहते, उनके लिए "असत्थे वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते" करना पड़ता होगा। यहां हम 'वेंकटेश्वर' का पक्ष नहीं ले रहे हैं, केवल वक्तव्य कह रहे हैं।

४. असम्भव का लक्षण बनाकर समन्वय करना—"लक्ष्यतावच्छेदकासामानाधिकरण्यं, सम्भवाभावो वा असम्भवः।" इस लक्षण का 'सुदर्शन' ने खण्डन कम किया है। "उछाय ह्रासवृद्धिसमर्थत्वं" भी लक्ष्य से समानाधिकरण नहीं है।

५. पुस्तकप्रकाश कामना से सत्य का मुकुट, गोरी चमड़ी वाले जो लिखें सो सम्भव है, अच्छा इसलिए कहा कि 'नागरी प्रचारिणी सभा' द्वारा प्रकाशित हुआ था, यह तीनों उक्तियां उत्तर के योग्य ही नहीं।

'राजपूत को नेक सलाह' लेख के वीर लेखक का हम इसलिए उत्तर नहीं देते कि उसने अपने नाम को छिपाकर धर्मग्रन्थों तक पर आक्षेप किया है तथापि पृष्ठ ३८ के उसके कथन पर हमें एक वाक्य कहना है—"अंग्रेज़ समाज का यथावत् चित्र उतारने वाला रिनाल्ड के समान धुरन्धर उपन्यास लेखक कोई न हुआ, न है।" "जैसा कि 'कलावती' और 'चपला' में हिन्दूसमाज का यथावत् चित्र उतारने वाला पं० किशोरीलाल गोस्वामी वा देवकीनन्दन के समान धुरंधर उपन्यास लेखक कोई न हुआ, न है।"

आषाढ़ का 'सुदर्शन' देखकर सुदर्शन का पक्ष करने की इच्छा होती है। वास्तव में बहुत बकवाद करने के लिए सन्नद्ध पत्रों पर अग्नि पर भीगे कम्बल की ज़रूरत है। प्रेरित पत्रों के लिए विचारे सम्पादक दायी बने हैं। और, साहित्यसेवी के लेख का खंडन उनने अच्छा किया है। यद्यपि उस लेख में प्राचीन आर्यराजाओं के विरुद्ध बहुत कुछ अपावन अपाठ्य विषय है और इसी से उस विषय पर बहुत कुछ कहना भी उचित नहीं, तथापि दो एक बातें कहे देते हैं—

१. पृष्ठ २७ आश्रयदातृ बंगभाषा, प्रभृति—यदि बंगभाषा ने हमें शब्द और ग्रन्थ दिए तो उनके दोष न देखना—यह कहां का न्याय है? बुद्धिमान् बंगालियों ने यदि नवजात उपन्यासादि शब्दों पर विवाद न किया तो क्या हम भी रक्तबीज की तरह फैलते उपन्यासों पर कुछ न कहें?

२. "प्रातःस्मरणीय महाराणाओं के उत्कर्ष के लिए बंगालियों ने जो कल्पना की है।" यथा—अश्रुमती का सलीम से प्रेम! क्यों? दुर्बल बंगाली अपनी जातीय दुर्बलता के सामने विशुद्ध रुधिरवीर राजपुत्रों का क्या उत्कर्ष करेंगे?

३. जगन्नाथ जी की मूर्ति—किन्तु यदि कोई व्रज में न जाकर जगन्नाथ जी की मूर्ति को ही देखकर विचार बांधे तो हिन्दुओं को असभ्य जातियों के सदृश पूजक कहेगा न! वही बात उन निपुणता की हानि वाले उपन्यासों की है।

४. 'मेघनादवध' और नवीनचन्द्र के ग्रन्थों में त्रुटियां नहीं हैं। माइकल मधु ने तो इच्छापूर्वक मिल्टन के अनुकरण से, रावण से सहानुभूति दिखाई है और देवरामचरित्र को मनुष्यरामचरित्र में परिणत किया है। प्रभास रैवतक आदि में आर्य-अनार्यों का

कल्पित झगड़ा बनाकर ब्राह्मणों को अनार्य पक्षपाती दिखाया गया है। इस ग्रन्थ पर 'ऊनविंश शताब्दीर महाभारत' देखिए।

५. 'उसी शैली का' जिससे अश्रुमती के द्वारा महाराणाओं की प्रशंसा की गई है।

६. 'स्वतन्त्रचेता आर्य्यकवि' 'भारतवर्षीय कवि किसी के दास नहीं होते' ठीक है! और, उनकी स्वतन्त्रता कुछ रुपया न मिलने से अपने मित्र के जानी दुश्मन बन जाने में वा एक-एक रुपये में स्वार्थान्धप्रकाशिका पर सम्मति करने में शेष होती है। इस स्वतन्त्रता का उपयोग क्षत्रियों पर ही होना चाहिये।

७. "म्लेच्छों के अपवित्र उत्संग में दुहिता अर्पण की" धीरे-धीरे। यह बात असत्य हो, यह असम्भव नहीं है।

८. 'नागरी प्रचारिणी सभा' के वार्षिकोत्सव पर ऐसी पुस्तकों पर विचार हो जाय—नहीं! कदापि नहीं!! जिन लोगों को लड़ने का स्वभाव है, वह किसी का फैसला क्यों मानेंगे? फिर जिस पक्ष की जीत होगी उसे motives लगाने में प्रवीण लोग स्वार्थी और अन्यायी न कहेंगे? और दूसरा पक्ष 'नागरीप्रचारिणी सभा' का शत्रु न बन जाएगा? पं० मिश्र ने महामण्डल की वर्षों की लड़ाई मिटाकर तो क्या कर लिया और इस लड़ाई को दिनों के विचार में मिटाने की उनकी लालसा है! सभा की सौम्य कार्य्यवाही में यह पचड़ा डाला ही न जाय। हिन्दी-पत्रों की भेड़ियाधसान स्वयं ही चुप हो जायगी, नहीं तो सभा में भी क्या होगा—

> **उच्चैरुद्घोष्य जेतव्यमधस्थश्चेदपण्डितः।**
> **पण्डितो यदि तत्रैव पक्षपातो निवेश्यताम्॥**

९. जो लोग न्यायालय में राजपूतों को ले जाकर कलह का सूत्रपात कराया चाहते हैं, वे कदापि उनके या हिन्दी भाषा के हितैषी नहीं हैं। अवश्य।

१०. सवाया मान—क्या उसी कारण हुआ है? कारणान्तर नहीं? धन्यवाद के लेख में यह पढ़कर बड़ा हर्ष हुआ कि सुदर्शन-सम्पादक की चले तो 'चन्द्रकान्ता' के बदले तुलसी-रामायण पढ़वावे। भगवान् करे उनकी चलै। किन्तु उनके मत में धर्म और नीति और वस्तु है, और काव्य-साहित्य और। हम यह नहीं मानेंगे। यदि निर्जीव आख्यायिकाएं असम्भव और अद्‌भुत घटना मात्र का उल्लेख न करके मनुष्यजाति के उपादेय वा गर्हणीय चरित्र का अंकन करके विलास में भी उपदेश दें तो क्या हानि है? यदि नीति और काव्य—क्षुरस्य धारा और विलास के बीच में पुल बंध जाय तो क्या हानि है? मनुष्यजाति के लिए मनुष्यजाति चर्चा से अच्छा विश्वविद्यालय नहीं है। मनुष्य कड़वी दवाई (धर्मशास्त्र) रज़ामन्दी से नहीं पीयेंगे, उन्हें आख्यायिका की शक्कर में लपेटकर तत्व दिये जायं। सहयोगी क्षमा करें "गणेशं कुर्वाणो वानरं चकार" तो तिलिस्म की बिलल्ली घटना के 'निर्जीव' शृंगारकों ने किया है, मनुष्यजाति की सम्भव घटनाओं की आख्यायिकाएं उतनी ही सजीव हैं जितनी मनुष्यजाति और मनुष्यजाति का इतिहास। 'चलता पुर्ज़ा' और 'विज्ञान और बाज़ीगरी' विलास होने पर भी ज्ञान है, सच्ची और होनेवाली बातों की जानकारी है। क्या यही शब्द 'चन्द्रकान्ता' के विषय में कहे

जा सकते हैं ? उससे समय वृथा नष्ट होने के साथ जानकारी क्या हुई ? हां, हमने कई मनुष्य ऐसे देखे हैं जो 'चन्द्रकान्ता' के दो तीन परायण किये बाद तेजसिंह बन जाते हैं, पागलों की तरह पहेलियों में बातें करते हैं, पत्ता हिलता देख कांप उठते हैं, किसी गली का मोड़ देख चौंक उठते हैं, प्रत्येक वृक्ष को तिलिस्म और प्रत्येक खण्डहर को कैदखाना मानकर मित्रों के साथ बाग़ जाने में भी हिचकते हैं। सहयोगी हँसे नहीं, यह भयानक सत्य है। घर-घर में Den quixote की घटना की आवृत्ति हो रही है।

हमें भय है कि हमारा सहयोगी इतनी अधिक बातों से अप्रसन्न न हो जाय, इससे हम उसे सांजलिबन्ध क्षमा मांगते हैं और हमारा वक्तव्य यही है कि हमने अपने हृदय के शुद्ध भाव, भले मन से, भलाई के लिए, उसके सामने रक्खे हैं। कई लोग हमें यह कहेंगे कि 'सुदर्शन' आपसे अप्रसन्न हो गए—"समानमिन्मे कवयश्चिदाहुरयं ह तुभ्यं वरुणो हृणीते" (७।८६।३ ऋक्), परन्तु हम इसी में संतुष्ट हैं कि 'सुदर्शन' की कृपा से हम—

'अतारिष्म तमसः पारमस्य।'

इस लेख में हमने 'सुदर्शन' के ही मतों का विवाद इसलिए किया है कि वे ही विवाद के योग्य हैं। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि और पत्रों के विचार सब सत्य हैं, नहीं-नहीं, कहीं-कहीं तो वे इतने उद्देश्यभ्रष्ट हैं कि उनपर कुछ कहना ही ठीक नहीं। 'सुदर्शन' के विरुद्ध कुछ कहने में हम अपना सौभाग्य समझते हैं। किन्तु असल बात जो है वह 'सुदर्शन' समझ ले। यह उपन्यास—उर्वशी हिन्दी पाठक पुरूरवा को सुधारने आई थी। जब देखा कि पुरूरवा हातिमताई के किस्से और बुलबुल हज़ार दास्तां ही में उलझा हुआ है तो इन्द्र ने यह उर्वशी इसको दी। उर्वशी ने अपना काम कर दिया है और अब जब राजा ने राजकार्य छोड़ा है तो उर्वशी आती है। तिलिस्म का स्थान तो विज्ञानचर्चा ले लेगी और ऐयारी का स्थान गवेषणा। अपने पुत्र आयु को पिता के पास छोड़कर अब उर्वशी चली। पुरूरवा भले कितना ही कहै—"हये जाये मनसा तिष्ठ घोरे ! वचांसि मिश्रा कृणवावहै नु"[१]; "निवर्तस्व हृदयं तप्यते मे"[२] तो भी वह तो यही कहती जायगी कि "प्राक्रमिषसामग्रियेव"[३]; "दुरापना वात इवाहमस्मि।"[४] यहां तक कि वियोग में पुरूरवा यह कह बैठेगा—"सुदेवो अद्य प्रपतेदनावृत् परावतं परमां गन्तवा उ। अधा शयीत निर्ऋतेरुपस्थेऽधैनं वृका रभसासो अद्युः॥"[५]

---

१. हे प्रिये ! ज़रा ठहरो, मिलकर बातें करें।
२. लौट आ, मेरा जी जलता है।
३. पहली उषा की तरह मैं हट गई।
५. मैं वायु की तरह पकड़ी नहीं जा सकती।
४. आज मैं सदा के लिए रवाना होता हूं और सुदूर से न लौटने को (मरने को) तैयार हूं। प्रकाशमान् मैं मृत्यु की गोद में सोऊंगा और भले ही भयंकर भेड़िये मुझे खा जायं।

तो उर्वशी यही कहैगी—

"पुरूरवो मा मृथा मा प्र पप्तो मा त्वा वृकासो अशिवास उ क्षन् ।
न वै स्त्रैणानि सख्यानि संति सालावृकाणां हृदयान्येता ॥"[१,२]

यही अनादिसंगर का अविनाशी नियम है। अन्धकार मिटाने को उषा आई, सूर्य के आते ही वह चली गई। उसका काम हो चुका। ओम्।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : अक्तूबर-नवम्बर, १९०३ ई०]

समीक्षात्मक सम्पादकीय टिप्पणियां

बंगला में उपेन्द्र किशोरराय चौधरी बी० ए० ने प्राचीमकाल के अद्‌भुत और अब अप्राप्य जन्तुओं का बहुत अच्छा सचित्र वर्णन लिखा है। उसका अनुवाद हिन्दी में भी होना चाहिए। क्या कोई हिन्दी-प्रेमी यत्न करेगा ?

*

प्रयाग का बंगाली सहयोगी प्रवासी 'सरस्वती' से एक वर्ष पीछे निकला था, किन्तु उसकी आशातीत उन्नति और 'सरस्वती' का रूप कहलाता है कि—

"सहैव दशभिः पुत्रैर्भारं वहति गर्दभी।
एकेनापि सुपुत्रेण सिंही स्वपिति निर्भया ॥"

चित्रों के प्रकाशन में यह पत्र अद्वितीय है। हिन्दी प्रेमियो ! ज़रा इसके लेखकों की सूची में एम० ए०; बी० ए० प्रभृति के नाम देखकर डरिये और मुंह तो छिपाइए। इसने रवि वर्मा, धुरन्धर, छात्र, अवनीन्द्रनाथ प्रभृति के चित्र छापकर खूब नाम पाया है। देशों के ऐतिहासिक विवरण भी इसमें बहुत अच्छे निकलते हैं।

*

चैत्र के प्रवासी में डाक्टर सतीशचन्द्र ने प्रवासी बंगालियों के कर्त्तव्य पर एक लेख लिखा है, उसमें कहा है कि युक्तप्रदेश के वासियों की अपने ज्ञानदाता, पूज्य बंगालियों पर से श्रद्धा हटती जाती है, किन्तु जहां तक हम जानते हैं यह बंगालियों का ही दोष है। वे गर्व में आकर अपने को यहां वालों से अलग मसाले का बना मान बैठते हैं और कभी-

१. पुरूरवा ! मत करो, मत नष्ट हो, अमंगल भेड़िये भी तुझे न खाएं। स्त्रियों से कभी सदा की मित्रता नहीं होती, इनके हृदय तो जरख के हृदय-से कठोर होते हैं।
२. ऋग्वेद मण्डल १०, सूक्त ९५, ऐल सम्वाद।

कभी पक्षपात से योग्य देशियों को भी पददलित करना चाहते हैं। बंगालियों को जानना चाहिए कि अधिक शिक्षित होने के कारण जातीयता उत्पन्न करने का बोझा उन्हीं पर है और संकीर्णता से अन्य प्रान्त वालों का दिल खट्टा करना बुरा ही है।

*

आषाढ़ के **प्रवासी** में रवि वर्मा कृत 'अज विलाप' का चित्र तीन रंगों में बहुत सुन्दर है। 'अज विलाप' का रघुवंश के अष्टम् सर्ग के छन्द में ही हिन्दी-अनुवाद पण्डित सरयूप्रसाद ने भी किया था।

*

सरस्वती' के साथ जन्म लेने वाले **सुदर्शन** ने जैसे कैसे अपना वर्ष ३ का अंक २ (वैशाख १९६०) अब दिखाया है। ऐसी उच्च कोटि का पत्र क्या हिन्दी में बिना सांस घुटे निकल ही नहीं सकता? क्या इसके सुयोग्य सम्पादक अपनी बीमारी और 'बहुकारिता' के आगे इसे सम्हाल ही नहीं सकते?

*

सुदर्शन में इस ही वैशाख की संख्या में **उपन्यास और समालोचक** नामक लेख यद्यपि लेखक की 'नमकहलाली' दिखाता है तथापि सन्देह होता है कि किसी ने सरल-हृदय पं० माधवप्रसाद को अपना 'शिखण्डी' बनाया है। कोई भाषा उपन्यासों के भरोसे नहीं जी सकी। चिन्तित चित्त को शान्ति देने के लिए इनका उतना ही उपयोग है जितना भोजन में चटनी का; किन्तु क्या हम चटनी से अपना पेट भर सकते हैं। अधिक मिर्चों वाली चटनी चटनी का काम दे भी देगी, किन्तु भोजन का काम 'चन्द्रकान्ता' में एक असम्भव बात को सम्भव मानकर क्या-क्या बिलल्ली बातें बन सकती हैं, उनका अच्छा नमूना है, किन्तु उसकी कैसी-कैसी भद्दी नकलें हो रही हैं? 'चन्द्रकान्ता सन्तति' में तो बाबू देवकीनन्दन ने स्वयं तिलिस्म लिखने की अरुचि प्रकट की है। ऐसे उपन्यासों के नायक और नायिका खाली बदमाशों के हाथ की गुड़िया हैं; न उनमें जान है, न शक्ति। सभ्यसमाजनिराकृत रेनेल्ड के नाविलों की दुहाई देती बेर लेखक ने यह नहीं सोचा कि असम्भव घटना प्रभावशालिनी लेखिनी ने चरित्रांकन करने की बहादुरी ली है, उसकी तुलना में हमारे लेखकम्मन्य कीड़े नहीं तो क्या हैं? हां! जिन रेनेल्ड के नाविलों के लिए हम उर्दू को दुदकारते थे, उन्हीं के भरोसे हिन्दी-उपन्यासों की हिमायत की जाती है!! विलायत में सैंकड़ों सम्भव और समाजोपकारक और सत्य उपन्यास हैं, उनकी ओर तो यह देखा भी नहीं जाता और पुराने भद्दे रोमान्सेज़ (Romances) की नकल की जाती है। यह योरोप की बीमारी के दिनों के ग्रन्थ हैं और हमें भी बीमार करने में कसर न करेंगे। 'तिलिस्म' उतना ही सम्भव है, जितना 'हुमा' वा 'सात मुख का घोड़ा'। उस पर एक-आध अच्छा उपन्यास भी बन सकता है, किन्तु काशी का-सा तूफान! वाह!!

उपन्यास मात्र पर कोई छुरी नहीं फेरता; यह भी भाषा की सत्ता में अपना

पार्ट खेल रहे हैं। 'वेंकटेश्वर समाचार' ने इस विषय में लिखा ही है और आवश्यकता होगी तो हम भी कलम उठावेंगे।

आजकल हिन्दी में क्षत्रियों की निन्दा करने वाले उपन्यासों पर भी 'राजपूत-महासभा' और कुछ पत्र खंगहस्त हैं! किन्तु उनके कोप का निशाना 'भारत जीवन' के माननीय संपादक ही हैं! ठीक है—"दैवो दुर्बलघातकः।" काशी के एक भद्दे उपन्यास 'जादूगर' में एक राजपूत बाला के माता-पिता और चाचा उसके भडुए बनाए गए हैं और मुसलमान बादशाह से उसे व्याहने का षड्यन्त्र कर रहे हैं। यह रेनेल्ड के वैसे ही बिलल्ले उपन्यासों में से एक का अनुवाद है जिनको 'सुदर्शन' ने उदाहरण रूप खड़ा किया है। किन्तु यों नाम बदलकर विदेशी बनने को मन्दिर की झारी बनाने की क्या ज़रूरत थी? क्या उधर किसी का ध्यान नहीं गया?[1] बंग भाषा में ऐसे करोड़ों उपन्यास बिकते हैं किन्तु क्षत्रियों का कुठार अपने साहित्य पर ही चलता है। नहीं नहीं, बंगला-उपन्यासों पर सहयोगी 'भारतमित्र' के लेखों का सिलसिला जल्द ही शुरू होगा। सीधी बात तो यह है कि यदि 'राजपूत' सच्चे ही कुछ काम करना चाहते हैं तो उन्हें उचित है कि पुराने लेख पढ़ें और अपने (Archives) गुप्तकोशों से इस कलंक-कथा को झूंठ सिद्ध कर दें, नहीं तो उपन्यासों के गंगाप्रवाह और दाह होने पर भी फारसी और अंग्रेज़ी इतिहासों में यह बात काली स्याही से लिखी ही रहेगी।

*

मेघों के प्यारे पं० बदरीनारायणजी की मेघमय **आनन्दकादम्बिनी** निकलती तो है किन्तु संवत् ५७ की कादम्बिनी की तरह!! दो-तीन अंक ही साथ निकलते हैं। यों आधे आकार से यदि यह पत्र न निकले तो 'सोने में सुगन्ध' है। भाषा-भाव आदि की क्या स्तुति की जाये? इस ना क़दरी के उपन्यासमय ज़माने में भी 'चौधरी जी' और 'हिन्दी प्रदीप' के पं० बालकृष्णजी भट्ट हिन्दी को नहीं भूले हैं। यह उनका स्तुत्य महत्त्व है। 'प्रेमघन जी' अपने सब काव्यों की एक सूची भी प्रकाशित कर दें तो हिन्दी-पाठकों को सुभीता हो।

*

बड़े हर्ष की बात है कि कुछ दिनों से **राजस्थान समाचार** ने उन्नति आरम्भ की है। बरसों की घिस-घिस के बाद आज उस में 'मूलधन' और 'पुराण' दो लेख अच्छे लिखे हैं। समर्थदानजी को उचित है कि वीरता से अपने पत्र की उन्नति करके उसे उच्च कोटि के मराठी पत्रों की तुलना पर ले जायं। 'भारतमित्र' का पंजाबी तथा 'वेंकटेश्वर' का मराठी, गुजराती सहयोगी उचित आदर करते हैं। बंगालियों तथा गुजरातियों में हिन्दी की सत्ता जानने के लिए उचित है कि—

'हित वार्त्ता' और 'राजस्थान समाचार' सन्नद्ध हो जायं, जिससे हिन्दी सब भाषाओं तथा उसके भाषकों से स्पर्श करती रहै।

*

१. इस उपन्यास की समालोचना 'समालोचक' में निकलेगी।

सरस्वती में शूरवीर 'समालोचक' का चित्र अब बिलकुल वेमौके है क्योंकि पं० महावीर प्रसाद ने समालोचना की कलम ही तोड़ दी।

*

कलकत्ता रिव्यू नामी प्रभावशाली पत्र में मौजा बांगड़ा जिला सारन के वर्नाक्यूलर स्कूल के गुरु का एक पत्र छपा है। उसके विषय से हमें कोई सम्बन्ध नहीं, तो भी हम उसे नकल करते हैं—

"जिस अवरत् की किसी वजह से लड़का नहीं होता है वह किसी वोझा या वरम्ह के कहने से दो रास्ता के बीच में अस्नान् करति है। अवर वहां अपने बराबर मुत् वो खर्ह् धरके उसी पर नहान्ति है इसके वारे अकीन् उन्को होता है कि जो इसको पहले लंघेगा उसिको इह दोख जिसमें हमको लड़का नहीं होता है वह लागेगा"

आरा की नागरी प्रचारिणी सभा को उचित है कि संस्कृत की छात्रवृत्तियों के लिए दौड़ने के पहले इन अपने देशियों को हिन्दी सिखावे !!!

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : अगस्त, १९०३ ई०]

यदि **प्रयाग समाचार** की छापी सभा की रिपोर्ट के एक वाक्य का कुछ अर्थ हो सकता है तो वह यह है कि सभा राजस्थान (Todd ?) का अनुवाद अपनी ग्रन्थमाला में छापेगी। यानी महामण्डल की भाषा में, प्रतिवर्ष ४ संख्या के आशातीत प्रकाशन में ३२ विराट् पत्रों में इस ग्रन्थ के प्रकाशन की विराट् सफलता होगी। सभा ने क्या 'राजस्थान' का अनुवाद किया है ? कब ? छपाने की भी ऐसी जलदी ? तो इस क्रम से कै दशाब्दियों में हिन्दी वाले पूरा राजस्थान पाएंगे ? क्या हम सभा की सहायता करके उसकी ग्रन्थ-माला को मासिक नहीं करा सकते ? राजस्थान के समर्थदान जी बहुत दिनों से टाड छापने को उत्सुक हैं, सभा यदि उनसे बातचीत करे तो वह ग्रन्थ को छापेंगे भी और सम्पादकीय व्यय भी दे सकेंगे। हम इस बात को समझे नहीं।

*

राजस्थान में बाबू सन्नूमल ने हिन्दी भाषा पर एक अच्छा लेख लिखा है। रैडियम पर 'हिन्दी बंगवासी' भी पढ़ने लायक है।

*

'श्री भारतधर्ममहामण्डल' के धार्मिक उद्देश्यों से तो 'समालोचक' का कुछ सम्बन्ध नहीं है, तथापि इस खयाल से कि 'महामण्डल' का कार्य हिन्दी में आरम्भ हुआ

था, और हिन्दी में हो रहा है और अब भी महामण्डल हिन्दी की हिमायत की शपथ करता है।[1] हम समझते हैं कि हमें कुछ कहने का अधिकार है। हम देखते हैं कि महामण्डल की मछली ने हिन्दी अखबारनवीसी के तालाब को गन्दा कर रक्खा है। हिन्दी के सम्पादक ही ठाले और निकम्मे थे, जिन्हें बैठे-बैठे एक शगूफा हाथ आ गया। यहां तक कि तिलक केस और 'नागरी प्रचारिणी सभा' की रिपोर्ट पर लिखने को स्थान नहीं और मण्डल के सच्चे-झूठे पचड़े पर चार-चार कालम ! !

जो हो, **प्रयाग समाचार, भारतधर्म** प्रभृति में केशव स्वामी प्रभृति के नाम से, वा सम्पादकीय ढंग से जो लेख निकाले जाते हैं वह हमें बहुत बुरे मालूम दिए हैं और उनसे हिन्दी अखबारनवीसी में बट्टा लगता है। मान लीजिए कि एक बङ्गाली ने ब्रजमण्डल में रहकर लोगों को धोखा दिया तो बंगाली मात्र को 'चीमड़' और ब्रजवासी मात्र को 'कुवाच्य' कहने का कौन मौका है ? जैसे यदि कोई-कोई काशी के पण्डित दूर-दूर व्यवस्थाओं की नोटिस देकर गाहक जुटाते हैं (हमें इस बात की सत्यता की चिट्ठियां मिली हैं) वा एक रुपया लेकर स्वार्थान्धप्रकाशिका पर सम्मति कर देते हैं, तो काशी के पण्डित मात्र को व्यवस्था और धर्म का बेचने वाला कौन कह सकता है ? केशव स्वामी और निरपेक्ष की इस क्षुद्र बहस ने एक क्षत्रिय के द्वारा उन मान्य पण्डित की उपाधियों पर चर्चा उठा दी है जिनके कि केशव स्वामी प्राइवेट सेक्रेटरी बनते हैं शायद कलियुग के भय से सारा धर्म हिन्दी-अखबारों ही के शरण आ गया है और भाषाओं के पत्रों पर धर्म की कृपा नहीं है।

*

निगमागमचन्द्रिका के अष्टम् भाग के नं० १, २ (चैत्र-वैशाख) अब निकले हैं जब तिहाई दर्जन पत्रों के सम्पादक इसमें ज्वाइन्ट बने हैं तो हम आशा करते हैं कि इसमें शुष्क विवाद और हिसाब की भरती ही न रहा करेगी। पण्डित चक्रवर्ती शायद अंग्रेज़ी के दार्शनिक और धार्मिक मासिक पुस्तकों से परिचित होंगे, उन्हें उचित है कि उनकी चाल पकड़ें। महामण्डल के प्रबन्ध में, पहले और अब, यही अन्तर है कि पहले महामण्डल के कर्त्ता स्वतन्त्र थे और सरे बाज़ार एक और स्वतन्त्र बने हुए थे, वर्तमान प्रबन्धक भी एक हैं, किन्तु टट्टी की ओट में लगाम पकड़ना चाहते हैं। स्वामी जी की सम्मति पर ज़ोर क्यों ? वही इने-गिने नरपतिगण क्यों ? इत्यादि कई प्रश्न निष्पक्षपाती को सूझते हैं। और वही कई रूपों में पूछे जा रहे हैं। प्रायः आठ पृष्ठ की स्वर्णजिह्व वकालत के बाद सम्पादक चक्रवर्ती ने जो सिद्ध किया है और जो महामण्डल की वर्तमान पालिसी दिखाई देती है, वह यह है—

"जब ऐसे पुरुषरत्न की अधीनता में भारतधर्ममहामण्डल स्वामी जी की सम्मति

1. to spread the study of Hindi, which the Mahamandal aims at making the 'tinqua franca' of India.

के अनुसार प्रबन्ध से (क्यों ? क्यों ? क्यों ?) परिचालित होने लगेगा, तो भारत में हिन्दू-जीवन के लिए मानो एक बार ही नवीन युग उपस्थित होगा। (जैसा कि 'मधुसूदनसंहिता' के प्रचार से होता-होता रह गया।)

*

सहयोगी **वेंकटेश्वर, भारतमित्र** और **प्रयाग समाचार** को उनकी उदार समालोचना के लिए धन्यवाद है। 'प्रयाग समाचार' से निवेदन है कि (१) सम्पादक नया है, यह रहस्य तो नहीं छिप सकता तथापि उनका पता सूंघने में आपने भूल की है। 'हमारी ओर के देहाती' यह पद सम्पादक द्विवेदी के हैं, हमारे नहीं। (२) प्रकाशक सम्पादकीय Personality व्यक्तिगत मतों में हाथ नहीं डाल सकते। (३) डरने और मुंह छिपाने वाली बात को आप समझकर भी न समझें। (४) परिवर्तन की जरूरत कई मित्रों ने सुझाई है मुबलिग़ान के लिये।

*

बंगला उपन्यासों में क्षत्रियों के चरित्र पर अपने लेखों का सिलसिला बहुत जल्द (???) शुरू करने की 'भारतमित्र' की प्रतिज्ञा कब पूरी होगी ? शायद उसीका पहला अंश बंगालियों की हिन्दी पर अब निकलता है। खैर, याद तो रही और 'ॠ', 'ॡ' के फैसले की तरह 'जल्द' पूरा करने में २ वर्ष तो नहीं लगे।

*

बिना मंगाए वी० पी० भेजने का जो जघन्य उपाय पं० द्विवेदी ने **वेंकटेश्वर** में लिखा है, 'समालोचक' के प्रकाशक भी उसके भुक्तभोगी victim हैं। यद्यपि उन्होंने उदारता से वी० पी० नहीं लौटाये तथापि यदि यह सिलसिला रहा तो उन्हें इसकी अधिकारियों को सूचना देनी होगी और 'समालोचक' में उन उपन्यास-समुद्रों का नाम प्रकाश करना पड़ेगा। यह कलङ्क हिन्दी ही में क्यों ?

*

जो लोग फूल का नाम लेकर जन्मभर की बात कहने वाले ज्योतिषियों से ठगाए गए हों, वह यदि 'समालोचक' में प्रबल प्रमाण भेजें तो बड़ी कृपा हो। हमें ऐसे कई प्रमाण मिले हैं किन्तु हम नहीं जानते कि इस विषय में हम क्या कर सकते हैं। एक ही जगह से ऐसे ४।५ विज्ञापन निकलते हैं। ऐसे दैवज्ञों का विराजना देश के अहोभाग्य से ही होता है !!!

*

हम भारतेन्दु के 'कहां करुणानिधि केशव सोए' पद को गुनगुनाते हुए यहां पहुंचे थे कि—

प्रलय काल सम जौन सुदर्शन असुर प्रान संहारी।
ताकी धार भई अब कुण्ठित हमरी बेर मुरारी ॥

इतने में ही ज्येष्ठ का **सुदर्शन** मिला। खैर, अब हिन्दी मासिक पुस्तकों की यह दशा समझ लें।

सितम्बर १९३०—आश्विन १९६०

'सरस्वती' (सितम्बर १९०३), 'सुदर्शन' (ज्येष्ठ १९६०), 'हिन्दी प्रदीप' (मार्च-अप्रैल १९०३), 'जासूस' (सितम्बर), 'उपन्यास' (अगस्त), 'आनन्दकादम्बिनी' (फाल्गुन १९५९), 'निगमागमचन्द्रिका' (चैत्र-वैशाख १९६०)

*

सुदर्शन में अबके हाफटोन चित्र के बजाय एक लेथो का कार्टून है जिसमें दरभङ्गा-नरेश को 'मधुसूदनसंहिता' के बारे में 'रामाय स्वस्ति, रावणाय स्वस्ति' का पार्ट दिया गया है। कार्टून अच्छा है। 'हिन्दी बंगवासी' के पंच के बिगड़ जाने से हिन्दी में उपहास-साहित्य का अभाव-सा हो गया है जिसे 'सरस्वती' के 'साहित्यसमाचार' वर्षभर से मिटा रहे हैं। 'भारतमित्र' के लेख भी एक अंग में कुछ काम करते हैं। 'सुदर्शन' भी चलै।

ज्येष्ठ के **सुदर्शन** में बहुत कुछ पाठ्य और उपादेय है। पण्डित मिश्र जो कुछ लिखते हैं वह शुद्ध हृदय का उद्‌गार होता है, दम्भ का नहीं। सारे लेखों में उनकी व्यक्तिसत्ता का एक तार है जो कहीं-कहीं दूषण होने पर भी भूषण ही है। प्रार्थना का भाव उच्च है तो भी 'संसार सेती तरें' खटकता है।

*

मारवाड़ी विशुद्धानन्द विद्यालय की रिपोर्ट पर (जोकि सम्पादक मिश्र के आन्दोलन का फल है) 'सुदर्शन' ब्राह्मणों की उपेक्षा, कुछ रुपयों की गड़बड़, संस्कृत शिक्षा की ओर उदासीनता, मारवाड़ियों की जातीयता का नष्ट होना प्रभृति दोष दिखाकर सलाहें देता है। हम भी कहते हैं कि विद्यासागर एकेडमि की तरह यहां भी स्मर्तव्य विशुद्धानन्द जी की छवि वा प्रतिकृति होनी चाहिए, और मारवाड़ियों को संस्कृत और हिन्दी-शिक्षा पर जोर देना चाहिए। रामचन्द्र वेदान्ती के संन्यासग्रहण का भावपूर्ण वर्णन इसलिए असन्तोषदायक है कि वेदान्ती जी के स्वर्गवास के इतने दिनों बाद निकलने पर भी उसमें अभी उनके संन्यास का ही वर्णन है।

*

स्वयं आदर्श के लेख में **सुदर्शन** कहता है कि कुएं में भांग पड़ी है किन्तु हम उसके 'चिराग तले अंधेरा' और 'भ्रम किसका है' लेखों को पढ़कर कहते हैं कि कुएं में भांग छानी गई

है और 'सुदर्शन' भी उसके भक्त हैं। मालूम होता है, हिन्दी वालों को अपने साहित्य का अजीर्ण हो गया है। अभी तुम्हारे यहां है ही क्या, जो तुम यों ग्रन्थों को जलाने-बहाने पर उतारू हुए हो? हो तो जाय मज़ा ही—'सुदर्शन' सारे नागरी प्रचारिणी के लेख, मधुसूदनसंहिता और सनातन धर्म विरुद्ध सब लेखों को मिटा दे, नागरी प्रचारिणी सभा अश्लील किताबों को जला दे, आर्यसमाज पुराणों को फिकवा दे, आरा की सभा उपन्यासों की होली कर दे, राजपूत-महासभा वेद के अश्वमेध प्रकरण से लेकर ऐतिहासिक (!) उपन्यासों तक गङ्गाप्रवाह कर दे, पण्डित महावीर प्रसाद, सीताराम बी० ए० के काव्यों को कटिङ् मैशीन में दे दें—बस, न रहेगा बांस न बजेगी बांसुरी, हम भी 'समालोचक' को रद्दी के भाव बेचकर बैठ जाएं। टण्टा मिटे। हिन्दी! तेरे सपूतों ने तेरी चरम पूजा कर दी है, अब तेरे विसर्जन की देरी है; सो गङ्गासागर में वा ज्ञानवापी में वा बूलानाले में हो जाता है। आज दो महीने से जलाने-बहाने की धूम है—'प्रयाग समाचार' क्षत्रियों को गाली देता है, 'स्वार्थान्ध प्रकाशिका' ने ब्राह्मणों को बुरा कहा है, 'भारत-मित्र' वैश्य और शूद्रों को गाली दे डाले और हम अपने ही को गाली देते-देते अयोगोलक वाले यादवों की तरह अपना साहित्य संहार कर डालें।

*

भला कोई बात है? उपन्यासों की हिमायत होने लगी तो इतनी कि 'चन्द्रकान्ता' ही सब कुछ; और 'समालोचक समिति' का पचड़ा छिड़ा तो ऐसा कि सब कुछ; बुरे उपन्यास जलाए जाने लगे तो बाबू रामकृष्ण ही पहले अपराधी; और 'सुदर्शन' ने उनकी हिमायत की तो उन ऊँचे सुरों में और अब (इसलिए कि 'वेंकटेश्वर' ने पण्डित माधवप्रसाद को चितौर-चातकिनी का समर्थक कहा।) वेंकटेश्वर प्रेस में 'सुदर्शन' के मत के विरुद्ध ग्रंथ कैसे छप जायं। "किमाग आसीत वरुण ज्येष्ठं यत्स्तोतारं जिघांससि सखायम्?"

*

पण्डित मिश्र में एक यह स्वाभाविक गुण है कि वे बहुत जल्दी Motives attribute करते हैं, उद्देश्यान्तर चिपकाते हैं। सम्पादक मेहता ने 'चन्द्रकान्ता' के तिलिस्म को 'बिलल्ला' कहा और स्वयं 'विचित्र-स्त्री-चरित्र' नामक अद्भुत घटना का अनुवाद किया इससे पण्डित मिश्र फरमाते हैं—"गोरी चमड़ी वाले जो लिखें सो सब सम्भव है और बिचारे कृष्णकाय लिखें सो सब असम्भव?" यह एक ऐसी लम्बी छलाङ्ग है जिसे लम्बे से लम्बा आदमी भी नहीं भर सकता। नैयायिक मिश्र ही कहें कि यह अनुमान सत्प्रतिपक्ष (दोनों तरह) है या नहीं?

*

सहयोगी वेंकटेश्वर से हमारा निवेदन है वि वह इस बीड़े को उठा ले। पण्डित मिश्र बिना किसी Excitement अभिनिवेश के लिख नहीं सकते और यदि हमें उनके लेख पाने

तो सदा एक-न-एक टंटा उनसे छेड़ ही रक्खा करें। अब के 'चपला' ने हमारा बहुत स्थान ले लिया है। खैर, आगामी बार इस विषय को हम कुछ समझेंगे तब तक दोनों पक्षों में कुछ और भी अमृत-वर्षा हो ही जायगी। 'प्रयाग समाचार' इस विषय पर लिख ही रहा है।

*

समुद्र का मन्थन करने से विष निकलता है और राजपूत की उपन्यासनाश की चर्चा ने एक आलर्क विष निकाला है जो 'राजपूत के नेक सलाह' के नाम से **सुदर्शन** में एक साहित्यसेवी ने दिया है। 'राजपूत' की राजपूत-आँखें भी उस लेख के संयुक्तिक तर्कवाद और गम्भीर काकु को देखकर झेंपे बिना नहीं रह सकतीं। हमने गतवार जो कहा था उसे हम यहां फिर उद्धृत करते हैं—

"सीधी बात तो यह है कि यदि 'राजपूत' सच्चे ही कुछ काम करना चाहते हैं तो उन्हें उचित है कि पुराने लेख-पट्टे और अपने archives से इस कलंककथा को झूंठ सिद्ध कर दें, नहीं तो उपन्यासों के गंगाप्रवाह दाह और होने पर भी फ़ारसी और अंग्रेजी इतिहासों में यह बात काली स्याही से लिखी रहेगी।"

एक बात और है। हम लोग काम करना नहीं जानते। क्रोंवेल नामक स्वार्थ-त्यागी देशभक्त के चरित्र को अंग्रेज लोग प्रायः दो सौ वर्ष तक नहीं समझ सके। उसकी हड्डियां कब्र से निकालकर फांसी पर लटकाई गईं, उसके मनुष्यत्व में सन्देह रहा। कार्लाइल ने उस धर्मात्मा सत्पुरुष के चरित्र की विवेचना करके उसे वह आसन दिलाया जो बड़े-बड़े राजाओं को नहीं मिला है। राजपूतों को चाहिए कि अपने कार्लाइल उत्पन्न करें। प्रकृति में survival of the Fittest सत्तमों के अवशेष का नियम बड़ा प्रबल है, वही साहित्य में चलता है। यदि 'राजपूत' राजपूतों के उदात्त चरित्र पर ५० जीवन-चरित्र और ५० निर्दोष उपन्यास बना दे तो हम कहते हैं कि १० वर्ष में भद्दे उपन्यास सब भाग जाएंगे। 'राजपूतों' को उचित है कि ऐतिहासिक चित्रों पर सच्चा और नया रंग चढ़ावें। यों तो अभी हमारे एक मित्र ने लिखकर पूछा है कि राजपूतों ने हिन्दी के लिए किया ही क्या है जो उनके ग्रन्थों का नाश कराते हैं? किन्तु हम जानते हैं कि राजपूत हिन्दी की बहुत कुछ सहायता कर सकते हैं और वह सहायता केवल ग्रन्थों के नाश से नहीं होगी। यद्यपि हिन्दी के लेखक फारसी आदि के मूल ग्रन्थों पर सारा इल्ज़ाम थोप-कर पृथक् नहीं हो सकते, क्योंकि पाप का अनुसरण या अनुकरण भी तो पाप ही है और 'सुदर्शन' की हिमायत कृत्रिम ही है तथापि देखना चाहिए कि और भाषाओं वाले 'राजपूत' से कैसे पेश आते हैं। हिन्दी वालों को तो बाबू रामकृष्ण की-सी उदारता वा कायरपन (बकौल 'सुदर्शन' के) दिखाना ही चाहिए।

*

सुदर्शन ने पांडे प्रभुदयाल का जो मर्सिया लिखा है यह बड़ा भावपूर्ण है और सतसय्या

को टीको (!) कार के योग्य है। अब के 'सुदर्शन' में देवव्रत के प्रति जाह्नवी का टुकड़ा नहीं आया, अस्तु 'पुनर्दर्शनमस्तु वा।'

*

भारतमित्र में पं० दुर्गादास मिश्र के अनुज ने कुछ अमित्राक्षर पयार छन्दों का नमूना दिया है। यह छन्द हिन्दी में नया नहीं है, भारतेन्दु और राधाचरण गोस्वामी इसे प्रयोग कर चुके हैं। सम्भव है कि हमको कविता सुनना न आता हो, किन्तु हमारी दृष्टि में उचित है कि होनहार नवकवि वासुदेव कोई और छन्द चुनें। पयार, बंगालियों की तरह बिना हिलते-हिलते पढ़ने और 'अ' को 'ओ' बोलने के, सीधी चाल से पढ़ने से अच्छा मालूम देता।

*

सितम्बर की **सरस्वती** में पं० सापूदेव जी का जीवन-चरित्र अच्छा है। सार्वदेशिक भाषा का प्रस्ताव भी (हमारे मिस्टर फड़के के लेख के आधार पर) अच्छा उठाया गया है। कविता अच्छी है। बिहारी विद्वान पुस्तकों की आलोचना सम्पादक द्विवेद्वी को ही करनी पड़ी, बिहारी क्या कान में तेल डालकर सो रहे हैं? आरा की सभा तो दिल्ली में हिन्दी की कान्फ्रेंस करती थी न? काशी की सभा के निवेदन पर बंगला के डाइरेक्टर ने उन रीडरों का दोहराना तो विचारा है।

*

ता० ११ सितम्बर के **पायनियर** में कांगड़ा (पंजाब) से एक अंग्रेज़ की चिट्ठी छपी है। उसमें लिखा है कि यद्यपि कांगड़े के आदमी बुद्धिमान्, विद्यारसिक, गुणी और योग्य होते हैं, तथापि उनकी शिक्षा का कुछ प्रबन्ध नहीं है। एन्ट्रेन्स की परीक्षा देने भी उन्हें १५० मील अमृतसर जाना होता है और वहां जाकर वे दुराचार के एन्ट्रेन्स में तो पास हो ही जाते हैं।

उक्त साहब ने कांगड़े में परीक्षा का केन्द्र कायम करने के लिए पंजाब यूनिवर्सिटी को दो बार लिखा, क्लक्टर साहब ने परीक्षा के हाल के लिए अपना दफ्तर तक भी देना कहा, किन्तु अंग्रेज मेम्बरों की सम्मति होने पर भी पंजाबी मेम्बरों के विरोध से यह स्वीकृत न हुई। याने पंजाबी (यदि साहब ठीक कहते हैं तो) अपने देशी भाइयों को उन अधिकारों को नहीं देना चाहते जो सबका समान स्वत्व है—

"स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव !"

*

इंगलैण्ड में यूनिवर्सिटियां परीक्षा लेकर ही कृतकार्य नहीं होतीं, अपनी ओर से पढ़ाती

हैं, ग्रन्थ छपाती हैं और पुस्तकालय खोलती हैं। १२ आगष्ट को यूनिवर्सिटी विस्तार सभा के वार्षिकोत्सव में लाट ओश्चेन ने सभापति के आसन से जो भाषण किया, वह बहुत अच्छा था। उन्होंने कहा कि "कई पुस्तकालयों में सैकड़ों प्रति ८० उपन्यास पढ़े जाते हैं, किन्तु सप्ताह में दो उपन्यास पढ़ने के स्थान एक इतिहास वा जीवनचरित्र पढ़ना अधिक लाभकारी है। पुस्तकालयों का बड़ा उपयोग works of reference प्रमाण-ग्रन्थों के देने में है। इससे पुस्तकालयों में प्रमाण ग्रन्थ बढ़ाए जायं, और सब पुस्तकालय और विश्वविद्यालय एक मत से काम करें।"

भारत में यूनिवर्सिटियों में कलकत्ते की लाइब्रेरी कुछ है, और सबकी नाममात्र है। एशियाटिक सोसाइटी बंगला अब की शरद् में २।३ व्याख्यान सर्वसाधारण को दिलवाएगी। क्या यूनिवर्सिटी कमीशन की प्रेरणा से यूनिवर्सिटियां भी अध्यापन-कर्म पकड़ेंगी वा परीक्षा मात्र में सन्तुष्ट रहेंगी ?

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : सितम्बर, १६०३ ई०]

सौथपोर्ट के बृटिश एसोसिएशन में सर जे० नार्मन लाकघर के व्याख्यान का पूरा अनुवाद **राजस्थान समाचार** में निकला है। उससे जाना जाता है कि प्राकृतिक पदार्थों के सिवा प्रजा की मानसिक शक्ति का बढ़ाना बड़ा उपयोगी है और यह शासकों का काम है। इसलिए राष्ट्र सम्बन्धी विषयों में विज्ञान की सम्मति आवश्यक है और इसलिए ही उक्त सभा वैज्ञानिकों की पार्लेमेण्ट बनती है। अमेरिका में १३४ विश्वविद्यालय हैं, जर्मनी में २२, इटली में २१, इंगलैण्ड में १३ और भारतवर्ष में ५, यही नहीं, जर्मन सरकार एक विश्वविद्यालय को इतना धन देती है जितना बृटिश द्वीपों के सारे विद्यालय पाते हैं। अतः ३६० करोड़ रुपये के सूद से ८ विश्वविद्यालय, कई अध्यापक और प्रबन्ध बनाकर फ़ीस का पाँचवाँ हिस्सा ही रक्खा जाय। भारतवासी इतना तो साहस नहीं करते कि जितना फ़ौज में व्यय होता है उतना शिक्षा के लिये मांगें, किन्तु वे युग-युग कृतज्ञ होंगे यदि ब्रौडरिक साहब जितना रुपया एफ्रिका की फ़ौज के लिए माँगते थे उतना ही विद्या-विभाग में हिन्दुस्तानियों को दिया जाय और फ़ीस बढ़ाकर उच्चशिक्षा के द्वार बंद न किए जायं।

*

बड़े लोग कहते आये हैं—'दान के घोड़े के दाँत नहीं देखने चाहिएं', किन्तु स्काटलैण्ड के निपुणजन इस नियम को नहीं मानते। एण्डयू कार्नेजी नामक धनी ने स्काटलैण्ड की यूनिवर्सिटियों को २।३ करोड़ का दान दिया है। इस पर **नेशनल रिव्यू** कहता है कि इस दान से स्काटलैण्ड का मान भंग हुआ है और उसके वासियों की स्वतन्त्रता कट गई है। विश्वविद्यालय कार्नेजी के गुलाम बन जायंगे, बिना उसकी आज्ञा के सुई भी न

हिला सकेंगे। बिना काम के वैज्ञानिक, लंगड़े धर्मशास्त्री और विक्षिप्त साहित्यवित् टीड़ीदल की भांति देश को छा लेंगे। अभागे कार्नेजी! यदि तुम अपने दान का शतांश भी इस देश को देते तो सदा के लिए तुम्हारा स्तोत्रपाठ होता।

स्काटलैंण्ड में शारीरिक शिक्षा के विषय में एक सरकारी कमीशन बैठी थी। उसने कहा है कि स्काटलैंण्ड में विद्यार्थी वास्तव में दुर्बल होते जाते हैं। आयर्लैंण्ड से द्विगुण विद्यार्थी दवाई लेते हैं और विद्यार्थियों में से दो तिहाई दवाई भी नहीं पाते। और भारतवर्ष में?

*

बालक-बालिकाओं को साथ-साथ पढ़ाने के कई विद्वान् इसलिए विरोधी हैं कि इससे चरित्रगठन में शिथिलता हो जाती है। टीली साहब ने ६० बालक और ४० कन्याओं को साथ पढ़ाकर यह निश्चय किया है बालिकाओं और दवाइयों के होने से बालकों में सभ्यता और भलाई आ गई और कन्याओं में दृढ़ता, आत्मनिर्भरता और ज्ञान बढ़ा। बालकों ने स्त्रीजाति का आदर सीखा। "तुण्डेतुण्डे सरस्वती।"

*

आषाढ़ का **सुदर्शन** भी निकल आया है और अपनी प्राचीन कीर्ति के अनुसार अच्छा है। अब के तवल्कारोपनिषद् के एक मन्त्र की विस्तृत टीका दी गई है। यदि सम्पादक सब उपनिषदों की ऐसी टीका बना दें तो अच्छी बात और क्या हो सकती है, किन्तु एक शर्त है। वह यही कि यह टीका भी वेवर के भ्रम वा दर्शनशास्त्र की तरह अधूरी न छोड़ी जाय। उपन्यासों के मत में सम्पादक बहुत कुछ सम्हल गए हैं और मालूम होता है कि प्रेरित लेखों के विचारों के पक्ष करने में निर्दोष होने पर भी उन्हें वृथा ही लोगों का कोप-भाजन होना पड़ा। अब तो मामला इतना सुधर गया है कि एक equation समीकरण में ठीक हो सकता। यदि देखा जाए तो पं० माधवप्रसाद का कथन भी ठीक ही है, उपन्यासों की समालोचना वा जलाने-बहाने में जो बौखलापन हो रहा है और जिस प्रकार हिन्दी-पत्र-सम्पादकों ने एक तार पर अलापते-अलापते उसे श्रुतिकटु बना दिया है उसको देखते, उस जोश को ठण्डा करने के लिए 'सुदर्शन' का लेख समष्टि रूप से (पृथक्-पृथक् नहीं) ठीक ही है। अस्तु, पं० माधवप्रसाद ऐसी बातों से अधीर न हों। 'सुदर्शन' का चौथाई अंश और एक चित्र महामण्डल के अनन्त झगड़े को दिया गया है। ये लेख और चित्र किसी समाचार-पत्र की टेसूझेंझी संख्या की शोभा बढ़ाते। साहित्य-सेवी महाशय को अब सब लोग पहचान गए हैं और हम उन्हें पहचानकर बहुत दुःखी हुए हैं। हमें यह आशा न थी कि काशी के एक सज्जन ने २ वर्ष १० महीने पहिले जो 'साहित्य' नामक लेख लिखने की प्रतिज्ञा की थी उसे एक साहित्यसेवी यों निबाहेंगे। किन्तु 'भारतमित्र' ने इस विषय पर अपना पुराना उफान 'सुदर्शन' पर छांटा है। पं० माधवप्रसाद अपने चित्त में

इस बात के लिए बहुत दुःखी होंगे। इस समुद्रमन्थन का विष निकल चुका है और सब उचित है कि कोई शंकर इस विष को पी जाय और दोनों दल समुद्रमन्थन से बाज़ आवें। हम भी इस विषय के अपने लेख को न छापते किन्तु कई कारणों से हमने उसे यथावत् रहने दिया।

*

हिन्दी-संवादपत्रों की इस अशान्ति के तुमुल की भनक हिन्दी बंगवासी के कानों तक भी पहुंची है। "जिस अदालत का मैं मुन्सिफ हूं वह दीवानी है।"

सरयूपारी महासभा को हम बधाई देते हैं कि अबके अधिवेशन में वे पं० शिवकुमार जी को अपनी कार्यवाही में मिला सके हैं। नामांकित विद्वानों का यों काम करना बिरली बात है। महासभा को किसी प्रसिद्ध कालिज के पास सरयूपारी बोर्डिंग बनाना, नये शिथिल और अयोग्य कालिज खोलने की अपेक्षा, अधिक सुगम और उपयोगी होगा। सभा का यह प्रस्ताव भी अच्छा है, कि बिहार बन्धु ही सभा का मुखपत्र रहे। हमारा निवेदन है कि नया पत्र निकालकर दुर्बल पत्रों की संख्या बढ़ाना उचित नहीं। और भी कई सभाएं यदि अपने-अपने 'मुखपत्रों' को (जो कुछ दिन सिसकते हैं और अच्छे पत्रों के लेखक और ग्राहकों को घटाते हैं) घटा दें, तो बहुत कुछ भार उतर सकता है।

*

बिहारबंधु के साप्ताहिक हो जाने में हम बहुत प्रसन्न होंगे यदि उसे ग्राहकों वा सहायता के अभाव से फिर लौटकर पाक्षिक न होना पड़े और यदि उसका आकार बढ़ाया जाय, बदला न जाए। महाकाय पत्र अच्छे ही हों, यह कोई बात नहीं। भगवान् करे हमारा खर्व 'बिहारबंधु' हिन्दी का 'इण्डियन नेशन' बनै।

*

कुछ दिन हुए, मद्रास के 'हिन्दू पत्र' की जुबली हो गई। इन पचीस वर्षों में यह साप्ताहिक से दैनिक हो गया और इस काल में सर्वसाधारण मत का प्रतिनिधिपना देश-भाषाओं से उठकर अंग्रेजी-पत्रों में चला गया। हमारे हिन्दी-पत्रों में 'भारतमित्र' २६वें वर्ष में है, और 'हिन्दीप्रदीप' पच्चीसवें में। 'भारतमित्र' ने हिन्दी-पाठकों के विचारों के प्रकाशित करने, सुधारने और बनाने में बहुत कुछ भाग लिया है अतएव यदि अब के वर्षारम्भ पर, 'भारतमित्र' की जुबिली मनाइ जाय, तो बहुत अच्छी बात है। 'भारतमित्र' अपने अनुभव से २६ वर्ष की कालचक्र की गति सुनावै तो वह बहुत अच्छी मालूम होगी।

हम नहीं जानते कि **अवध समाचार** के बन्द हो जाने पर दुःख प्रकाश करें, वा न करें। जिस 'मतबे' ने हिन्दी की बदौलत इतना कमाया और जिसका हिन्दी पर इतना प्रेम है उसके यहां हिन्दी-पत्र का इतने दिन जीना भी कठिन कार्य था। सम्भव है कि हमें यह 'हितवार्ता' के जन्म का बदला भरना पड़ा है। अब युक्तप्रान्त के सार्वजनिक मत को प्रकाशित करने में ('प्रयाग समाचार' के अतिरिक्त) 'भारत जीवन' को यत्नवान् होना चाहिए। खेद है कि युक्तप्रदेश का पश्चिमोत्तर अंचल गूंगा ही है। 'अवध समाचार' का फ़ातिहा यही है—"जातो वा न चीरं जीवेद् जीवेद्वा दुर्वलेन्द्रियः।" 'मोहिनी' ने बड़ा आकार धारण किया है, किन्तु उनके लेख भी आकार के योग्य होने चाहिए।

*

टाड राजस्थान को जब 'नागरी प्रचारिणी सभा' प्रकाशित करने ही लगी है तो एक दो बातों का विचार अवश्य होना चाहिए। सुनते हैं कि 'राजस्थान' का एक अनुवाद 'खंगविलास प्रेस' में और एक 'वेंकटेश्वर प्रेस' में रक्खा है। सो सभा को उचित है कि इन दोनों अनुवादों से अपने अनुवाद का मिलान करके सर्वोत्तम अनुवाद को प्रकाशित करे। दूसरे, 'राजस्थान' की भूलों का सुधारना भी अत्यावश्यक है। इस काम को करना जितना आवश्यक है उतना ही इसका योग्य मनुष्य के हाथ से न होना अनावश्यक है अतएव उदयपुर के प्रसिद्ध ऐतिहासिक गौरीशंकर हीराशंकर ओझा और पण्डित मोहन-लाल पंड्या इस ग्रन्थ का संशोधन लिखें और 'राजस्थान समाचार' के मनीषी समर्थदान, बाबू राधाकृष्ण दास, पण्डित माधवप्रसाद मिश्र, हिन्दी-सम्पादकों में से दो प्रतिनिधि और 'राजपूत महासभा' का एक प्रतिनिधि, उनके संशोधन को दोहरावें। पीछे यह निबन्ध 'नागरी प्रचारिणी सभा' वा 'राजपूत महासभा' की तरफ ने टाड के अतिरिक्त खण्ड के रूप में छपाया जाए। ऐसा ही प्रबन्ध रमेश बाबू के इतिहास के बारे में होना चाहिए। जिन सज्जनों के हमने नाम लिखे हैं वे इस काम को स्वीकार करें, केवल 'नागरी प्रचारिणी सभा' को यह करना चाहिए, वह करना चाहिए कहकर ही दूर न हो जायं।

*

जाति विशेष वा समाज विशेष के पत्रों का अच्छा वा बुरा होना उनके सम्पादक की योग्यता, मति, गति, रुचि, प्रवृत्ति के ऊपर निर्भर है। जाति विशेष की सेवा करते-करते वे देश भर की सेवा भी कर सकते हैं। वे अपनी टर्र में संकीर्ण भी हो सकते हैं। दो पत्रों की हम यहां तुलना मात्र कर देते हैं, टिप्पणी करने की आवश्यकता नहीं—

हिन्दुस्थान रिव्यू और कायस्थ समाचार	राजपूत
(कायस्थ पाठशाला, प्रयाग का अंग्रेजी मासिक)	(क्षत्रिय मध्यस्थ सभा, आगरा का हिन्दी पाक्षिक)

सम्पादक : बारिष्टर सच्चिदानन्द सिंह

सितम्बर १६०३

१. विक्टोरिया के समय की समीक्षा (लेखक : बाबू रमेशचन्द्र दत्त सी० आई० ई०)
२. भारत में हिन्दू-मुसलमान (सरलादेवी घोषाल बी० ए०)
३. पृथिवी के आकृतिज्ञान में भारतवर्ष का काम (प्रोफेसर ए. सी. दत्त एम०ए०; केम्ब्रिज)
४. दम्पति के अधिकारों की रक्षा (गंजम् वेंकटरत्नम्)
५. हैदराबाद को कैसे सुधारना ? (शासन का एक जिज्ञासु)
६. समाज-सुधार की रीति (डा० वी० कृष्णराव बी.ए.बी.एल.)
७. विवाद—
   (क) यूरोपियन और भारतवासियों में मारपीट (एक एंग्लो इण्डियन)
   (ख) भारतवर्ष में सामाजिक मेल-मिलाप (मुहम्मद अली बी० ए० आक्सफोर्ड)
८. समालोचना—
   दिल्ली-दरबार विषयक दो ग्रन्थों की
९. टिप्पणियां—
   (क) वैज्ञानिक और वैद्यक
   (ख) साहित्य और शिक्षा
   (ग) कानूनी
१०. गत मास
११. कायस्थ जगत् ।

पृष्ठ १८१-२७८

सम्पादक : कुंवर हनुमन्त सिंह रघुवंशी (कदाचित्)

१५ अक्टोबर १६०३

१. 'सुदर्शन के साहित्यसेवी की धृष्टता
२. 'सुदर्शन' का दुर्व्यवहार
३. 'भारतजीवन' सम्पादक का दुराग्रह
४. 'समालोचक' का अनुचित आलाप
५. ब्राह्मणों के विषय में हमारी सम्मति ।
६. 'नागरी प्रचारिणी सभा' के एक व्याख्यान का अत्यल्प सारांश
७. प्रेरित पत्र (पंजाब में सभा खोलने के लिए)

पृष्ठ १-२४

पत्र भर में एक ही टण्टा,

{ बड़ी बढ़िया अंग्रेजी
उच्च विचार
उत्तम लेख

भाषा और विचारों का फैसला पाठक करें !!

*

'सरस्वती' में हार्नले का चरित्र, करसिरमयी मछली, और देशव्यापक भाषा के लेख बहुत अच्छे हैं। 'हार्नले पंचक' के लेखक ने हार्नले को गणेश, शेष की उपमा दी है, इससे कहीं सुदर्शन-सम्पादक इस लेख के लेखक के महामहोपाध्याय होने का सुख-स्वप्न न देखने लगें।

*

गुजराती मासिक पत्र **भारत जीवन** के कार्यालय से एक हिन्दी मासिक निकलने वाला है। प्रवासी और भारती, बंगाली पत्र, मासिक मनोरंजन, मराठी पत्र और पूर्वोक्त 'भारत जीवन' ने हमें अपने लेखों के अनुवाद करने की आज्ञा दे दी है, इसलिए इन्हें धन्यवाद है।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : अक्तूबर-नवम्बर, १९०३ ई०]

जुलाई की **सरस्वती** अपने चित्रों की सुन्दरता और संख्या से अपनी प्राचीन संख्याओं से बढ़-चढ़कर है। नेपाल और फिजी द्वीपवासियों के वर्णन पढ़ने योग्य हैं। सौभाग्यवती रामदुलारी दुबे का उत्साह बढ़ाया जाना चाहिए। हां, गत अंकों में 'सरस्वती' की कविता कुछ आदर्श से उतरने लग गई है, उसमें भावों का अभाव होता जाता है। लाला पार्वती नन्दन की सरकारी भाषा दुर्बल होने पर भी मनोरंजक होती है। परन्तु सबसे अधिक ध्यान देने के योग्य निबन्ध, इस संख्या में, सम्पादक का 'मथुरा मास्टर' का चरित्र है। सम्पादक ने उत्तर भारत के अच्छे अंगरेजी पण्डित का मान कुछ कम ही रक्खा है। स्थान-स्थान पर उनकी दिल्लगी उड़ाने का यत्न किया है। लेखक को कुछ अस्मद् शब्द का प्रेम अधिक होता जाता है। जब हम छठे क्लास में नैसफिल्ड की ग्रामर पढ़ते थे, तब उसमें एक ऐसे महावरे का जिक्र पढ़ा था, जो प्रायः अंग्रेजी में नहीं आता। फुटनोट में नैसफिल्ड साहब लिखते हैं कि मैं इस प्रयोग को नहीं जानता था, परन्तु मथुराप्रसाद मिश्र ने मुझे इसका व्यवहार समझाया था। काशी के पुराने विद्वान् कहा करते हैं, अंगरेजी पढ़कर काशी में दो भ्रष्ट न हुए—एक तो बाबू प्रमदादास मित्र और दूसरे पण्डित मथुराप्रसाद मिश्र, जिनने अन्तकाल में अंगरेजी बोलने का त्याग कर दिया था, और जो गले में गुलूबन्द न बांधकर कपड़े में रुई भराकर उसे लपेटते थे। क्या अच्छा होता यदि सम्पादक महाराज उनके गंगाजल के प्रोक्षण और गीतापाठ से कुछ अधिक

सहानुभूति दिखा सकते ! मिल्टन के विषय में डाक्टर मेसन ने कहा है—"छोटों को बड़ों के दोष भी भक्ति के साथ कहने चाहिए।"

*

हिन्दी प्रदीप का भी नया संस्करण हुआ ! पाँच-छै महीने से वह नये सिरे से ठीक समय पर निकलने का उद्योग करता है। जिन नये पत्रों को वह नाक चढ़ाकर देखता था, उनसे उसने समय पर निकलना, सम्पादक से भिन्न देश-देशान्तर के लोगों से लिखवाना, और टिप्पणियां देना सीखा है; परन्तु यह हमें पसन्द नहीं। 'हिन्दी प्रदीप' भारतवर्ष में, और हिन्दी में एक प्रकार का एडिसन का स्पैक्टेटर है। उसमें हमें भट्टजी की लेखिनी से जितना कुछ मिल सके पाने की आशा करनी चाहिए। और लोगों के लिए लिखने को और पत्र ही बहुत हैं। भट्टजी भी औरों को लिखता देखकर अपना लिखना कम कर देंगे जो हम लोग कभी नहीं चाहते। हम चाहते हैं, भट्ट जी के पत्र में 'भट्टजीपना' कम न हो।

*

सुना है कि **सुदर्शन** फिर दर्शन देने वाला है। अबके उसके नये उत्साह से निकलने का एक बड़ा भारी कारण है। काशी में रमेशचन्द्र दत्त के 'भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास' का हिन्दी अनुवाद निकला है और वह हिन्दी-पत्र-सम्पादकों को, जो 'इसमें लिखी बातों के समझने के एक मात्र उपयुक्त पात्र हैं' बिना आज्ञा के समर्पण किया गया है। सुना है, उस पुस्तक का स्वतन्त्र खंड छापने को 'सुदर्शन' जल्दी कर रहा है। अच्छी बात है। जो 'नया उत्साह' अकाल जलदों के समान बिना केन्द्र के मंडरा रहा था, उसे यह केन्द्र मिला। महामंडल का अनन्त झगड़ा वेवर के भ्रम का पातालभेदी विचार के सम्भव-असम्भव का तूफान और स्वार्थान्धप्रकाशिका के खंडन का परिकरबंध भी जिस 'सुदर्शन' की नियत समय पर निकलने की शक्ति को न जमा सकें, उसे यही बात उठावे तो सही। "मलय मरुतां वाता वाता, विकासितमल्लिकापरिमल्लभरो भग्नो ग्रीष्मस्त्वमुत्सहसे यदि। घन ! घटयितुं तं निःस्नेहं य एव निवर्तने प्रभवति गवां, कि नश्छिन्नं ? स एव धनंजयः।" 'सुदर्शन' के निकलने में हमें एक और स्वार्थ है। उनके सम्पादक महोदय ने 'समालोचक' के स्वामी को एक पत्र में लिखा था—"आगामी श्रावण की संख्या में 'सुदर्शन' 'समालोचक' का स्वागत करेगा।" उस श्रावण को दो वर्ष बीत गए, पर हमारा स्वागत नहीं हुआ। वास्तव में हमारे दुर्भाग्य से ही ऐसा हुआ है। 'सुदर्शन' से हमारा एक और भी निवेदन है। वह यही कि दत्त के इतिहास की समालोचना करते समय वह इस बात का अवश्य ध्यान रक्खे कि बंकिम बाबू का 'कृष्णचरित्र' ही संसार भर की विद्याओं का सार नहीं है। 'कृष्णचरित्र' के मत के भरोसे जगत् भर के पीछे लाठी धरना ही पाण्डित्य की पराकाष्ठा नहीं है।

*

वैश्योपकारक पत्र, हमें आज मालूम हुआ, एक सम्पादक-मंडली से सम्पादित हुआ करता है। जब से 'निगमागम मंडली' 'भारतधर्ममहामंडल' में लीन हो गई वा उसे लीन कर गई, तब से हमें 'मंडली' नाम से कुछ भय हो गया है। जो हो, मंडली के सभी मंडन एक गुण में तो एक ही नदी के बट्टे जान पड़ते हैं। वह गुण है, व्यंग्य लिखना। प्रत्येक पंक्ति में व्यंग्य और वक्रोक्ति की चिनगारियां फूटती हैं, और इस दोषमिश्र गुण से रहित लेख लिखने में मंडनों को बड़ा क्लेश होता हुआ जान पड़ता है।

'वैश्योपकारक' की वैशाख की संख्या में 'महामंडल' पर दो-तीन जगह लिखा गया है। एक जगह कहा गया है—"उन सबका शोच्य परिणाम महामंडल के ईतिहास की निभृत कक्षा में है।" इतिहास कैसे निभृत हो सकता है और जब तक रहस्यवेत्ता लोग विद्यमान हैं और उनके चंचल ओष्ठों पर मधुर मौन की मोहर नहीं लगाई जाती तब तक उसकी निभृतता का क्या प्रमाण है? परन्तु छापे की भूल ने इतिहास को 'ईतिहास' छापकर बड़ा मज़ा कर दिखाया। अवश्य ही वे ईतियां, जो फलसस्यसम्पन्न महामंडल की कृषि को खा गईं, अपने प्राचीन गौरव और हथकंडों के स्मरण में हास करती होंगी। यह भी नई बात पढ़ी कि प्रसिद्धि किसी के 'अंक में जयमाल पहनाने के लिए तैयार' हो सकती है। अंक में विजय-मेखला भले ही पहना दी जाए। यह तो "भट्टस्य कट्यां सरटप्रवेशः" वाली बात हुई। आगे चलकर जो कहा है कि महामंडल का वास्तव इतिहास वही होगा जिसमें दरी का कोना बाबू बालमुकुन्द के हाथ में बताया जाय। उसके विषय में वक्तव्य यह है कि जिस इतिहास में उन तर्कचूड़ामणि लोगों को रत्न-सिंहासन पर न बिठाया जाएगा जो अपनी निरंकुश लेखनी और अनर्गल वाणी से महा-मंडल की वर्तमान शोचनीय अवस्था के एक बड़े भारी अंश में कर्त्ता हैं तब तक उस इतिहास के पैर कभी न टिकेंगे। चाहे दरी का कोना कोई पकड़ें, चाहे कोई आदि पुरुष रहै पर यारों के कुछ महत् और विलक्षण उद्देश्यों को ऊर्ध्वबाहु होकर कह देना चाहिए था। मालूम होता है कि यदि मैक्समूलर के वेदानुवाद और एगलिङ् के शतपथानुवाद को ही लोग पढ़ें और मूल ग्रन्थों को तिरस्कृत कर दें तो 'वैश्योपकारक' की सम्पादक-मंडली उसका मंडन करेगी। क्योंकि पंजाब में मंडल को उर्दू-पत्र निकालते देख उसने कहा है—'स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयीन श्रुतिगोचरा। इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना-कृतम्।' इसी तर्क को एक पद बढ़ा लेवें तो ग्रिफिथ के सामवेद और 'वाल्मीकिरामायण' का पारायण करना "देशकाल के विचार से वास्तव में सुखदायक ही है।"

*

उलटी बात तो यह है कि ब्राह्मण स्वयं वेद न पढ़ें, अवच्छेदकता के खर्रों में जन्म बिता दें, या उससे भी दूर जा पड़ें, परन्तु यदि कोई अन्य जाति कुछ पढ़ने-गुणने की बात करे तो ज़रा-ज़रा सी भूलें पकड़कर कहा जाता है कि विद्वान् ब्राह्मण ऐसी भूल नहीं कर सकता। स्वामी दयानन्द भी तो विद्वान् ब्राह्मण थे। राय बैजनाथ बहादुर के ग्रन्थ में कौथुमी शाखा को 'कौतुभी' छपा देखकर ठट्ठा करता **वैश्योपकारक** क्या यह नहीं जानता कि मारवाड़ियों के कुलगुरु, परन्तु मंहदी राग के क्रीतदास ऐसे पुरोहित

कितने हैं, जिनका आदि कवि वज़ीरा तेली और महाकाव्य हकीमजी गर्मी वाले का ख्याल, जिनकी बाइबल शनिश्चरजी की कथा और कर्मकांड धूम्रपान है, उनमें कितने ऐसे हैं जो अपनी शाखा पूछने पर 'माधुंजणी' (माध्यन्दिनी) कह सकते हैं और कितने ऐसे हैं जो शाखा जानते हैं तो नीमकी या खेलरे की ?

*

इसी नम्बर में **समालोचक** पर भी कुछ फर्माया गया है। लेखक को जानना चाहिए था कि 'समालोचक' का 'मुरारेस्तृतीयः पन्था' वर्ष जुलाई में पूरा होता है, दिसम्बर में नहीं। एक वाक्य बड़ा विलक्षण है—"लेखों में विशेषत्व होने पर भी देरी के कारण वह लुप्त और अनालोच्य हो गया।" यदि ऐसा है तो मासिक पुस्तक क्या झख मारने को निकाले जाते हैं ? यदि रोल्ट केस की तरह मासिक पत्रों के विषय भी समय बीतने से अनालोच्य और यातयाम और लुप्त हो जाएं, तो यह मासिक पत्रों का दोष नहीं है। यह उस रुचि का दोष है जो पत्रों को आज पढ़कर कल फेंक देना चाहती है। अभी तो सुस्त पत्रों को किब्लेगाह 'सुदर्शन' विद्यमान है, जिसके लेख, दो दो वर्ष होने पर भी यातयाम नहीं होते।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : अगस्त, १९०५ ई०]

हमारी आलमारी

अगस्त की **सरस्वती** में नेपाल राजवंश के कई सुन्दर चित्र हैं जो गत संख्या में छपने से रह गए थे। 'विविध विषय' के पीछे सेठ कन्हैयालाल पोद्दार का 'महाकवि माघ' लेख है। भाषा कुछ पण्डिताऊ होने पर भी कालनिर्णय और कवि का गुण-वर्णन अच्छा है। 'सार्थ' का (स्वार्थ नहीं) अर्थ 'सुयोग' नहीं है साथ अथवा Caravan है। देखो, 'गन्तव्ये सति जीवित ! प्रिय सुहृत्सार्थः किमुः त्यज्यते ?' और, सार्थवाह। प्रसङ्गागत श्लोकों का अनुवाद सुन्दर है। आशा है कि लेखक शीघ्र ही "विशेष-विशेष स्थलों के अच्छे-अच्छे पद्यों को अनुवाद-सहित फिर किसी समय लिखेंगे। और उनकी समालोचना भी करेंगे।" वे 'माघ' के लिए वही कर सकते हैं जो राय देवीप्रसाद ने 'मेघदूत' के लिए किया है। 'पावसराज' और 'प्रेमपताका' नई भाषा में परिचित भावों की कविताएं हैं। रवि वर्मा के 'कुमुदसुन्दरी' चित्र के साथ सम्पादक की उसी विषय की चलती कविता है। निज़ाम शाह 'एक शिकारी की सच्ची कहानी' कहते हैं। बड़े हर्ष का विषय है कि सम्पादक ने "व्यर्थ निन्दा प्रतिबन्धक लोगों के लिए" मिल की 'स्वाधीनता' का अनुवाद किया है, जिसकी भूमिका इस संख्या में छपी है। "प्रतिबन्धहीन विचार और विवेचना की जितनी महिमा इस पुस्तक में गाई गई है उतनी शायद ही कहीं हो।" अन्त के पैरोग्राफ़ साकूत लिखे गए हैं और साकूत ही पढ़े जाने चाहिए। "जिन लोगों का यह खयाल है कि व्यर्थ निन्दा के प्रकाशन को रोकना अनुचित नहीं है, वे सदयहृदय होकर यदि मिल साहब की दलीलों को सुनेंगे और अपनी सर्वज्ञता को ज़रा देर के लिए अलग रख

देंगे तो उनको यह बात अच्छी तरह मालूम हो जाएगी कि वे कितनी समझ रखते हैं। निन्दा प्रतिबन्धक मत के जो पक्षपाती मिल साहब की मूल पुस्तक को अङ्गरेजी में पढ़ने के बाद 'व्यर्थनिन्दा' के रोकने की चेष्टा करते हैं उनके अज्ञान, हठ और दुराग्रह की सीमा और भी अधिक दूरगामिनी है। क्योंकि जब मिल के सिद्धान्तों का खण्डन बड़े-बड़े तत्त्वदर्शी विद्वानों से भी अच्छी तरह नहीं हो सका तब औरों की क्या गिनती है? परन्तु यदि उन्होंने मूल पुस्तक को नहीं पढ़ा तो अब वे कृपापूर्वक इस अनुवाद को पढ़ें। इससे उनकी समझ में यह बात आ जाएगी कि अपनी निन्दा के प्रकाशन को—चाहे वह निन्दा व्यर्थ हो, चाहे अव्यर्थ—रोकने की चेष्टा करना मानो इस बात का सबूत देना है कि वह निन्दा झूठ नहीं, बिलकुल सच है। व्यर्थ निन्दा के असर को दूर करने का एकमात्र उपाय यह है कि जब निन्दा प्रकाशित हो ले तब उसका सप्रमाण खण्डन किया जाय और दोनों पक्षों के वक्तव्य का फैसला सर्वसाधारण की राय पर छोड़ दिया जाय। ऐसे विषयों में जनसमुदाय ही जज का काम कर सकता है; उसी की राय मान्य हो सकती है। जो इस उपाय का अवलम्बन नहीं करते, जो ऐसी बातों को जनसमूह की राय पर नहीं छोड़ देते, जो अपने मुकद्दमे में आप ही जज बनना चाहते हैं; उनके तुच्छ हेय और उपेक्ष्य प्रलापों पर समझदार आदमी कभी ध्यान नहीं देते। ऐसे आदमी तब होश में आते हैं जब अपने अहंमानी स्वभाव के कारण अपना सर्वनाश कर लेते हैं। ईश्वर इस तरह के आदमियों से समाज की रक्षा करें!"

'देशव्यापक भाषा' में व्यापक भाषा और लिपि के सामाजिक आन्दोलन का विचार किया गया है। भूल से जस्टिस शारदाचरण को 'भूतपूर्व जज' लिखा है। अन्त में ग्रीव्ज साहब के चलती कैथी के प्रचार के प्रस्ताव के खण्डन का उपसंहार यों है—"पादरी साहब की नागरी लिपि देखने का तो सौभाग्य हमें नहीं हुआ, पर परलोकवासी पिन्काट साहब की दो एक चिट्ठियां हमारे पास हैं। वे नागरी में हैं। उनको देखने से जान पड़ता है कि पिन्काट साहब ने एक-एक अक्षर एक-एक मिनट में लिखा होगा। यदि ऐसे लेखक कैथी लिखने वालों से कोसों पीछे पड़े रह जायं तो कोई आश्चर्य नहीं।" 'व्योमविहरण' में बैलून का असमाप्त इतिहास है। 'लोमहर्षण शारीरिक दण्ड' वास्तव में लोमहर्षण यों हैं कि उनका उपयोग सभ्य अंगरेजी राज्य के स्थापन की सहायता में किया गया था। जापानी जीत का कारण सामाजिक सूत्र की शिथिलता, विदेशियों को न घुसने देना, विज्ञान का बल, प्रभृति को लिखकर हिन्दुओं की उनसे तुलना करके अन्त में ये मर्मस्पृक् वाक्य लिखे गए हैं—"जापान में सब लोग परस्पर शादी-विवाह करते हैं, हिन्दुस्तान में अपने वर्ग में भी शादी करने में अनेक झंझट पैदा होते हैं। जापान में छुआछूत नहीं, हिन्दुस्तान में इसकी पराकाष्ठा है। ये बातें विचारने लायक हैं। पर विचार करने वालों ही की यहां कमी है। विचार करे कौन?" 'आँख' का नीरस लेख अभी चला जाता है।

*

भारतमित्र में आविष्कार रहस्य, पुराने हिन्दी-पत्रों का इतिहास, शिवशम्भु का विदाई

का चिट्ठा, पण्डित देवकीनन्दन त्रिपाठी का स्मरण, राजपूताने के सिक्कों की सभा, वर्षा-वर्णन और एकाक्षरप्रचार पर समय-समय पर अच्छे लेख निकले हैं। इस पत्र के बड़े आकार को देखने से हमें दुःख होता है क्योंकि इसके बहुत-से लेख मासिक पत्रों के द्वारा रखने लायक होते हैं। बाबू योगेन्द्रचन्द्र वसु के अन्तकाल ही में 'हिन्दी बंगवासी' बिगड़ गया था, तो अब उसका सुधरना दूर-पराहत है। यदि वसु महाशय के विराट् आकार और विराट् उपहार की धूम न होती तो कदाचित् कलकत्ता प्रधान हिन्दी-पत्रों का स्थान न बनता, इसके लिए हिन्दी उनकी कृतज्ञ रहैगी। पण्डित लज्जारामजी के पृथक् होने से 'श्रीवेङ्कटेश्वर समाचार' बहुत गिर गया है। कागज़ के साथ-साथ लेख भी बिगड़ गये हैं। 'आचार्य पर आचार्य' के निष्फल लेख से हम कोई लाभ नहीं देखते, सिवाय इसके कि व्यवस्थाओं का रहा-सहा मान और नष्ट हो जाय। पहले सिख-मन्दिर का विषय अच्छा लिखा गया था, और राष्ट्रभाषा पर गुजराती साहित्यकारों के वचन खूब उद्धृत किये थे, परन्तु फिर कोई लेख ध्यान देने योग्य नहीं निकलता। पण्डित बलदेवप्रसाद मिश्र का विलाप ताता से भी अधिक किया गया है और न मालूम हिन्दी-साहित्य की सेवा में उन्हें भारतेन्दु का वा प्रताप नारायण का स्थान दिया है। एकाक्षर के मण्डन में इस पत्र ने देवनागरी लिपि को 'अनादिकाल से चली आई' कहा है। ऐसी भद्दी हिमायत की कोई ज़रूरत नहीं है और न इससे देवनागरी का पक्ष प्रबल होता है। देवनागरी लिपि हज़ार वर्ष की भी नहीं है और बंगला उससे प्राचीन है; देवनागरी का हक देश-व्यापकता और सरलता पर है न कि "ब्रह्मणो द्वितीय परार्द्धे" पर। बम्बई से निकलने वाले और हिन्दी साप्ताहिक पत्र उपेक्ष्य हैं। "अजमेर के **राजस्थान समाचार** ने युद्ध के दिनों में सीधे तार मंगाकर राजस्थान में एक प्रकार की हलचल और हिन्दी-साहित्य में एक नई बात कर दी थी, परन्तु हिन्दी-पत्रों ने उसे उत्साह का वाक्य भी न कहा। थाली फेरने वाले उपदेशकों को विश्वमण्डन कहने वाले उसके स्वामी के व्यय पर एक शब्द भी न कह सके। लेख भी उस पत्र में बीच में अच्छे निकलते थे परन्तु अब फिर पत्र बिगड़ चला है। अभी रूस-जापान का युद्ध बंद हो जाने से न मालूम कितने पत्रों के विषयों का दिवाला निकलेगा! **प्रयाग समाचार** और **भारत-जीवन** की दशा बहुत उन्नति की अपेक्षा रखती है।

*

प्रयाग के **राघवेन्द्र** ने अषाढ़ और श्रावण के अंक कुछ विलम्ब से निकालकर अपना प्रथम वर्ष पूरा कर दिया। 'भीषण भविष्य' के निरर्थक लेख में हम कुछ लाभ नहीं समझते। स्वतन्त्र कन्या का झूठा आदर्श उस देश में क्यों खड़ा किया जाता है जहां दूध के दाँत टूटने के पहले ही कन्या पतिसात् कर दी जाती है? बिचारी पढ़ने वाली कन्याएं कभी उन कृत्यों को नहीं करतीं जो द्वितीय प्रकरण में वर्णित हैं, अवश्य वे बाल-विधवा उनसे भी बढ़कर चरित्र करती हैं जिनकी संख्या बढ़ाने का यत्न धर्म लोकाचार और गड्ड-लिकाप्रवाह रात-दिन किया करते हैं। 'कुल और सम्प्रदाय' और 'सांख्यदर्शन' पठनीय

और रोचक हैं। 'वाल्मीकीय रामायण' के 'कालनिर्णय' में लेखक लिखते हैं—"इस विषय (इतिहास) की मीमांसा में कुछ लोगों को तो केवल अटकलबाजी से ही सन्तोष हो जाता है और कुछ लोग आस्तिक बुद्धि, शास्त्रीय प्रमाणों के सहारे अपने उद्देश्य की पूर्ति करते हैं। हमारी समझ में इन दोनों में दूसरे नम्बर के जिज्ञासु श्लाघ्य हैं।"

याने शिलालेख के मानने वाले से 'गरुड़पुराण' मानने वाला श्लाघ्य है। हिन्दी साहित्य फण्ड का वर्तमान हिन्दी-प्रचारक समाजों से पृथक् तितिम्मा खड़ा करना ठीक न होगा। हां, यदि पांचवें सवार बनने का शौक न पूरा हो तो दूसरी बात है। काशी की सभा या नागपुर की मण्डली यह काम कर सकती है। सोशल कान्फरैन्स और स्वामी विवेकानन्द पर लिखते समय सम्पादक को जोश अच्छा आया है। 'साम्यवाद' नीरस परिहास है। क्या अच्छा हो यदि कालिदास के विषय में ऐसी दन्तकथाएं न सुनाकर यह सुनाया जाय कि कालिदास, भवभूति और दण्डी एक काल में नहीं थे। "कालिदास गिरां सारं कालिदासः सरस्वती" यह श्लोक मल्लिनाथ का है। इसका उत्तरार्द्ध है—"चतुर्मुखोथवा साक्षाद्विदुर्नान्ये तु मादृशाः"। और अर्थ भी लेखकोक्ति से भिन्न है। हिन्दी-साहित्य में मि० सप्रे की नागपुर की हिन्दी-प्रकाशक-मण्डली पर एक वाक्य है—"जो नियमावली हमको मिली है उसके आवरण पृष्ठ पर आरम्भ में श्री 'सर्व धर्म्मे प्रतिष्ठितम्' लिखा देखकर हम इस मण्डली की भावी उन्नति की आशा करते हैं।" नहीं तो नहीं करते।

*

हिन्दीप्रदीप की अगस्त की संख्या में सम्पादकीय टिप्पणियां बहुत सुन्दर हैं। राजनीति, धर्मनीति, दोनों रैडिकल हैं। कुलीनता कौमियत का कलंक बहुत सरल भाषा में सरल लेख है, इसमें एक श्लोक क्षेमेन्द्र का क्या अच्छा लिखा है—

कुलाभिमानः कस्तेषां जघन्यस्थान जन्मनाम् ।
कुलकूलंकषा येषां जनन्यो निम्नगाः स्त्रियः ॥

भारतेन्दुजी के अप्रकाशित पद्य अमूल्य हैं। 'प्रेरित' में वर्णमाला में रोगों का चित्र है। कांग्रेस रिपोर्ट की समीक्षा में सर फिरोजशाह की कांग्रेस की उपयोगिता के वर्णन का अनुवाद है। 'बन्दरसभा' महाकाव्य परिहास है, रोचक है। नई खबरें पहली एप्रिल का स्मरण कराती हैं। बड़े हर्ष की बात है कि भट्टजी का लेख अपनी पुरानी रोचकता को न खोकर समय पर निकलने लगा।

*

वैश्योपकारक की ज्येष्ठ आषाढ़ की संख्याएं साथ निकाली हैं। आरम्भ में पंजाब में भूकम्प की कविता है जो 'समालोचक' में छप चुकी है। अपना एक ही लेख दो पत्रों में भेजने से यह लाभ तो होता है कि यदि एक के देर हो तो दूसरा झट छाप दे। 'लड़की

की बहादुरी' का लिखने का ढंग बहुत अच्छा है। ऐसे रहस्यों का भण्डाफोड़ करना चाहिये, परन्तु पाप-मार्गों का अधिक परिचय नहीं। जाट का चरित्र बहुत अच्छा खैंचा गया है। पुराने मारवाड़ियों के अस्त होते रत्नों में भक्त और कवि रामदयाल ने नेवटिया के विषय में लिखा है—"यदि इस ढंग की कविता कोई अभिमानी कवि विबुध जननी काशी के आसपास का कोई साधारण मनुष्य प्रकाश करता तो कुछ लिखने योग्य बात न थी। किसी स्वच्छ सरोवर में कमल का पुष्प खिल उठे तो कुछ आश्चर्य नहीं पर यदि यह अर्क प्रधान मरुभूमि में खिलता दिखलाई दे तो आश्चर्य है।" 'टोगो की विजय भेरी' सुकवि राधाकृष्ण मिश्र की मनोहर कविता है, नमूने सुनिये—

मिला-जुला के खराब कर दें मनुष्य जो काम काज के हों।
राजद्रोही कहें उन्हें जो हितैषी अपने समाज के हों॥
स्वतन्त्रता से न बोलने दें न बात लिखने दें जी की भाई।
नियम के बन्धन से बांध दें यों गऊ को बांधे हैं ज्यों कसाई॥
समझते अपने को सभ्य हैं ये, असभ्य औरों को हैं बनाते।
गुलाम करते हैं एशिया को उधर गुलामी फिर छुटाते॥
दोष कहां तक गिनावें इनके ? पराधीनता बुरी बला है।
सम्हलने पाया न देश फिर वो जो इससे कटवा चुका गला है॥

*

जापानी मारवाड़ी गूढ़ अभिसन्धि युक्त उपन्यास है। 'बनावटी कुंजलाल' रोचक कथा है। 'अन्योक्ति पुष्पावली' कोरे अप्रयुक्त शब्दों को लाकर कुछ कविता को नीरस कर देते हैं। पंजाब-भूकम्प पर मारवाड़ियों की मुट्ठी ढीली न होने पर सम्पादक-मंडली कहती है—"ट्रान्सवाल की लड़ाई के समय उनकी दानशक्ति अंग्रेजों के लिए उछलने लगी थी। बड़े बाज़ार के बालगोपालों की मण्डली में उन्हीं की (राय हरिराम गोयनका) मुरली बाज रही है इसलिए उन्हीं से पूछते हैं कि प्रेसीडेन्ट बहादुर ! आपने अपनी एसोसियेशन की उदारता का पर्दा अभी तक किसलिये नहीं उठाया ?"

श्रावण के वैश्योपकारक में कई छोटी-छोटी कविताएं हैं। एक सीकर निवासी 'क्या वैश्य को आर्य नहीं कह सकते ?' के उत्तर में एक विलक्षण तर्क लिखते हैं—"और विलायत वालों के गुरुघंटाल मैक्सम्यूलर साहब तो 'आर्य' शब्द का असली अर्थ किसान ही बतलाते हैं, ऐसी अवस्था में 'ब्राह्मण' शब्द का गौरव ही क्या है जिसमें ब्राह्मण लोग कृपणता करते ? 'गुप्त गुरु का सुपना', 'शिल्प और वाणिज्य', 'खेती करना बुरा नहीं है' और छोटे-छोटे लेख हैं। 'पुस्तक', 'बड़ा आदमी', 'ईश्वर ही सच्चा बन्धु है' अच्छी कविताएं हैं।

[प्रथम प्रकाशन : समालोचक : सितम्बर, १९०५ ई०]

इसी वर्ष, कानपुर से, **कान्यकुब्ज** नामक मासिक पत्र निकला है। जिस रीति से इसके जनवरी, फरवरी के अङ्क सम्पादन किये हैं वैसे ही यदि यह पत्र चला तो बहुत उपकारी होगा। जैसा 'योनूचानः स नो महान्' इसका सिद्धान्त है वैसे ही इसके नवयुवक लेखकों को न पुराने दुराग्रहों का पक्ष है, न नई उच्छृंखलता का खण्डन। यद्यपि छोटे-छोटे जाति विशेष सम्बन्धी पत्रों की बढ़ती हानिकारक है, तो भी उचित सम्पादन से वे बहुत हित कर सकते हैं। फरवरी की संख्या में पण्डित श्यामबिहारी मिश्र एम० ए० और पं० शुकदेवबिहारी मिश्र बी० ए० ने सिद्ध किया है कि पढ़े-लिखे कान्यकुब्ज दब्बू न बनें तो क्या करें ? क्योंकि "वे समाज से पृथक् होकर उन्नति करना नहीं चाहते।" "अपनी जाति की प्रचलित रीति को देखकर अपने-अपने हृदय की उदारता तथा संकीर्णता के हिसाब से प्रत्येक मनुष्य सुधार की एक सीमा स्थापित कर लेता है। उस सीमा के आस-पास यदि वह किसी को देखता है तब तो वह दूसरे मनुष्य से हार्दिक सहानुभूति प्रगट करता है किन्तु ज्यों ही वह किसी अन्य व्यक्ति को उक्त सीमा से बहुत आगे वा बहुत पीछे देखता है कि वह उस मनुष्य पर बाज-सा टूट पड़ता है।" "जो कुरीतियां हम लोगों में घुस आई हैं उन्हें बाहरी मनुष्य बड़ी सुगमता से जान लेते हैं...पर स्वयं कान्य-कुब्जों को वे देख ही नहीं पड़तीं...इसी भांति सर्वसाधारण हिन्दू-समाज में भी बहुतेरी कुरीतियां अपने आप घुस आई हैं और बाहरी लोगों को थोड़ा-सा भी ध्यान देने पर... दृष्टिगोचर हो जाती हैं परन्तु सर्वसाधारण हिन्दू...लोग बातचीत चलाते ही उन कुरीतियों का चट समर्थन करने लगते हैं।" बहुत सत्य है। कान्यकुब्ज या और ऐसी ही किसी बिरादरी के स्थान में छोटी टोली और सर्वसाधारण समाज के लिए बड़ी टोली शब्द रखकर इस सत्य को यों प्रकाशित कर सकते हैं कि बड़ी टोली वाले छोटी टोली के दोषों को जल्दी देख लेते हैं परन्तु अपने दोष उन्हें स्वयं नहीं दीखते और उनकी-सी दूसरी बड़ी टोलियों को वे दीखते हैं। इस axiom की एक corollary भी है जिस पर शायद मिश्र युगल ने ध्यान नहीं दिया होगा। वह यह है कि छोटी टोली वाले अपनी टोली के दोषों की बात पर फूंक-फूंककर पाँव धरते हैं और बड़ी टोली के दोषों पर, जो उन्हें भी बड़ी आसानी से देख पड़ते हैं, ऊर्ध्वबाहु होकर चिल्लाने लगते हैं। छोटी टोली के बारे में तो वे सिद्ध करते हैं कि हम दब्बू न बनें तो क्या करें, पर बड़ी टोली के बड़े दोषों को, जो बड़े परिश्रम से धीरे-धीरे हटाए जा सकेंगे, वे एक कलम हटाना चाहते हैं। वहां 'समाज से पृथक् होकर भी उन्नति' करने दौड़ते हैं। लेख के आरम्भ में वे सात कलम बड़ी टोली के दोष गिना जावेंगे परन्तु छोटी टोली की बात चलने पर 'मलाई की वर्फ का खाया जा सकना' ही सन्तोषदायक मानेंगे। छोटी टोली में तो 'स्वजनों से नम्रतापूर्वक क्षमा मांगने' का 'दब्बूपन' चलावेंगे पर बड़ी टोली की बातों में उनका 'कान्शन्स' मुंह को आता है और 'धर्म-धर्म का रोर मचाने वाले अखबारों का लेना बन्द' करके 'हिम्मत वाले' बनना चाहते हैं! छोटी टोली के 'धर्मधुरन्धर आँख पर पट्टी बांधकर दौड़ने वाले' लोगों से डरकर तो छोटे सुधारों को 'लम्बी जकन्द' मानते हैं और बड़ी टोली का ध्यान 'उन्नतिशील समाज की सातों सभ्यताओं और भारतेन्दु के प्रसिद्ध छन्दों' पर खेंचते हैं।

[प्रथम प्रकाशन : समालोचक : जनवरी-मार्च, १९०६ ई०]

राजपूत और हम

राजपूत का कथन—

अवश्य ही ध्यान देने के योग्य होता यदि उसके 'समालोचक' नामी लेख में 'अयोग्यता के कारण', 'गम्भीरता का नाम नहीं है', 'न्यायप्रियता का परिचय', 'कहीं यह वाक्य झूंठ-मूंठ बाबू रामकृष्ण को प्रसन्न करने को तो नहीं लिखा गया ?', 'खूब अनादर के वचनों से इसका तिरस्कार किया था', 'शायद बाबू रामकृष्ण को खुश कर लेना चाहा हो', 'साल भर बाद भी सुधरने के बदले और भी बिगड़ेगा', 'दिखावे की सहानुभूति', 'भंगड़ियों का-सा वाक्य', 'बेतुका वाक्य', 'झूंठ-मूंठ साहित्य प्रेम ब्याज से क्षत्रियों की निन्दा करना और बात है', 'समालोचक की अंडबंड बातों पर ध्यान ही न देना चाहिए', 'समालोचक नाम को कलंकित करने वाले इस पत्र की ऐसी वाहियात बातों', 'अपने समालोचक नाम को दूषित करना' इत्यादि मीठे वाक्यों के प्रयोग से उसकी गम्भीरता और योग्यता का परिचय न होना।

हिन्दी पठित समाज को हम बधाई देते हैं कि उनके पुण्यबल से इस कलिकाल में ऐसे शिष्ट पत्र विद्यमान हैं। इस लेख का उत्तर देने को यह भी ऐसी भाषा और भावों पर उतर आते किन्तु यह उच्च साहित्य के नियमों के विरुद्ध हैं।

हां, 'राजपूत' के कुछ ऐसे विचार अब के इस लेख में प्रकट हुए हैं जो हिन्दी भाषा के प्रेमियों के जानने योग्य हैं और जिनके लिए उचित है कि 'राजपूत' को एड्रेस दिया जाय। आशा है 'नागरी प्रचारिणी सभा' के गृहप्रवेशोत्सव पर 'राजपूत' को सामयिक पत्र लारियेंट, बनाया जाएगा।

१. 'समालोचक' के अनुसार या तो हिन्दी भाषा के नाते उपन्यासों को कुछ न कहना चाहिए या प्रशंसा करने वाले उपन्यासों की विरुद्धता की जाय।

२. 'भारतजीवन' ने 'समालोचक' को वर्षभर उलटी-सीधी सुनाई, और 'राजपूत' ने इसकी पीठ ठोंकी तो 'समालोचक' को जन्मभर के लिए पहले पत्र का कट्टर शत्रु और द्वितीय का क्रीतदास हो जाना चाहिए था।

३. अब तक जो 'समालोचक' नहीं बोला तो उसे अब भी अपनी जीभ मुंह के भीतर ही रखनी चाहिए। 'समालोचक' ने पहले कभी कुछ भी न लिखा इससे अब इनकी सहानुभूति दिखावे की है।

४. 'राजपूत' ने और भ्रष्ट किताबें भी मंगवा ली हैं (धन्य ! साधु !!) और उन पर भी लेख लिखे जायेंगे, किन्तु यदि 'समालोचक' में 'जादूगर' की उनकी मनचाहती आलोचना हो जाय तो ही 'समालोचक' का जन्म सफल है, नहीं तो—

"तस्याजननिरेवास्तु जननीक्लेशकारिण:"

"किं कृतं तेन जातेन जननीक्लेशकारिणा"

५. साहित्य विषयक पुस्तक होने के कारण, उपन्यासादि पुस्तकों में गाली हो तो भी, कोई उनके विषय में कुछ न कहै। 'समालोचक' इस विचित्र सम्मति को अपने पास ही रक्खै।

६. 'राजपूत' 'समालोचक' के सम्बन्ध में निन्दा की पुस्तकें लिखवाकर दिखाना चाहता है कि यह पुस्तकें कैसी बुरी हैं। (कितना उदार और उपकारी व्यापार है!!)

७. भविष्यत् में 'समालोचक' नाम को कलंकित करनेवाले इस पत्र की ऐसी वाहियात बातों पर राजपूत जी दृष्टि नहीं देंगे।

(आप अपने ग्राहक बढ़ाने की चेष्टा कीजिए, वा ब्याह-शादी का खर्च घटाइए, बखुदा इन वाहियात बातों पर दृष्टि न दें)।

अकलितमहिमानः केतनं मंगलानां कथमपि
भुवनेऽस्मिस्तादृशाः सम्भवन्ति।

*

जाहिद के सिर पै जमाई तड़ाक से।
और हाथ मल रहे हैं कि अच्छी पड़ी नहीं॥

राजपूत वीररस से रौद्र में प्रविष्ट हो गया है। केवल इसीलिए कि हम 'मोहमयी प्रमादमदिरा' पीकर लट्ठ बांधे किसी एक पक्ष में नहीं खड़े हुए हैं और मध्यस्थ वृत्ति को रखने का यत्न कर रहे हैं, वा यों कहिए, दोनों लड़कों की भली-बुरी बातों को क्रमशः 'हां', 'ना' कह सकने के लिए, अपने मस्तिष्क को नहीं बेच चुके हैं, 'राजपूत' हमारे विरुद्ध जेहाद की बहादुरी दिखाता है। किन्तु इस 'जामेगुलाबी ने 'राजपूत' पर खूब ही असर किया है। (कोई है? साजन मद में गुण घणा कैसे कहूं बनाय) सुनते थे कि सोम-पान करके इन्द्र यह कहता था कि "मैं इस पृथ्वी को यहां रक्खूं वा वहां" वा "मेरे मन में आती है कि गौ या घोड़ा दान कर दूं।" किन्तु उदार 'राजपूत' गालीदान में कर्ण पदवी पाना चाहता है मानो 'राजपूत' अपने को हिन्दी सम्वादपत्रों का अग्रणी मानता हो, वा सारे साहित्य का फैसला अपना ही काम मानता हो। 'राजपूत' का उत्तर उसीके समान साधु शब्दों में दिया जा सकता है और उस भाषा को उपयोग करने में हम असमर्थ हैं। कहना यही है कि—'ददतु ददतु गालीर्गालिमन्तो भवन्तः।'

१५ अक्टूबर के 'राजपूत' की योग्यता की बानगी इन शब्दों में दिखाई देती है—"इसके लेखों का उत्तर देना अपना और पाठकों का समय नष्ट करना है", "व्यर्थ बातों का भी उत्तर", "ऊटपटांग छिछोरेपन की बातें", "ऊलजलूल बातें" इत्यादि। अनेक धन्यवाद हैं कि आपने अपने भ्रमों के रहते भी हमारे 'सत्यप्रियता का भी परिचय' को माना है और हमारे 'प्रेरित पत्र' से आपके चित्त में बड़ा प्रभाव हुआ है। सत्यप्रियता तो यदि आप चश्मा उतार दें तो और बहुत जगह दिखाई दे किन्तु 'खुली चिट्ठी' की बात को आप पचा जाते दिखाई देते हैं। 'खुली चिट्ठी' का लेखक तो यह कहता है कि राजपूत' इस गन्दी पुस्तक का प्रचार बन्द करावै, अस्तु यह बात पत्र-प्रेरक के काम की है, हमारी नहीं। हां, बाबू गोपाल राम ने तो यही लिखा है कि वह टिप्पणी उनकी

लिखी नहीं है फिर 'पसन्द न की' यह आपके मस्तिष्क में कैसे समा गया ?

अन्त में, 'राजपूत' अपनी जाति की हिन्दी-सेवा गाने लगा है (क्यों ? अजमेर के पत्र को या किसी भाट को कह दिया होता और उसे सिरोपाव देकर लिखवा लेते कि हिन्दी राजपूतों की बांदी है) 'इन्द्रोऽपि लघुतां याति स्वयं प्रख्यापितैर्गुणैः ।

हमारा तो यही निवेदन है कि यदि आपको 'समालोचक की सम्पादक-कर्तव्य के विरुद्ध मतिगति का अच्छी तरह पता लग' गया है, तो बखुदा अपना काम करें, ग्राहक बढ़ावें, वा मादक निवारण करें, जिस विषय में आपका अधिकार नहीं, उसे न छेड़ें।

तथापि हम हिन्दी पठित समाज से अपील करते हैं कि हमारे सिवाय और पत्रों को 'राजपूत' ने जो गालियां दी हैं, उन्हें सुनना नहीं चाहिए। हमें तो गालियां खाने का शौक है किन्तु और पत्र इस उग्र भाषा को कब तक सहेंगे। यदि 'राजपूत' चटकै तो हम भी उनके विषय में कहना छोड़ दें—

'त्वंचेद्रोषमुरीकरोषि वयमप्येकान्ततो निःस्पृहाः।'

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : अक्तूबर-नवम्बर, १९०३ ई०]

*

सरस्वती : जिस प्रचण्ड पाण्डित्य से सम्पादक महाशय ने भाषा के नए-पुराने सभी लेखकों को अपने व्याकरण के आगे अनर्गल और अशुद्ध समझा है उसपर 'भारतमित्र' चाहे कुछ कहै, हम उस प्रौढ़ की स्तुति ही करेंगे। परन्तु क्या सम्पादक महाशय यह बतलायेंगे कि 'अथ शब्दानुशासनम्' यह पाणिनि का सूत्र है, यह उन्हें किसने बताया ? यह 'पातञ्जल-महाभाष्य' का प्रथम वाक्य है, पाणिनि का नहीं। इस 'अनुशासन' शब्द के उपसर्ग को पृथक् करके जो विलक्षण गमक निकाला गया है कि पाणिनि ने अपने समय तक के शब्दों का ही अनुशासन किया है, वह निरर्थक है। 'यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यं' कौन नहीं जानता ? और इसी हिसाब से द्विवेदीजी ने भी अपने पहले हिन्दी-आचार्यों को सम्हाल ही लिया है। परन्तु यदि 'अनु' होने से यह अर्थ निकाला गया तो अनुष्ठान=पीछे खड़े होना, अनुमान=पीछे नापना, अनुसार=पीछे रेंगना, अनुरोध=पीछे रोकना भी मानना चाहिए। एक बात हम और नहीं समझे। हिन्दी के पुराने लेखकों पर तो कृपा इस वास्ते हुई है कि उनने दुर्भाग्य से भली या बुरी वह हिन्दी लिखी थी जिसे आज द्विवेदीजी रौनक बख्शते हैं, परन्तु अंगरेजी, मराठी, बंगला के वे टुकड़े क्यों दिए गए हैं जो निर्दोष कहे गए हैं ? क्या उनके देने में अपनी बहुभाषाभिज्ञता दिखाने की छाया नहीं है। पण्डित बलदेवप्रसाद के लेख में कुछ निन्दा है, कुछ स्तुति। मक्का का लेख कुछ विस्तृत होना चाहिए था।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : नवम्बर-दिसम्बर, १९०५ ई०]

ज्ञानमण्डल का 'स्वार्थ'

काशी का 'ज्ञानमण्डल' हिन्दी का भंडार भरने के लिए विशेष रूप से अग्रसर हुआ है। 'ज्ञानमण्डल' द्वारा प्रकाशित कई पुस्तकों की समालोचना 'प्रतिभा' में समय-समय पर हो चुकी है। ज्ञानमण्डल केवल पुस्तकें प्रकाशित करके ही संतुष्ट नहीं हुआ, उसने अपना प्रैस खड़ा करके एक मासिक पत्र भी निकाल डाला है। ज्ञानमण्डल के जिस 'स्वार्थ' की धूम थी, वह आखिर धन तेरस को निकल ही आया। पत्र के सम्पादक और लेखक सबके सब पूर्ण ग्रेजुएट हैं, इसलिए इस अंक को खास तौर पर 'ग्रेजुएटांक' कहें तो 'अत्योक्ति' (ग्रेजुएट सम्पादक-सम्मत यही रूप इसका है) नहीं है। यह हिन्दी के लिए कुछ कम हर्ष की बात नहीं है। ज्ञानमण्डल का कुछ यह उद्देश भी प्रतीत होता है कि वह हिन्दी के उद्धार के लिए ग्रेजुएटों को जुटावे। हमारे प्रांतों के ग्रेजुएट जो अपनी मातृभाषा की सेवा में तत्पर नहीं होते, उसका यह भी एक कारण है, उन्हें इस काम के लिए कहीं से कुछ प्रोत्साहन नहीं मिलता। हिंदी पत्रों के पुराने खूसट सम्पादक तो ग्रेजुएटों की इसलिए उपेक्षा करते हैं कि इन्हें हिन्दी लिखना नहीं आती, ग्रेजुएट हुए तो क्या हुआ, ग्रेजुएट होने से हर कोई हिन्दी का लेखक तो नहीं हो सकता। कालिजों में उन्होंने जिन विषयों को पढ़ा है, उनका उन्हें ज्ञान है, ग्रेजुएट की उपाधि सिर्फ इसी बात की सूचना है। इसका यह अर्थ नहीं है कि ग्रेजुएट ख्वाहमख्वाह हिन्दी का लेखक भी है। हिन्दी लिखने और समझने के लिए जिन बातों की आवश्यकता है उससे हमारा ग्रेजुएट समाज कोरा रहता है, वह हिन्दी को सीखने और समझने की चीज़ नहीं समझता। वह समझता है कि जब हिन्दी 'मदरटंग' है, लोग उसे 'मातृभाषा' कहते हैं, फिर उसमें सीखने-समझने की क्या बात है ? जो लिख देंगे, वह हिन्दी होगा, इधर तो हमारे ग्रेजुएट समाज की यह धारणा है, उधर हिन्दी के पुराने पारखी उर्दू के धनी हज़रत 'दाग़' के सुर में अपना स्वर मिलाकर कहते हैं कि—

"नहीं 'दाग़' कुछ खेल यारों से कह दो।
कि आती है उर्दू (हिन्दी भी) ज़बां आते-आते ॥"

यानी उर्दू के आचार्य दाग़ के इस सिद्धान्त को हिन्दी के 'सुलेखक' कहलाने वाले लोग भी मानते हैं कि हिन्दी बच्चों का खेल नहीं है, वह भी प्रयत्नपूर्वक सीखने से आती है और आते-आते ही आती है, नहीं टपक पड़ती। पुराने लेखकों का नवीन दृष्टि में यह दखल 'दरमाकूलात' भी ग्रेजुएटों को हिन्दी के अखाड़े में नहीं उतरने देता। ज्ञानमण्डल का जन्म इस व्यर्थ के बखेड़े को मिटाने के लिए हुआ है। उसने अपने पहले ही प्रयत्न में कई छिपे रुस्तमों को हिन्दी के अखाड़े में लाकर खड़ा कर दिया है।

प्राय: पत्र प्रकाशकों में एक यह बड़ा कुसंस्कार फैला हुआ है कि वह अपने पत्र की प्रसिद्धि के लिए सर्वसाधारण पर पत्र की धाक बैठाने के लिए हिन्दी के किसी अच्छे सुलेखक को पत्र का सम्पादक चुनते हैं। भारत भर के सुलेखकों का नाम लेखकों की सूची में भरते हैं, तब कहीं पत्र निकलता है। खासकर पहले अंक के लिए तो इस कुसंस्कार

का 'दौरात्म्य' बहुत ही बढ़ जाया करता है। पर ज्ञानमण्डल ने इस बात की रत्ती भर भी परवा नहीं की। 'स्वार्थ' के सम्पादक हुए हैं—श्रीयुत अध्यापक (प्रौफेसर) जीवनशंकर याज्ञिक एम० ए०, एल-एल० बी०। हिन्दी-पाठकों में से बहुतों ने क्या प्राय: सभी ने, याज्ञिक महोदय का नाम हिन्दी-लेखक के नाते इससे पहले कभी न सुना होगा। न सुनें, ज्ञानमण्डल इस बात की परवा करने वालों में नहीं है, उसने याज्ञिकजी को अपने 'स्वार्थ' का सम्पादक बनाकर गुणग्राहकता का असाधारण परिचय दिया है। याज्ञिक जी हिन्दी-लेखक की हैसियत से प्रसिद्ध भले ही न हों, विद्वान ग्रेजुएट तो हैं। वह एम० ए० हैं, एल-एल० बी० हैं फिर प्रौफेसर हैं (सो भी काशी के हिन्दू कालेज में) इतने पर भी क्या वह हिन्दी न जानेंगे, पत्र का सम्पादन न कर सकेंगे। जैसाकि पहले निवेदन किया जा चुका है, हिन्दी के पुराने लेखकों और हमारे नये ग्रेजुएटों में जो नहीं पटती इसका कारण पुराने लेखकों की वही अहम्मन्यता या भ्रांतिमूलक यह धारणा कि ग्रेजुएटों को हिन्दी लिखनी नहीं आती है। हिन्दी-पत्रों के पुराने टाइप के सम्पादक बाहर से आये लेखों में मनमाना परिवर्तन कर डालते हैं, कोई-कोई सम्पादक-पुंगव तो सारे लेखों को अपने ही सांचे में ढाल देते हैं, लेखकों का नाम उड़ा दिया जाए तो 'स्टाइल' की नब्ज पहचानने वाला परीक्षक-पाठक यही समझे कि सब लेख एक ही कलम से निकले हैं, दूसरे सम्पादक ऐसा तो नहीं करते कि लेख का इस प्रकार कायाकल्प कर डालें पर वह भी अपने सम्पादकीय अधिकार का उपयोग करने में नहीं चूकते, वह इस बात का ध्यान अवश्य रखते हैं कि उनके पत्र में कोई वाक्य व्याकरणविरुद्ध न निकल जाय, महावरे का कोई फ़ाश ग़लती न रह जाय, शब्द साधु रूप में लिखे जायं, भाषा में ठेठ प्रान्तीयता न आने पावे, भाषा गुट्ठल न हो जाय, क्योंकि भाषा भावों को समझाने के लिए होती है, शब्दों के परदे में भावों को छिपाने के लिए नहीं, इत्यादि भावों से प्रेरित होकर सम्पादक लोग प्राप्त लेखों में जहां-तहां काट-छांट कर डालते हैं, ऐसी काट-छांट या कतर-ब्यौंत अक्सर नवीन लेखकों के लेखों में बहुत हुआ करती है, कभी-कभी तो वह अपने सम्पादकीय अधिकार का 'दुरुपयोग' यहां तक कर डालते हैं कि हज़रत 'अकबर' की यह उक्ति पूरी तरह चरितार्थ हो जाती है—

> "कह दिया था उनसे कट जायें जो नाकिस शेर हों।
> यह नतीजा था कि कुल दीवान रुख़सत हो गया।।"

यह दशा हमारे नवीन ग्रेजुएट लेखकों को असह्य हो जाती है, वह इसे अपने साथ अन्याय, अपना अपमान, अशिष्ट व्यवहार, सम्पादकों का कुसंस्कार और 'टालरेशन' का अभाव समझते हैं, वास्तव में बात भी कुछ ऐसी ही है, हमारे यहां पुराने ख़्याल के लोगों में 'टालरेशन' है ही नहीं, टालरेशन के अभाव का कौतूहलजनक तमाशा किसी को देखना हो तो वह पण्डितों का शास्त्रार्थ सुने, संस्कृत-विद्यार्थियों को आपस में बातचीत करते देखे, कोई अशुद्ध शब्द किसी के मुंह से निकला नहीं कि 'कथमेतत्', 'इदं न भवति', 'असाधुरयं शब्द:', अशुद्धमेतत्' की झड़ी लग जाती है, कभी-कभी हाथापाई तक शुरू हो जाती है, दो पण्डितों या विद्यार्थियों का 'वाग्युद्ध' श्रोताओं को हिम्मत हारकर

भागने पर मजबूर कर देता है, उधर अंगरेज़ी पढ़े-लिखों की दशा इससे सर्वथा विपरीत है, अंगरेज़ी बोलने में उनसे भी अशुद्धियां होती हैं और संस्कृत बोलने वालों की अपेक्षा कम नहीं होतीं पर वहां इस बात का नोटिस लेना—अशुद्ध शब्द पर किसी को टोकना—सभ्यता के विरुद्ध समझा जाता है। बोलने वाले की 'इनसल्ट' करना समझा जाता है, मतलब यह कि संस्कृत के पण्डितों की तरह, हिन्दी के पुराने लेखकों में भी 'टालरेशन' नहीं है, उनका यह भाव या टालरेशन का अभाव हिन्दी लिखने की लालसा रखने वालों के हौसले पस्त करता रहता है। लिखने की प्रबल इच्छा रखते हुए भी हिन्दी लिखने की हिम्मत नहीं पड़ती, 'ज्ञानमण्डल' का 'स्वार्थ' इस अभाव की पूर्ति करेगा, वह ग्रेजुएटों का हिन्दी लिखने में हौसला बढ़ायगा, क्योंकि उसके सम्पादक टालरेशन के सभ्यभाव से सम्पन्न एक सुयोग्य ग्रेजुएट हैं, वह अपने सम्पादकीय अधिकार का दुरुपयोग करके—प्राप्त लेखों में काट-छांट करके—अपने विद्वान लेखकों को नाराज़ न करेंगे, जो लेखक जिस रूप में लेख लिख-लिख भेजेगा, उसे उसी रूप में, अपनी ओर से रेखा-बिन्दु का विपर्यास किये बिना 'स्वार्थ' में स्थान मिलेगा, इसका उदाहरण 'हलचल' शब्द, पुराने लेखकों के मत में स्त्रीलिंग है, यहां तक कि स्वयं 'स्वार्थ'-सम्पादक नवीन विचार के ग्रेजुएट होकर भी उसे स्त्रीलिंग ही समझते हैं, उन्होंने इस शब्द का प्रयोग दो बार स्त्रीलिंग में ही किया है—"एक देश में किसी प्रकार की हलचल मचती है" (पृ० ३), "हलचल सभी देशों में मच रही है।" (पृ० ६), पर 'स्वार्थ' के इसी अंक में एक दूसरे ग्रेजुएट लेखक ने इसी शब्द का प्रयोग, ठेठ पुल्लिग में किया है—"बाज़ारों में जितना हलचल बड़े-बड़े कारखाने वालों के मर जाने से मचेगा कदाचित् उतना राजाओं के मरने से नहीं मचेगा।"—(धन का बटवारा—पृ० ११)। कोई पुराने विचार का सम्पादक होता तो अपने अधिकार का प्रयोग करके झट पुल्लिग का स्त्रीलिंग बना डालता, अपने इस व्यवहार से अपने एक ग्रेजुएट लेखक को हतोत्साह और नाराज करके अपने पत्र और हिंदी के विद्वान और हिन्दी के एक होनहार लेखक की बहुमूल्य सहायता से वंचित कर डालता, पर 'स्वार्थ' के 'सहिष्णु' सम्दादक इस लिंगव्यत्यय को सह गये, आखिर न सहते तो करते क्या? 'धन का बटवारा' लेख के लेखक ने तो कई जगह ऐसा लिंगव्यत्यय किया है, स्त्रीलिंग को पुल्लिग बनाकर 'शिखण्डिनी' का 'शिखण्डी' बनाया है, "बहुतों से लोगों ने मोर महोदय के **कल्याण** को भी सुना"—"स्वास्थ्य तथा जन्म की **विशिष्टताओं** के लिए···" (पृ० ८), "मनुष्य समाज के अन्य-अन्य **संस्थाओं** के साथ ही साथ···" (पृ० ६), "उसके सबसे बुरी वासना में फँस गये हैं"—(पृ० १५), फिर यही नहीं कि यह लिंगव्यत्यय सर्वत्र पुल्लिग के रूप में हुआ हो, इसके विरुद्ध भी हुआ है—"मनुष्य सम्पत्ति के लालच में पड़ा है"—(पृ० ११), मतलब यह कि यह लेखक महाशय पूरी तरह 'लिंगव्यत्यय' के लालच में पड़े हैं। 'व्यत्ययो बहुलम्' के लोभ को वह किसी तरह संवरण नहीं कर सके हैं। स्वार्थ-सम्पादक की यह सहिष्णुता 'सराहनीय' है कि उन्होंने सर्वत्र 'टालरेशन' का दृढ़ परिचय दिया है, कहीं भी हस्तक्षेप या सम्पादकीय अधिकार का 'दुरुपयोग' नहीं किया! "लेखकों का दिल बढ़ाना कोई इन से सीख जाय।"

हिन्दी भाषा हमारे ग्रेजुएट विद्वानों के मत से अभी बन रही है, इस दशा में अभी से उसके पैरों में व्याकरण की बेड़ी डालना उचित नहीं है, जब भाषा बन चुकेगी, तब उसके नियम भी निर्धारित हो जायेंगे, लिंग-निर्णय भी हो जायगा, समय पर सब-कुछ हो जायगा, अभी उसे बनने तो दो, शायद इस विचार से भी स्वार्थ-सम्पादक ऐसी-वैसी बातों पर ध्यान देना उचित नहीं समझते, है भी ठीक, मतलब से मतलब, 'अत्युक्ति' न कहा 'अत्योक्ति' कह दिया ! "रोटी के लाले पड़ रहे हैं" की जगह "भरपेट भोजन मिलने के लाले पड़ रहे हैं" कहने में क्या हर्ज़ है ! पुराने ख्याल के लोग कहेंगे कि 'महावरा' बिगड़ गया पर स्वार्थ-सम्पादक कहेंगे कि कोई परवा नहीं, मतलब तो साफ हो गया ! शब्दों के फेर में पड़कर मतलब को हाथ से न जाने देना चाहिए। इसमें प्रमाण—

'अर्थरि प्रयोजनं नतु शब्दरि !'

अस्तु, स्वार्थ-सम्पादक के शब्दों में हम भी कह सकते हैं कि "हिन्दी में स्वार्थ अपने ढंग का पहला ही पत्र है।" पहले तो इसका नाम ही निराले ढंग का है, (यही क्यों, ज्ञानमण्डल के नाम अक्सर ऐसे ही होते हैं) परमार्थ-प्रवण भारत में—खासकर हिन्दू-समाज में स्वार्थ अच्छा नहीं समझा जाता, लोग स्वार्थ के नाम से घृणा करते हैं, यहां किसी भले आदमी को 'स्वार्थी' कह दिया जाय तो वह इसे गाली समझेगा फिर परमार्थप्रसविनी काशी से 'स्वार्थ' का जन्म, काबे से कुफ्र उठने के समान समझा जाय तो कुछ आश्चर्य नहीं, ताज्जुब है कि जहां परमार्थ-दर्शन के परमाचार्य पाण्डेय रामावतार शर्मा (एम० ए०, साहित्याचार्य) रहते हों, वहीं से स्वार्थ भी निकले !

इस बात को स्वार्थ-सम्पादक भी समझते हैं कि इस अटपटे नाम से लोग चौंकेंगे इसीलिए उन्होंने ७ पृष्ठों का अग्रलेख लिखकर 'स्वार्थ' का स्वरूप समझाने की खूब चेष्टा की है, आपने "अर्थशास्त्र की कुछ व्यापक व्याख्या करके लिखा है—"तो यहां स्वार्थ शब्द का सम्बन्ध अर्थशास्त्र से है" पर कहीं इस वाक्य का अर्थ पाठक यह न समझ जायं कि 'स्वार्थ' अर्थशास्त्र का पर्याय है या स्वार्थ का सम्बन्ध अकेले अर्थशास्त्र से ही है, उन्होंने इस वाक्य की भी भी व्याख्या की है क्योंकि वह नहीं चाहते कि 'स्वार्थ' का केवल इतना ही अर्थ समझा जाय, ऐसा समझने से स्वार्थ के टाइटिल पेज की संगति न मिलेगी, टाइटिल पेज पर 'स्वार्थ' के ठीक नीचे जो यह लिखा है—"अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, राजनीति तथा इतिहास का मासिक पत्र"—इसका समन्वय न होगा। अर्थात् अर्थशास्त्र तो 'स्वार्थमय' है ही, समाजशास्त्र, राजनीति तथा इतिहास में भी स्वार्थ छिपा पड़ा है, उसे ढूंढ़ निकालना ही 'स्वार्थ' का उद्देश है। इसलिए 'स्वार्थ' का लोकप्रसिद्ध अर्थ बतलाकर कहते हैं—"परन्तु यहां इस शब्द का तात्पर्य कुछ और ही है"—इस अनिर्वचनीय से वाक्य की फिर आगे व्याख्या की गई है, सो भी सुन लीजिए— "स्वार्थ जैसे किसी व्यक्ति का होता है, उसी प्रकार समाज वा देश का भी होता है, यह हम सहज में समझ सकते हैं कि हमारी हानि और हमारा लाभ किस बात में है, दूसरे को वह हितकर हो वा अहितकर।" इसी प्रकार सब देशों का हितसाधन एक ही

बात में नहीं हो सकता—"फिर यदि भारतवर्ष का भी कोई स्वार्थ हो तो उसमें हिचकने की कौन-सी बात है ? (यानी कुछ नहीं) अतएव साधारण अर्थ में भी 'स्वार्थ' देश या जाति का स्वार्थ कोई वस्तु हो सकती है ।"—इसके आगे आप कहते हैं कि अब यह कहने की आवश्यकता नहीं कि 'स्वार्थ' हमको स्वार्थी नहीं बनाना चाहता है, दूसरा यह कि वह हमें इस विशेष दशा में—जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है—स्वार्थी बनाना चाहता है और यह कोई हिचकने की बात नहीं है । इसी प्रसंग के अगले इन वाक्यों से भी यही निष्कर्ष निकलता है कि उक्त वाक्य के उपर्युक्त दोनों अर्थ समझ लेना असंगत नहीं है, लेखक को दोनों ही अर्थ विवक्षित हैं । अर्थात् स्वार्थ और परमार्थ एक ही चीज़ हैं दो नहीं, "देश-सेवा और आत्मत्याग से हमारा स्वार्थ-साधन हो सकता है।", "और दूसरी ओर व्यक्तियों के कुशल और धनसम्पन्न होने से ही देश धन-सम्पन्न हो सकता है ।"—इन वाक्यों का यदि इस प्रकार 'निगमन' निकाल दिया जाय तो बात साफ़ हो जाय कि देश-सेवा और आत्मत्याग द्वारा जो स्वार्थसाधन किया जाता है उसे ही 'परमार्थ' भी कहते हैं और व्यक्तियों की कुशलता और धन-सम्पन्नता द्वारा देश को धन-सम्पन्न बनाना (लोक-दृष्टि में) 'स्वार्थ' कहलाता है, मतलब यह कि स्वार्थ और परमार्थ में वास्तविक भेद नहीं है, उद्देश एक ही है, नाम और कार्यक्रम में थोड़ा-सा भेद है, मानो एक लक्ष्य पर पहुंचने की दो पगडंडियां हैं—"येनेष्टं तेन गम्यताम् ।" हम समझते हैं (अगर समझने में गलती नहीं करते) यही बात स्वार्थ-सम्पादक ने अपने पुख़्ता रंग और खास ढंग में कही है, या कहनी चाही है, यदि यह बात नहीं है, तो भी कुछ हर्ज नहीं, स्वार्थ-सम्पादक कह ही चुके हैं, कि "यहां इस शब्द का (स्वार्थ का) तात्पर्य कुछ और ही है ।" अर्थात् निगूढ़ है, अनिर्वचनीय है, वाणी का विषय नहीं, कुछ कहने की बात नहीं ।

'स्वार्थ' व्यक्ति और जाति के स्वार्थ में भेद न मानता हुआ भी (यदि स्वार्थ के तात्पर्य को अनिवर्चनीय न मानकर ऊपर की गई व्याख्या ठीक मान ली जाय) देश और जाति के लाभ पर व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों के लाभ को तर्जीह देता है, इस प्रकार वह परमार्थ पक्ष का नहीं, अपने नाम के अनुसार 'स्वार्थ' पक्ष का ही अनुगामी है ।" नाक़ाबंदी' शायद Protection का अनुवाद है, सर्वसाधारण की—जिनमें कुछ अर्थ-शास्त्री भी हैं—धारणा कि देश का अन्न देश में रहने से ही देश का लाभ है, जब देश का अन्न देश में ही रहता था, तब यहां इतने व्यापक अकाल नहीं पड़ते थे, अन्न सस्ता रहने से सब सुखी रहते थे, पर अब यद्यपि अन्न पहले की अपेक्षा अधिक पैदा होता है, एक अर्थशास्त्री के मतानुसार इतना अधिक कि यदि अन्न का बाहर भेजना बंद कर दिया जाय तो एक वर्ष की उपज तीन वर्ष के लिए काफ़ी हो, पर आजकल फसल के दिनों में भी अन्न सस्ता नहीं होता, महंगी दिन-दिन बढ़ती ही जाती है, अन्न का बाहर भेजना बंद किया जाय, इसके लिए भारत-हितैषी बराबर चिल्लाते आ रहे हैं, अब जबकि गवर्नमेंट ने—चाहे किसी मसलहत से सही—अन्न के बाहर जाने में कानून बनाकर नियत समय तक रुकावट डालने का विचार प्रकट किया है, तब हमारे स्वार्थ-सम्पादक इस प्रतिबंध या नाकाबंदी को भारत के स्वार्थ का विघातक समझते हैं, इससे आपकी

राय में किसानों के साथ अन्याय होगा, क्योंकि वह अन्न बेचकर पूरा लाभ न उठा सकेंगे, अन्न बाहर न जायगा, तो उन्हें यहां सस्ता बेचना पड़ेगा। अन्न सस्ता होने से जो देश की प्रजा को—करोड़ों भूखों को—जो लाभ होगा, मानो उसका किसानों से कुछ सम्बन्ध नहीं है, "देशसेवा और आत्मत्याग से हमारा स्वार्थसाधन हो सकता है।" स्वार्थसाधन का यह नियम किसानों पर 'लागू' नहीं है, किसान इस नियम का अपवाद हैं! यानी किसान इससे मुस्तसना हैं! 'आत्मत्याग' और 'देशसेवा' द्वारा 'स्वार्थसाधन' के अधिकारी भारत के दूसरे व्यापारी अर्थशास्त्री अध्यापक या नेता लोग ही हैं!

जो कुछ हो 'स्वार्थ' के अर्थशास्त्र की पहेली सर्वसाधारण की समझ में नहीं आ सकती, अर्थशास्त्री लोग ही अपने शास्त्र के इस चोंचले को समझ सकते हैं, महंगी के मारे बेचारे सर्वसाधारण तो यही कहते हैं कि—

भेजें नाज विदेश को काठ कबाड़ मंगाय।
इस भारी व्यापार की उन्नति कहां समाय॥

'स्वार्थ' के अंक में कुल मिलाकर ९ लेख हैं जो 'कुल मिलाकर' अच्छे हैं, लेख और लेखकों के नाम इस प्रकार हैं—

१. स्वार्थ-सम्पादक
२. धन का बंटवारा, श्रीयुत श्रीप्रकाश, बी० ए०, एल-एल० बी० (केंब्रिज) बार-एटला।
३. भारत के आर्थिक इतिहास का दिग्दर्शन, अध्यापक गंगाप्रसाद मेहता, एम० ए०।
४. शक्कर का व्यापार, पण्डित बदरीनाथ भट्ट, बी० ए०।
५. अंकशास्त्र की प्रस्तावना, अध्यापक मोहनसिंह मेहता एम० ए०, एल-एल० बी०।
६. प्रजावाद, अध्यापक पीताम्बरदत्त पाण्डेय, बी० ए०।
७. पुस्तकावलोकन, सम्पादक।
८. सम्पादकीय।
९. ज्ञातव्य विषय तथा अंक।

सभी लेख सुयोग्य विद्वानों के लिखे हुए हैं, पठन और मनन करने योग्य हैं, पर इनमें से कई विषय हिन्दी में अभी नये हैं, विद्वत्ता के भार से कुछ दबे हैं, इसलिए हिन्दी के सुकुमारमति पाठकों को उलझन मालूम हो तो ताज्जुब नहीं, पर जब वह भट्ट जी के व्यापार का मज़ा लेंगे, तो सब थकावट दूर हो जाएगी, आगरे के सोहन हलवे, मथुरा के पेड़े, सूरत की बरफी, अहमदाबाद की सिखरन, जयपुर के कलाकंद, अजमेर की मेवामिश्री का जिक्रे खैर मुँह मीठा कर देगा, तबीयत खुश हो जायगी, विषय भी मीठा और भाषा भी मधुर, गोया 'कन्दे-मुकर्रर' है।

'स्वार्थ' की छपाई साफ़ और सुथरी है, कागज़ बढ़िया, ऐन्टिक मूल्य है, वार्षिक मूल्य ४॥) अर्धवार्षिक २॥) प्रतिसंख्या ॥)

पता—'ज्ञानमण्डल', गुरुधाम, काशी।

अंत में परमात्मा से प्रार्थना है कि—"सर्वः 'स्वार्थं समीहताम्' ज्ञानमण्डल के संचालक और स्वार्थ-सम्पादक से निवेदन है कि 'स्वार्थ' के नीचे यह माघ का प्रसिद्ध वाक्य (मोटो) रक्खें तो ज़रा अच्छा मालूम दे—'सर्वः 'स्वार्थं समीहते'—समालोचक

[प्रथम प्रकाशन : **प्रतिभा** : दिसम्बर, 1919 ई०]

मंडी की 'मनोरमा'

अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोतापि दुर्लभः ।

'प्रतिभा' के किसी पिछले अंक में हमने धनौरा मण्डी की 'मनोरमा' की आलोचना उसके 'दीक्षित' (यानी 'निगुरवे' नहीं) गुप्तालंकारी सम्पादक की सतत और विनय-पूर्ण प्रार्थनाओं से तंग आकर प्रकाशित की थी । हिन्दी के एक सुप्रसिद्ध कवि के शब्दों में वह आलोचना क्या थी मानो कस्बे की···'मनोरमा' का अछूता सरापा था जिसे पढ़कर उन कवि महाशय को अलौकिक आनंद प्राप्त हुआ था । किन्तु अलौकिकानंददायिनी वही आलोचना 'मनोरमा' के अलंकारी जी के 'अचंचल अतएव स्थिर—दूसरे शब्दों में 'जड़' मन के लिए विष हो गई, कवि-कुलगुरु कालिदास ने क्या खूब कहा है—

'विषमप्यमृतं क्वचित् भवेदमृतं वा विषमीश्वेरच्छया ।' उसे पढ़कर वह इतने बदहवास और साथ ही मानसिक क्षोभ से उत्पन्न हुई धृष्टता के कारण इतने निर्लज्ज हो गए कि अपनी हार का हाल अपने हाथ से लिखकर 'त्रैलोक्य विजय' का बहुत जल्द टूट जाने वाला स्वप्न देखने लगे। उस जुग में आप कोठरी में बन्द बिलाव की तरह सब ओर हार कर प्रतिभा-सम्पादक पर टूट पड़े। और ग्राम्यभाषा में उसे गालियां देने लगे। मंडी धनौरा की 'मनोरमा' के नायक (सम्पादक) के शब्द मुलाहिज़ा हों—आप चिढ़कर फ़र्माते हैं—"तुम 'निगुरवे (?) हो' तुम 'अल्हड़' हो।" बजा है, दुरुस्त है। पर बदहवासी के आलम में आप यह भूल गये कि प्रतिभा के 'निगुरवे' और 'अल्हड़' सम्पादक ने तो आपकी आज्ञा का पालन मात्र किया है। आपकी सतत प्रार्थनाओं और तक़ाज़ों से वह तंग आ गया था । इसलिए प्रतिभा-सम्पादक 'मनोरमा' की समुचित समालोचना का प्रबंध करने के लिए विवश हो गया। हाय, उस समय आप उसे 'निगुरवा' और 'अल्हड़' समझ लेते तो यह फ़जीहत न होती, मनोरमा का पर्दा फ़ाश न होता, यदि आप ऐसा समझते तो अपनी प्यारी 'मनोरमा' को 'निगुरवे' और 'अल्हड़' सम्पादक के पास क्यों भेजते, क्यों उसके हवाले करते ! सचमुच आपकी इस भूल पर जिसके कारण आपकी प्यारी 'मनोरमा' की एक अल्हड़ के हाथ पड़कर यह दुर्दशा हुई, आपसे बढ़कर प्रतिभा-सम्पादक को दुःख है। पर क्या किया जाय, जो होना था हो गया और आपकी आज्ञा से हो गया वर्ना किसकी मजाल थी कि वह आपकी 'मनोरमा' को

आँख उठाकर भी देख सकता। अब तो आपकी समझ और मनोरमा की दुर्दशा पर सिवाय अफ़सोस के और क्या किया जाय। हमारी राय में तो आपका भी कुछ दोष नहीं है, आप उस समय प्रतिभा-सम्पादक को 'निगुरवा' और 'अल्हड़' (कैसे साधु शब्द हैं, 'धनौरा की 'मनोरमा' की खास बोलचाल के नमूने हैं, जीती रहो।) न समझते थे, समझाते तो उससे बार-बार प्रार्थना क्यों करते, मालूम होता है, प्रतिभा-सम्पादक ने 'मनोरमा' की अंतरंग परीक्षारूप आलोचना प्रकाशित करके अपने को इन उपाधियों का पात्र प्रमाणित किया है, उससे पहले तो सभव है, वह 'लब्धप्रतिष्ठ लेखक' समझा जाता हो, पर ये बातें 'मनोरमा' के ज़ख्मों पर अब मरहम का काम नहीं दे सकतीं। बेचारी की हालत पर एक बार और अफ़सोस है। उसके जड़ नायक सम्पादक ने किस 'अल्हड़' और 'निगुरे' यानी प्रेम के गुरों से नावाक़िफ़ शख्स के हवाले उसे हाय-हाय बार-बार प्रार्थना करके कर दिया।

जो व्यक्ति निग्रहस्थान में खड़ा खिसिया-खिसिया कर रो रहा है और गहरी चोट लगने से मस्तिष्क में विकार पैदा हो जाने के कारण असम्बद्ध प्रलाप कर रहा है उसकी गालियों का क्या उत्तर दें, वह बेचारा तो ख़ुद ही 'अपनी शक्स्ति की आवाज़' है।

इस बदहवासी में आप अपनी योग्यता का पर्दाफ़ाश करने वाली कुछ शंकायें करते हैं, यानी प्रतिभा-सम्पादक से। 'समालोचक' के कोड़े से तो आप दूर भागते हैं, उसकी बातों पर तो आप अपने से कहने का अधिकार ही नहीं समझते। वाह, हार मानने का' धोखे में डालने वाला क्या बढ़िया अलंकारी ढंग है। आप फरमाते हैं—प्रतिभा-सम्पादक 'शेर' (यानी उर्दू पद्य) का बहुवचन 'शेरों' या 'शेरें' लिखता है, 'अशआर' नहीं लिखता, और 'लावण्य' नहीं 'लावण्यता' लिखता है। उत्तर में महावरे के परम ज्ञाता अलंकार जी से निवेदन है कि शेर का बहुवचन फारसी में 'अशआर' होता है, उर्दू में विकल्प से और हिन्दी में सदा 'शेर' का बहुवचन 'शेरों' होता है। 'रीति' का बहुवचन हिन्दी में कोई 'रीतयः' नहीं लिखता, सब रीतियां ही लिखते हैं। समश्लोकी अनुवादों और धनौरे के अलंकारियों का जिक्र नहीं है। वे चाहें तो लैला को 'लैले' लिख सकते हैं। रही 'लावण्यता' उसे आप फिलहाल 'निर्दयी' और 'राष्ट्रीय' के जोड़ का शब्द समझ सकें तो समझ लीजिए।

हमारे एक विनोदी मित्र ने 'मनोरमा' के प्रलाप को पढ़कर कहा—"यह नाम मात्र की 'मनोरमा' के अलंकारों की झंकार या 'ध्वनि' है या उसकी ३ वर्ष तक की बिगड़ी मासिक प्रवृत्ति के कारण चुरे हुए कंकालों की खड़खड़ाहट?"

दूसरे मित्र ने मुस्कुराकर कहा—"या श्रीमती की तबीयत का धनौरापन?"

देखा जाय तो यह भी सच है, वह भी सच है।

—समालोचक

[प्रथम प्रकाशन : प्रतिभा : मार्च १९१९ ई०]

धनौरे की भटियारी की गन्दादहनी

नीच हिये हुलसे रहैं, गहे गेंद की पोत।
ज्यौं-ज्यौं माथे मारिये, त्यौ-त्यौं ऊँचे होत॥

यह उक्ति मण्डीवाली 'मनोरमा' के धींग धग्गड़ों पर पूरी तरह चरितार्थ हो रही है। उस पर अब तक जो कुछ लिखा गया है, उसका मतलब इन शतुर बेमहार गुमराहों को राह पर लाना था, क्योंकि ऐसे दुशवार गुज़ार रास्ते पर आँख मीचकर और 'ज्ञानलव-दुर्विग्धता' के नशे में मस्त होकर चल पड़े हैं, जहां यह पद पद पर ठोंकरें खाकर बार-बार औंधे मुँह गिर रहे हैं, अपने ऊपर समझदार देखने वालों को हँसा रहे हैं और नासमझों को गुमराह करने का मानो बीड़ा उठा रहे हैं—उनके लिए हिम्मते बेजा या दुःसाहस की एक बहुत बुरी मिसाल पैदा कर रहे हैं, साथ ही यह भी कहते जा रहे हैं कि "हमें रास्ते का नशेबोफ़राज़ सुझाया जाय, हमारी ग़लतियां बतलाई जायं।" इसलिए यह काम और भी जरूरी मालूम हुआ, अन्धे को रास्ता बतलाना वैसे भी सवाब का काम है, ऐसे मौके पर चुप रहना गुनाह है—

"अगर बीनम् के नाबीना व चाहस्त।
वगर खामोश बनीशनम् गुनाहस्त।"

समालोचना से मतलब कि किसी को शिकस्त देना या हराना नहीं था—

"गवारा यां दिले-दुश्मन को भी शकिस्त नहीं।
हमारी कफ़्श से मूज़ी को भी गज़न्द न हो।"

पर देखते हैं, इन भले आदमियों ने इसे हार-जीत का सवाल बनाकर बुरी तरह हाय-तोबा मचाना शुरू कर दिया है, यह बताने वालों का शुक्रिया करना तो एक ओर रहा, दरीदादहनी से उन्हें फाड़ खाने दौड़ते हैं, गंदादहनी से गालियों का मैला इस तरह से उगल रहे हैं कि बदबू में सँडास को भी मात कर रहा है, इन्होंने जवाब के लिए मुँह खोला मानो सड़े हुए सँडास का ढकना उठा दिया और समझ लिया कि इस बदबू के पास कोई काहे को खड़ा रह सकेगा, और इससे कहने को हो जाएगा कि सबको भगा दिया, मैदान हमारे हाथ रहा, कोई है जो हमारे सामने ठहर सके। पर ऐसा समझना हद से बढ़ी हुई बेवकूफी है। जब जर्मनों की विषैली गैस का तदारुक मुमकिन है, तो इस बदबू को भी फनाइल के कन्टर से दबाया जा सकता है। डाक्टर को सड़ी से सड़ी बदबू का मुक़ाबला भी करना ही पड़ता है, उसे गन्दे-से-गन्दे ज़ख्मों को भी चीरना ही पड़ता है, सांसिये और कंजर जब किसी मौके पर घिर जाते हैं तो घेरने वाले का गू-मूत का गन्द बिखेरकर पीछा छुड़ाना और भागना चाहते हैं, फिर भी धरे ही जाते हैं।

अक्सर देखा गया है कि 'कम कूवत गुस्सा ज़्यादा' गन्दादहन बुज़दिल, किसी ज़बरदस्त शरीफ पर हाथ उठाकर या गाली देकर उधर से जवाब में हाथ उठने से पहले ही इधर-उधर के राह चलतों से पुकार-पुकार कर मज़लूम सूरत बनाकर और रो-रो

कर अपील करने लगते हैं, "दुहाई है लोगो ! बचाइयो, ये हक़नाहक़ बिना क़सूर मुझ गरीब को मारे डालते हैं, मैंने कुछ नहीं कहा, मेरा ज़रा क़सूर नहीं।" ठीक यही हालत हमारे बुजदिल मुक़ाबिल की इसी मौके पर है। फ़ोहश से फ़ोहश और गन्दी से गन्दी गालियां (जिन्हें कोई शरीफ़, ज़बान पर लाना गवारा नहीं कर सकता, रज़ील की बात दूसरी है।) सुनाकर भी रो-रोकर अपनी मासूमियत का यक़ीन दिला रहे हैं। लोगों की आँखों में धूल झोंककर अपने हक़ में फैसला लेने की बेहूदा और कौदकाना कोशिश कर रहे हैं। अपनी 'मनोरमा' के प्रेमी पाठकों को भी आपने अपने ही जैसा बुद्धू समझ लिया है। कुर्बान जाइये इस अदा के। पहले आपने खामखाह छेड़खानी शुरू की। दूसरों की उम्र का नए फल कहने वाले अज्ञ फल कहने वाले अज्ञ दैवज्ञ की तरह बतौर खुद तअय्युन करके किसी को 'अल्हड़' और किसी को 'नवयुवक' बतलाया, समालोचक को 'बूढ़े' का खिताब अता फ़रमाकर, अपने आपको एक बांकी अदा से—नौ उम्र और 'नौआमोज़' जाहिर किया, इस पर 'समालोचक' ने आपकी खुद ज़ाहिरकरदा नौ उम्री के लिहाज़ से जब आपको 'बरखुर्दारमन' कह दिया (जो कोई गाली नहीं—है अपने से छोटी उम्रवालों के लिए दुआइया कलमा—आशीर्वादसूचक संज्ञा—है तो इससे आपके चूना लग गया, इसे (बरखुर्दारमन को) अपनी खुशफ़हमी से शायद बहुत बड़ी गाली समझकर शिष्टता, सभ्यता और लज्जा की धज्जियां उड़ाते—इन्सानियत को धता बताते हुए जिस गन्दादहनी से काम लिया है, वह आप ही का हिस्सा है, और तुर्रा यह कि इस कमाल बेशरमी की हरकत पर भी शर्मदारी का दावा है।

अपने मुँह से खुद ही अपने लिए 'पशु' की पवित्र उपाधि तजवीजकर, इस नाम-धराई का इलज़ाम हम पर धरते हैं। हमने तो नहीं कहा, अब भी नहीं कहते, पर उस्ताद जौक़ ज़रूर कह गये हैं और ऐसे ही मौक़े के लिए कह गये हैं—

"आदमीयत और शै है इल्म है, कुछ और शै,
इतना तोते को पढ़ाया पर यह हैवां ही रहा !"

और, आप सोचेंगे तो समझेंगे कि आदमियत से मंज़िलों के नीचे गिरी हुई आपकी यह करतूत ज़बाने-हाल से उस्ताद के क़ौल की ताईद कर रही है। आपके अन्दर-वाला इस हैवानी हरकत पर खुद लानत मलामत करता मालूम दे रहा है, जिसका सबूत आपके घबराहट भरे लेख के लोगों से अपील वाले हिस्से में साफ़-साफ़ मिल रहा है।

इस बार आपने अपने तईं 'स्याना' साबित करने की हरचंद कोशिश की है, और अयानपन के पहले दावे को वापस लेना चाहा है पर इतनी जल्दी बचपन की ग़लतियों के चिह्न कहीं मिट सकते हैं, बालेपन के संस्कारों की बद्धमूलता आवृद्धबाल प्रसिद्ध है, यानी बचपन में बुरी भली जो आदत पड़ जाती है, वह मरते दम तक नहीं छूटती, अक्सर देखा गया है कि बहुत-से बच्चे बचपन में दूसरों की देखादेखी या किसी के सिखाने से मां को भाभी और बाप को भाई कहने लगते हैं, बड़े होकर दाढ़ी-मूंछों वाले

कहलाकर भी—ठीक-ठीक रिश्ता जान लेने पर भी—संस्कारवंश उन्हीं नामों से मां-बाप को पुकारते रहते हैं, मनोरमा-सम्पादक के सम्बंध में भी एक ऐसी ही रिवायत मशहूर है, (दरोग़ बरगदन रावी) कहते हैं, कि इन्हें छुटपन में इनके बाप ने 'पढ़ ले बेटा फ़ारसी' कहकर एक मुल्ला के सुपुर्द कर दिया, हमारे होनहार नये तालिब इल्म ने एक दिन उनसे पूछा—"चोंजी उस्तादजी, भला बाप को फ़ारसी में क्या कहवें" (यानी बाप की फ़ारसी क्या है ?) मुल्ला थे पुराने ढंग के एक सितमज़रीफ़। कहा, यह बात अभी नहीं बतलाई जायगी, कुछ दिनों ज़ानुए तलम्मुज़ तै करो, चटाइयां तोड़ो, चिलमें भरो, सेवा करो, तो मेवा पाओगे, यही तो खास बात है जो और उस्ताद नहीं जानते, सिर्फ मैं ही जानता हूं, या कुछ रोज़ों बाद तालीम के ख़ात्मे पर तुम जान जाओगे, सआदतमन्द और फ़रमांबरदार शागिर्द ने सब कुछ किया तब कहीं उस्ताद ने बाप की फ़ारसी बतलाई, कहा—बरखुरदार मन ! बाप को 'ख़ुसर मन' कहते हैं, अच्छी तरह याद रक्खो, इसके खिलाफ जो कोई कहे उसपर हर्गिज यकीन न करो, बाप को यही फ़ारसी है, मैंने ख़ास फ़ारिस में जाकर शीराज़ के आलिमों से इसे सीखा है।" 'उस्तादे अव्वल' से बाप की यह फ़ारसी सीखकर लायक पूत ने अपने बाप की 'खुसरमन'! कहकर आदाब अर्ज़ किया, सीधे-साधे और भोले-भाले लाला जी (खुदा उन्हें बख्शे) बेटे की इस लियाकत पर बहुत खुश हुए, खूब पीठ ठोंकी, बलाएं लीं, दुआएं दीं, दिल खोलकर दाद दी, पेट भरकर तारीफ़ की, बेटा फूलकर कुप्पा हो गये, और समझने लगे कि बस फ़ारसी में 'हम चूमाडंगरे नेस्त'—उनकी हीन हयात में आप बराबर उन्हें इसी लक़ब से मुख़ातब करते रहे, अब भी जब कभी किसी मौके पर उनका जिक्रे ख़ैर करते हैं तो इसी नाम से। और भी किसी उसी दर्जे के बड़े बूढ़े से खिताब करने जब आप प्रसन्न होते हैं, तो यही कह बैठते हैं। समझदारों ने पहले भी और अब भी कई बार समझाया कि यह क्या बकते हो, होश की पीवो, अदब और तमीज़ से बात जरो, पर यह किसी की सुनने वाले थे ! मुल्ला ने मना जो कर दिया था कि इसके खिलाफ़ हरगिज किसी का यक़ीन न करना, यह उसी पर डटे रहे, जो सितमजरीफ़ मुल्ला ने रटा दिया था, उसे रटे रहो, बूढ़े समालोचक को भी वही कह बैठे जो ये अपने बाप को कहा करते थे। पर यह कुटेब अच्छी नहीं, बूढ़े समालोचक को तो यह रिवायत मालूम है, इसलिए वह इसे तुम्हारे बचपन की जहालत या कुसंस्कार समझकर माफ कर भी सकता है, पर इस कुसंस्कार-रहस्य से अनभिज्ञ किसी ऐसे वैसे आदमी से यह हिमाकत भी गुस्ताख़ी कर बैठे तो याद रक्खो असली मानो में। 'दन्दांशिकन' जवाब मिल जायगा, मुँह पिलपिला और पोपला हो जायगा। किसी तरह यदि यह पुरानी बान न छूट सके, मुल्ला की बतलाई हुई इस फ़ारसी बू के बिना न रहा जाय तो पितृ-तर्पण के समय इसका उच्चारण करके हड़क मिटा लिया करो। कोई मुर्दा रुह इसे सुनकर प्राचीन संस्कारवश भले ही खुश हो जाय या चुप रह जाय; जिन्दारूह तो जवाव में जरूर बोल उठेगी कि—

"जवाब उलट के न क्योंकर मैं उसके बदले दूं,
कड़ी मेरे लिये है बोशे-बेज़बां सुनना !"

आपने एक और अनोखी चाल चली है, अपने लेखकों को भी 'समालोचक' के खिलाफ़ खूब भड़काने की कोशिश की है, खासकर पं० रूपनारायण पाण्डेय को और लाला सीताराम बी०ए० को। पहली मर्तबा भी पाण्डेय जी को उभारना चाहा था, लाला जी को पहले 'समालोचक' की परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर 'हज़ार बार शुक्र' भेजकर बधाई दी थी, इस बार नये सिरे से उन्हें भी ले लिया। यह उन पर अपनी समझ से अहसान कर रहे हैं, दोस्ती और वकालत का हक अदा कर रहे हैं। परमात्मा ऐसे नादान दोस्तों से बचावे—

"हुए ये दोस्त जिसके दुश्मन उसका आसमां क्यों हो !"

श्री पाण्डेय जी की उस गल्प के सम्बंध में 'समालोचक' ने सिर्फ़ यह लिखा था कि "इसमें बंगला-गल्प की गन्ध आती है, पर जिस ढंग से कहानी शुरू की गई थी उपसंहार वैसा नहीं हुआ, उपसंहार में कुछ जल्दी की गई जान पड़ती है।" इसका मतलब आप समझे हैं कि हमने पाण्डेय जी की उक्त गल्प को "बंगला गल्प का अनुवाद कहा है और उसे निकम्मी सिद्ध करने की चेष्टा की है।"—कुर्बान जाइए इस समझ-बूझ के! मतलब यह था कि उक्त गल्प उस ढंग पर या उस स्टाइल में लिखी गई है, जैसा ढंग या स्टाइल बंगला-गल्पों का होता है, और बंगला-गल्पें अपनी मनोरमता के लिए प्रसिद्ध हैं (न कि निन्दनीय जैसा आप समझ रहे हैं) "मैं भोगीलाल भट्ट का लड़का कभी असंगत बात नहीं कह सकता" इत्यादि वाक्यों की रचना भी बंगला-ढंग की है, उपक्रम और उपसंहार की अनुरूपता या अननुरूपता के विषय में घुसड़पंच बनकर टांग अड़ाना, दखलदरमकूलात का दर्जा रखता है, हम समझते हैं, आपकी इस भौंडी वकालत के बारे में पाण्डेय जी की भी यही राय होगी। रही लालाजी की बात, उनकी हिन्दी के 'ग्रेजुएटी हिन्दी' होने में तो आपके सिवाय किसी भी समझदार को सन्देह नहीं हो सकता, लालाजी का यह लोग 'समालोचक' को पसंद आया था, यह बात तो आप खुद ही मान चुके हैं फिर इस 'हलफ़दरोगी' से आपका मतलब ! सच है—"दरोग़ गोरा हाफ़जा न वाशद्"—

'मनोरमा' की उस समालोच्य 'ध्वनि' में किसी भी अच्छे कवि की कविता न थी, ज़रा बतलाइए तो वे "बड़े-२ कवि" कौन थे, जिनकी "कविता को भी हेच बतलाया गया !" कहीं आपका मतलब 'सच्ची बात' की लेखिका, श्रीमती 'याकाचित् घरेलू विद्यालय की एक छात्रा' से तो नहीं है ? आप ज़बरदस्ती लोगों की हमदर्दी हासिल करके उन्हें अपने मातम में शरीकहाल करना चाहते हैं, आपकी यह कला भी पूरी उतरती दिखाई नहीं देती, पबलिक ऐसी नासमझ नहीं है, जैसा उसे आप समझ रहे हैं, इन शुतर ग़मज़ों का जादू उस पर न चल सकेगा। आपकी नासमझी पर अफ़सोस से आपके बूढ़े समालोचक को 'आतिश' का यह शेर (थोड़ी-सी तबदीली के साथ) पढ़ना पड़ रहा है—

न समझा पर न समझा मेरे उस मज़मून का मतलब।
मुकद्दर ने मुझे मायल किया तिफ़ले-कोदन पर॥"

रामत्रस्त मारीच की तरह आपको हर तरफ़ पं० पद्मसिंह शर्मा ही नजर आ रहे हैं, इसी में आप अपनी मुक्ति का उपाय ढूंढ़ रहे हैं कि समालोचना का लेखक किसी तरह पं० पद्मसिंह शर्मा को सिद्ध कर दिया जाय और बस सब पापों से पिण्ड छूट जायगा। 'मनोरमा' के दामन पर फिर कोई दाग बाकी न रह जायगा, उसका पांव भारी न रहेगा, और आपकी पीठ के इलज़ामों का कजावा उतर जायगा, रेगिस्तान के प्रसिद्ध 'कश्चित् पक्षि विशेषः' के समान हवा से बातें करते उड़ चलेंगे ! न मालूम यह सौदा इनके दिमाग में क्यों समा गया है, लेख पर कुछ न कहकर लेखक की तलाश में क्यों हैरान और परेशान भटकते फिर रहे हैं। एक महापुरुष का कथन है कि—"यह मत देख किसने कहा, बल्कि देख क्या कहा।"—और एक यह हैं जो यह देखना ही नहीं चाहते कि 'क्या कहा है' बल्कि तमाम लियाकत इसी तलाश में खर्च कर रहे हैं कि 'किसने कहा'।

शुरु से बराबर यही रोना रोते आ रहे हैं—'हाय हमने 'सतसई' की समालोचना क्यों की जो हम पर यह आफत आई, न समालोचना लिखते न यह फ़ज़ीहत होती" पर इनका ऐसा समझना निरी नादानी और शुद्ध भ्रांति है, इन्हें 'ग़ालिब' का यह शेर पढ़कर संतोष करना चाहिए, होनी टलती नहीं—

"घर हमारा जो न रोते भी तो वीरां होता,
बह्र गर बह्र न होता तो बियाबां होता।"

सतसई पर आलोचना उसमें न होती तो भी उसकी समालोचना होती है, वही नहीं उसकी हद हरएक अदा दिल छीनने वाली थी "सच्ची बात" और 'हिंदी कादम्बरी' क्या कुछ कम सितम ढाने वाली थीं।

"बलाए-जां है 'ग़ालिब' उसकी हर बात।
इबारत क्या इशारत क्या अदा क्या।"

जो चीज़ बाजार में आती है, उसकी जांच-पड़ताल होती ही है, पर लोगों की 'मनोरमा' जब इस आन-बान से निकली तो उस पर किसी की नज़र क्यों न पड़ती। इन्साफ़ शर्त है—

'मुझी से तुम यह कहते हो कि नीची रख नज़र अपनी,
तुम उससे क्यों नहीं कहते न निकले यों अयां होकर !'

'समालोचक' और पद्मसिंह शर्मा को एक व्यक्यि समझकर आपने खूब ज़मीन आसमान के कुलाबे मिलाने की कोशिश की है और बेतुकी हांकी है। पं० पद्म सिंह शर्मा का एक 'मौखिक बयान' (जिसकी सत्यता में हमें संदेह है) पेश करके 'समालोचक' की ज़बान बंद करना चाही है, सम्भव है कोई उड़ती चिड़िया आपके कान में यह कह गई हो कि "पं० पद्मसिंह शर्मा को इस व्यर्थवाद का दुःख और पश्चात्ताप है"—पर 'समालोचक' को इसका ज़रा भी दुःख नहीं, वह तो समालोचना को साहित्य का एक आवश्यक अंग समझता है और आवश्यकता होने पर अहम्मन्य पाखण्डियों की पोल खोलना पश्चात्ताप

नहीं, पुण्य का काम मानता है। आखिर हिन्दी में 'समालोचना-प्रक्रम' पर भी उपदेश आपने उगल ही डाला! जिसमें अव्वल से आखिर तक पं० पद्मसिंह शर्मा के समालोचना-प्रकार का रोना रोया गया है, शर्मा जी का समालोचना-प्रकार अच्छा है, या बुरा, इस पर हम कुछ कहना नहीं चाहते, वह जैसा है, सब जानते हैं, वह यदि प्रशस्य बतलाया जाता है" तो इस दोष के दोषी को आप (मनोरमा-सम्पादक) भी तो हैं? आपको शायद याद नहीं रहा कि आप उसके बारे में पहले क्या कह गए हैं, 'बिहारी की सतसई' की आलोचना के अंत में अपने यह वाक्य पढ़िए—

"सतसई संहार के विषय में हम क्या कहें, इसकी लेखन-शैली और मार्मिकता तो प्रसिद्ध ही है, इससे पहले कई बार हम उसकी प्रशंसा कर चुके हैं।"

पहले कई बार प्रशंसा करके अब एकदम उसकी (पं० पद्मसिंह शर्मा के समालोचना-प्रकार की) ऐसी निन्दा करते, उसके विरुद्ध आंदोलन उठाते आपको ज़रा भी संकोच न हुआ! खैर, अपने राम को इससे क्या, आप उसकी कई बार प्रशंसा कीजिए या एकदम निन्दा, 'समालोचक' को तो आपकी मनोरमा से मतलब है, आप उसकी सफाई पेश कीजिए, गैर मुताल्लिक और खारिज़ अज़ बहस बातें बनाकर मतलब ख़ब्त न कीजिए। श्री द्विवेदी जी और श्री चतुर्वेदी जी के फ़ैसले से आप क्यों दुम दबाकर दूर भागने लगे! चतुर्वेदी जी का नाम तो इस काम के लिए आपने ही पहले पेश किया था! आप ही ने तो लिखा था कि "इस बात के लिए हम वर्तमान हिन्दी-लेखक पण्डित-मण्डली में व्याकरणाचार्य पण्डित गिर (रि?) धर शर्म्मा चतुर्वेदी जी को सबसे योग्य समझते हैं, उनके पाण्डित्य और उदासीन भाव (?) को हम निस्संदेह श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं, यही कारण है कि प्रकारान्तर से ११वीं ध्वनि में (मनोरमा की ११वीं संख्या में) हमने उन्हें इस काम के लिये सादर निमन्त्रण दिया है।"

अब आप 'श्रद्धास्पद' चतुर्वेदी जी को सन्देह की दृष्टि से क्यों देखने लगे? उन्हें जो 'सादर निमंत्रण' दिया था, उसे अकारण क्यों कैंसिल कर दिया? आप जानते नहीं, किसी विद्वान ब्राह्मण को निमंत्रण देकर वापस करना कितनी बुरी बात है!

श्री द्विवेदी जी महाराज के सम्बंध में इस प्रसंग में जिस बदगुमानी का इज़हार आपने किया है, वह आप ही का हिस्सा है, आप फर्माते हैं—"सम्भव है आप (यानी समालोचक) द्विवेदी जी के भी (?) चरण छू आये हों, ऐसा न होता, तो उन्हें पंच बनाए जाने का प्रस्ताव न किया जाता।"—अलंकारशास्त्री जी के इस 'निश्चयान्त सन्देहालंकार' वाक्य का मतलब यह हुआ कि 'समालोचक' अपने हक में फैसला लेने के लिए पहले श्री द्विवेदी जी के जाकर चरण छू आया है, फिर उन्हें पंच बनाने का प्रस्ताव किया है। इस पर सिवाय इसके और क्या कहा जाय कि 'अंधे को अंधेरे में बहुत दूर की सूझी' इस बेहूदा बदगुमानी की भी कोई हद है। मानो चरण छूना श्री द्विवेदी जी के लिए बहुत बड़ी 'डाली' है, और वह इतने दुर्बल हृदय हैं कि इस प्रलोभन में पड़कर विपरीत व्यवस्था देने में दरेग न करेंगे।

श्री द्विवेदी जी जैसे विद्या वयोवृद्ध ब्राह्मण को चरण छूकर अभिवादन करना 'समालोचक' के लिए सौभाग्य और गौरव की बात हो सकती है, पर श्री द्विवेदी जी के

लिए यह 'रिशवत' या 'डाली' नहीं हो सकती। यदि आपकी यह बदगुमानी आपकी खातिर से सही भी मान ली जाय तो भी आप ही का पल्ला भारी रहेगा, समालोचक ने तो चरण छूए हैं सो भी सबके सामने नहीं, पर आपने तो 'हिंदी-साहित्य-सम्मेलन का सभापति' शीर्षक नोट में प्रकट रूप से द्विवेदी जी की भरपेट प्रशंसा की है, आपके मत से आपके इस कार्य का द्विवेदी जी पर और भी अधिक असर पड़ना चाहिए, फिर भी आप उन्हें पंच मानने में क्यों झिझकते हैं !

आप किसी को पंच मानना नहीं चाहते तो जाने दीजिए, न मानिए पर पंचों की नेकनीयती पर हमला करके ख़ाहमख़ाह बिला वजह अपनी बदगुमानी का सबूत तो न दीजिए, यही कह दीजिए कि हमें किसी का फैसला मंजूर नहीं।

आपको अपने 'कस्बी' होने का शक है, 'कस्बी' की निस्बत आप 'कस्बाती' कहलाना ज्यादा पसन्द करते हैं, इसकी भी एक खास वजह है, आपकी दाया जो बचपन में उस्तानी भी थी और जिसका ज़बांदानी के मुताल्लिक़ यह दावा था—

"मैं वह शाइरनी हूं गर पकड़े कोई मेरी ज़बां,
लाख मिर्ज़ा को सुनाऊं सौ सुनाऊं मीर कों॥"

सुना है उसने कहीं आपके कान में कह दिया था कि 'बच्चा' तुम 'कस्बाती' हो !" यह वह तालीम है जो छुट्टी के साथ मिली थी, फिर भला आप इसे कैसे भुला सकते हैं, यह तो आपकी दाया की बात हुई, लेकिन हमने क़सबातियों को 'कसबी' कहते ऐसे आदमियों को सुना है जिनके यहां की चमारी ही नहीं, हलालखोरी भी आपकी जबान पकड़ सकती हैं।

'सच्ची बात' और 'हिन्दी कादम्बरी' पर किये गये पहले आक्षेपों का उत्तर आपसे कहां तक बन पड़ा है, इसका निर्णय तो समझदार सदृश करेंगे, पिछली शंकाओं का उत्तर आप कुछ देते ही नहीं अभी सिर्फ़ वादा ही करते हैं कि "उन्हें (?) भी आपको अच्छी तरह समझा दिया जायगा"—बहुत अच्छा, देखा जायगा आप क्या समझाते हैं जब आप अपनी प्रतिज्ञा पूरी करेंगे—अच्छी तरह समझा देंगे—तभी मैं कुछ और अर्ज करूंगा। यदि इस प्रसंग को इसी दशा में छोड़कर अपनी विजय-दुन्दुभि मेरी बजाते हुए आप भागना चाहते हैं तो मेरी ओर से भी छुट्टी है, जाइए—

"गच्छ शूकर भद्रं ते वद सिंहो मया जितः।
पण्डिता एव जानन्ति सिंहशूकरयोर्बलम्॥"

"विश्रब्धैः क्रियतां वराह पतिभिर्मुस्ताक्षतिः पल्वले,
विश्रान्ति लभतामिदं च शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः।"

—समालोचक

[प्रथम प्रकाशन : प्रतिभा : अप्रैल, १९२० ई०]

काव्य

प्रार्थना

द्रुतविलम्बित

कठिन यद्यपि काव्य यहें प्रभो !
करिय ना इहितें अवहेलना ।।
निठुर श्रीफल अन्तर में रहैं ।
विमल नेहं रू कोमल मिष्टता ।।

समर्पण

कला निधानहिं निरख अति, रतनाकर उमड़ाय ।
जदपि ताहि शशिकान्त की, नई लहर हरखाय ।।

द्रुतविलम्बित

गहत पूज्य सदा अति प्रेम तें ।
परम भक्ति समर्पित पांखुरी ।।
विनय तें प्रभु कर्ज में करौं ।
तुमहिं भेंट यहें, कुसुमांजलि ।।

कुसुमाञ्जलि

दोहा

पालनहार प्रकाश कहुं, जानत अखिल जहान ।
या हित भूपति भान कों, देत मान प्रभु मान ।।

छन्द वेताल

भोग भाग-सूरज अस्त भारत साथ भारत-जंग।
छा गई तामसि आपदा-जीमूत-जूथन संग ॥
घुटि रह्यो घर घर घेर तब अन्धेर चहुँधाँ छाय।
वह दीन्ह निज पर ज्ञान मानव भाव-हितु भुलाय ॥२॥

लहि लाह यवन शाह वह दमकी धनञ्जय रोचि।
अति अन्ध विह्वल हिंद तिहिं प्रभु अंश प्रभकर सोचि ॥
सनमानि लिय गुन (पुनि) जानि हुतभुक पूरि पूरन नेह।
अवकाश सुदशा संग दिय परकाश चहि बिच गेह ॥३॥

पैं पाय वह मद-संग अति लिय लाय रूपहिं ज्ञाल।
किय काल पथ निज नाम सारथ बाढ़ि हेति कराल ॥
अनमाप दुस्सह ताप तें निरदोष प्रज सन्तापि।
अति घोर त्रासक शाह शब्दहिं लोक हिय दिय छापि ॥४॥

पैं अन्त शाह हु नहि सके अपनी हु सत्ता टारि।
साधार भस्मक वह बुझी राज्य अंगन जारि ॥
हा! हन्त!! जो लों सूखि ना चिर दुखी प्रज च[illegible] धार।
तिम बीर-बाहुज-वंश की भीनी जु कर-त[illegible]वार ॥५॥

तो लों मरठ्ठन ओ पिंडारन आर्द्रता सु मझारि ॥
सु हिरण्यरेत विचार गुन पुनि डारि नव चिनगारि ॥
दिय भूम धूम मचाय तिहिं अन्धेर घोर हि छाय।
दुख अवधि पहुँच्यो हिंद इम दम प्रान घुंट घुटाय ॥६॥

तहँ भई करुणा दृष्टि करुणा-सिन्धु की जु महान।
वा पाय पूरन पतन पायो हिन्द पुनरुत्थान ॥
अति प्रबल पश्चिम तें प्रभंजन कम्पनी पद गेरि।
सहसा हि दिय दुखदाइ बछल धूम आदि बिखेरि ॥७॥

तहँ सके करेउ न ठहरि परि बिच चण्ड तिहिं झकझोर।
कुट मूल सिथिलहु बनत भारत भो कृतज्ञ बहोर ॥
पुनि मात सविता शक्ति श्रीविक्टोरिया महारानि।
रहते हु पच्छिम क्षितिज तिंहिं अपनाम लिय सुतमानि ॥८॥

लखि अन्तरिच्छहि स्वच्छ करि पुनि बात सीतल मन्द।
निज विजइ केतन के तरें गहि सूरज हिन्द ॥
चकि चकित भारत भूमि कों किय भेजि प्रतिनिधि चन्द।
चहुँ कोद शान्ति विनोद दिय प्रज चित्त पूरि अनन्द ॥९॥

जो दिए सुख जगमात बहु कहि सकें नहिं कवि जीह ।
है धन्य अति सुहि जननि पालें सन्ततिहिं तिहिं लीह ॥
भुवि पंच खण्ड रु सप्त सागर पें जु हाल अनूप ।
एड्वर्ड सप्तम तपें प्रभकर द्वादशात्मक रूप ॥१०॥

जड़ता विनाशक हेतु जीवन दूरदर्शक राह ।
नय शांत शासक वे प्रकाशक मौलि शाहंशाह ॥
सिरताज राजनराज भो सिरताज धरि इहिं बार ।
दीर्घायु नीरुज रखें तिहिं श्री कृश्नचन्द्र मुरार ॥११॥

भो आज भारत-मुकुट दिल्ली पाट उत्सव पाय ।
चिरकाल विस्मृत मान यह महमान लीन्ह बधाय ॥
ध्वज आश ढंकत राज दूष्यन शृंग नभ रहि चूमि ।
उल्लंघि चख मर्य्याद चहुँधाँ छई छत्रन भूमि ॥१२॥

जिहिं लयो पाण्डव राज को शुभ धर्म्म आसन मान ।
जहँ देशवत्सल वीर आसन रख्यो पति चहुवान ॥
जहँ शाह जवनन बिछ्यो तख्त वदान्य क्रूर रू तोत ।
तहँ आज भ्राजत ब्रिटिश सिंहासन सुनीति उद्योत ॥१३॥

तहँ जुरी कौतुक हेतु कोसन लों जु लक्वन मीर ।
दल मिले सहँसन बिबिध बल विन्यास कौशल बीर ॥
जन मनन कर्शन दैन हर्षन रचि प्रदर्शन ठाम ।
सौभाग्य देहलि देहली भई नेह लीला धाम ॥१४॥

इक भाग षष्ठम रहित मंडल आकृति अनुकार ॥
गिरदाय विजयी वैजयन्ती रच्यो तहं दरबार ॥
प्रति भूमि खंडन के जु मंडन मान थल तिहिँ धारि ।
समकक्ष हिन्दू जवन अवनिप जुरे जहँ शतचारि ॥१५॥

जे धरत वैभव धीधरा कमला सुशासन जन्य ।
ते सकल द्वादश सहँस आसन गहे तहँ महमन्य ॥
दुहं ओर भूपति पंति बिच साम्राज्य पट्ट विधाय ।
लिय लाह बैठन शाह प्रतिनिधि राह वायसराय ॥१६॥

हिय हिन्द हीरन हार के अनुहार हारत नैन ।
विलसन्त कैधों बाल ध्वज धर गर्म्भ आशय ऐन ॥
भुवि कामधेनू की मंथनि किधों जुत नवनीत ।
मन्द शीश भारत दृश्य अन्तर लसत परम पुनीत ॥१७॥

किधों शुभ ऋतु शरद राका अरध दृश्य अनूप ।
खस्वस्त राजत लार्ड कर्जन पूर्ण हिमकर रूप ।।
नक्षत्रराजक अवलि दुहुधाँ नमि चलि जिहिँ अग्न ।
चख हृदय सीतल त्यों हि मोहित करनहार समग्न ।।१८।।

आह्लादि उमडन हेतु प्रजजन चित्त सिन्धु अघाहि ।
आगमन तें हू गिन्यो भारत बन्दनीय जु जाहि ।।
प्रजराज जन पद भक्ति ओषधि करत रस संचार ।
बिच शान्ति भासत भव्य कांति सुकलानिधि तमहार ।।१९।।

इम बहें अनुपम छटा धारत धारत सभा मंडप राज ।
किय इन्द्रप्रस्थ जु नाम सारथ पूर भारत भ्राज ।।
तिहिँ विपुल वैभव सकल बरनि न सकें समसन साथ ।
है धन्य जीवन सकल तिन जिन कीन्ह नैन सनाथ ।।२०।।

सुखराशि कुमुद विकाशि ननु जग मित्र प्रतिनिधि रूप ।
तम चरन कर्जन चन्द्र कर्जन से जु भेजि अनूप ।।
शत आयु नीरुज रहहु श्री एडवर्ड वह ग्रह ईश ।
हिय हरषि भक्ति अनन्य धरि यह देत कवि आशीष ।।२१।।

दोहा

भक्त हिन्द अनुरक्त बनि, लिय बधाय क्षण एहु ।
पें पुनि माँगत इष्ट तें, लघु यह दिन जिन देहु ।।२२।।
प्रथम जनवरी ख्रीस्ट सम, नयन बिन्दु गुण इन्द ।
राजमुकुट एडवर्ड हित, किय कर्जन मह हिन्द ।।२३।।

षटपदी

पुष्कर प्रभु उम्मेद हेतु सि···राज जु सराहत ।
चहो मित्र एडवर्ड मित्रता कहें जिम चाहत ।।
तरनि रूप पात शाह लखत जिम पदवी हेंतुहि ।
लखो तिम हूँ सत्ताहिँ ध्रुव सुहड्डन केतुहि ।।२४।।

[प्रथम प्रकाशन : अज्ञात]

भारत की जय

(राग खम्माच)

(१)

मिलो सर्व भारतसन्तान,
एक तान-तन-प्राण
गाओ भारत का यशोगान ।

भारतभूमि तुल्य नहिं कोई स्थान
नहिं गिरि हिमाद्रि समान
फलवती वसुमती, स्रोतस्वती पुण्यवती
शतखण्ड रत्न का निधान ।

रहो भारत का जय
जय भारत का जय
गाओ भारत का जय
क्या भय ? क्या भय ?
गाओ भारत का जय ।

(सब मिलकर)

(२)

वीरों की यह भूमि, वीरों की जननी
व्याप रही थी अज्ञान रजनी ।
सुगम्भीर तिमिर, कभी रहै नहीं चिर,
दीख रहा अब दीप्त दिनमणि ।

(सब मिलकर)

(३)

रामभूमि, कर्णाटक, कुर्ग, मध्यप्रान्त,
मालव, सिन्ध, पंचनदीधाम ।
बंग, मद्र, गुर्जराष्ट्र, महाराष्ट्र, सौराष्ट्र,
ब्रह्मदेश, राजपुत्रस्थान ।

(सब मिलकर)

(४)

हिन्दू, जैन, सिख, बौद्ध, क्रुस्ती, मुसलमान,
पारसीक, यहूदी, और ब्राह्म ।
भारत के सब पुत्र, परस्पर रहो मित्र
रखो चित्ते गणना समान ।

(सब मिलकर)

(५)

हिन्दूभूमि दुःख डूबी, दारिद्र्य विस्तार
महासभा करो बारंबार बार ।
उठो उठो कर उत्साह, मांगो सुख प्रभु हाथ
कर धरि कर लो उद्धार ।

(सब मिलकर)

(६)

क्यों डरो भीरु ? करी साहस आश्रय
यतो धर्मस्ततो जयः
छिन्न भिन्न हीनबल ऐक्य से पाओगे बल
माता मुख उज्ज्वल करो, कौन भय ?

(सब मिलकर)

[**प्रथम प्रकाशन : समालोचक :** अक्तूबर-नवम्बर-दिसम्बर, १९०४ ई०]

एशिया की विजयादशमी

प्राचीन लोग, विजया दिन में, बतावें,
सीमा उलाँघ अपनी रिपुधाम जावें।
जो शत्रु पास नहिं हो, रिपु चित्र ही को,
संग्राम में हत करें, बल वृद्धि जो हो ।।१।।

लंकेश आज रघुनायक ने हराया,
अन्याय का परम नाशन यों सिखाया ।
होती कहीं पर कहीं पर रामलीला
है पेट में पर नहीं अब हा ! वसीला ।।२।।

दुर्भिक्ष वर्ष प्रतिवर्ष यहां पधारें,
न प्लेग भी अब कहीं भ्रम से सिधारे।
स्वाधीनता जब गई नव धर्म छाए,
प्राचीन धर्म कुल गौरव भी नसाए॥३॥

त्योहार तो वह करे जिसके कुशूल[1],
हों अन्नपूर्ण बनते रिपु ने त्रिशूल।
हो पेट पूरित जभी, तब खेल सूझे,
रोगी, ऋणी विजित, क्यों कर मोद बूझे ?॥४॥

"मेरी विभूति नर में नरनाथ ही है"
कृष्णोक्ति से हम सदा प्रभुभक्त ही हैं।
अंग्रेजराज बल की जय हैं मनाते
यों ही रहैं युग-युगान्तर लाभ पाते ॥५॥

जापान ने शुभमयी विजया मनाई !
श्वेतांग हार उसने अबके दिखाई !
पीतांग के विजय की तुरही बजाई !
पौरस्त्य[2] कायर कलंक कथा मिटाई ॥६॥

है रूस दुष्ट अति ही उस के चरित्र,
अन्याय पूर्ण सुन के डरते विचित्र।
सेनाधिनाथ[3] उसका जब गप्प मारे,
'लूं हिन्द' किचनर तभी डरते बिचारे ॥७॥

जापान धन्य ! तुमने उसको पछाड़ा,
अत्युग्र शल्य अपने मन से निकाला।
जो एशिया विजित, भक्ष्य, बना हुआ था,
जेता बना, न पहिले वह सो रहा था ॥८॥

बाल्टीक पोतचय एक नवीन आता,
हे टार्पिडो ! सब कहीं उसको दिखाता।
श्री कृष्ण चिन्तन किए पर कंस जैसे,
निस्तार जय्य[4] ? उसको अब मान वैसे ॥९॥

---

१. कोठी, अन्न का भण्डार।
२. पूर्व देशवासी
३. कुरुपेटकिन
४. जीतने लायक

हैं हारते हम न चार शताब्दियों से ?
लोगे न वीर ! बदला तुम रूस ही से।
खांडा पखाल[1] ? अब बाल्टिक तोय में तू,
पूर्वान्धकार रवि आज नया उगा तू ।।१०।।

प्राची त्वदीय मुख देख खुशी मनाती,
आशीस आज तुमको अपनी सुनाती।
लाखों कुपुत्र उसके जब मार भूत,
हे वंशरत्न ! जगमण्डन तू सपूत ।।११।।

विद्या जरा प्रिय ! हमें अपनी सिखाना,
धर्मादि देश निज भारत भूलना ना।
जीओ सदा युग-युगान्तर, बुद्ध जो थे,
भूमिष्ठ होकर यही कुछ सीखते थे ।।१२।।

[प्रथम प्रकाशन : समालोचक : सितम्बर, १९०४ ई०]

झुकी कमान[2]

(१)

आए प्रचंड रिपु, शब्द सुना उन्हीं का,
भेजी सभी जगह एक झुकी कमान।
ज्यों युद्ध चिन्ह समझे सब लोग धाये,
त्यों साथ थी कह रहीं यह व्योमवाणी।
"सुना नहीं क्या रणशंखनाद ?
चलो पके खेत किसान ! छोड़ो,
पक्षी उन्हें खायं, तुम्हें पड़ा क्या ?
भाले भिड़ाओ अब खड्ग खोलो।
हवा इन्हें साफ किया करैगी—
लो शस्त्र, हो लाल न देश-छाती ।।"
स्वाधीन का सुत किसान सशस्त्र दौड़ा,
आगे गई धनुष के संग व्योमवाणी।

१. शस्त्र को धो (युद्ध समाप्त होने पर)
२. एक अंगरेजी कविता के आधार पर। झुकी कमान, पान के बीड़े की तरह वीरों को बुलाने को भेजी जाती है।

(२)

"छोड़ो शिकारी ! गिरि की शिकार,
उठा पुरानी तलवार लीजै,
स्वतंत्र छूटें अब बाघ भालू,
पराक्रमी और शिकार कीजै ।
बिना सताए मृग चौकड़ी लें—
लो शस्त्र, हैं शत्रु समीप आए।"
आया सशस्त्र तज के मृगया अधूरी,
आगे गई धनुष के संग व्योमवाणी।

(३)

"ज्यौनार छोड़ो सुख की रईसो !
गीतांत की बात न वीर ! जोहो।
चाहे घना झाग सुरा दिखावै;
प्रकाश में सुंदरि नाचती हों।
प्रासाद छोड़ो, सब छोड़, दौड़ो—
स्वदेश के शत्रु अवश्य मारो।
सर्दार ने धनुष ले, तुरही बजाई;
आगे गई धनुष के संग व्योमवाणी।"

(४)

"राजन् ! पिता की तव वीरता को,
कुंजों, किलों, (वनों) में सब गा रहे हैं।
गोपाल बैठे जहँ गीत गावें,
या भाट वीणा झनका रहे हैं।
अफ़ीम छोड़ो, कुल-शत्रु आए,
नया तुम्हारा यश भाट पावें।
बंदूक ले नृप-कुमार बना सुनेता,
आगे गई धनुष के संग व्योमवाणी।"

(५)

"छोड़ो अधूरा अब यज्ञ, ब्रह्मन् !
वेदांत-पारायण को बिसारो,
विदेश ही का बलि वैश्वदेव,
औ' तर्पणों में रिपुरक्त डारो।
शस्त्रार्थ शास्त्रार्थ गिनो अभी से,
चलो दिखाओ 'हम अग्रजन्मा' ॥"

धोती सम्हाल, कुश छोड़, सबाण दौड़े,
आगे गई धनुष के सँग व्योमवाणी।

(६)

"माता ! न रोको निज पुत्र आज,
संग्राम का स्वाद (मोद), उसे चखाओ।
तल्वार-भाले भगिनि ! उठा ला,
उत्साह भाई निज को दिलाओ
तू सुंदरी ! ले प्रिय से बिदाई
स्वदेश मांगे उनकी सहाई।"
आगे गई धनुष के सँग व्योमवाणी,
है सत्य ही विजय, निश्चय बात जानी।
"है जन्मभूमि जिनकी जननी समान,
स्वातंत्र्य है प्रिय जिन्हें शुभ स्वर्ग से भी।
अन्याय की जकड़ती कटु बेड़ियों को,
विद्वान वे कब समीप निवास देंगे ?"

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : नवम्बर-दिसम्बर, १९०५ ई०]

बैनक बर्न[1]

(राबर्ट ब्रूस का अपनी सेना को सम्बोधन)

[सन् १३१४ में एडवर्ड दूसरे की आक्रमणकारिणी सेना को वीर रावर्ट ब्रूस के अधीन स्काटलेण्ड की सेना ने बैनकबर्न में बुरी तरह हराया था। उस समय का रावर्टब्रूस का युद्ध-घोष, सुकवि रावर्ट बर्नस ने ओजस्विनी भाषा में लिखा है। उसी की छाया देने का यत्न किया जाता है।]

(१)

वीरो ! जो निजरक्तपात करते, वैलेस के संग में
वीरो ! ब्रूस जिन्हें, सजाय रण को, है ले गया संग में,
आओ, स्वागत है, धरी रुधिर की, शय्या रणक्षेत्र की,
या है जीत, महत्त्व-कीर्ति, जिसकी होती सदा साथ की ॥

Bannock burn

(Robert Bruce's Address to his Army)

मूल : (1) Scots, wha ha'e wi' Wallace bled !
Scots, wham Bruce has aften led !
Welcome to your gory bed,
Or to glorious victory !

(२)

ये ही है दिन, काल भी अब यही, वेला यही आ गई;
देखो तो रिपुसैन्य ! आहव—घटा ये सामने आ गई,
देखो दर्पित एडवर्ड नृप की सेना बढ़ी ही चले—
होवै जो नृप-दास नीच, उसको दासत्व-बेड़ी मिलै !

(३)

होगा कौन स्वदेश-शत्रु खल जो विश्वासघाती बनै ?
होगा कौन मलीन कापुरुष की जो जा समाधी भरै ?
होगा कौन कमीन हाय ! इतना जो दास जाके बनै ?
मोड़ो पीठ, स्वदेश शत्रु ! चल दो जल्दी, अरे कायरो !

(४)

ये हैं कौन स्वदेश के नृपति के औ' न्याय के वासते,
खैंचेंगे अति वीरता सहित जो स्वातंत्र्य के खंग को ?
या स्वाधीन रहें डटे, यदि नहीं, स्वाधीन काटे मरैं ?
ऐसे वीर ! स्वदेशभूषण ! मुझे दें साथ, आगे बढ़ो !

(५)

सोचो, सोंह करो सभी, स्मरण हैं अन्याय को यातना ?
क्या भूले ? सुत हैं त्वदीय सहते दासत्व की श्रृंखला ?
प्यारी भी निज नाड़ियाँ हम सभी खाली करें रक्त से,
होंगे किंतु स्वतंत्र वे, हम उन्हें स्वातंत्र्य देंगे हठात् ॥

मूल : (2) Now's the day, and now's the hour;
See the front o' battle lower!
See approach proud Edward's power-
Edward ! chains and salavery !

मूल : (3) Wha will be a trailor knave ?
Wha can fill a coward's grave ?
Wha sae base as be a slave ?
Traitor ! coward ! turn, and flee !

मूल : (4) Wha for Scotland's king and law
Freedom's sword will strongly draw,
Free man stand, or free-man fa',
Caledonian ! on wi' me !

मूल : (5) By opperession's woes and pains !
By your sons in servile chains !
We will drain our dearest veins,
But they shall—the shall be free !

(६)

मानी जो अपहारि हैं झट उन्हें नीचा करो धूल में,
अन्यायी गिरते मरे समझना प्रत्येक ही शत्रु में !
है स्वातंत्र्य सुवीर ! आज अपना प्रत्येक आघात में !
आगे हो ! बढ़ दो ! करें कुछ अभी, या नष्ट हों मृत्यु में !

[प्रथम प्रकाशन : समालोचक : अगस्त, १९०५ ई०]

आहिताग्निका[1]

(शिखरिणी छन्द)

(१)

प्रतिज्ञा की तूने अति कठिन, उत्साह-भरिते, !
निभाओगी कैसे ? धन-जन-धरा-धान्य रहिते !
अखण्ड ज्योती जो अब यह जगाई, भगवती !
सदा पालोगी क्या तन-मन उसे दे ? गुणवती !

(२)

सहोगी ताने भी ? क्षुर-सम धरा पै चल रही,
न घूमैगा माथा, प्रति-पद चढ़ाई बढ़ रही ?
न पीछे भागोगी ? नहिं भय ? मिलैं सर्प पथ में,
डरावेंगे भालू-कुजन-रिपु-सिंहादि वन में ॥

(३)

वसन्तों में ठण्डा मलजय चलैगा पवन भी,
खिलैंगी गर्मी की सुविमल निशा में वह जुही,
मयूरों की मौजें घन-वलित विद्युद्-वलन से,
दिखावैंगी वर्षा, दृढ़तर प्रतिज्ञा-दलन से ॥

मूल : (6) Lay the proud usurpers low !
Tyrants fall in every foe !
Liberty's in every blow !
Forward ! let us do, or die ! *

* The poetical works of Robert Burns, P 376-77, London; Frederick Warne and Co. and New York : 1893

१. श्रीमती सरला देवी की 'आहिताग्निका' को पढ़कर ।

(४)

जुन्हाई में सारे कमल खिल जावें शरद में,
दुराशा के पाले, हिम शिशिर, खेंचें विषय में।
कहो देवी ! कैसे दहन कर दोगी मदन का ?
न देखोगी पीछे फिर, वह महामोह मन का ?

(५)

रहैं चाहै कोई विषय-सुख के कीट बन के;
न देखैगी तू तो पल-भर उन्हैं कष्ट सह के।
त्वदीया निन्दा से उदर भर लेंगे बहुत से,
दबाई जीभों से जन तव बड़ाई कर सकैं ॥

(६)

स्वधा, स्वाहा, को तू प्रति समय में ठीक कहके,
न प्रायश्चित्तीया बन कभि अपभ्रंश कहके।
कहां घी पावैगी ? अब सुखद गो-वंश न रहा;
ढकैगी काहे से सरस तनु जो कोमल महा ?[१]

(७)

मिलैगी रेज़ी तो, यदि वह नहीं, वल्कल सही;
कलेजे में वेदी रच यह प्रतिज्ञाग्नि धर ली।
विलासों को मज्जा हवि अब बनैगी सहज में,
सदा स्वार्थों को तू बलि-पशु करैगी हृदय पै ॥

(८)

अहो धन्या ! देवी ! यदि यह प्रतिज्ञा निभ गई,
अँधेरे को नांघा, अब उदय-लाली लख गई।
उषा का झण्डा ये सुभग अगुआ है बन गया,
प्रतीची का जाला नयन-पट से है हट गया ॥[२]

---

१. आहिताग्निः अपशब्दं प्रयुज्य प्रायश्चितीयां इष्टिं निर्वपेत् ।
२. प्र मे पन्था देवयाना अदृश्चन् अमर्धन्तो वसुभिरिष्कृतासः ।
अभूदु केतुरुषसः पुरस्तात् प्रातीयच्यागादधि इर्म्येभ्यः ॥ (ऋग्वेदः ७-७६-२)

(९)

विदेशी चीजें ही बन हह ! गईं जन्म-गुटिका;
स्वदेशी पावैं, वा, अब, न, हम, हा! ! हन्त खटका,
गड़ेंगे काँटे भी, नयन-जल की वृष्टि पड़ते,
न ढीली होने दे कमर, दुख देशार्थ सहते ॥

(१०)

उजाला देवैगी प्रबल हठ की ज्योति तुझको;
घृणा के झोंके भी नहिं कर सकैं मन्द उसको ।
बढ़े ही जाना तू, नहिं चरण भी एक हटना,
जमाना ज्योती को विजय-गिरि पै जाय डटना ॥

(११)

वहां, आत्म-स्वार्थ-प्रवण-मन का होम करना;
विरोधों के आगे, पण सम, निज प्राण धरना ।
यही इच्छा है ? जा, भगवति! भला हो तव सदा;
हमारा भी होगा तव चरण में मंगल सदा ॥

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : अक्तूबर, १९०५ ई०]

स्वागत !!!

आ त्वा हार्षमन्तरेधि ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलिः ।
विशस्त्वा सर्वा वांछन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधिभ्रशत् ॥
इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु ।
दशास्यां पुत्रानाधेहि पतिमेकादशं कृधि ॥
इहैव स्तं, मा वियौष्टं, विश्वमायुर्व्यश्नुतम् ।
क्रीळन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे ॥

जो जो देव 'कृटीक'[1] की कतरनी से हैं बचे आज लों;
जो प्राचीन महत्व 'गप्प सब हैं' से भी बचा आज लों;
गंगा में जल, पम्प वा नहर से, जो है बचा आज लों;
श्रीमन् ! राजकुमार !! मंगल सदा तेरा करैं वे सभी ॥१॥

---

१. कृटीक—समीक्षक

सोते-क्षार-समुद्र में हरि सदा; ब्रह्मा डटे शून्य में;
मेरे शंकर हैं श्मशान बसते धारे हुए रुद्रता।
आओ सर्व सुरेश-रूप![1] तुमको, खारा सदा दुःख से,
जीर्णारण्य, श्मशान, शून्य, कहता हूं, मूक भी, 'स्वागतम्!' ॥२॥

घूमे थे जब ट्रान्सवाल, अथवा आस्ट्रेलिया, कैनडा,
'हुर्रे रूल बृटानिया' सब कहीं गाया सुना आपने।
मैं भी उत्सव हर्ष में यदि कहूं 'बन्दे प्रियां मातरं',
हो जाता वह कर्णशूल कुछ को; हा कष्ट! कैसे कहूं!! ॥३॥

प्रिंसैस् मे! युवराज जारज! वही है देश पैरों तले,
सर्वोत्कृष्ट, महत्वयुक्त, जिसकी मानी गई सभ्यता;
विद्या फ़ारिस, ग्रीस, चाल्डिक, तथा रोमादिकों ने पढ़ी;
माना है सब ने गुरु गणित का ले काम में 'हिन्दसे'[2] ॥४॥

ये वो देश नहीं जहां नृप चढ़े स्वच्छन्दता की बली;
जो आदर्श नृपाल, वे सब यहां पूजे गये विष्णु से।
'राजा ही जगदीश है' यह कभी चार्वाक-सिद्धान्त था;
माना है हमने!! तथापि अभयाशा है नृपों से नहीं!! ॥५॥

मेरे याद, दिलीप भूपति गये थे जो वनों में कभी,
होती शान्त दवाग्नि तो सब कहीं जल्दी, बिना वृष्टि के।
होती थी फल-पुष्प-वृद्धि अधिका, औ' प्राणियों में, वहां,
जो थे दुर्बल जीव, मार उनको सक्ता बली था नहीं[3] ॥६॥

है लोकोक्ति—"बहू! त्वदीय घर है, छूना नहीं किन्तु" यों;
आये हो; इससे विरुद्ध सब ही हूं देखता भाग्य से!
अग्नी स्वागत में लगी! सब कहीं दुर्भिक्ष फैला पड़ा!!
श्रीमान् फूलरजंग भी गरजते बंगालियों पैं सदा!!! ॥७॥

तो भी प्लेग छिपाय, काल ढंक के, घोंटा असंतोष को,
मांगे शाल, ढका प्रसन्न बनके कंगाल कंकाल[4] को।
आंसू पोंछ, कहूं सुहास्य मुख से, 'आओ पधारो यहां,
लाखों मंगल सर्व-मंगल करे! जोड़ी बनी ही रहै!! ॥८॥

---

१. सर्वदेवमयोतिथिः
२. हिन्दसे = अंक
३. रघुवंश : सर्ग-२
४. कंकाल = हड्डी

जो विद्या, वह राजपुत्र! तुम को ऐड्रेस देने खड़ी,
जो धीरत्व, कुमार आज वह भी छाता लिए है खड़ा।
लक्ष्मी जो कुछ है सभी वह लगी दीपावली में अभी,
या चन्दे लिखती फिरे सब कहीं जो आप आए यहां ॥९॥

जो तल्वार कुमार! आज वह भी बूटों तले आपके,
अच्छा हो यदि सात टूक करके वो आप पै वार दें।
है स्वातन्त्र्य नहीं तथापि उसकी छाया खड़ी सोचती,
"ऐसा तो न कहूं कुमार जिसको विद्रोह माने कहो" ॥१०॥

'लेवी' से अभिमान आज अपना सन्मान है मानता,
जो सद्वंश, सुवश्य, वो अरदली या चोबदारी करें।
आई हैं गृहलक्ष्मियां सब करें पृन्सेस की आरती;
देखो, केवल 'ताज' एक बढ़िया 'बेताज' के पास है!! ॥११॥

तुम्हारी सेवा हो, तन-पतन से वा जतन से,
तुम्हारी पूजा हो, मन-शमन से वा दमन से।
तुम्हारी अर्चा हो, धन-निधन से वा दहन से,
तुम्हारे तोषार्थों तन-मन-धनों को नहीं गिनें ॥१२॥

माना रत्न मुझे प्रधान सबने इंगलैंड के ताज में,
मानें कंकर-सा कुमार! मुझ को जो न्याय मांगूं कभी।
औरों का मुख देखता थक गया, चाहूं बनाना स्वयं
मैं वस्त्रादि; कुमार! देवि!! कह दो रोकैं न कोई मुझे ॥१३॥

आए हो, सब देखना मन लगा, होगा तुम्हें 'अस्ति' का
मेरा ज्ञान; भला लगूं जब, भला होगा कभी 'भांति' भी।
पीछे भाग्य हुए कुमार! 'प्रिय' भी होऊं कभी आपका;
भागेंगे तब 'नामरूप' नकली जो शासकों ने धरे ॥१४॥

राजा हैं सब घास-पात, कुचलो चाहै, न खाओ कभी,
मट्टी हैं हम, रोंद दो, पर कभी खाओ हमें भी नहीं।
खोवें जो वृक, रींछ, जम्बुक, बने भाई सभी आप के!
गैंडे वा गज हैं न!—खूब करिए—"शार्दूलविक्रीडितम्[1] !!! ॥१५॥

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : नवम्बर-दिसम्बर, १९०५ ई०]

---

१. शार्दूलविक्रीडितम्—सिंह का खेल और छन्द का नाम —सम्पादक

रवि

धन्य, धन्य दिननाथ ! धाम कल्याण परम के !
हिम रिपु जीवनदातृ मूर्ति शुभ ज्योति चरम के !
रवि ! छवि तव बहु भांति विविध कविगन ने गाई,
द्युमणि ! सुनहु कछु आज कुकवि के चित्त समाई ।।१।।

हे खगोल के केन्द्र ! प्राण जीवन गणितन के ।
अहो फलितसुरवृक्ष ! सहारा दैवज्ञन के !
ज्योतिर्विद नक्षत्रसूचि सब के अनदाता !
जय सिद्धान्त सम्राट धर्म कल्पद्रुम धाता ।।२।।

नव गति गणना चारुचलन कलना चिन्तामनि !
जय प्रकास के आदि आचारज सुभमति धनि !
दिगदिगन्त गत तेज ! यन्त्रराजन के प्यारे !
म्लेच्छ तमिस्र हटाय पूज्य मूरति रखवारे ! ३।।

यज्ञमूल यजु वाजसनेयी शाखा चालक !
अश्वमेध विध विविध पूज्य यज्ञन के पालक !
धर्म ग्लानि मिटाय कर्म विस्तार कियो जय !
शुभ ज्योतिष्पथ देव ! कियो निष्कंटक निर्भय ।।४।।

उलगवेग[1] लाहैर[2] मान्यवर, जनक ज़ीच[3] के ।
नाथ ! उबारहु शास्त्र पर्यो तब बीच मीच के ।
सायन निरयन वाट नाटिकल की नटखट भी ।
दृश्य धर्म्य को भेद लेत हठि मिलि याको जी ।।५।।

आर्य ब्रह्म कमलाकर मिहिर सूर्य पर—भास्कर !
केतक[4] फिरें बेताल भ्रमैं रमनीय सुधाकर ।
छिन में सकल विवाद मिटै यदि रवि ! तुम आओ,
राशिवलय की चाल सत्य यदि तुम दिखलाओ ।।६।।

---

१. एक समरकंद का गणितवेत्ता
२. एक पोर्च्युगैल का गणितवेत्ता
३. सारणी, पंचांग
४. कितने ही

रत्नाकर[१] को पुण्डरीक[२] तेरो कहँ प्रियतम ?
नाम शेष वह आज, छयो सेवाल महातम।
निज कर प्रातःकाल संवारी जो तैं नगरी,
अन्धकार तहं निबिड़, धर्म की फूटत गगरी ।।७।।

सदा नित्य प्रत्यक्ष देव देवाधिदेव तव।
महिमा घटती जाय, भूलते वा मनीषि अब ?
दुर्गति है यह नाथ ! तेरी वा तव अंश की ?
कीर्ति लोप हो जाय, अदिति कश्यप[३] सुवंश की ? ८।।

कहां 'भर्ग सुवरेण्य[४] हमारी मति जो प्रेरै ?
कहां पुरुष वह दिव्य, वेद जिहि 'सोऽसौ'[५] टेरै ?
दीखै हमको नाहिं, 'हिरण्यश्मश्रु[६] मनोहर।
कह दो वैदिक विष्णु! कहां 'त्रेधा पर पांसुर'[७] ? ।।९।।

कहां तुरीय ब्रह्म[८] अत्रि ने जासों जान्यो,
आसुर जब स्वर्भानु तोहि तम मांहि छिपान्यो ?
हम भी खोजें तोहि होंय झटिति संशयरहित,
नहिं कहलावें 'मुग्ध' यथा पुरुष 'अक्षेत्रवित' ।।१०।।

छिप्यो मेघ में सूर्य ! राहु ने अथवा खायो ?
जड़ विज्ञान प्रवीण छिद्र तो में दिखलायो।
हे मृताण्ड से जात[९] ! बदन क्यों नहिं दिखलावै ?
मुरझाती यह देश-पद्मिनी क्यों न खिलावै ? ११।।

---

१. समुद्र।
२. कमल।
३. 'इत्येते द्वादशादित्याः काश्यपेयः प्रकीर्तिताः' वेद में कश्यप = कच्छप = पश्यक। सूर्य अदिति और कश्यप (आकाश) का पुत्र है।
४. ऋग्वेद ३।६२।१०, (गायत्री मंत्र) भर्ग = तेज, वरेण्य = चाहने लायक।
५. योऽसौ आदित्ये पुरुषः सोऽसौ अहम् (यजुर्वेद ४०।१५), सोऽसौ = वह ही वह।
६. यः एषोन्तरादित्ये हिरणमयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेशः आप्रणखा त्सर्व एव सुवर्णः (छान्दोग्य १।३।६।६)।
७. ऋग्वेद १।५।२२।१७ इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्। समूढ मस्य पांसुरे।
८. यत्त्वा सूर्य स्वर्भानुःतमसा अविध्यत् आसुरः। अक्षेत्रवित् यथा मुग्धो भुवनानि अदीधसः···गूढं सूर्यं तमसा अपव्रतेन तु रीयेण ब्रह्मणा अविन्दत् अत्रिः (ऋग्वेद ५।४०।५-६) तुरीय = चौथा, ब्रह्म = कर्म, यंत्र ? आसुर = असुरवंशीय, स्वर्भानु = राहु। अक्षेत्रवित् = क्षेत्र न जानने वाला।
९. अष्टौ पुत्रासो अदितेर्ये जाता तन्वस्परि। देवां उपप्रेत्सप्तभिः परा मार्तांडं आस्यत् (ऋग्वेद १०।७।२।८)।

यह रजनी नहिं, नहिं दिशा, नहिं कैरविणी[1] ही।
पावै मोद विकाश इन्दु-भूषण-जय से ही।
बिना तिहारे नाहिं पद्मिनी की गति जानहु।
छाँड़ि मेघ, हनि राहु, याहि सन्मुख मन आनहु ॥१२॥

ऐसो मण्डल तेज चक्र तोहि घेरि रह्यो है।
जा में गुरु कवि[2] आय मान बिन अस्त लह्यो है।
पाय तिहारे हिन म्लान द्विज राज[3] कलाधर[4]।
रहत सदा अति दूर जाय उन्नत सुषमाधर[5] ॥१३॥

विजय लोभ में आय हाय! खोयो लवणाकर[6]।
त्वरितवेग रथ मूल्य खो दियो अति ऋजु बनकर।
श्येन[7] श्वान[8] मदकुम्भ[9] अंगना[10] संग पतंग[11] ले,
होय सनातन विष्णु[12] विष्णुपद[13] पै तू पद दे! ॥१४॥

कन्यालय में सूर्य! जाहु किमि सिंहासन तजि?
तुला परीक्षा छांडि होहु झट वृश्चिक खिजि?
बनि अधीन अनुसरहु, कुजन-नृप-धूमकेतु को।
उच्च मार्ग तजि करहु कुसम्मत संग नीच को ॥१५॥

अहो अहल्या-जार![14] उर्वशी-प्रिय पुरूरवा[15]!
कान्तिनाथ! मर्य्याद छांड़ि क्यों यह नई हवा?
बालक तरु अरु पुष्पिता लता को रस चाखत।
दिन में बदन छिपाय अन्य देसन निसि भरमत ॥१६॥

पूरब से पा वृद्धि वृथा क्यों पश्चिम धावै?
छायापति! निज दोष उदधि में जाय छिपावै।
किरणभंग, भय, अस्त, जलधि में मज्जन गिरि सों
निहचय मिलै दिनेस! वारुणी[16] के संगम सों ॥१७॥

जीवन तोय हमारो तू निज कर[17] सों खैंचत।
बरसावत इत नाहिं म्लेच्छ विषयन[18] महँ फैंकत।
कर डारत आदित्य! अदिति[19] ही अम्बर[20] पर।
धात्री[21] पर करि राग[22] सोय निम्नगा-पति-घर[23] ॥१८॥

---

१. कुमुदनी। २. वृहस्पति, शुक्र। ३. चन्द्रमा। ४. चन्द्रमा। ५. शोभा वाला। ६. समुद्र। ७. एक तारापुंज (cygnus)। ८. एक तारापुंज, लुब्धक (sirius)। ९. कुंभ राशि। १०. कन्या राशि। ११. सूर्य। १२. पूषा विष्णु सनातनः। १३. आकाश। १४. अहल्या रात्रि अथवा उषा; जार नष्ट व वृद्ध करनेवाला अतएव सूर्य। १५. उर्वशी = उरूची = उषा, पुरूरवा = सूर्य। १६. पश्चिम दिशा। १७. किरण। १८. देशों में। १९. द्यौ। २०. आकाश। २१. पृथ्वी। २२. ललाई। २३. नदियों का पति अर्थात् समुद्र।

बडवा[1] हित वनी अश्व पाशवी वृत्ति दिखाई,
सुत तेरे यम मन्द[2] सृष्टि प्रतिकूल बताई।
तारा रासी भोग मिटै नहिं प्रेम वासना,
नीच गृहन में दृष्टि दिये बिन रह्यो जात ना ।।१६।।

उदय पूर्व में पाय, पश्चिमासा[3] को धावत,
डारत वहां प्रकास यहां अन्धेर मचावत।
जल थल नभ गिरि मांह छांह के पीछे धावत,
भूतल-सायिनी ताहि करै, नाहिं सरमावत ।।२०।।

पश्चिम जाय यहां पर कर उच्छिष्ट[4] पठावत,
लोकबन्धु ! खद्योत[5] ! नयो यह न्याय चलावत !!
भास्कर ! हत तव कान्ति, आज दोषाकर[6] चरनन,
कर करवाल चढ़ावत; मानहानि हिं गिनत न ? ।।२१।।

एक काल बनि द्वादशार्क[7] के सब देस जरावहु।
अथवा वेद पढ़ाय यज्ञ मारग में लावहु।
देहिं तुम्हें यज्ञांस किन्तु पेटहि अब खाली,
"बाहर खावें मार देहिं घरकन कहँ गाली।" ।।२२।।

रवि ! तेरो नहिं दोष, परम तेजोमय उज्वल !
हम ही हैं अति नीच परम संसारी चंचल !
निज चंचलता, पाप, कलुष अरु नीच-वासना,
करि तो पर आरोप लखै यह टेव जात ना ।।२३।।

क्षमा करहु, जगचक्षु ! लोकसाक्षी ! अनुचित वहु।
कवि मयूर[8] सम हृदय-ज्ञान-लव-कुष्ठ मिटावहु।
नहिं देखें हम दीर्घ घोर अँधियारी[9] रातें,
चित्रावसु[10] के पार जायँ, दिन की हों बातें ।।२४।।

---

१. घोड़ी (छाया का रूप)।
२. यमराज और शनि।
३. पश्चिम दिशा।
४. बाकी।
५. सूर्य।
६. चन्द्रमा।
७. प्रलयकाल में बारहों सूर्य साथ चमकते हैं।
८. सूर्यशतककर्ता।
९. उर्वश्यां अभयं ज्योतिः इंद्र मा नो दीर्घा अभि नशन् तमिस्राः (ऋग्वेद २।२७।१४)।
१०. चित्रावसो स्वस्ति ते पारं अशीय (तैत्तिरीय संहिता १।५।५।४) चित्रावसु=रात्रि।

'अपत कटीली डार' सेई चाहें कुसुमन को।
'हारे को हरिनाम' 'राम ही बल निर्बल को'।
मन ! बनि है कब दास मदन मोहन[1] चरनन को ?
या लहि है सायुज्य चन्द्रधर[2] पद कमलन[3] को ? ॥२५॥

[प्रथम प्रकाशन : समालोचक : जनवरी-मार्च, १९०६ ई०]

सोऽहम्

करके हम भी बी० ए० पास
हैं अब जिलाधीश के दास।
पाते हैं दो बार पचास
बढ़ने की रखते हैं आस ॥१॥

खुश हैं मेरे साहिब मुझ पर,
मैं जाता हूं नित उनके घर।
मुफ्त कई सरकारी नौकर
रहते हैं अपने घर हाजिर ॥२॥

पढ़कर गोरों के अखबार
हुए हमारे अटल विचार।
अंग्रेजी में इनका सार,
करते हैं हम सदा प्रचार ॥३॥

वतन हमारा है दो-आब,
जिसका जग में नहीं जवाब।
बनते बनते जहां अजाब,
बन जाता है असल सवाब ॥४॥

ऐसा ठाठ अजूबा पाकर,
करें किसी का क्यों मन में डर !
खाते-पीते हैं हम जी भर,
बिछा हुआ रखते हैं बिस्तर ॥५॥

---

१. विष्णु।
२. शिव।
३. शशधर का अनुकरण, ब्रजवासी लेखक से क्षमा प्रार्थनापूर्वक।

हमें जाति की जरा न चाह,
नहीं देश की भी परवाह !!
हो जावे सब भले तबाह;
हम जावेंगे अपनी राह ॥६॥

खोना रोज़ी लगी लगाई,
किसने ऐसी बुद्धि सिखाई !
जादूमय सरकारी पाई,[१]
कर देती है पर्वत राई ॥७॥

पड़े एक दिन पाँव पसार,
पढ़कर हम अपने अख़बार।
करते थे यह सोच-विचार—
कब होते हैं तहसिलदार ॥८॥

इतने में लेखक हिन्दी का,
आया एक काल-सा जी का;
लगा पँवारा गाने फीका,
मानौ नया तेल अंडी का ॥९॥

बाबू साहिब ! तुम हो ज्ञानी;
छोड़ो कहना गिटपिट बानी।
हिन्दी की कुछ सुनो कहानी—
हिन्दू मत की असल निशानी ॥१०॥

अपनी भाषा का उद्धार,
है सब उद्धारों का सार;
अँगरेजी के उच्च विचार,
हिन्दी में तुम करो प्रचार ॥११॥

खुशामदी तुम से भी बढ़कर
शिव-प्रसाद अँगरेजी पढ़ कर
थे हिन्दी के लेखक आगर,
जिससे था उनका अति आदर ॥१२॥

सुनते ही जल उठा कलेजा,
बोला मैं नालायक रे ! जा !
क्यों बकता है बातें बेजा ?
नाहक़ क्यों खाता है भेजा ? ॥१३॥

१. पाई—आने का बारहवाँ हिस्सा

उसने कहा जोड़कर हाथ,
हिन्दी के हुजूर ही नाथ।
जो इसका छोड़ेंगे साथ,
तो यह सचमुच हुई अनाथ ॥१४॥

इस पर मुझे दया कुछ आई,
लेखक को फिर हुई ढिठाई।
उसने फिर निज कथा सुनाई;
फिर हिन्दी की गाथा गाई ॥१५॥

हरिश्चंद्र अँगरेजी-ज्ञाता,
हो कर हरिश्चंद्र से दाता।
बने मातृ-भाषा के त्राता;
भूले कभी न हिन्दी-नाता ॥१६॥

थे आचार्य अम्बिका दत्त,
हो सकते थे तुम से मत्त।
कभी न उनका भड़का पित्त,
रहा सदा हिन्दी में चित्त ॥१७॥

बंकिमचंद्र सिशन के थे जज,
तुम-से हैं जिनके पद की रज।
बंगाली की है जो सजधज,
वह है उसी वीर का कारज ॥१८॥

इस पर हुआ मुझे फिर क्रोध;
लेखक ने फिर किया प्रबोध।
देख सत्य उसका अनुरोध,
काट न कुछ कर सका विरोध ॥१९॥

फिर उसने निज धुन आलापी;
खबर पुरानी फिर से छापी।
जिसे न भाषा-माया व्यापी,
है जग हैं वह पूरा पापी ॥२०॥

विष्णू कृष्ण और आगरकर,
अंगरेजी के पूर्ण प्रोफेसर।
भरते ही रहो मरहटी का घर,
लिख-लिख लाखों लेख मनोहर ॥२१॥

अच्छे - अच्छे हिन्दुस्तानी,
अब भी लिखते हैं निज बानी।
केवल तुम-से कुछ अभिमानी,
किया करें हैं आनाकानी ॥२२॥

हुआ बोलना हिन्दी सही,
मानो पीना खट्टा मही;
लोक-लाज भी जब सब बही,
तब बी० ए० महिमा क्या रही ॥२३॥

कड़वी ये बातें लेखक की,
सुनकर मेरी छाती धड़की;
गर्मी भी भेजे से सरकी;
भाषा-रुचि मन में कुछ खरकी ॥२४॥

लेखक ने तब किया प्रणाम,
जाने लगा बताकर नाम।
मैंने उससे कहा सलाम!
सोचूंगा अब मैं यह काम ॥२५॥

गया एक दिन साहिब के घर,
बोला मैं निज शीश झुकाकर।
हे हुजूर! हे गुर्बा-परवर!
क्या हिन्दी लिखने में है डर? २६॥

साहिब हँसकर बोले, वाह!
पूछी तुमने खूब सलाह!
अजी, जहाँ होती है चाह,
वहाँ निकल आती है राह ॥२७॥

सब लिखते हैं अपनी बोली—
राजा, बाबू और तँबोली।
लिखना गुण है, नहीं ठठोली,
क़लम देख डरती है गोली ।।२८॥

पर लिखना निर्दोष निबंध,
जिनमें हो न जोश की गंध।
सबसे अच्छा छन्द प्रबन्ध,
या नटवर का दशम-स्कंध ॥२९॥

'सरस्वती' जो मासिक पुस्तक,
उसमें लिखते हैं एम० ए० तक।
राजनीति की उसे नहीं झक,
लिखो उसी में तुम भी निधड़क ॥३०॥

सुनकर हुई साहबी सम्मति,
साँप छछूंदर की भाई गति।
स्वारथ यहाँ वहाँ भाषा रति,
हाय दिशा दोनों में दुर्गति ! ३१॥

घर में आकर किया विचार,
कैसे हो यह बेड़ा पार।
इधर कुआं-सा निज संसार,
खाई उधर देश-उपकार ! ३२ ॥

'सरस्वती' का अंक मँगाकर,
बाँचा उसका अक्षर-अक्षर।
जज वकील व्यापारी टीचर[1],
सबके पाये लेख मनोहर ! ३३ ॥

दुबिधा दुर्गम देख हमारी,
बोली आकर मेरी प्यारी।
किस निमित्त है यह तैयारी,
हुई कौन-सी चिंता भारी ? ३४ ॥

उसे सुनाया सब वृत्तांत,
जिससे हुआ चित्त कुछ शांत।
बोली वह प्रिय वचन नितांत,
इसकी क्या चिंता है कांत ! ३५ ॥

लेकर आप चार-छः लेख,
देवें खींच बाहरी रेख।
मैं रच दूंगी पूरा भेष,
पीछे आप लीजियो देख ॥ ३६ ॥

सुन प्यारी के प्यारे बैन,
भींजे प्रेम-बारि से नैन।
मन अधीर ने पाया चैन,
हुआ शान्ति-सुषमा का ऐन ॥ ३७ ॥

---

१. टीचर—अध्यापक

फैली मन में जोत नवीन;
विकस उठ झट हृदय मलीन।
दुष्ट विचार दुरे प्राचीन;
रही ज़रा भी मेष न मीन ॥ ३८ ॥

'गुण-कृत सन्निपात नहिं केही,
को न मान मद व्यापेउ जेही।
यौवन-ज्वर केहि नहिं बलकावा,
ममता केहिकर यश न नसावा ॥' ३९ ॥

'सरस्वती' के प्रिय सम्पादक !
वाणी के अनन्य आराधक !
मुझे समझिए अपना भाई;
अब है बुद्धि ठिकाने आई ॥ ४० ॥

[प्रथम प्रकाशन : सरस्वती : नवम्बर, १९०७ ई०]

प्राकृत के कुछ सुभाषित

[श्वेताम्बर जैन कवि जयवल्लभ ने 'वज्जालग्ग' नामक एक बहुत बड़ा सुभाषित संग्रह रचा है। उसमें बहु-कवियों की रचित गाथाओं में से भली-भली चुनकर इकट्ठी की हैं। कवि का यह दावा है कि—

शृंगार युत, रसीली, कामिनी-मन-भाविनी, मिठास-भरी।
प्राकृत कविता रहते संस्कृत को कौन है पढ़ता ?

मैं उन गाथाओं का मिलते हुए आर्या या गीति छन्दों में अनुवाद कर रहा हूं। मेरे पास एक हस्तलिखित प्रति थी। अनुवाद जहां तक बन पड़ा मूल प्राकृत से किया गया है, संस्कृत-छाया का अनुसरण कहीं-कहीं ही किया है। भाषा, भाव, श्लेष आदि को निभाने का यत्न किया गया है। एक जर्मन विद्वान का सम्पादन किया हुआ मूल, संस्कृत-छाया सहित, 'बिब्लोथिका इंडिका' में भी छपने लगा है। उसकी संस्कृत-छाया, दोष-रहित नहीं है। आज उसी 'वज्जालग्ग' की कुछ गाथाओं के नमूने 'सरस्वती' के पाठकों को भेंट किए जाते हैं। कहीं-कहीं टिप्पणी भी दिए देता हूँ।—गुलेरी।][1]

१. गुलेरीजी की इस टिप्पणी के संदर्भ में यह भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है कि इन 'प्राकृत के कुछ सुभाषित' के उपजीव्य संस्कृत तथा प्राकृत के काव्यांश क्या हैं ! इसी उद्देश्य से यहां पाद-टिप्पणियों में उन्हें—'वज्जालग्गम्' : सम्पादक प्रो० एम० वी० पटवर्द्धन; प्राकृत टैक्स्ट सोसाइटी, अहमदाबाद-९, संस्करण : १९६९ से उद्धृत किया जाता है।—सम्पादक

(१)

मोती जैसी कविता, स्वभाव विमला, सुवर्ण जटिता, तब
खिलती है जब पड़ती श्रोता के कर्ण छिद्रों में ॥ ८ ॥[१]

(२)

आपस में राग-भरी, सालंकारा, सलक्षणा रसिका।
क्या गाथा क्या रमणी, दुख देती है न आने से ॥ १० ॥[२]
(टिप्पणी : गाथा—आना=स्मरण होना। (दूसरे पक्ष में आना=पास आना)

(३)

साँठे की-सी पोरी, कुचली निर्दय गँवार दाँतों से।
गाथा ! तू टूटेगी, या लघुता बिबस पावेगी ॥ १६ ॥[३]

(४)

गाथा का, गीतों का, वीणा-ध्वनि का, सरस महिला का।
जो लोग रस न जानें दण्ड उन्हींको वही समझो ॥ १७ ॥[४]

---

१. प्राकृत १. मुत्ताहलं व कव्वं सहावविमलं सुवण्णसंघडियं।
सोयारकण्णकुहरम्मि पयडियं पाडयं होइ ॥ ८ ॥
संस्कृत मुक्ताफलमिव काव्यं स्वभाव विमलं सुवर्ण संघटितम्।
श्रोतृकर्ण कुहरे प्रपतितं (प्रकटितं) प्रकटं भवति ॥

२. प्राकृत सालकाराहि सलक्खणाहि अन्नन्नरायरसियाहिं।
गाहाहि पणइणीहि य खिज्जइ चित्तं अइंतीहिं ॥१०॥
संस्कृत सालंकाराभिः सलक्षणाभिरन्यान्यरागरसिता (का) भिः।
गाथाभिः प्रणयिनीभिश्च खिद्यते चित्तमनागच्छन्तीभिः ॥

३. प्राकृत गाहे भज्जिहिसि तुमं अहवा लहुयत्तणं वि पाविहिसि।
गामारदंतदिढकढिणपीडिया उच्छुलट्ठि व्व ॥१६॥
संस्कृत गाथे भङ्क्ष्यसे त्वमथवा लघुत्वमपि प्राप्स्यसि।
ग्रामीणदन्तदृढकठिन पीडिता इक्षुयष्टिरिव ॥१६॥

४. प्राकृत गाहाणं गीयाणं तंतीसद्दाण पोढमहिलाणं।
ताणं चिय सो दंडो जे ताण रसं न याणंति ॥१७॥
संस्कृत गाथानां गीतानां तन्त्रीशब्दानां प्रौढमहिलानाम्।
तेषामेव स दण्डो ये तेषां रसं न याणन्ति ॥१७॥

(५)

मन्दर-गिरि-सम चिन्ता की मथनी से, अथाह सागर-सा ।
कवि-मन विपुल मथित हो, उपजाता काव्य-रत्नों को ॥ १९ ॥[1]

(६)

अपशब्द शब्द पै डर, पद पद पर होय कुछ न कुछ चिन्तित ।
कष्टों से कवि पावे कविता को, अर्थ के तस्कर ॥ २३ ॥[2]

(७)

भाता दोष दिखाना, कवि-रचना में उसी सृजन का है ।
जो काट कुपद को झट, सुन्दर पद दूसरा धर दे ॥ २६ ॥[3]

(८)

यह कौन काल गर्जन का ? हे कलिकाल, मत्त गजराज !
सज्जन-सिंह-पदों की, पृथ्वी पर हैं अभी लगी छापें ॥ ४३ ॥[4]

---

१. प्राकृत चिंतामंदरमंथाणमंथिए वित्थरम्मि अत्थाहे ।
उप्पज्जंति कईहियय सायरे कव्वरयणाइं ॥१९॥

संस्कृत चिन्तामन्दरमन्थानमथिते विस्तृतेऽस्ताघे ।
उत्पद्यन्ते कविहृदयसागरे काव्यरत्नानि ॥१९॥

२. प्राकृत सद्दावसद्दभीरू पए पए किं पि किं पि चिंतंतो ।
दुक्खेहि कह वि पावइ चोरो अत्थं कई कव्वं ॥२३॥

संस्कृत शब्दापशब्दभीरुः पदे पदे किमपि किमपि चिन्तयन् ।
दुःखैः कथमणि प्राप्नोति चोरोऽर्थं कवि काव्यम् ॥२३॥

३. प्राकृत सो सोहइ दूसंतो कइयणरइयाइ विविहकव्वाइं ।
जो भजिऊण अवयं अन्नपयं सुंदरं देइ ॥२६॥

संस्कृत न शोभते दूषयन् कविजनरचितानि विविध काव्यानि ।
यो भङ्क्त्वा अपदम् अन्यपदं सुन्दरं ददाति ॥२६॥

४. प्राकृत रे रे कलिकालमहागइंद गलगज्जियस्स को कालो ।
अज्ज वि सुपुरिसकेसरिकिसोरचलणंकिया पुहवी ॥४३॥

संस्कृत रे रे कलिकालमहागजेन्द्र गलगर्जितस्य कः कालः ।
अद्यापि सुपुरुषकेसरिकिशोरचरणांकिता पृथ्वी वर्तते ॥४३॥

(६)

पर छिद्र लक्ष रक्खे, चितकबरा, घोर, दो जीभवाला।
टेढ़ी चाल चलै, उस खल से या सर्प से कहां सुख हो? ५७॥[१]
[(टिप्पणी : चितकबरे रंग का (दूसरे पक्ष में चितकपटा)]

(१०)

कुल से शील भला है दारिद है रोग से भला, विद्या
राजपद से भली है, क्षमा भली है तपस्या से॥ ८३॥[२]

(११)

औरों की रहने दो, जो अपने पांच भूत तन में हैं।
काम किया तज देवें तो उनसे भी लजाते हैं॥ ९३।[३]

(१२)

मेरु तभी तक ऊंचा, जलनिधि दुस्तर गिना अभी तक है।
कार्य-गति कठिन तभी तक, धीर जभी तक न हथियाते॥ १०३॥[४]

---

१. प्राकृत परविवरलद्धलक्खे चित्तलए भीसणे जमलजीहे।
वंकपरिसक्किरे गोणसे व्व पिसुणे सुहं कत्तो॥५७॥
संस्कृत परविवरलब्धलक्ष्ये चलचित्ते(चित्रले) भीषणे यमलजिह्वे।
वक्रगमनशीले गोनस इव पिशुने सुखं कुतः॥५७॥

२. प्राकृत अप्पहियं कायव्वं जइ सक्कइ परहियं च कायव्वं।
अप्पहियपरहियाणं अप्पहियं चेव कायव्वं॥८३॥
संस्कृत आत्महितं कर्तव्यं यदि शक्यते परहितं च कर्तव्यम्।
आत्महितपरहितयोरात्महितं चैव कर्तव्यम्॥८३॥

३. प्राकृत अच्छउ ता इयरजणो अंगेच्चिय जाइ पंच भूयाइं।
ताहं चिय लज्जिज्जइ पारद्धं परिहरंतेण॥९३॥
संस्कृत आस्तां तावदितरजनोऽङ्ग एव यानि पंच भूतानि।
तेभ्य एवं लज्ज्यते प्रारब्धं परिहरता॥९३॥

४. प्राकृत ता तुंगो मेरुगिरी मयरहरो ताव होइ दुत्तारो।
ता विसमा कज्जगई जाव न धीरा पवज्जंति॥१०३॥
संस्कृत तावत्तुंगो मेरुगिरिर्मकरालयस्तावद्भवति दुस्तरः।
तावद्विषमा कार्यगतिर्यावन्न धीरा प्रपद्यन्ते॥१०३॥

(१३)

तृण-सा मेरु, गगन-तल हाथ-छुआ सा, उदधि क्षुद्र-नदी।
घर के आंगन जैसा स्वर्ग, सदा साहसी जन को।। १०५ ।।[१]

(१४)

रे दैव ! धीर के संग, होड़ाहोड़ी जमायगा जो तू।
ऐसा कलंक होगा, जो धोये से न जावेगा ।। ११२ ।।[२]

(१५)

जो जो शाखा पकड़े, जिस जिसका हाथ धर सहारा ले।
वह चट करती टूटे, यदि होवे दैव प्रतिकूल ।। १२४ ।।[३]

(१६)

परिणाम पूर्व-कर्मों का, यह देखो समुद्र-मंथन में।
हर के हित विष उपजा, स्तन-भर-लचकी रमा हरि के ।। १३१ ।।[४]

---

१. प्राकृत — मेरु तिणं व सग्गो घरंगणं हत्थछित्तं गयणयलं।
वाहलिया य समुद्दा साहसवंताण पुरिसाणं ।।१०५।।

संस्कृत — मेरुस्तृणमिव स्वर्गो गृहांगणं हस्तस्पृष्टं गगनतलम्।
क्षुद्रनद्यः समुद्राः साहसवतां पुरुषाणाम् ।।१०५।।

२. प्राकृत — धीरेण सम समसीसियाइ रे दिव्व आरुहंतस्स।
होहिइ किं पि कलंकं धुव्वंतं जं न फिट्टिहिइ ।।११२।।

संस्कृत — धीरेण समं समशीर्षिकायां रे दैवारोहतः।
भविष्यति कोऽपि कलंको धात्र्यमानो यो न यास्यति ।।११२।।

३. प्राकृत — जं जं डालं लंबइ हत्थे गहिऊण वीसमई जत्थ।
सा सा तडत्ति तुट्टइ नरस्स दिव्वे पराहुत्ते ।।११४।।

संस्कृत — यां यां शाखा लम्बते हस्ते गृहीत्वा विश्राम्यति यस्याम्।
सा सा तटदिति त्र्युट्यति नरस्य दैवे पराग्भूते ।।१२४।।

४. प्राकृत — वेण्णि वि महणारंभे पेच्छह जं पुव्वकम्मपरिणामो।
उप्पज्जइ हरह विसं कण्हस्स घणत्थणा लच्छी ।।१३१।।

संस्कृत — द्वे अपि मथनारम्भे प्रेक्षध्वं यत् पूर्वकर्मपरिणामः।
उत्पद्यते हरस्य विषं कृष्णस्य घनस्तनी लक्ष्मीः ।।१३१।।

(१७)

लेते समुद्र-जल यत्नों से मेघ श्याम हो जाते।
बरसाने पर धौले, लेते देते निरख यह भेद ॥ १३७ ॥[1]
[टिप्पणी : धौले = श्वेत (दूसरे पक्ष में निर्मल)]

(१८)

धन-वायु के झकोरों के मारे चाल जो चलें टेढ़ी।
यदि सीधे वे हों तो होते दारिद-दवाई से ॥ १४२ ॥[2]

(१९)

सूर्य खिले पर खिलता, सिमटे रवि तो सिकुड़-सा जाता।
दीन-कुटुम्ब विचारा, जाड़े में कमल हो रहता ॥ १४६ ॥[3]

(२०)

'ढलकें स्तन', इस भय से, जनमे ही धाय को दिए जावें।
वे प्रभु नीचे-प्रेमी होवें, यह दूध की गिनो महिमा ॥ १४९ ॥[4]

१- प्राकृत किसिणिज्जंति लयंता उयहिजलं जयहरा पयत्तेण।
धवलीहुंति हु देंता देंतलयंततरं पेच्छ ॥ १३७॥
संस्कृत कृष्णीभवन्ति गृह्णन्त उदधिजलं जलधराः प्रयत्नेन।
धवली भवन्ति खलु ददतो ददद्गृह्णद्दन्तरं प्रेक्षस्व ॥ १३७॥

२. प्राकृत जे भग्गा विहवसमीरणेण वंकं ठवंति पयमग्गं।
ते नूणं दालिद्दोसहेण जइ पंजलिज्जंति ॥ १४२॥
संस्कृत ये भग्ना विभवसमीरणेन वक्रं स्थापयन्ति पदमार्गम्।
ते नूनं दारिद्र्यौषधन यदि प्राञ्जलीक्रियन्ते ॥ १४२॥

३. प्राकृत संकुयइ संकुयते वियसइ वियसंतम्भि सूरम्मि।
सिसिरे रोरकुडुंबं पंकयलीलं समुव्वहइ ॥ १४६॥
संस्कृत संकुचति संकुचति विकसति विकसित सूर्ये।
शिशिरे दरिद्रकुटुम्बं पंकजलीलां समुद्वहति ॥ १४६॥

४. प्राकृत जम्मदिणे थणणिवडभएण दिज्जंति धाइउच्छंगे।
पहुणो जं नीयरया मन्ने तं खीरमाहप्पं ॥ १४९॥
संस्कृत जन्मदिने स्तननिपतनभयेन दीयन्ते धात्र्युत्संगे।
प्रभवोयन्नीचरता मन्ये तत्क्षीरमाहात्म्यम् ॥ १४९॥

(२१)

बिरस हुए हो राजन ! अब जावें, आप धर्म में रहना।
चित्र-लिखे हाथी-सा दान कभी आपका नहीं देखा।। १५४।।[१]

[टिप्पणी : 'धर्म में रहना'=जाते समय का आशीर्वाद, जैसे प्रसन्न रहना। दान= देना, (दूसरे पक्ष में) मद।]

(२२)

और सब लेखकों के, कटहल से नाथ ! पास-फल-वाले।
पार्थिव हमने माँगा, तो भी तरु-ताल-से रहे आप ।।१५५।।[२]

(२३)

दे पाँव दाँत पै, रख दूजा सिर पै, धरे कहाँ तीजा ?
यों गज पर भट चढ़ता, बलि-बन्धक विष्णु ज्यों नभ में ।।१७२।।[३]

(२४)

इनकी पंख हवा से प्रभु की मूर्छा हटे, विचार यही।
पास पड़ा, गीधों से, आँतों को वीर नुचवाता ।।१७७।।[४]

---

१. प्राकृत ओलग्गिओ सि धम्मम्मि होज्ज एण्हि नरिंद वच्चामो।
आलिहियकुंजरस्स व तुह पहु दाणं चिय न दिट्ठं ।।१५४।।
संस्कृत अवलग्नोऽसि धर्मे भूया इदानीं नरेन्द्र व्रजामः।
आलिखित कुंजरस्येव तव प्रभो दानमेव न दृष्टम् ।।१५४।।

२. प्राकृत आसन्नफलो फणसो व्व नाह सयलस्स सेवयजणस्स।
अम्हं पुण पत्थिव पत्थिओ वि तालो तुमं जाओ ।।१५५।।
संस्कृत आसन्नफलो पनस इव नाथ सकलस्य सेवक जनस्य।
अस्काकं पुनः पार्थिव प्रार्थितोऽपि तालस्त्वं जातः ।।१५५।।

३. प्राकृत एक्कं दंतम्मि पयं बीयं कुंभम्मि तइयमलहंतो।
बलिबंधविलसियं महुमहस्स आलंबए सुहडो ।।१७२।।
संस्कृत एकं दन्ते पदं द्वितीयं कुम्भे तृतीयमलभमानः।
बलिबन्धविलसितं मधुमथनस्यालम्बते सुभटः ।।१७२।।

४. प्राकृत पक्खाणिलेण पहुणो विरमउ मुच्छ त्ति पासपडिएण।
गिद्धंत कड्ढणं दूसहं पि साहिज्जइ भडेण ।।१७७।।
संस्कृत पक्षानिलेन प्रभोर्विरमतु मूर्छेति पार्श्वपतितेन।
गृध्रान्त्रकर्षणं दुःसहमपि सह्यते भटेन ।।१७७।।

(२५)

जानेगा जब चिकनी फिसलन में, भार से, धँसे पहिया।
भोले पटेल ! यों तो धवलों से विमुख तू रहता ॥१८२॥[1]

[टिप्पणी : धवल = सफेद बलवान् बैल।]

(२६)

काले काले गज के, भीतरिये दाँत, माल नित्य चरें।
विपदा के जो साथी, वे धौले हैं सदा बाहर ॥१५९॥[2]

[टिप्पणी : धौले = श्वेत (दूसरे पक्ष में) निर्मल। भीतरिये = भीतर के (दूसरे पक्ष में) अंतरंग (जैसे कि बड़े मन्दिरों में होते हैं)]

(२७)

हिलते दन्त-मुसल हैं, मद उतरा है, गई जवानी भी।
तो भी सनाथ वन है, यूथाधिप ! आपके बैठे ॥१६०॥[3]

(२८)

चिरकाल के विहारों को करके याद, साँस यों भर ली।
गजपति ने, तृणकौरा, सूखा झट सूँड में लगा जलने ॥१६६॥[4]

१. प्राकृत चिक्कणचिक्खल्लचहुट्टचक्कथक्के भरम्मि जाणिहिसि।
अविसेसन्नय गहवइ परंमुहो जं सि धवलाणं ॥१८२॥
संस्कृत चिक्कणकर्दममग्नचक्रस्थिते भरे ज्ञास्यसि।
अविशेषज्ञ गृहपते पराङ्मुखो यदसि धवलेभ्यः ॥१८२॥

२. प्राकृत भुंजंति कसणडसणा अब्भंतरसंठिया गइंदस्स।
जे उण विहुरसहाया ते धवला बाहिर च्चेव ॥१५९॥
संस्कृत भुंजते कृष्णदशना अभ्यन्तरसंस्थिता गजेन्द्रस्य।
ये पुनर्विधुरसहायास्ते धवला बहिरेव ॥१५९॥

३. प्राकृत वियलियमएण गयजोव्वणेण हल्लंतदंतमुसलेण।
अज्ज वि वणं सणाहं जूहाहिव पइ जियंतेण ॥१६०॥
संस्कृत विगलितमदेन गतयौवनेन चलद्दन्तमुसलेन।
अद्यापि वनं सनाथं यूथाधिप त्वया जीवता ॥१६०॥

४. प्राकृत तह नीससियं जूहाहिवेण चिरविलसियं भरंतेण।
करगहियं तिणकवलं हरियं जह झत्ति पज्जलियं ॥१६६॥
संस्कृत तथा निःश्वसितं यूथाधिपेन चिरविलसितं स्मरता।
कर गृहीतं तृणकवलं हरितं यथा झटिति प्रज्वलितम् ॥१६६॥

(२९)

हथिनी-निज-कर सौंपे, कोमल-सेली-कवल सुमरन कर।
यदि गज मरे न तो क्या, दुबला भी वह नहीं होवे ? १९९।।[१]

(३०)

ये पाँच वस्तु छीजें ज्यों ज्यों बढ़ते रोज ब्याधी के।
कटि, पति, धनु, सब छैले वस्ती के, और निज सौतें ।।२०८।।[२]

(३१)

व्याधवधू के स्तन-युग को देती अर्घ हथिनियाँ सब आ।
सुन्दरि ! मिला रँडापा हमको न कृपा तुम्हारी से ।।२११।।[३]

(३२)

दल हैं तो बास नहीं, तो न प्रचुर मकरन्द।
मधुकर एक कुसुम में गुण दो या तीन तो नहीं मिलते ।।२३०।।[४]

---

१. प्राकृत करिणिकरप्पियणवसरससल्लईकवलभोयणं दंती।
जइ न मरइ सुमरंतो ता किं किसिओ वि मा होउ ।।१९९।।

संस्कृत करिणीकरार्पितनवसरससल्लकीकवलभोजनं दन्ती।
यदि न म्रियते स्मरंस्तदा कि कृशितोऽपि मा भवतु ।।१९९।।

२. प्राकृत जह जह वड्ढंति थणा तह तह झिज्जंति पंच वत्थूणि।
मज्झं पइ कोयंडं पल्लिजुवाणा सवत्तीओ ।।२०८।।

संस्कृत यथा यथा वर्धते स्तनौ रथा रथा क्षीयन्ते पंच वस्तूनि।
मध्यं पतिः कोदण्डः पल्लियुवानः सपत्न्यः ।।२०८।।

३. प्राकृत दिन्नं थणाण अग्घं करिणीजूहेण वाहवहुयाए।
रंडत्तणं न पत्तं हे सुंदरि तुह पसाएण ।।२११।।

संस्कृत दत्तः स्तनयोरर्धः करिणीयूथेन व्याधवध्वाः।
रण्डात्वं न प्राप्तं हे सुन्दरि तव प्रसादेन ।।२११।।

४. प्राकृत मडहं मालइकलियं महुयर दट्ठूण किं पराहुत्तो।
एत्तो पंसरइ भुवणंतराइ गंधो वियंभंतो ।।२३०।।

संस्कृत लघ्वीं मालतीकलिकां मधुकर दृष्ट्वा किं पराङ्मुखः।
इतः प्रसरति भुवनान्तराणि गन्धो विजृम्भमाणः ।।२३०।।

(३३)

गुणविरहित फूलों ने 'भ्रमर भ्रमर' है कलंक यह थोपा।
रस-निपुण मालती को पाकर देखें भ्रमर तो, भ्रम ले ॥२४७॥[1]

[टिप्पणी : भ्रम ले=भटक ले, घूम ले।]

(३४)

चित-काँटे पै तौलें जग को, फिर जोख नयन-पलड़ों से।
काम करें, उन बनिये-चतुरों की काट कौन कर सकता? २७७॥[2]

(३५)

पंचम गाना सुनते, वृष-वाहन-देव पूजते निसदिन।
मन-भावन से रमते, जग में है सार इतना ही ॥२९०॥[3]

[प्रथम प्रकाशन : सरस्वती : दिसम्बर, १९१९ ई०]

सुनीति[4]

निज गौरव को जान आत्मआदर का करना,
निजता की पहिचान, आत्मसंयम पर चलना।

---

१. प्राकृत भमरो भमरो त्ति गुणोज्झिएहि कुसुमेहि लाइओ दोसो।
लहिऊण मालइं पुण सो निउणो भमउ जइ भमइ ॥२४७॥
संस्कृत भ्रमरो भ्रमर इति गुणोज्झितैः कुसुमैरारोपितो दोषः।
लब्ध्वा मालतीं पुनः स निपुणो भ्रमतु यदि भ्रमति ॥२४७॥

२. प्राकृत दिट्ठीतुलाइ भुवणं तुलंति जे चित्तचेलए निहियं।
को ताण छेयवाणिज्जयाण भण खंडणं कुणइ ॥२७७॥
संस्कृत दृष्टितुलया भुवनं तुलयन्ति ये चित्ततुलापात्रे निहितम्।
करतेषां छेकवणिजां भण खण्डनं करोति ॥२७७॥

३. प्राकृत सुम्मइपंचमगेयं पुज्जिज्जइ वसहवाहणो देवो।
हियइच्छिओ रमिज्जइ संसारे इत्तियं सारं ॥२९०॥
संस्कृत श्रूयते पंचमगेयं पूज्यते वृषभवाहनो देवः।
हृदयेप्सितो रम्यते संसार एतावत्सारम् ॥२९०॥

4. Self-reverence, self-konwledge, self-control,
These three alone lead life to sovereign power.
Yet not for power, (power of herself would come uncalled for), but to live by law.
Acting the law we live by without fear.
And because right is right, to follow right.
Were wisdom in the scorn of consequence.

ये ही तीनों उच्चशक्ति, वैभव दिलवाते,
जीवन किन्तु न डाल शक्ति वैभव के खाते।
(आ जाते ये सदा आप ही बिना बुलाए।)
चतुराई की परख यही—परिणाम न गिनकर,
जीवन को निःशंक चलाना सत्य धर्म पर,
जो जीवन का मन्त्र उसी पर निर्भय चलना,
उचित उचित है यही मानकर समुचित हि करना,
यों ही परमानंद भले लोगों ने पाए॥

[प्रथम प्रकाशन : पाटलीपुत्र : अक्तूबर, १९१४ ई०]

शिव की व्यापकता[1]

तारक देव महेश है, सबका तारनहार।
तम, सत, रज के रूप में व्यापित है संसार॥

[प्रथम प्रकाशन : कल्याण (शिव अंक) : अगस्त, १९३३ ई०]

१. इस शीर्षक के नीचे कोष्ठक में छपा है—'स्व० चंद्रधर शर्मा गुलेरी, परलोक से।' और फिर दोहे के बाद छपा है—'पं० झाबरमल्ल शर्मा'।

ध्यातव्य है कि पं० झाबरमल्ल शर्मा गुलेरी जी के अनन्य मित्र थे। वह यदा-कदा अपने साहित्यकार मित्रों की आत्माओं का आह्वान किया करते थे। एक बार उन्होंने गुलेरी जी की आत्मा का आह्वान किया तो गुलेरी जी ने यह दोहा भी कहा, जिसे पं० झाबरमल्ल शर्मा ने 'कल्याण' में प्रकाशनार्थ भेजा था।

जीवन चरित

हर्बर्ट स्पेन्सर

विलायत के वैज्ञानिक चूड़ामणि हर्बर्ट स्पेन्सर का 'ज्ञानवात्मां प्रपद्यते' हो गया। उनके विषय में 'राजस्थान समाचार' में अच्छा लिखा गया है। भारतवर्ष, जापान और अमेरिका में उनकी शिक्षा का अधिक प्रभाव पड़ा है। जगत् के बड़े-बड़े शिक्षकों में—कपिल, कणाद, बुद्ध, शंकर प्रभृति के बराबर उनका आसन है। उनके शव का अग्निदाह हुआ और श्यामजी कृष्ण वर्मा ने १००० पाउण्ड देकर उनका स्मारक नियत किया। भूखा भारत कृतज्ञ है। उनके अन्तिम ग्रंथ में 'अनन्तता' का जो वर्णन है, मृत्यु की संदिग्ध भविष्यत् का जो चित्र है, वह बड़ा भयानक और रोचक है। मराठी में उनके कई ग्रंथों का अनुवाद हो चुका है। उनके 'Education' का अनुवाद कोई कर दे तो हम छाप देंगे। आगामी संख्या में इस "ज्ञानी त्वात्वमैव मे मतः" के चरित्र और सिद्धांतों का कुछ वर्णन देने की इच्छा है।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : जनवरी-फरवरी, १९०४ ई०]

डाक्टर महेन्द्रलाल सरकार

वैज्ञानिकों और लेखकों में बेन, हर्बट स्पेन्सर, लीकी और लेस्लीस्टेफन को इस वर्ष जगत् खो चुका है। भारतवर्ष से एक ऐसे मनुष्य का भी शोक है जो न केवल वैज्ञानिक ही था, किन्तु जिसके जीवन का परम यत्न इस अर्धशिक्षित देश में विज्ञान का प्रचार रहा। डाक्टर सरकार उस समय के मनुष्य थे, जब असन्तुष्ट बी० ए० से घृणा न थी। इससे उनने उचित सम्मान पाया। उनने विज्ञान की शिक्षा के विस्तार के लिए जो मन्त्रालय स्थापन किया है उसमें उपाधि के लोभियों ने चन्दा नहीं दिया, तो भी वह भारतवर्ष में प्रथम होकर भी जर्मनी के सबसे भद्दे यन्त्रालय से भी भद्दा है। कुछ वर्ष हुए, उनने बड़े हृदय-विदारक स्वर में अपने उद्योग की निष्फलता स्वीकार की थी। गत वर्ष जब विश्वविद्यालय कमीशन के उल्टे प्रस्तावों ने देश को हिला डाला था, उनने यह उद्गार निकाला था—

"मैंने कई बार कहा कि बृटिश राज्य में हम अपने राज्य से स्वतन्त्रता, काम और विचार की स्वाधीनता, अधिक भोग रहे हैं। किन्तु हा ! बृटिश राज्य के सबसे बड़े वर इस स्वतन्त्रता को इस तरह टूटने की धमकी पाते हुए देखने को मैं जीता रहा ! यह कहते मेरा कलेजा फटता है कि कमीशन के प्रस्ताव साधारण शिक्षा की जड़ काटते और विज्ञान की शिक्षा को निरुत्साह देते दिखाई देते हैं।"

भाग्यवान् थे कि कमीशन के यत्नों के फल को देखने के पहले ही वहां चले गए जहां सब विज्ञानों का विज्ञेय विराजता है और जहां की वैज्ञानिक शिक्षा को कोई नहीं धमका सकता। डाक्टर प्रफुल्लचन्द्र राय और जगदीश वसु को उनका चोगा उठाकर साइन्टिफिक एसोसिएशन को पूरा बनाने का यत्न करना चाहिए।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : मार्च-अप्रैल, १९०४ ई०]

हाहा ताता !!!

चार वर्ष हुए, जयपुर म्यूज़ियम में एक हँसमुख शान्तमूर्ति तेजोमय महापुरुष को देखकर जो स्वाभाविक भक्ति हुई थी, वह यह जानकर कई गुनी बढ़ी थी, कि यह 'मङ्गल्या-मनोहरा' मूर्ति ऐतिहासिक उदारता के आधार 'ताता महाशय' की ही है जो प्रिन्सिपल मैकमिलन के साथ, वायसराय के बुलाए, शिमले जा रहे हैं जहां उनके प्रस्तोष्यमाण गवेषणाविद्यालय के नियम बनाए जा रहे हैं। आज यह कहते हमारी जिह्वा के शत-शत खण्ड होते हैं कि वह स्वदेशशिल्पों के तात, देशी व्यापार के तात, और विदेशशिक्षित नवयुवकों के तात जमशेदजी नौशेरवांजी ताता जर्मनी में स्वर्गवासी हो गए ! न मालूम किस कर्म के घोर विपाक से जगमङ्गल महात्मा का अनिष्ट सुनना और सुनाना पड़ा ! निज भुजोपार्जित तीस लाख रुपये की प्रशस्त सम्पत्ति को जिस दानवीर ने भारतवर्ष भर की वैज्ञानिक उन्नति के लिए, गवेषणाविद्यालय के लिए, सन्तानों के होते भी संकल्प किया था, वह अब नहीं है। सदा सावधान बृटिश गवर्मेन्ट के सिवाय इतना चतुर और कौन होता जो छै-छै वर्ष पर्यन्त नियमों की खटाई में इस दान के गहने को पड़ा रहने देता, और एक लौकिक कहावत का पात्र बनता कि 'दान के घोड़े के दाँत नहीं देखने चाहिए ?' ताता की स्वदेशी वस्त्रों की मिलें स्वतन्त्र हैं, उनका बम्बई का होटल प्रशस्त है और यदि जगदीश्वर उस कर्मवीर को आयु देता तो वह अपने इस अभिमान को सत्य कर दिखाता कि उनके मध्यप्रदेश के कारखाने के चल जाने पर भारतवर्ष को लोहे की एक सूई भी विदेश से न लेनी होगी। गवेषणाविद्यालय को वे मूर्तिमान् न देख सके और यदि वे दानपत्र न कर गए हों, तो न मालूम हमें उसके न खुलने के लिए दैव, ताता, उनके वंशज, सरकार, या अपने भाग्य किसका ऋणी रहना पड़ेगा। अस्तु,

यत्रानन्दाश्च मोदाश्च यत्र पुण्याभिसम्भवाः।
वैराज्ञा नाम ते लोकाः शाश्वताः सन्तु ते शुभाः॥

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : मई, १९०४ ई०]

आचार्य सत्यव्रत सामश्रमी

असमसाहससुव्यवसायिनः
सकललोकचमत्कृतिकारिणः ।
यदि भवन्ति न वांछितसिद्धयो
हतविधेरयशो न मनस्विनः ।। (शंकुकस्य)

यदि भारतवर्ष का अँगरेज़ी राज्य, बृटिश सेनापतियों की वीरता, हिन्दुस्थानी सिपाहियों की तलवार, पहले शासकों के अन्यायों से दुःखी भारतवासियों की सहानुभूति—इन तीन कारणों से भारतवर्ष में जम सका है तो सर्वत्र व्याप्त और पूरी तरह दृढ़ होने में एक चौथा कारण बंगाली क्लर्कों और कासिदों की योग्यता भी है। जान कंपनी और उसके पीछे ईस्ट इंडिया कम्पनी की जो कुछ सफलता हुई है उसका एक बड़ा भारी अंश बंगालियों का किया हुआ है। उस समय प्रत्येक अँगरेज अफसर अथवा व्यापारी का दहना हाथ एक बंगाली भद्रलोक होता था जो छाया की तरह उसके साथ-साथ देश के कोने में अपने उदरपोषण के अतिरिक्त बृटिश राज्य की दृढ़ता सम्पादन करता था। पटना में एक ऐसे ही रामबाबू थे जिन्होंने प्रतिष्ठा के साथ सरकार की उच्च नौकरी की थी। गदर के दिनों में उन्हें अपनी स्वामिभक्ति के कारण बड़े क्लेश उठाने पड़े थे, बागियों ने उन्हें बहुत सताया था। पेंशन लेकर वृद्धावस्था में वे पुराने ढंग के बंगालियों की तरह काशीवास करने को चले आये और अनाथनाथ भगवान् विश्वनाथ और भगवती जगत्पावनी गंगा की शरण में अपना जन्म व्यतीत करने लगे। उनका ललाट विशाल था, बर्फ की-सी श्वेत लम्बी दाढ़ी थी, हिंदी बोलने में और वेश-विन्यास में वे कनौजिया पंडित-से दीखते थे, बंगाली किरानी नहीं और उनके साथ दो छोटे बालक थे।

जन्म और नामकरण

रामबाबू आजकल के लेखिनीप्राण बाबुओं की तरह साहब की सालाना रिपोर्ट को ही इस लोक और परलोक का परम पुरुषार्थ मानने वाले नहीं थे। ब्राह्मण का धर्मप्रेम, धर्मप्राण हिन्दू का स्वजाति प्रेम और आदर्शवित् पण्डित का उच्च अभिलाष उनके हृदय में जागता था। स्वयं राजभाषा पढ़कर अगर्हित वृत्ति से धन सम्पादन करने के लिए बाध्य होने पर भी उनके हृदय में यह अनुपात ही रहा कि अहो ! मैंने ब्राह्मणोचित वेदों का निष्काम अध्ययन अध्यापन नहीं किया। जब वे अपनी प्रियभूमि बंगदेश की दुरवस्था देखते तब उनके उष्ण निःश्वास निकल आते। वे देखते कि बंगदेश में एक साथ वेदाभ्यास उच्छिन्न हो गया है। वेदों के प्रधान अंग व्याकरण का भी पाणिनीय नय से पठन-पाठन उत्पन्न हो गया है। लोग कामधेनु के रहते हुए ऊंटनी को दुहते हैं; पाणिनि के घण्टापथ राजपथ को छोड़कर मुग्धबोध, कातन्त्र और कलाप के आपातरमणीय मार्ग का अनुसरण कर रहे हैं। वर्णाश्रम धर्मरूपी फलफूल के मूल वेद को लोग भूल गये हैं; देश भर में नव्य न्याय की अकर्मक काकभाषा और तान्त्रिक धर्म फैला

हुआ है। मीमांसा तथा स्मृतियों का स्थान कल्पित निबन्धों ने ले लिया है और अद्वैत वेदांत के शुद्धश्वेत मार्ग पर मेघवर्ण नववैष्णव धर्म की कुज्झटिका फैल रही है। प्राचीन पितरों की तरह उसने प्रार्थना की कि 'अपि नः सकुले जायात्' हमारे कुल में वह जन्मे जो बंगदेश में फिर पाणिनीयव्याकरण और वेद का प्रचार करे। फिर श्रवणमधुर सामगान से और शिवताण्डव के सूत्रों से बंगदेश का 'हुं फट्' और घटत्वावच्छिन्न से सठियाया हुआ कान जगाया जाय। सन्तान न होने से उसने पक्व अवस्था में भी दूसरा विवाह किया, जिससे सन् १८४६ में एक पुत्र हुआ। उसका नाम उन्होंने कालिदास रखा।

डाकिये ने लाकर हाथ में 'सुधाकर' पत्र दिया और पंडित कृपालुदत्त जी के पुत्र का नाम 'सुधाकर हो गया। बालक कालिदास ने एक दिन पिता के बाग में आम तोड़कर खाया और बन्दर और बालक में साधारण चंचलता होने के कारण फूलों को मरोड़ डाला। पिता ने नौकर का दोष समझकर उसे खूब पीटा और निकाल दिया। पुत्र यह सुनते ही पिता के पास गया और आँखों में आँसू भर अपना दोष स्वीकार करता हुआ भृत्य को निर्दोषिता सिद्ध करने लगा। इस सत्यप्रेम को देखकर पिता ने पुत्र का नाम सत्यव्रत रख दिया। उसी दिन पिता के हृदय में यह बात आ गई कि यह सत्यव्रत वास्तव में वेद-विद्या का अधिकारी है। उपनिषदों में एक सत्यकाम जाबाल की कथा लिखी है। उसने अपनी माता से पूछा कि मैं ब्रह्मचर्य लेकर, गुरु के पास जाकर वेद पढ़ूंगा, मुझे बता दे कि मैं किस गोत्र का हूँ। माता ने कहा कि यह तो मैं नहीं जानती। जवानी में मैं बहुत इधर-उधर फिरी, तभी तू जन्मा था, मैं जबाला हूँ और तेरा नाम सत्यकाम है इससे तू जाबाल गोत्र सत्यकाम हुआ। और कोई बालक अपनी माता की लज्जा को छिपाना चाहता किन्तु वेद-विज्ञानप्रेमी सत्यप्राण सत्यकाम ने हारिद्रुमत गौतम के पूछने पर सब सच सच कह दिया। गुरु ने भी कहा कि 'ब्राह्मण भिन्न कोई इतनी निर्भयता से नहीं कह सकता, आ, तुझे मैं सिखलाऊँगा, क्योंकि तू सत्य से नहीं डिगा।' अमेरिका के संयुक्त राज्य के स्थापक जार्ज वाशिंगटन ने एक कुल्हाड़ी से अपने पिता के प्रिय चेरी-वृक्ष को काट डाला था। पिता को दुःखी देखकर उसने सत्य कह दिया। पिता ने कहा कि मेरा पुत्र झूठ बोले, इसकी अपेक्षा मैं यह कह सकता हूँ कि ऐसे ऐसे हजार वृक्ष कट जायँ। सत्यव्रत के छोटे भाई का नाम ब्रह्मव्रत रक्खा गया। काशी आने पर पिता ने उनके पठन-पाठन का क्रम चलाया। काशी सदा से हिन्दू-सभ्यता का विद्यापीठ चला आया है परन्तु उन दिनों काशी और ही कुछ हो रही थी। वहाँ ऐसे बड़े-बड़े ग्रह नक्षत्र प्रकाशित थे जिनका-सा आलोक कभी काशी के आकाश में नहीं हुआ होगा। जिन आँखों ने काशी का वह प्रकाश देखा है या जिन कानों ने काशी का वह घोष सुना है उन्हें आजकल की काशी कैसे दिखाई देती होगी? एक लेखक लिख गया है—"परन्तु काशी! तेरे में बड़ी भारी एकदेशिता है; यह विद्या और धर्म का स्रोत तेरे में अखण्ड होने पर भी खण्डित है, नित्य होकर भी नश्वर है। बंगाल और मिथिला में ऐसे बहुत पंडित-कुटुम्ब मिलेंगे जिनमें पन्द्रह-बीस पीढ़ियों से, परम्परा से, शास्त्रों के पारदर्शी पंडित होते आये हैं। काशी की प्राचीनता से यदि हम यह नहीं पूछ सकते कि

गौतम बुद्ध से शास्त्रार्थ करने वाले पंडितों के वंशधर तो बता, तो नहीं सही; यदि हम काशिकाकार के उत्तराधिकारियों को नहीं पा सकते तो नहीं सही, यदि भट्टी जी दीक्षित और नागो जी दीक्षित के जन्म वंशधरों को विद्यावंशधर नहीं पाते तो नहीं सही, परन्तु यहाँ तो एक वंश में तीन या दो पीढ़ी भी पंडितों को नहीं मिलतीं। यहाँ की कहावत है कि—"काश्यां त्रैपुरुषी विद्या काश्यां त्रैपुरुषं धनम्" अर्थात् काशी में विद्या और धन तीन पुश्त तक रहता है। यहाँ पढ़कर जो कोई पंडित हुआ, या तो वह कहीं राजाश्रय में चला गया अथवा कोई पंडित राजाश्रय पाकर अपने बार्द्धक्य को बिताने यहाँ आया। यहाँ पर 'पंडित-पुत्र' एक मूर्खवाचक गाली है; फिर नये पंडित हुए, फिर चले गये!"

उस समय पूज्यपाद पंडित गौड़ स्वामी जी महाराज ने काशी में वह व्याकरण, मीमांसा और वेदांत का स्रोत बहाया था जो देश-देशान्तरों को आप्यायित करने वाला था। जैसे चुम्बक पर लोहा खिंच आता है, वैसे देशदेशान्तर के पुराने जन्मों के संस्कारी लोग वहाँ खिंचकर आ रहे थे। जब आचार्य स्वामी एक हाथ में दण्ड और दूसरे में पुस्तक के पत्रे लेकर भिक्षा को निकलते, तब सात सौ, आठ सौ पंडित विद्यार्थी उनका अनुसरण करते। स्वामी विश्वरूप जी और स्वामी विशुद्धानन्द जी (जो क्रमशः गौड़ स्वामी जी की गद्दी पर बैठे), जम्मू के पंडित गोकुलचंद्र जी, भाष्यवाले ब्रह्मचारी पंडित विभवराम जी (अपने विद्वान् पुत्र पं० रामभज जी और विद्वान् पुत्र तुल्य शिष्य शिवराम जी के साथ पण्डित श्रीधर और पंडित हरजसराय जी, पं० शिवकृष्ण वेदांत सरस्वती थे और कई ऐसे विद्वान् बन चुके थे और बन रहे थे। उधर पंडित वस्तीरामजी, पंडित काशीनाथ शास्त्री, पं० राजाराम शास्त्री (और पीछे से पंडित बाल शास्त्री), पंडित विट्ठल शास्त्री और पंडित बेचनराम त्रिपाठी ने 'काशी क्वीन्स कालेज' को यह गौरव दे रखा था जिससे यह नया विद्यापीठ भी अति माननीय हो गया था। वहीं पर पं० राधामोहन भट्टाचार्य के-से नैयायिक और पं० नन्दराम गुजराती के-से वैदिक काशी को पवित्र कर रहे थे। उस समय में पंडित सत्यव्रत भी विद्यार्थी रहकर पंडित हुए। स्वामी विश्वरूप जी से उन्होंने भाष्यांत पाणिनीय व्याकरण पढ़ा और मीमांसा का अनुशीलन किया। पं० नंदराम गुजराती से उन्होंने सामगान-पूर्ण सामवेद का अध्ययन किया। सत्यव्रत ने सामश्रमी की उपाधि पाई और उनके भाई ने सामाध्यामी की। यों श्रुतियों से कंठों को और हृदय को पवित्र करके उन्होंने अपने पिता की आदर्श अभिलाषा का एक अंश पूरा किया। पिता की कामना थी कि मेरा पुत्र अद्वितीय वैयाकरण और सामग हो। सो पं० तारानाथ तर्कवाचस्पति के पीछे बंगदेश में इतना बड़ा पाणिनीय वैयाकरण नहीं हुआ। बंगाली होकर भी वह वैदिक हुआ। प्राचीन पंडित होकर भी वह वैदिक हुआ। प्राचीन पंडित होकर भी वह विचारों वाला, खोज की खुजलाहटवाला और इतिहास का सहायक हुआ। मौखिक विद्या पढ़कर भी वह सुपरिष्कृत संस्कृत लिखने वाला हुआ और सदा प्राचीन और अति प्राचीन शास्त्रों का अनुशीलन करते रहने पर भी वह निर्भयता से स्वतंत्र मत प्रकाशित करने वाला हुआ।

काशी में व्यवसाय

पण्डित सत्यव्रत की अब वह तण्डुलप्रस्थ की चिन्ता हुई जिससे कहा जाता है कि बुद्धिमानों की बुद्धि वसंत की हवा से मारी गई शिशिर की श्री की तरह भाग जाती है। सामश्रमी और पंडितों की तरह, विद्यार्थियों को व्याकरण और वेद पढ़ाने लगे। परन्तु संस्कृत विद्या का प्राचीन श्रेणी का कोई भी पाठक विद्यार्थियों से नियमित फीस नहीं लेता, मोल लेकर पढ़ाना एक पाप है। किसी राजा से वेतन लेकर पढ़ाने को 'भृतकाध्यापन' समझकर काशी के पंडित गर्हा दृष्टि से देखते थे, परन्तु क्वीन्स कालेज की तनखवाहों और डाक्टर बालन्टाइन के सत्कार ने उस आग्रह को हटा दिया था परन्तु सामश्रमी के लिए वह द्वार भी खुला न था। कारण जब सरकार ने संस्कृत विद्या के प्रचार के लिए क्वीन्स कालेज खोला तब पादरियों ने शोर मचाया था कि क्रस्तान सरकार हीदन (=अधर्मी) हिन्दुओं के धर्म का प्रचार न करे, इसी से क्वीन्स कालेज में व्याकरण, न्याय आदि के पाठन का प्रबंध होने पर भी वेद और मीमांसा की गद्दियाँ नहीं स्थापित हुईं। काशी का अभाग्य और भारतवर्ष की गवर्नमेंट का अभाग्य। नहीं तो कोई बाल शास्त्री या कोई बापूदेव वेदों का भी निकल आता और जो खोजें जर्मनी में हुई हैं, वे काशी में होतीं! और न वह ही समय आता जब एक वेदपाठी गुजराती संन्यासी काशी के पंडितों की ख सूचि बनाकर छोड़ जाता जैसाकि आगे लिखा जायगा। पंडित सामश्रमी शास्त्रार्थों में, राजदरबारों में, सभाओं में जाकर सत्कार और दक्षिणा पाने लगे। हरिद्वार आदि के कुम्भ प्रभृति मेलों में भी उन्होंने अपना पाण्डित्य प्रकट किया। नवद्वीप में जाकर उन्होंने एक समय ऐसा पाण्डित्यपूर्ण शास्त्रार्थ किया कि उससे मुग्ध होकर एक वृद्ध पंडित ने अपनी एक पोती का पाणिग्रहण सामश्रमी से कर दिया और दूसरी का सामाध्यायी से। यह पुराने वैदिककाल की-सी बात थी। जब 'ब्रह्मोद्य' में जीतने वालों अथवा अच्छे याज्ञिकों को पतिंवराएँ मिला करती थीं।

प्रत्नक्रमनन्दिनी

काशी में रहकर सामश्रमी जी ने इस नाम का एक संस्कृत-मासिक पत्र निकाला जिसने उनकी निर्भय गवेषणा और प्रौढ़ प्रजा को भारतवर्ष और योरप में प्रसिद्ध कर दिया। उन दिनों ग्रिफिथाचार्य ने जो बालन्टाइनाचार्य की जगह क्वीन्स कालेज के प्रिंसिपल होकर आये थे, काशी के पंडित-मण्डल रूप समुद्र से एक पत्र 'काशी विद्या सुधानिधि' निकाला जिसका प्रसिद्ध नाम 'दी पडित' है। इसमें संस्कृत तथा अंग्रेजी में प्राचीन अलभ्य ग्रंथों के मूल, अनुवाद, टीका-टिप्पणी, खण्डन-मण्डन छपते थे। पीछे केवल ग्रंथ छपना ही रह गया। गाफाचार्य, ग्रिफिथाचार्य, थीबोचार्य और प्रथम प्रकाशक लाजरस साहब के पुत्र वेनिसम्वार्य—सबने क्रम से इस पत्र को निबाहा। अब दो वर्ष से वह सिसक रहा है। जब निकला था तब बड़ी धूम से निकला था। राजा शिवप्रसाद तक ने उसमें संस्कृत में लेख लिखे। परन्तु काशी की प्राचीनता से, अथवा पंडितों की महज शंकित चित्तता से उसमें वह हिम्मतवर गवेषणा नहीं चली जो 'इण्डियन

एन्टिक्वेरी' या जर्मनी के 'इंडिश स्टडियन' में थी। इस अभाव को सत्यव्रत जी की 'प्रत्नक्रमनन्दिनी' अर्थात् पुरानी बातों के शौकीनों को आनंद देने वाली पत्रिका ने पूरा किया। अन्नपूर्णा के पिछवाड़े एक अँधियारे मकान में पंडित जी रहा करते और स्वयं उस पत्र के लेखक, सम्पादक, प्रूफ संशोधक, दफतरी और डाक में छोड़ आने वाले मजदूर तक थे। एक ओर तो श्रीसमृद्ध 'पंडित' और दूसरी ओर नवीन दीन ब्राह्मण की नन्दिनी —परन्तु अर्थ-गौरव नन्दिनी में ही था। आजकल भी जिन हिंदी मासिक पत्रों के सम्पादकों को वर्ष के वर्ष घाटा उठाना पड़ता है वे समझ सकते हैं कि पं० सत्यव्रत को संस्कृत में शोध का पत्र निकालने में कितना लाभ हुआ होगा। परन्तु इससे सामश्रमी को यश मिल गया, क्या विरोधी क्या पक्षपाती सभी की जिह्वा पर उनके पांडित्य का साधुवाद चढ़ गया। इन्हीं दिनों में स्वामी दयानन्द धूमकेतु की तरह काशी में आ पहुँचे और अक्षोभ्य समुद्र की तरह काशी की सतह उनके आने से पेंदे तक हिल गई। लोग विस्मय से आँखें फाड़े हुए रह गये कि स्वामी जहाँ मंत्रमात्र कण्ठ करने वाले वैदिकों से मिलता है, वहाँ उन्हें अपने भाष्यव्यापी व्याकरण के ऊपर स्थित अर्थज्ञान से गूंगा कर देता है, वहाँ वह 'घटोघटः' का तुषकण्डन छोड़कर उन्हें सीधा वैदिक व्याकरण की चकाब्र में गोते खिलाता है। जिन्होंने नव्य व्याकरण में पचीसों वर्ष बिताये थे उन्हें उसने निर्दयता के साथ 'कलमसंज्ञा' में उलझा और जिन्हें सारा 'शतपथ ब्राह्मण' कण्ठ था उन्हें एक शब्द का अर्थ पूछकर चुप कर दिया। वर्तमान महाराज काशीराज के पिता महाराज ईश्वरीप्रसाद नारायण सिंह के सभापतित्व में एक बड़ी भारी सभा हुई जैसी कदाचित् काशी में कभी नहीं हुई थी। स्वामी दयानंद जी का विशेषत्व यह था कि वे वेद को प्रमाण मानते थे, परन्तु अपने किए हुए अर्थों से वेद से वे बातें कहते थे जिन्हें लोग वेद-विरुद्ध समझते थे। सभा में कुछ नहीं हुआ। आर्य सामाजिक तो कहते हैं कि काशी वाले गुण्डों ने ईंटें बरसाईं और ताली पीट दीं और काशीवासी कहते हैं कि स्वामी के हाथ में एक पत्र दिया गया जिसकी पंक्ति का उनसे अर्थ नहीं हुआ। इस सभा का वृत्त पं० सामश्रमी ने अपनी प्रत्नक्रमनन्दिनी में निष्पक्षपात छापा। स्वामी दयानंद के प्रति और उनके वैदिक विज्ञान के प्रति सत्यव्रत जी ने अपने ग्रन्थों में सम्मान दिखाया है परन्तु 'वेद में इतिहास नहीं है, सभी नाम गुणवाचक हैं' इत्यादि उक्तियों का खण्डन किया है।

कलकत्ता

अब सामश्रमी जी पिता के दूसरे उद्देश्य की पूर्ति के लिए कलकत्ते जा बसे और सामविद्यालय खोलकर विद्यार्थियों को पढ़ाने लगे। उन्होंने एक **उषा** नामक वैदिक विषय का संस्कृत-मासिक पत्र निकाला जो अतुलनीय पांडित्य से पूर्ण था। स्वर्गीय राजा राजेन्द्रलाल मित्र के द्वारा उनका एशियाटिक सोसाइटी बंगाल से परिचय हो गया। वहाँ से इनके द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित होने वाले ग्रन्थ सामश्रमी जी के यश ही के केतु नहीं, उनके जीवन-निर्वाह के भी हेतु हुए। पहले उन्होंने चार जिल्दों में सभाष्य सामवेद संहिता का गान सहित संस्करण प्रकाश किया। यह उनका प्रधान कीर्ति-

स्तम्भ है। जैसे ऋग्वेद में आफ्रेक्ट, यजुर्वेद में वेवर तथा अथर्ववेद में ह्विटनी आचार्य माने जाते हैं वैसे ही सामवेद में सत्यव्रत जी इस संस्करण से माने गये। इसके पहले सामवेद का एक साधारण संस्करण 'बेनफे' का छापा हुआ था। सामश्रमी की विशेषता कि उनने गुरुमुख से वे गान पढ़े थे जो परम्परागत होने पर भी पुस्तकों में लिखित न थे और जिनमें जर्मन पंडितों का चंचु-प्रवेश नहीं था। पीछे उनने यास्क के निरुक्त का एक दो टीकाओं वाला सर्वोत्तम संस्करण छापा जिसकी भूमिका निरुक्तालोचन मनन करने योग्य है। इसको तथा उनके सम्पादित 'ऐतरेय ब्राह्मण' की भूमिका ऐतरेयालोचना को पढ़कर प्रकृति मग्न हो जाती है। बारम्बार संदेह होता है कि 'लेखक कोई प्राचीन भाष्यकार है तो ऐसी स्वतंत्र खोज कहाँ से? और नवीन है तो यह प्रसाद-युक्त संदर्भ कहाँ से? क्या कोई अँगरेज संस्कृत लिख रहा है, तो इतनी अभिज्ञता कहाँ से और भारतवर्षीय पंडित है तो यह निर्भयता कहाँ से? उनके एक 'त्रयीचतुष्टय' नामक ग्रन्थ में वेद का परिचय, कुछ चुने हुए सूक्तों का व्याख्यान और बंगभाषानुवाद छपा था जो वैदिक साहित्य की प्रवेशिका का काम देता है। जहाँ प्राचीन विद्वान् हिंदी को 'भाखा' कहकर घृणा करते हैं वहाँ उन्होंने सामवेद संहिता का बंगभाषानुवाद किया। और सभी साम सम्बन्धी बहुत-से ग्रन्थ सम्पादन किये जिनके कारण जब तक साम का पठन-पाठन रहेगा तब तक उनका नाम अमर रहेगा। अब वे 'शतपथ ब्राह्मण' का सभाष्य सम्पादन कर रहे थे। यदि वह उनके हाथ से पूरा नहीं हो गया है तो भारतवर्ष में आज उसका उस रीति से सम्पादन करने वाला कोई नहीं है।

ऐसे उद्भट विद्वान् के विषय में यदि यह कहा जाय कि वे पुरानी लकीर के फकीर नहीं थे तो पाठक को आश्चर्य नहीं होना चाहिए। जहाँ पर मूर्खों का नाम 'देवानां प्रिय' आता है, वहाँ उसका यही अर्थ है कि देवताओं में अधिक भक्ति साधारण बुद्धि वालों की ही होती है। लोकोत्तर प्रतिभा वाले स्वयं ही 'विद्वांसो हि देवः' बन जाते हैं। नाना शास्त्रों का आलोड़न करने वाला सौ डांड वाली नाव की तरह रूढ़ि के लंगर से जकड़ा नहीं रहता, वह भृंग की तरह रूढ़ि और लोकमत की बाँस की नली को फाड़कर निकल जाता है। लोग कहते हैं कि सामश्रमी नास्तिक (=निरीश्वरवादी) वेदान्ती थे। वेद के अनन्त विज्ञान का भंडार मानकर भी वे उसे अपौरुषेय नहीं, किन्तु ऋषि प्रतीत मानते थे। एक समय पुरुषों के बहु पत्नी-विवाह का मण्डन, वे वेद की महिषी, पालागला, ववाना तथा इतर रानियों के प्रमाण से कटके उस पर इतने दृढ़ हो गये कि अपने भाई की पत्नी के लिए उन्होंने सपत्नी ला दी! परन्तु पाणिनीय व्याकरण के साथ वेदार्थ के अध्यापन में उनकी समता बंगाल में कोई नहीं कर सकता था; कदाचित् यह भी कह सकते हैं कि भारतवर्ष में भी विरला ही कोई होगा।

चिराग तले अँधेरा

यद्यपि लक्ष्मी और सरस्वती के स्वाभाविक वैर के कारण सामश्रमी को धन विषय में निश्चिन्तता कभी नहीं हुई तो भी 'कुक्षलधान्यक' ऋषियों के वंशधर सत्यव्रत को इसकी व्यग्रता नहीं थी। कलकत्ते में रहकर और अपने नाम को अमर करने वाले

वेदविद्या के सम्पादन और अध्यापन का काम करके भी उन्होंने गवर्नमेंट से 'महामहोपाध्याय' की उपाधि नहीं पाई जो कभी-कभी साधारण योग्यता वालों को मिल गई है, इसका भी—'सन्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव'—को मानने वाले पंडित को विषाद न रहा होगा। अपने सामकण्ठ पुत्रों को विद्याध्यापन करते समय अथवा सुदूर पंजाब से आए हुए विद्यार्थियों को निरुक्तरत्न बनाते समय आचार्य महाशय को अवश्य अपने हृदय में यह अनुताप रहा होगा कि मेरे पिता का उद्देश्य बंगदेश में वेद और पाणिनीय का प्रचार—मुझसे पूर्ण न हुआ। जहाँ पंडित तारानाथ तर्कवाचस्पति ऊर्ध्वबाहु होकर चिल्लाते-चिल्लाते चले गये वहाँ सत्यव्रत के उद्योग से कलाप का तन्त्र, बोपदेव और सुपद्म का आसन नहीं हिला। कलकत्ता विश्वविद्यालय के संस्कृत के एम० ए० परीक्षा देने वालों को छोड़कर कदाचित् ही कोई पाणिनि खोलता हो। और हो क्यों, जबकि तीर्थ-परीक्षा तक बिना पाणिनीय आगम पढ़े काम चल सकता है। नव्यन्याय, तन्त्र, नव्यस्मृति और गौरवैष्णव सम्प्रदाय के आगे कौन बंगाली सामगान करने का समय पाता? बिहारी कह गया है—

> करि फुलेल को आचमन, मीठो कहत सराह।
> चुप करि रे गन्धी चतुर, अतर दिखावत काह॥
> कर ले सूँघि सराहि के, रहे गहे सब मौन।
> गन्धी गन्ध गुलाब को, गँवई गाहक कौन?

जैसाकि इस लेख के शीर्षक पर लिखे शंकुक के लेख से प्रकट है कि 'अतुलनीय साहस का व्यवसाय करने वाले, सारे लोकों को चमत्कृत करने वाले विद्वान् के यदि मनोरथ सिद्ध न हों तो उसका अयश नहीं है, विधाता का अयश है।' विधाता का चमत्कार देखिए कि त्रैलोक्य का उपकार करने वाले भगवान् शंकर की स्त्री, स्वयं पर्वत की पुत्री, देवताओं को इष्ट वर देने वाली, म्लेच्छों तक को मन चाहे फल देने वाली भगवती दुर्गा अपने निवास-स्थान विन्ध्याचल की उन्नति नहीं कर सकती।[1] इसका कारण बंगदेशीय विद्वानों की स्वयं संतुष्टता और उपेक्षा ही थी कि पंडित सत्यव्रत के सामवेदी शिष्य अधिक नहीं हुए वृद्ध बंगदेश ने अपनी घूरती आँखों को खोलकर एक सामश्रमी को देख लिया और फिर अपने नेत्र मूंद लिये। बंगाली पंडितों को अपनी बातों के व्यर्थ पक्ष का बड़ा दुराग्रह है, और देशों को यदि वे घृणा नहीं करते तो उनके गुणों की उपेक्षा के योग्य अवश्य समझते हैं। बंगदेश का संस्कृत का उच्चारण कैसा है, यह सभी जानते हैं। 'आत्मा' को 'आत्ताँ'; 'स्मृति' को 'सृँति'; 'व्युत्पत्तिवाद' को 'पिपत्तिवाद' कहा जाता है। बंगाली स्कूलों में शुद्ध संस्कृत के उच्चारण को उत्तेजना देने

---

१. त्रैलोक्योपकृति प्रसक्तमनसो देवस्य शंभोः प्रिया।
जाता शैल कुले वरैरभिमतैरानन्दयन्ती सुरान्॥
म्लेच्छानामपि वाञ्छितार्पणपरा स्वास्याश्रयस्याम्बिका।
विन्ध्यस्योन्नतिमातनोति न निजां दैवस्य कीदृग्बलम्॥ (अमृतदत्तस्य)

के लिए एक महाशय ने काशी की रीति पर पाठ करने वाले को एक पदक देने का विज्ञापन दिया था। दूसरे वर्ष एक महामहोपाध्याय ने 'बंगाली ढंग' के उच्चारण के लिए एक पदक देना आरम्भ कर दिया। इस विषय की चर्चा आने पर स्वनामधन्य पूर्वोक्त महाशय ने कहा था—"वाह ! बंगाली और बातों में स्वदेशी-स्वदेशी चिल्लाते हैं और जिह्वा में मद्रासी और महाराष्ट्र बने जाते हैं। क्यों ? 'वागर्थाविव संप्रुक्तौ' (महाराष्ट्र ऋ स्वर को 'रु' बोलते हैं)। और हम बंगाली हमारे कातंत्र और कालाप को छोड़कर क्या पढ़ें ? सिद्धान्त कौमुदी ! वह तो महाराष्ट्रों के आक्रमण की यादगार है, जहाँ-जहाँ महाराष्ट्र शासन फैला वहाँ-वहाँ बलात्कार से कौमुदी चलाई गई। बंगाल कभी काशी की चाल से (काशिका) पढ़ाये जाने वाले पाणिनीय का पराधीन नहीं बनेगा।" यह अभिनिवेश सुनकर भय हुआ है कि सब कहीं सप्तकोटि कण्ठों से उच्चारित और द्विसप्तकोटि करों से धृत 'मुग्ध बोध' (जिससे मुग्धों ही का-सा बोध होता है) शनैः शनैः भारतवर्ष भर में 'प्रौढ़ मनोरमा' का स्थान न ले ले !! कहीं सारे भारतवर्ष में ही 'अविदितशषस विशेषा' वाणी की कृपा से 'स्वजन' श्वजन और सकृत् 'शकृत्' न हो जायं !! अस्तु, ऐसी भूमि में और ऐसे विद्वानों में रहकर सत्यव्रत सामश्रमी जी ने जो कुछ किया, बहुत किया। यह बड़े ही शोक का स्थान है कि गत ता० १ जून सन् १९११ ई० को आचार्य सामश्रमी का परलोक वास हो गया।

[प्रथम प्रकाशन : **मर्यादा** : फरवरी, १९१२ ई०]

महामहोपाध्याय कविराज मुरारिदान जी

इनका जन्म चारणकुल में, माघ वदि द्वितीया, संवत् १८८७ में हुआ था। इनके पितामह प्रसिद्ध कवि बाँकीदानजी थे, जिन्हें जोधपुर के महाराजा मानसिंहजी ने 'कविराजा' की पदवी दी थी। बाल्यावस्था में मुरारिदानजी ने अपने पिता भारतदानजी से भाषा-साहित्य का अध्ययन किया और संस्कृत यति ज्ञानचंद्रजी से पढ़ा। सोलह वर्ष की अवस्था में ये जोधपुर के महाराज तख्तसिंहजी के दरबार में उपस्थित हुए। तब से महाराज की सेवा में रहने लगे। संवत् १९२७ में ये जोधपुर-प्रांत के हाकिम हुए और पीछे, क्रमशः मेहता हरजीवनजी के सहयोगी मुसाहब, पचपदरे हाकिम, अदालत दीवानी के अफसर, अपील अदालत के जज, जनरल सुपरिंटेंडेंट, मजिस्ट्रेट आदि रहे। संवत् १९४३ से मृत्यु के थोड़े ही समय पहले तक लगातार कौंसिल के मेंबर रहे। इतिहास-कार्यालय के सभापति और मुसाहब आला सर प्रतापसिंहजी के चीन की लाम में जाने पर राज्यकार्य चलानेवाली स्पेशल कमिटी के मेंबर भी रहे। कर्नल वाल्टर ने विवाह आदि का अपव्यय मिटाने के लिए जो 'राजपूत-हितकारिणी सभा' बनाई थी उसके उत्साही आदि-संस्थापकों

में ये थे और यावज्जीवन उसके उद्देश्यों की पूर्ति में लगे रहे।

महाराजा जसवंतसिंहजी के नाम पर इन्होंने 'जसवंतजसोभूषण' नामक अपूर्व अलंकार-ग्रंथ बनाया, जिसका सार 'जसवंतभूषण' है और जिसका अनुवाद संस्कृत में भी छप चुका है। जैसे चित्रमीमांसा में अप्पय दीक्षित ने सब अलंकारों को उपमा ही का भेद सिद्ध किया है वैसे इन्होंने अलंकारों के पृथक् लक्षण न बनाकर उनके नामों के शब्दार्थ से ही लक्षण किया है। प्राचीनों के मत का विवेचन करके शब्दार्थ ही में आनेवाले अलंकारों को उस अलंकार की कोटि में गिना है। यद्यपि—"भोज समय निकसी नहीं भरतादिक की भूल। सो निकसी जसवंत समय"—की अप्रिय गर्वोक्ति की मोहर इस ग्रन्थ पर है, तो भी अलंकार-पर्यालोचना में यह ग्रंथ माननीय है। इसी पर प्रसन्न होकर महाराजा जसवंतसिंहजी ने इन्हें 'कविराजा' की उपाधि और 'लाख पसाव' का दान दिया। लाख पसाव 'लक्ष प्रसाद' का अपभ्रंश है। इसमें हाथी, घोड़ा, स्वर्ण, भूमि आदि लाख रुपये की संपत्ति दी जाती है। चारणों के इतिहास में इस प्रसाद का बडा मान है।

इन्होंने एक संक्षिप्त 'चारण ख्याति' भी प्रकाशित की थी। इनके अपूर्ण और अप्रकाशित ग्रन्थ ये हैं—बिहारी सतसई की टीका, सरदारप्रकाशिका, नायिका-भेद का एक ग्रन्थ, आत्मनिर्णय (वेदांत) और बड़ी चारण ख्याति।

जोधपुर में कविराजा जी का मान सर्वोच्च श्रेणी के जागीरदारों के तुल्य था। राजपूताना भर में ये विद्या, परोपकार, दूरदर्शिता, स्वामिभक्ति आदि के लिए प्रसिद्ध थे। गवर्नमेंट ने इन्हें कई बार राज्य-प्रबंध-संबंधी उपाधि देनी चाही; पर, इनके स्वीकार न करने पर, इनका अभिलषित विद्या-संबंधी महामहोपाध्याय पद दिया। उदयपुर के ऐतिहासिक कविराजा श्यामलदानजी के पीछे चारणों में यही दूसरे महामहोपाध्याय हुए। यह चमत्कार है कि ब्राह्मणों को छोड़कर अब तक महामहोपाध्यायों में या तो बंगाल के कविराज (वैद्य) हुए या राजपूताने के कविराजा (चारण)।

उदयपुर के प्रतिभाशाली महाराणा सज्जनसिंहजी ने मुरारिदान जी को, चारण समझकर, कुछ देना चाहा तो इन्होंने यह कहकर निषेध किया कि मैं जोधपुर नरेश के सिवा किसी का प्रतिग्रह नहीं करता। कविराज जी महाराणा सज्जनसिंहजी की एक कथा कहा करते थे। एक समय दरबार में पहुँचने पर कविराजा जी ने देखा कि महाराणा रोगशय्या पर चित पड़े हुए हैं, हिल-डुल नहीं सकते; पर अपने नित्य शिव-पूजन का इन्हें इतना आग्रह है कि छाती पर मूर्ति रखकर पूजा कर रहे हैं। उन दिनों स्वामी दयानंद सरस्वती का धौंसा बजता था और महाराणा उनके प्रथम अनुयायी माने जाते थे। कविराजा जी ने विस्मय के साथ इस ख्याति और आचरण के विरोध का कारण पूछा तो महाराणा ने हँसकर उत्तर दिया कि "मेरा जो इष्ट है वह तो आप जान ही गए, पर राजा को चाहिए कि लोक में जो उपकारी कार्य्य हो रहा हो उसका साथ स्वार्थ के भावों को छोड़कर दे। स्वामी का विरोध करने से मेरी आस्तिकता तो जो है वही रहेगी, बढ़ न जायगी, पर स्वामी की चेष्टाओं से जो अनेक हितों का साधन हो रहा है उसमें विघ्न पड़ जायगा!"

विद्या, यश, आयु और संतति में पूर्ण भाग्यवान् कविराजा जी का स्वर्गवास इस वर्ष (सं० १९७१), आषाढ़ सुदि पंचमी के दिन, हो गया। यह देश भर के लिए घाटा है।

[प्रथम प्रकाशन : १९१४ ई०]

मनीषि समर्थदान जी

राजपूताने के हिंदी-साहित्य-सेवियों में वृद्ध वसिष्ठ मनीषि समर्थदानजी प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा से इतना भागते थे कि मेरे सैकड़ों बार कहने पर भी उन्होंने जीवनी के नोट नहीं कराए। जब अंत की अचूक होनहार सूझ रही थी तब हम लोगों ने, अक्षरशः नहीं तत्त्वतः, उन्हें बिस्तरे से घसीटकर, उनके लाख विरोध करने पर भी, गत एप्रिल मास में, उनका फोटो उतरवा लिया था।

ये सिंढायच चारण थे और शेखावाटी के सीकर राज्य के नेठवा ग्राम में इनका जन्म हुआ था। मृत्यु के समय इनकी अवस्था ५५-५६ वर्ष की होगी। इनके पिता का नाम मंगलजी था। इनके बाल्य-जीवन का इतना ही हाल मालूम है कि एक मौलवी से इन्होंने उर्दू पढ़ी थी। उसकी योग्यता और सदाचार की ये बहुत प्रशंसा किया करते और उसकी शिक्षा और उदाहरण का इनके देशसेवामय जीवन पर जो प्रभाव पड़ा उसका गुण माना करते। युवावस्था में ये स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी के संग में आ गए। उस समय हिंदू नाम से बड़ी घृणा थी। "आर्य कहो, हिंदू मत कहो"—इस पर पुस्तिकाएँ लिखीं और शास्त्रार्थ किए जाते थे। ऐसे ही समय में 'मुंशी' समर्थदानजी ने अपनी उपाधि 'मनीषि' कर ली। स्वामीजी के साथ ये कई वर्ष उनके 'वैदिक प्रेस' के प्रबंधकर्त्ता होकर बम्बई, प्रयाग, मुरादाबाद, अजमेर आदि स्थानों में रहे। वेदभाष्य के पहले संस्करणों के मुखपृष्ठों पर इनका नाम छपा हुआ है। इस अवसर में इन्हें संस्कृत और हिंदी का ज्ञान, धर्मसंस्कार, समाजसुधार और देशसेवा के भाव मिले, जो उस नैतिक-धार्मिक आचार्य की निरंतर संगति का परिणाम माने जाने चाहिए। स्वामीजी के मरने के पीछे ये अजमेर में बस गए और एक सुन्दर स्थान में मकान बनाकर इन्होंने राजस्थान-यंत्रालय और राजस्थान-समाचार नामक साप्ताहिक पत्र निकाला। इस प्रांत में उच्च भावों का यह पहला ही पत्र था और कई बातों में एक ही पत्र रहा। धीरे-धीरे इनका मान और प्रभाव बढ़ने लगा। जोधपुर के सर प्रतापसिंह, उदयपुर और बीकानेर के महाराज और अनेक जागीरदार इनका आदर करते और इनकी सम्मतियों पर ध्यान देते। चीफ कमिश्नर और एजेंट टू दी गवर्नर-जनरल मिलते और परामर्श लेते।

महाराजा काश्मीर ने इन्हें अपना पोलपान (प्रतोली-पात्र=प्रधान दानाधिकारी चारण) बनाया और पैर में पहनने को सोना[1] (अर्थात् दरबार में ताजीम का चिह्न) दिया। जब मैं बाल्यावस्था में स्वर्गीय महामहोपाध्याय पंडित दुर्गाप्रसादजी के यहाँ काव्यप्रकाश पढ़ने जाया करता तब पहले पहल मैंने उनके यहाँ राजस्थान-समाचार देखा। संस्कृत की धुन में एक दिन मैंने जब पत्र का नाम और मतवाक्य अनुष्टुप् की तरह मिलाकर पढ़ा ("राजस्थान-समाचार। सत्ये नास्ति भयं क्वचित्") तब चाचाजी (पं० दुर्गाप्रसादजी), जो मजाक और चोज की बातें करने में एक ही थे, बोले कि "पहला चरण तो संबोधन है—भो राजस्थान समाचार! और दूसरे का अर्थ है कि सत्येन अस्ति भयं क्वचित्! सावधान हो जाओ"। पंडितजी की इस आकस्मिक, पर उन्हें अविदित, भविष्यवाणी का प्रभाव अवश्य समर्थदानजी पर हुआ होगा क्योंकि उन्हें ऐसे लोगों से ही काम नहीं पड़ा जो सत्य सुनना न चाहते थे, पर ऐसे लोगों से भी जो ठकुरसुहाती सुनाने पर भी देने के नाम मुरलीमनोहर थे! मनीषिजी ने पत्र को अपने से पृथक् नहीं समझा, सैकड़ों उसमें कमाये और हजारों उसी में होम दिए। पत्र पहले साप्ताहिक था, फिर अर्द्धसाप्ताहिक हुआ। उन दिनों उसमें एक 'अनंत कहानी' चलाई गई थी, जो जल्दी ही शान्त हो गई। रूस-जापान के युद्ध की उमंग में इन्होंने अपने पत्र को दैनिक कर दिया। सच पूछिए तो यही हिंदी का पहला व्यवसायी दैनिक था। भारतमित्र का पहला दैनिक रूप केवल परीक्षा के लिए था और कालेकांकर का हिंदोस्तान, बड़ौदे की सोने-चाँदी की तोपों की तरह, एक राजा के शौक की चीज थी। मनीषिजी ने बंबई से तार-समाचार सीधे मँगवाने आरम्भ किए। हिन्दी-भाषा की अखबारनवीसी में और राजपूताने के पत्र-पाठकों में उस दिन हर्ष और विस्मय का विचित्र संकर हुआ जब ट्सुशीमा (Tsushima) के युद्ध का समाचार आबू पहाड़ पर पायनियर से आठ-दस घंटे पहले राजस्थान-समाचार ने पहुँचा दिया। आजकल जब इधर-उधर कई हिन्दी दैनिकों के निकलने और बिखरने की गूँज हो रही है, इस गुपचुप काम करने वाले वृद्ध साहित्यसेवी के अध्यवसाय का उल्लेख करना उचित है, चाहे उस समय ईर्ष्या, या अपना ढोल आप न पीटनेवालों के साधारण भाग्य से, इस बात की चर्चा भी न हुई हो। यही दैनिक पत्र मनीषिजी के लिए श्वेत हस्ती बन गया; अथाह घाटे के कारण बन्द करना पड़ा; कुछ दिन साप्ताहिक होकर सिसका; अन्त को बुझ गया।

मनीषिजी ने बहुत-सी पुस्तकें प्रकाशित कीं और लिखीं। उनमें जयपुर राजपूत

---

१. जैसे आजकल रजवाड़ों में (सोना) बख्शा जाता है, अर्थात् पैर में सोने का भूषण पहनने का अधिकार मिलता है, वैसे ही पुराने समय में सोने का जलपात्र (भृंगार =गडुआ) दिया जाता था। देखो, भास के प्रतिज्ञायौगंधरायण नाटक में—"गुणेषु न तु मे द्वेषो भृंगारः प्रतिगृह्यताम्" (ट्रिवेंड्रम संस्करण, पृ० ७२) और कामसूत्र की टीका जयमंगला (पं० दुर्गाप्रसादजी का संस्करण, पृ० ४२) "भृंगारच्छत्र-दानादि।"

स्कूल के हेडमास्टर (पीछे कृष्णगढ़ राज्य के कौंसिल के मेंबर) रामनाथजी रत्नू का 'इतिहास राजस्थान' दूसरे संस्करण योग्य है। स्वामी गणेश पुरीजी का वीरविनोद (कर्णपर्व), श्रीयुत गणेशनारायण सोमानी का सर हेनरी काटन की 'न्यू इंडिया' का अनुवाद, जमाल के दोहों का संग्रह, ठाकुर भूरसिंहजी का विविध संग्रह, आदि इनके यहाँ से अच्छे प्रकाशित हुए। पहले एक 'राजस्थान ग्रंथमाला' भी कुछ दिन चली थी। मरने के समय तक—जब न हाथों में बल था, न पास धन था, न सहायक थे—उन्हें लाख रुपये के व्यय से कई जिल्दों में हिन्दुस्तान का विस्तृत इतिहास निकालने का करुणाजनक उत्साह था।

इनके जीवन-नाटक का अंतिम दृश्य निराशामय था। माता और पत्नी मर चुकीं थीं, स्वास्थ्य जवाब दे चुका था, घर में केवल आठ वर्ष की एक अबोध कन्या थी। मुकद्दमे और ऋण के बादल इस हठी की अविश्रांत उमंग की ज्योति को बुझा रहे थे। पचास वर्ष की अवस्था में तीस वर्ष के कार्य्यभार से थके मस्तिष्क को संस्कृत के द्वारा शास्त्रीय वैद्यक के पढ़ने में लगाना इन्हीं की प्रतिभा का काम था। इन्होंने चरक, सुश्रुत पढ़ा और वैद्यक से जीवन-निर्वाह का उपाय निकाला। चतुर वैद्य हो गए, पर दशा न सुधरी। वैद्यक की कमाई से अपने पैरों खड़े होने की आशा निष्फल हुई और खटिया पर पड़ गए। जुलाई के मध्यम सप्ताह में इनकी आत्मा, अपने उदार आदर्शों को क्षणमात्र भी न छोड़ती हुई, क्षीण शरीर को छोड़ गई। घरबार, प्रेस, भूमि, ऋण कन्या—सब अव्यवस्था में रह गया और रह गया इनके मित्रों को इनके कार्य्यों का स्मरण! राजनीति, समाजनीति को ये कैसा समझते थे और कैसी अच्छी सलाह देते थे! किस ऊसर भूमि में इन्होंने कितना पसीना बहाकर हल चलाया! इन्हें कितना उत्साह था और काम में उलझने की कितनी शक्ति थी! कैसे मसखरे थे! एक दिन कहने लगे कि जब हम आर्यसमाजी थे तब तो आग्रह से दोनों समय संध्या करते थे, पर जब से फिर सनातनधर्म में आए तब से तो कुछ करने की जरूरत ही नहीं रही! अपने आपको सनातनधर्मी कहना ही बहुत है! जिस लोक-ख्याति के पीछे ये हाथ जोड़े नहीं फिरे, उसने इनसे कैसा किनारा कसा!

इनका जीवनकार्य समाप्त हुआ। अब लोग इनके गुणों को छिपाने और दोषों को कुरेदने के लिए स्वतन्त्र हैं। चाहे इन्होंने समुद्र पर लीकें डालने का यत्न किया हो, पर वीर वे ही नहीं हैं जिनके सिर पर सफलता का मुकुट चढ़ता है; वे भी वीर होते हैं जो झगड़ते-झगड़ते मर और प्रतिकूल विधि के पादपीठ बन जाते हैं।

[प्रथम प्रकाशन : सरस्वती : अक्तूबर, १९१४ ई०]

राव संसारचन्द्र सेन बहादुर[1]

बाबू संसारचन्द्र सेन का जन्म बंगाल के चौबीस परगना के उच्च वैद्य-कुल में हुआ था। आप श्रीयुत नीलांबर सेन के ज्येष्ठ पुत्र थे। आगरा कालिज में शिक्षा पाकर जयपुर महाराजा-कालेज में आप अध्यापक हुए। वहां से जयपुर के राजपूत-स्कूल के हेडमास्टर हुए। संयोग की बात है, वहां उनके छात्रों में जयपुर के वर्तमान महाराजा साहब बहादुर भी थे। इनके राज्य-सिंहासनारूढ़ होते ही बाबू साहब प्राइवेट सेक्रेटरी के प्रतिष्ठित पद पर नियत किए गए। फिर राव बहादुर बाबू कांतिचन्द्र मुकर्जी सी० आई० ई० के स्वर्गवास के पीछे वे पहले तो कौंसिल के इलाके गैर के मेम्बर और पीछे प्रधानमंत्री किए गए। महाराजा साहब ने इन्हें ताजीम और पाँच हजार रुपये की पुश्तैनी जागीर प्रदान करके इनकी सेवाओं का पारितोषक दिया है और अपनी गुणग्राहकता दिखाई है। दिल्ली-दरबार के अवसर पर ये राव बहादुर बनाए गए। जब प्रिंस ऑफ् वेल्स जयपुर पधारे थे तब उनने स्वयं इन्हें एम० बी० ओ० का तगमा दिया था। गत वर्ष इन्हें सी० आई० ई० की उपाधि मिली थी जिसका पदक राजपूताना के एजेंट गवर्नर-जनरल ने स्वयं बाबू साहब के घर जाकर दिया था। सौम्य स्वभाव और सुशील वृत्ति से बाबू साहब सर्वप्रिय हो गये थे। उनकी स्वामिभक्ति से उनके स्वामी अति प्रसन्न थे, उनके न्याय और सरल स्वभाव से प्रजा अति प्रसन्न थी और उनके सत्कार से उनके अतिथि प्रसन्न थे। इनका स्थान जयपुर में, और इनके भाई स्वर्गीय हेमचन्द्र सेन का देहली में, प्रवासी बंगालियों का बड़ा भारी आश्रय था। जयपुर महाराज साहब की विलायत-यात्रा दुर्भिक्ष और प्लेग का सुप्रबंध, युवराज का स्वागत, राजसेवा में शिक्षितों की अधिक नियुक्ति, कालिज में विज्ञान की उच्च शिक्षा का प्रबन्ध, डाकखाने का सुधार और सरकार से कन्वेन्शन् आदि इनके समय की मुख्य घटनाएं हैं। ता० ११ मई को इस संसार-चन्द्र का अस्त होने से जयपुर के आकाश में अंधकार छा गया।

[प्रथम प्रकाशन : अज्ञात]

संस्कृत में अकबर का जीवनचरित

महाराजा दर्भंगा के पूर्वज मिथिला के प्रसिद्ध विद्वान महेश ठाकुर ने अकबर बादशाह का जीवनचरित संस्कृत में लिखा था। जैसे अबुलफजल ने फारसी में अकबर का चरित लिखा, वैसे ही महेश ठक्कुर से यह लिखवाया गया था। इसकी एक अपूर्ण प्रति इंडिया आफिस में है—और महाराजा दर्भंगा ने वहां से फोटोग्राफ द्वारा उसकी छवि उतरवाकर मँगवाई है। सुना गया है कि डॉ० गंगानाथ झा उसका सम्पादन कर रहे हैं।

[प्रथम प्रकाशन : नागरी प्रचारिणी पत्रिका : भाग-३, १६२२]

---

१. एम० बी० ओ०; सी० आई० ई०; प्रधानमंत्री, जयपुर

भूमिकाएँ

निवेदन

जब नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, ने मुझे सूर्यकुमारी पुस्तकमाला के संपादन करने की आज्ञा दी तब मैंने यह कार्य इसलिए स्वीकार किया कि इसके द्वारा स्वर्गवासिनी श्रीमती सूरजकुँवर (सूर्यकुमारी) देवी की स्मृति चिरस्थायिनी बनाने में यथाशक्ति कुछ न कुछ सहायता मैं भी कर सकूं। श्रीमती को मैं अपनी स्वामिनी कहूं, या भगिनी कहूं या शिष्या कहूं—किसी-न-किसी संबंध से श्रीमती के पुण्यमय नाम के साथ मेरी आत्मीयता है।

जयपुर राज्य के शेखावाटी प्रांत में खेतड़ी राज्य है। वहां के राजा श्रीअजीत सिंहजी बहादुर बड़े यशस्वी और विद्याप्रेमी हुए। गणित-शास्त्र में उनकी अद्‌भुत गति थी। विज्ञान उन्हें बहुत प्रिय था। राजनीति में वे दक्ष और गुणग्राहिता में अद्वितीय थे। दर्शन और अध्यात्म की रुचि उन्हें इतनी थी कि विलायत जाने के पहले और पीछे स्वामी विवेकानन्द उनके यहां महीनों रहे। स्वामीजी से घंटों शास्त्र-चर्चा हुआ करती। राजपूताने में प्रसिद्ध है कि जयपुर के पुण्यश्लोक महाराजा श्रीरामसिंहजी को छोड़कर ऐसी सर्वतोमुख प्रतिभा राजा श्रीअजीतसिंहजी ही में दिखाई दी।

राजा अजीतसिंहजी की रानी आउआ (मारवाड़) की चांपावतजी के गर्भ से तीन संतति हुई—दो कन्याएं और एक पुत्र। ज्येष्ठ कन्या श्रीमती सूरजकुँवर थीं जिनका विवाह शाहपुरा के राजधिराज सर श्रीनाहरसिंहजी के ज्येष्ठ चिरंजीव और युवराज राजकुमार श्री उमेदसिंहजी से हुआ। छोटी कन्या श्रीमती चाँद कुँवर का विवाह प्रतापगढ़ के महारावल साहब के युवराज महाराजकुमार श्रीमानसिंहजी से हुआ। तीसरी संतान जयसिंहजी थे जो राजा अजीतसिंहजी और रानी चांपावतजी के स्वर्गवास के पीछे खेतड़ी के राजा हुए।

इन तीनों के शुभचिंतकों के लिये तीनों की स्मृति संचितकर्मों के परिणाम से दुःखमय ही हुई। जयसिंहजी का स्वर्गवास सत्रह वर्ष की अवस्था में हुआ और सारी प्रजा, सब शुभचिंतक, संबंधी, मित्र और गुरुजनों का हृदय आज भी उस आँच से जल ही रहा है; अश्वत्थामा के व्रण की तरह यह घाव कभी भरने का नहीं। ऐसे आशामय जीवन का ऐसा निराशात्मक परिणाम कदाचित् ही हुआ हो। श्रीसूर्यकुँवर बाईजी को एकमात्र भाई के वियोग की ऐसी ठेस लगी कि दो ही तीन वर्ष में उनका शरीरांत हुआ। श्रीचाँद कुँवर बाईजी को वैधव्य की विषम यातना भोगनी पड़ी और भ्रातृ-

वियोग और पति-वियोग दोनों का असह्य दुःख वे झेल रही हैं। उनके एकमात्र चीरंजीन प्रतापगढ़ के भंवर श्रीरामसिंहजी से ही मातामह राजा अजीतसिंहजी का कुल प्रजावान् है।

श्रीमती सूर्यकुमारीजी के कोई संतति जीवित न रही। उनके बहुत आग्रह करने पर भी राजकुमार श्री उमेदसिंहजी ने उनके जीवनकाल में दूसरा विवाह नहीं किया किन्तु उनके वियोग के पीछे, उनके आज्ञानुसार, कृष्णगढ़ में विवाह किया जिससे उनके चिरंजीव वंशांकुर विद्यमान हैं।

श्रीमती सूर्यकुमारीजी बहुत शिक्षिता थीं। उनका अध्ययन बहुत विस्तृत था। उनका हिंदी का पुस्तकालय परिपूर्ण था। हिंदी इतनी अच्छी लिखती थीं और अक्षर इतने सुंदर होते थे कि देखनेवाला चमत्कृत रह जाय। मेरे पास उनके कई पत्र हैं जिनकी लिपि, भाषा और भाव सब उच्च कोटि के हैं। स्वर्गवास के कुछ समय पूर्व श्रीमती ने मुझे कहा था कि स्वामी विवेकानंदजी के सब ग्रंथ, व्याख्यान और लेखों का प्रामाणिक हिंदी अनुवाद मैं छपवाऊंगी। बाल्यकाल से ही स्वामी जी के लेखों और अध्यात्म, विशेषतः अद्वैत वेदांत, की ओर श्रीमती की रुचि थी। मैंने श्रीमती के निर्देशानुसार इसका कार्यक्रम बांधा। साथ ही श्रीमती ने यह इच्छा प्रकट की कि इसी संबंध में हिंदी में उत्तमोत्तम ग्रंथों के प्रकाशन के लिए एक अक्षय नीवी की व्यवस्था का भी सूत्रपात हो जाय। मेरे व्यवस्थापत्र बनाते न बनाते श्रीमती का स्वर्गवास हो गया।

राजकुमार श्रीउमेदसिंहजी की अंतिम कामना के अनुसार लगभग एक लाख रुपया श्रीमती के इसी संकल्प की पूर्ति के लिए विनियोग किया। काशी नागरीप्रचारिणी सभा के द्वारा इस ग्रंथमाला के प्रकाशन की व्यवस्था हुई है। स्वामी विवेकानंद के यावत् निबंधों के अतिरिक्त और भी उत्तमोत्तम ग्रंथ इस ग्रंथमाला में छापे जाएंगे और लागत से कुछ ही अधिक मूल्य पर सर्वसाधारण के लिए सुलभ होंगे। इस ग्रंथमाला की बिक्री की आय इसी अक्षय नीवी में जोड़ दी जायगी। यों श्रीमती सूर्यकुमारी तथा श्रीमान उमेदसिंह के पुण्य और यश की निरंतर वृद्धि होगी और हिंदी भाषा का अभ्युदय तथा उसके पाठकों को ज्ञानलाभ। इस सत्पुरुषार्थ में किसी भी रूप से संमिलित होना मैं अपना सौभाग्य समझता हूं। जो-जो पाठक इस ग्रंथमाला के ग्रंथों को पढ़ेंगे वे श्रीमती के हिंदी-प्रेम और पुण्य तथा श्रीमान के दाक्षिण्य को मेरी तरह सराहेंगे।

इस ग्रंथमाला का पहला ग्रंथ स्वामी विवेकानंद के व्याख्यान (प्रथम भाग) हैं। मूलपाठ मायावती स्मारक संस्करण से लिया गया है। व्याख्यानों का मायावती संस्करण का क्रम नहीं रखा गया है, न तिथिक्रम रखा है, किंतु विषयक्रम से एक प्रसंग के व्याख्यान एक भाग या अधिक में साथ-साथ दे दिए गए हैं। इस भाग का अनुवाद बाबू जगन्मोहन वर्मा ने किया है। और मैंने अनुवाद को सावधानता से मूल से मिला लिया है।

आयुष्मान् राजकुमार श्रीउमेदसिंहजी तथा स्वर्गवासिनी श्रीमती से मेरा जो व्यक्तिगत संबंध रहा है उससे मैं ग्रन्थमाला के प्रकाशन से बहुत ही प्रसन्न हुआ हूं।

परमेश्वर इसके द्वारा श्रीमती की स्मृति और पुण्यकीर्ति को अक्षय रखे और श्रीमान् राजकुमार को अपने आर्यजुष्ट पत्नीव्रत के निबाहने का संतोष प्राप्त हो। 'कीर्तिरक्षर-संबद्धा स्थिरा भवति भूतले'।[1]

अजमेर
४. ६. १९२१

श्रीचंद्रधर शर्मा गुलेरी

[प्रथम प्रकाशन, ज्ञानयोग (विवेकानंद ग्रन्थावली-१)
नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० १९२१ ई०]

परिचय

जयपुर राज्य के शेखावाटी प्रांत में खेतड़ी राज्य है। वहां के राजा श्रीअजीतसिंहजी बहादुर बड़े यशस्वी और विद्याप्रेमी हुए। गणितशास्त्र में उनकी अद्भुत गति थी। विज्ञान उन्हें बहुत प्रिय था। राजनीति में वह दक्ष और गुणग्राहिता में अद्वितीय थे। दर्शन और अध्यात्म की रुचि उन्हें इतनी थी कि विलायत जाने के पहले और पीछे स्वामी विवेकानंद उनके यहां महीनों रहे। स्वामीजी से घंटों शास्त्र-चर्चा हुआ करती। राजपूताने में प्रसिद्ध है कि जयपुर के पुण्यश्लोक महाराज श्रीरामसिंह जी को छोड़कर ऐसी सर्वतोमुख प्रतिभा राजा श्रीअजीतसिंहजी ही में दिखाई दी।

राजा श्रीअजीतसिंहजी की रानी आउआ (मारवाड़) की चांपावतजी के गर्भ से तीन संतति हुईं—दो कन्या, एक पुत्र। ज्येष्ठ कन्या श्रीमती सूरजकुँवर थीं जिनका विवाह शाहपुरा के राजाधिराज सर श्रीनाहरसिंहजी के ज्येष्ठ चिरंजीव और युवराज राजकुमार श्री उमेदसिंहजी से हुआ। छोटी कन्या श्रीमती चाँदकुँवर का विवाह प्रतापगढ़ के महारावल साहब के युवराज महाराजकुमार श्री मानसिंहजी से हुआ। तीसरी संतान जयसिंह जी थे जो राजा अजीतसिंह जी और रानी चांपावतजी के स्वर्गवास के पीछे खेतड़ी के राजा हुए।

इन तीनों के शुभचिंतकों के लिए तीनों की स्मृति संचित कर्मों के परिणाम से दुःखमय हुई। जयसिंहजी का स्वर्गवास सत्रह वर्ष की अवस्था में हुआ और सारी प्रजा, सब शुभचिन्तक, संबंधी, मित्र और गुरुजनों का हृदय आज भी उस आँच से जल ही रहा है। अश्वत्थामा के व्रण की तरह यह घाव कभी भरने का नहीं। ऐसे आशामय जीवन का ऐसा निराशात्मक परिणाम कदाचित् ही हुआ हो। श्री सूर्यकुंवर बाईजी को एकमात्र भाई के वियोग की ऐसी ठेस लगी कि दो ही तीन वर्ष में उनका शरीरांत हुआ।

१. अक्षरों में बंधी कीर्ति पृथ्वी पर स्थिर रहती है—सपादक

श्रीचाँदकुँवर बाईजी को वैधव्य की विषम यातना भोगनी पड़ी और भ्रातृ-वियोग और पति-वियोग दोनों का असह्य दुःख वे झेल रही हैं। उनके एकमात्र चिरंजीव प्रतापगढ़ के कुँवर श्रीरामसिंह से मातामह राजा श्रीअजीतसिंहजी का कुल प्रजावान् है।

श्रीमती सूर्यकुमारी के कोई संतति जीवित न रही। उनके बहुत आग्रह करने पर भी राजकुमार श्रीउमेदसिंहजी ने उनके जीवन-काल में दूसरा विवाह नहीं किया। किंतु उनके वियोग के पीछे, उनके आज्ञानुसार कृष्णगढ़ में विवाह किया जिससे उनके चिरंजीव वंशांकुर विद्यमान हैं।

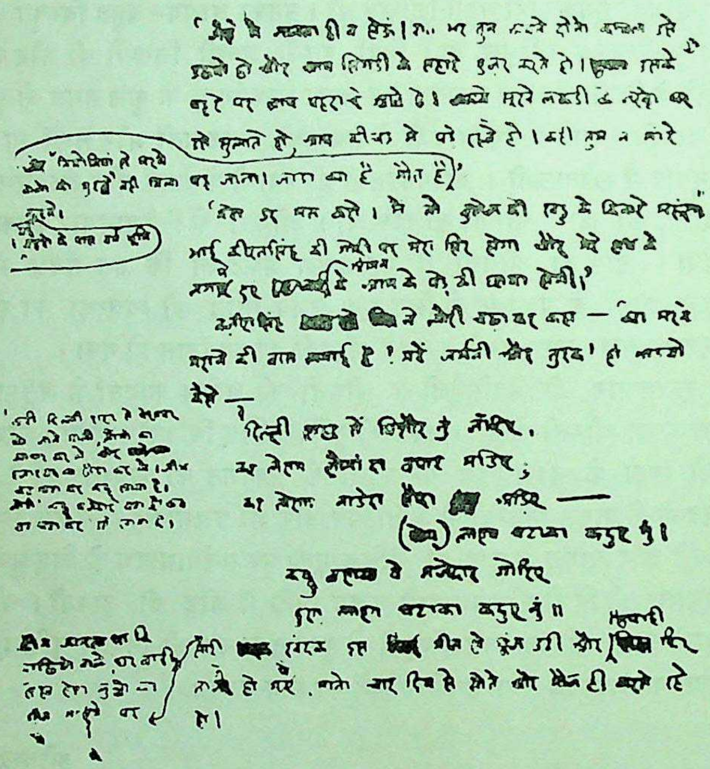
श्रीमती सूर्यकुमारी बहुत शिक्षित थीं। उनका अध्ययन बहुत विस्तृत था। उनका हिंदी का पुस्तकालय परिपूर्ण था। हिंदी इतनी अच्छी लिखती थीं और अक्षर इतने सुंदर होते थे कि देखनेवाला चमत्कृत रह जाता। स्वर्गवास के कुछ समय के पूर्व श्रीमती ने कहा था कि स्वामी विवेकानन्दजी के सब ग्रंथों, व्याख्यानों और लेखों का प्रामाणिक हिंदी अनुवाद मैं छपवाऊंगी। बाल्यकाल से ही स्वामी के लेखों और अध्यात्म, विशेषतः अद्वैतवेदान्त, की ओर श्रीमती की रुचि थी। श्रीमती के निदेशानुसार इसका कार्यक्रम बांधा गया। साथ ही श्रीमती ने यह इच्छा प्रकट की कि इस संबंध में हिंदी में उत्तमोत्तम ग्रन्थों के प्रकाशन के लिए एक अक्षय निधि की व्यवस्था का सूत्रपात हो जाय। इसका व्यवस्थापत्र बनते-न-बनते श्रीमती का स्वर्गवास हो गया।

राजकुमार श्रीउमेदसिंहजी ने श्रीमती की अंतिम कामना के अनुसार लगभग एक लाख रुपया श्रीमती के इस संकल्प की पूर्ति के लिए विनियोग किया। काशी नागरी प्रचारिणी सभा के द्वारा इस ग्रन्थमाला के प्रकाशन की व्यवस्था हुई है। स्वामी विवेकानंदजी के यावत् निबन्धों के अतिरिक्त और भी उत्तमोत्तम ग्रन्थ इस ग्रन्थमाला में छापे जाएंगे और लागत से कुछ ही अधिक मूल्य पर सर्वसाधारण के लिए सुलभ होंगे। इस ग्रन्थमाला की बिक्री की आय इसी अक्षय निधि में जोड़ दी जायगी। यों श्रीमती सूर्य्यकुमारी तथा श्रीमान् उमेदसिंहजी के पुण्य तथा यश की निरंतर वृद्धि होगी और हिंदी भाषा का अभ्युदय तथा उसके पाठकों का ज्ञान-लाभ।

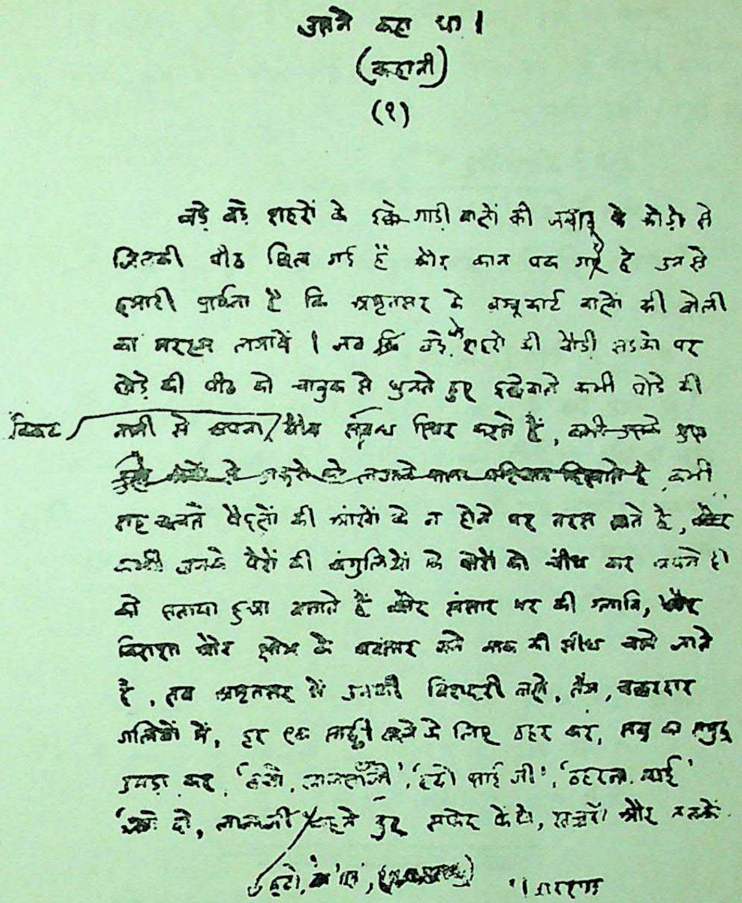
श्रीचन्द्रधर शर्मा

[प्रथम प्रकाशन : बुद्धचरित : रामचन्द्र शुक्ल
नागरी प्रचारिणी सभा काशी, सं० १९२२ ई०]

परिशिष्ट-१



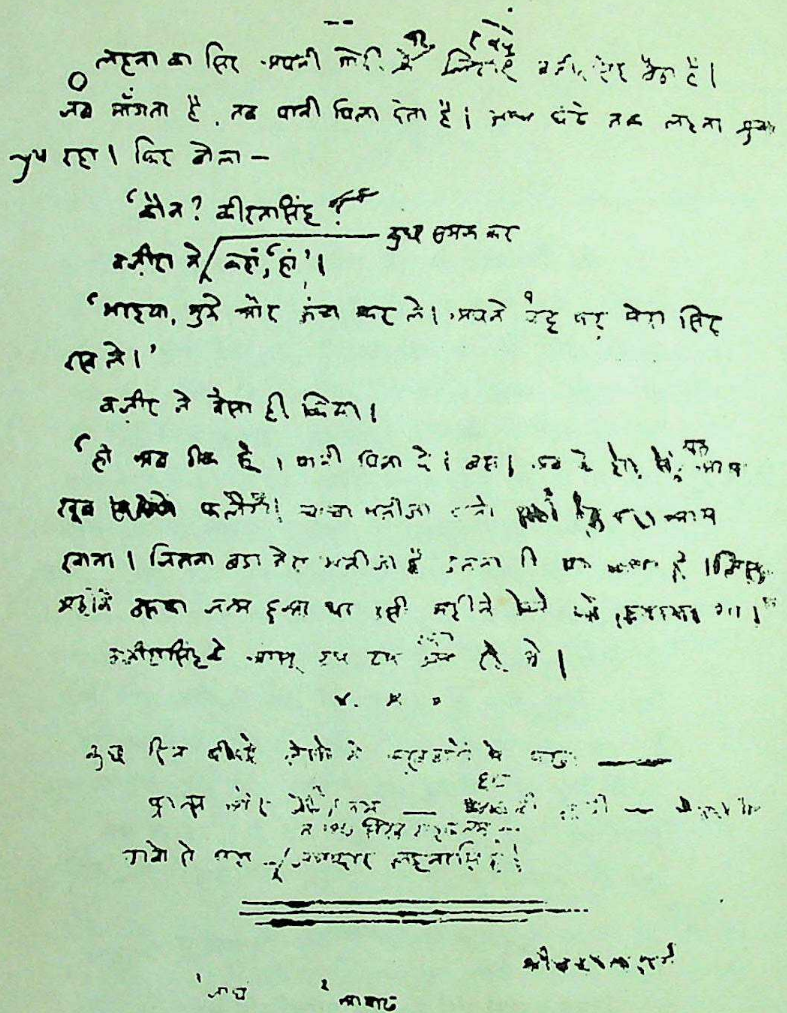
'उसने कहा था' की मूल पाण्डुलिपि का गुलेरी जी के हस्तलेख में वह सातवां पृष्ठ जो सम्पादकों की लापरवाही की शिकायत का प्रामाणिक दस्तावेज बन गया है।



उसने कहा था।
(कहानी)
(१)

बड़े बड़े शहरों के इक्के-गाड़ी वालों की ज़बान के कोड़ों से जिनकी पीठ छिल गई है और कान पक गये हैं उनसे हमारी प्रार्थना है कि अमृतसर के बम्बूकार्ट वालों की बोली का मरहम लगावें। जब कि बड़े शहरों की चौड़ी सड़कों पर घोड़े की पीठ को चाबुक से धुनते हुए इक्केवाले कभी घोड़े की नानी से अपना निकट सम्बन्ध स्थिर करते हैं, [illegible] कभी राह चलते पैदलों की आँखों के न होने पर तरस खाते हैं, और कभी उनके पैरों की अंगुलियों के पोरों को चींथ कर अपने ही को सताया हुआ बताते हैं और संसार भर की ग्लानि, और निराशा और क्षोभ के अवतार बने नाक की सीध चले जाते हैं, तब अमृतसर में उनकी बिरादरी वाले, तंग, चक्करदार गलियों में, हर एक लड्ढी वाले के लिए ठहर कर, सब्र का समुद्र उमड़ा कर, 'बचो, खालसाजी', 'हटो भाई जी', 'ठहरना भाई' 'आने दो, लालाजी' कहते हुए सफेद फेंटों, खच्चरों और बत्तकों [illegible]

['उसने कहा था' की मूल पाण्डुलिपि का
पहला पृष्ठ गुलेरी जी के हस्तलेख में]



लहना का सिर अपनी गोद में लिटाये वज़ीरासिंह बैठा है। जब माँगता है, तब पानी पिला देता है। आध घंटे तक लहना चुप रहा। फिर बोला—

'कौन? कीरतसिंह?'

वज़ीरा ने कुछ समझ कर 'हाँ, हाँ'।

'भइया, मुझे और ऊँचा कर ले। अपने पट्ट पर मेरा सिर रख ले।'

वज़ीरा ने वैसा ही किया।

'हाँ अब ठीक है। पानी पिला दे। बस। अब के हाड़ में यह आम खूब फलेगा। चाचा भतीजा दोनों यहीं बैठ कर आम खाना। जितना बड़ा तेरा भतीजा है उतना ही यह आम है। जिस महीने उसका जन्म हुआ था उसी महीने में मैंने इसे लगाया था।'

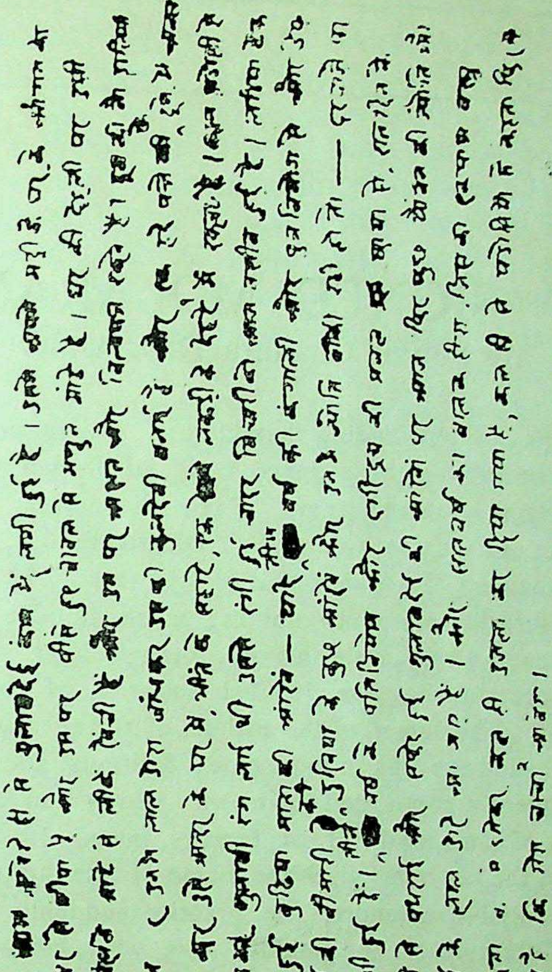
वज़ीरासिंह के आँसू टप टप टपक रहे थे।

× × ×

कुछ दिन पीछे लोगों ने अखबारों में पढ़ा —

फ्रान्स और बेलजियम — ६८ वीं सूची — मैदान में घावों से मरा — नं. ७७ सिख राइफल्स जमादार लहनासिंह।

['उसने कहा था' की मूल पाण्डुलिपि का अन्तिम पृष्ठ
गुलेरी जी के हस्तलेख में।]



['हीरे का हीरा' का आरम्भिक अंश गुलेरी जी के हस्तलेख में]

A SIGNED MOLARAM

By Pundit Chandra Dhar Guleri

Anonymity is an outstanding character of Indian art. With few exceptions, the authors of a large body of Indian sculptures and paintings are not known by name. Their distinction lies in the fact of their being racial rather than individual productions. This is true as much in the filed of art as in that of literature. The entire range of early Sanskrit literature has nothing much to offer in the way of autobiography and very little history, though later commentators and writers occasionally give detailed accounts of themselves and their patrons. The names of the authors of the epics or the Puranas are mythical shadows and in most cases fictitious; and in later times authors frequently suppressed their own names and let their work pass as that of some mythical or famous poets. In some hymns of the Rigveda, the last verse gives the name of the author, sometimes conveying a double entendre; the practice suddenly revived in the vernacular literature of the middle ages when his name invariably occurs in single verses, songs or hymns, e.g. "Thus saith Kabir," "Bhushana says" Suradasa, Tulsidasa and other poets always give their names in full or in part in the last line of a hymn or sonnet. According to the old rules of social discipline, the purpose seems to have been to suppress and discount individual life with the view to merge the same in a larger racial consciousness. Thus the expression in art as in literature came to be largely racial rather than individual. The expression of individuality was considered as injurious to the unity of the inner spiritual life which the individual sought to attain as the common heritage of the race. The artists were exponents of a form of culture which was of a profound and general character, shared by all but peculiar to none. The individuality of the artist is thus, more or less, a mystery in Indian art, and his productions are the only evidence left to us of the quality of

his mind, and the only means, if at all, of picturing to ourselves a glimpse of his personality. In Europe the study and criticism of the works of an artist is very often encumbered by many details of biography and anecdotes, and much other extraneous matter, more or less alien to the understanding of a masterpiece. However much such extraneous details of the life of the artist may help to realise the atmosphere in which the artist worked and lived, they have the inavitale effect of diverting the concentration of attention from his works—the product of the mind of the artist—to his personality. For, indeed, the mind of the artist, and, In fact, all that is woith knowing about him, is best known through his works. It is a very popular and somewhat pardonable failing to enquire more about an artist than his works alone can give us, and out of this popular curiosity has grown up a prodigious literature in European countries, dealing with the "life" and "works" of famous painters and sculptors. Fortunately the materials available in those countries are rich enough to justify the attempts made to elucidate the bibliography of the works of artists and to deduce from them a critical estimate of the evolution of style of individual artists. In India, and in the Asiatic countries generally, such details are almost impossible to obtain, and, indeed, in India a signed masterpiece, until we come to the Mughal period, is almost an unknown phenomenon. Even in Mughal and post-Mughai painting, and in the later Kangra schools, a singned picture is more or less a rarity. A somewhat unusual interest therefore attaches to the little water-colour drawing from the brush of Mola Ram, which we reproduce here in the clour plate opposite, from the original in the collection of the Editor.

In A.D. 1760, when the fifth act of the great drama of Mughal history was coming to a tragic end, there was born, in the district of Garhwal, the last representative of the ancient court painters of India on whom devolved the somewhat difficult task of keeping alive for a few years the great flames of the old pictorial tradition in India, before it was finally extinguished shortly after the overthrow of the political power under the shadow of which lived and flourished many of the later cultural activities of India. During the anarchy that preceded the dissolution and dismemberment of the Mughal Empire, many of the surviving exponents of the old schools of painting took refuge in the recesses of the Himalayas under the protection of petty Hindu chiefs. Just as with the inroads of the Muhamma-

dans in Bengal the representatives of old art of Magadha and Gaud found refuge in the valley of the Neple, the artists of the Mughal court, under somewhat similar circumstances, ran for shelter under the Hindu princes of the Punjab Himalaya. Of many a family of artists who no doubt gradually dropped off, one by one, from the Court of Delhi, the case of the ancestors of Mola Ram is undoubtedly a typical example * When the intrigues of Aurangzeb drove his nephew, Prince Salim, for safety of his life, from Delhi, the latter obtained temporary protection with Raja Fatch Singh, the then ruling Chief of Garhwal. With the fugitive prince came to Srinagar (Garhwal) two artists named Shamdas and Kehardas. They remained with the Rajah of Garhwal who, shortly after, treacherously surrendered the prince to Aurangzeb. The Rajah appears to have taken great interest in the two artists, who were made Dewans with a jagir (freehold) of fifty villages and an allowance of Rs. 5 per day. They must have flourished under their new patron, and appear to have handed down the craft of their family tradition to Mola Ram, who was the fourth descendant of the family and an artist of a very wide culture. From his extant works we know that he was a gifted painter. He also appears to be a not in Hindi and Persian. He is said to have left some manuscripts in the way of history of some of the events of the time of Aurangzeb, the memory of which could easily have been preserved in the family, the ancestors of which actually took part in some of the incidents. The achievement of the artist in the role of a historian has not been investigated, but we have had evidence of his poetic exercises. Dr. Coomaraswamy, in his "Rajput Painting" (Oxford Press, Vol. I, p. 23), has already cited one doha or verse which Mola Ram has affixed to one of his pictures. It runs as follows: "What are thousands and lakhs or millions of gold and villages? Mola Ram finds his rewards in good-will and well-being. Samvat 1832 (A.D. 1775), the fifth day of the bright fort-night of phalgun: well be it!" That the artist was in the habit of inscribing his pictur s with poetic compositions of his own is borne out by another example of his work here reproduced. The practice

*That various Chiefs and—Rajahas unknown in political history have been immortalised by their Court artists is evident from numerous extant portraits of the eighteenth and nineteenth centuries, e.g., portrait of Raja Bir Singh, of Nurpur, and various Sikh portraits.

of inscribing pictures with descriptive notes or verses, so frequent in ancient Chinese painting, seems to have been very fashionable with old Indian artists. Pictures illustrating scenes from the epics and the Puranas, as also representations of Raginis or musical modes, are invariably accompanied by inscriptions in the handwriting of the artist, quoting verses, generally, on the top of the picture, describing or elucidating the subject matter. These verses are generally borrowed from the current popular texts either in Hindi or in Sanskrit In many of the works of Mola Ram his descriptive verses in doha or other metres appear to be his own compositions, the last line giving the name of the composer, according to the old tradition preserved in Hindi poetry. Both the verses are dated, so that they offer valuable evidence, recorded by his own hands, of the time in which he flourished. There could be no doubt that the verse, at least on the picture here reproduced, was inscribed by the artist himself. The verse has been written in careful hand, in thick white colour, the four quarters being punctuated by red lines. Portions of the writing are unfortunately damaged, but it is not dfficult to make out the sense. The first words in red lettering were probably "Subhamastu," the usual benedictive formula. The language of the verse is Hindi (poetic Brajabhasa, lit, the dialect of Braja, Mathura District), and the composition is in the well-known "Savaiya" metre. Missing the two illegible words, the verse lends itself to the following transliteration: "Vagavilokana kaun nawala nikasi mukha-chanda dikhavata hi Lakhi sanga cha (kora) ....sabda kathora sunawata hi Ujhaki ujhaki phiraki si phiri chahu ashahi .... /Ka (?) vi Mola Rama chali hati kai dupata pata chota bachawata hi : Samvat 1852" (A.D. 1795). It is certainly difficult to render the spirit of the mellifluous words of the original verse but the following somewhat bald translation will at least convey the meaning of the poet: "The young lady went out to see the garden. As soon as she showed her beautiful moon-face she was hung upon by the impertinent 'chakora' (partridge), which insisted on inflicting on her its harsh unwelcome words She gently flitted about like a whirling top, avoiding the impertinent attention of the bird. The poet Mola Ram says she stepped back, in time, dodging the bird by the strokes of her whirling sash cloth." The dress and ornaments of the young lady are similar to those very common in the district of Garhwal and the submontane Kangra District. The verse and picture may well have been the artist's poetic tribute to his own lady-love and was possibly founded

on an actual incident, though the chakora thirsting after the moon-face of a beautiful lady is a well-known old Indian poetic conceit, repeatedly exploited and hackneyed by almost all Sanskrit poets. The chakora, in poetic tradition, is very fond of the moon. It is said to be rather fastidious and inconsistent in its tastes, either drinking the moon's rays or swallowing burning charcoal * In the language of the verse the poet Mola Ram may very aptly be taken to pose in the guise of the bird thirsting for the beautiful face, as in the picture the bird very narrowly misses being struck by the end of her yellow sash, as suggested by the last line of the verse. Although the artist has succeeded in catching his young lady in a very beautiful pose, the picture cannot be taken as representing him in his best manner. In spite of a certain decisiveness and firmness of drawing which clearly foreshadows the later development of his style, the picture is a little crude in many respects, particularly in the treatment of the trees, and evidently belongs to the middle period of his life, when his style was yet to mature. This is amply borne out by the date of the picture, viz., Samvat 1852 (A.D. 1795). He was born in 1760, and died in 1833 A.D So that he was 35 years old when he drew this little water colour picture.

---

*Many quotations from Sanskrit poets can be given in which chakora's fondness for the moon's rays is exploited. As the face of the beloved is compared to the moon, poets transfer the allegiance of the chakora to the facc itself. The following verse from Rajashekhar (Viddhasalabhanjika i, 31) describes the face of the beloved as another moon, rising on the palace walls, without the doer-mark, not in the sky, and scattering pure light which is followed by chakoras from the garden, who are bent upon taking mouthful of this nectar :

Upa prakaragrain prahina nayane tarkaya manag Anakasbe koyain galitaharinah sitakiranab Sudhabaddha-grisair-upavarm chakorair-anusrtum Kiran-jyotsnaam-achchham navalavalapaka-granayinim.

GULERI
In His Own Words

I belong to a respectable family of Saraswat Brahmanas residing in the village of Gulair, District Kangra, the Punjab. My great grandfather's reputations as an astronomer and author of the Hindu Almanac extended in his days as far as Patiala and Benares. Our family holds land in muafi and in jagir, and we are chief pries's and preceptors (gurus) to the historic house of katoch Kshatriyas (Rajputs) of Gulair. My father was given the honour of a palanquin, gaddi, and tazim by the Raja of Guloir, as his Guru, and the same has been conferred upon me.

My father Pandit Shivarmaji—one of the best Sanskrit scholars of his time at Benares—was selected by the late Maharaja Sawai Ramsinghji Bahadur of Jaipur to be his Court Pandit. He was senior Pandit to the Jaipur Durbar, and Vice-Principal and Professor of Sanskrit Grammar, Philology and Vedanta philosophy at the Sanskrit College at Jaipur for about 48 years, and was respected and honoured by the present as well as the late Maharaja and all sections of the community for his vast learning and piety of character. He was the pioneer of Sanskrit studies in Jaipur and counted a large number of well known pandits as his pupils, three of whom were honoured by the Government of India with the title of Mahamahopadhyaya.

I was born at Jaipur and was educated at the Maharaja's College where, at schoal and college, I was always the head of the class and won first prizes.

I passed the Middle Examination in the second Division in 1897. In 1899 I passed the Entrance Examination of the Allahabad University in the First Division, standing first in order of merit in the whole University,—a result quite unprecedented in the history of Education in the Jaipur State for which I was awarded a gold medal by His Highness the Maharaja Sahib Bahadur through the Department of public Instruction. I matriculated at the Calcutta University also in the same year in the First Division.

I passed the First Arts Examination of the Calcutta University in 1901 in the Second Division. Besides English, my subjects were Logic, Greek and Roman History, Physics Cemistry, Sanskrit, ordinary and Higher Mathematics. I also passed in the optional paper on Original Composition in Hindi. An extract from a letter from one of my professors attached herewith would show that I occupied second place among all the students of Calcutta Colleges in English prose.

While yet a student, I was selected to assist the late Col. Sir Swinton Jacob and Captain A. Garrette, R.E.M. in the repairs and restoration of the old Astronomical observatory at Jaipur. The succes achieved in the difficult and original work required of me there was recognized by a reward of Rs. 200/- from the State as is evident from the testimonials of both the gentlemen attached hereto.

I graduated at the Allahabad University in 1903 with. English, Mental and Moral Science, and Sanskrit as my subjects, heading the list of all the successful candidates at the University—a result unknown in the History of the Maharaja's College, Jaipur, or of any Rajputana College. I was again awarded a gold medal and books, all worth Rs. 300/- by the State. I also won the North brook Medal of the Jaipur College, being the best student of the year.

I took up Mental and Moral Philosophy for my M.A. degree and read more of the subject than the examination required but was prevented from appearing at the Examination by ill-health.

I had the rare good fortunne of having such a distingushed Sanskrit scholar as my father and teacher and studied Sanskrit independently for a number of years under him. I know Sanskrit thoroughly well and have specially studied the Vedic, Epic, Classic, and Philosophical literature of the language with a view to higher and original research. My early studies in Sanskrit were according to the old School which goes for depth, and my English education has supplied me the apparatus with which Western scholars utilise the ancient language for purposes of research.

I have contributed scholarly articles to Sanskrit and Hindi periodicals and to the Indian Antiquary. My contribution to the last—named journal have been appreciated by eminent orientalists. I composed Sanskrit verses in honour of His Most Gracious Majesty the king Emperor's visit to India, and was complimented thereon by

the eminent Dutch Scholar, Dr. Calancof Utrecht. I have undertaken the editing of some unpublished anskrit works with critical and exegetical introduction and notes.

I am an examiner in Sahitya Dhmasatra and Vyakarana for the Sanskrit Titles Examinations of Jpur State, and for the Rajputana Middle School and Jaipur State [iddle School Examinations.

In 1904 I was selected, with the pproval of Col. T.C. Pears, I.A., then Resident at Jaipur, to be gudian to the Minor Raja of Khetri, and his testimonial from Kashm would show the opinion he had as regards the way in which I dischged my duties.

When the Jaipur Durbar decided raise the status of the Raj Motamid at (Guardian to State Nobs and Cadets) the Mayo College, Ajmer, they selected me for tl post in 1907. In making this solection the Secretary, State Counil, wrote as follows to the Resident, Jaipur.

No. 2254.

Dated Jaipur the 21st Octobr, 1916.

X X X X the question of raising ie status of the Raj Motamid at the Mayo College by appointing a better qualified man has been under the consideration of the Durbar for some time. The Council has now selected Pandit Chandr Dhar Guleri, B.A., Tutor to the Rajaji of Khetri, to succed Lala Mithalal as Motamid of the Mayo College. Pandit Chandra Dhar is awell qualified man who has always given satisfaction to the Princial, Mayo College, in the proper discharge of the duties entrusted o him and has now gained considerable experience in the Institution. The Council therefore trust that his selection will meet with the approval of the Principal. Mayo College, Ajmer.

During the course of my stay of alout 15 years at the Mayo (Chiefs') College I have been almost regularly taking classes in various subjects (honorarily for a long time). Then, in 1916, I was selected to succeed Mahamahopadhyaya Pandit Shivanarayan as Head Pandit, Mayo College, and take Sanskrit and Hindi classes. As to the quality and quantity of the work I have done here, in the class-room, or the Boarding House, or the playground, to assist the mental, moral, intellectual, and physical development of my charges, it is for the principal to say whether my services to the College have deserved his approbation.

I have specially studied Hindi Literature, both ancient and modern, prose and poetry, and in relation to its development from Pali, Prakrit and apabhransa dialects. I am interested in history and archaeology and my contributions whether in my own name, or without name and in collaboration with others, are well known.

I am a well-known writer of Hindi and am recognised as a critic and scholar by the Hindi literary world. For years I have been on the Managing Council of the Nagari Pracharini Sabha of Benares.

I assisted Col: Showers, Resident of Jaipur, by contributing to his 'Notes on Jaipur'.

During the war I composed a Sanskrit prayer for the victory of the King-Emperor's arms which was offered in many schools day by day. I assisted the Principal of my college, as President of the Publicity Board, Ajmer-Merwara and editor, Ajmer-Merwara War Gazette, by writing almost singlehanded the Hindi Edition of the journal, in addition to contributing to the English issue. The style and literary merits to the Ajmer-Merwara War Gazette in Hindi were favourably commented on.

and
rom
tory
, or

s a
een
res.
to

of
by
he
ar
he
yle
ndi

